सम्पादक - डॉ० उदयप्रताप सिंह

## ॉ० उदयप्रताप सिंह

एम.ए., पी-एच.डी. (हिन्दी)

जनवरी 1955 ई. आजमगढ़ (उ.प्र.)

सिएट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,

रामदास स्नातकोत्तर महाविद्यालय,

भुड़कुड़ा, गाजीपुर (उ.प्र.)


**स्तकें** : आपा साहब और उनकी र्गुण भक्ति और आपा पंथ, अनुचिंतन थान, पूरब रंग की साधु कविता, हिन्दी समीक्षा का अन्तर्द्वन्द, ी अपनी परम्परा, संतों के संत कवि द्रप्रस्थ इंटरनेशनल, नई दिल्ली, व्यवस्था में संतकवियों का योग थान दिल्ली।

**स्तकें** : रामभक्ति साहित्य अन्वेषक मानंद रामरसमाते, भारतेन्दु फिर, ाग और कुम्भ महापर्व, ज.गु. : श्रीसम्प्रदायः (रामावत) विविध द्वार समग्र, तीर्थराज प्रयाग और का अमृत कलश जगद्‌गुरु र्ग सप्तशताब्दी ग्रन्थ।

**फेलोशिप** : रिसर्च एवार्डी, स्थित संत कवियो का सामाजिक त्य और लोक प्रभाव, भारत की वस्था में संत कवियों की भूमिका

राष्ट्रीय संगोष्ठियों में शताधिक ।

**र सम्मान** : अखिल भारतीय षद्, कोटा, राजस्थान, अखिल त् परिषद् सम्मान, आलोचना की ा, पुरस्कृत **यास्क** पुरस्कार (4) ल श्रीनाथद्वारा के **भाषाभूषण**


**सम्पर्क**

स. 13, हरनारायण विहार,

वाराणसी-221007 (उ.प्र.) मो0

9415787367

# तीर्थराजप्रयाग
# और
# रामभक्ति का अमृतकलश

*सत्प्रेरक*

**जगद्गुरु रामानंदाचार्य पदप्रतिष्ठित**
**श्रीरामनरेशाचार्यजी महाराज**

*सम्पादक*

**डॉ. उदयप्रताप सिंह**

*प्रकाशक*

**जगद्गुरु रामानंदाचार्य स्मारक सेवा न्यास ,**

श्रीमठ, काशी

## प्रयागकुम्भ– सन् २०१३

पुस्तक नाम : तीर्थराजप्रयाग और रामभक्ति का अमृतकलश

सत्प्रेरक : जगद्गुरु रामानंदाचार्य पदप्रतिष्ठित
श्रीरामनरेशाचार्यजी महाराज

सम्पादक : डॉ. उदयप्रताप सिंह

संस्करण : प्रथम, सन् २०१३ ई.

मूल्य : ५००/- (पाँच सौ रुपये मात्र)

प्रतियाँ : ११०० मात्र (एक हजार एक सौ मात्र)



वितरक : श्रीमठ पञ्चगंगा, काशी (वाराणसी)
दूरभाष : (०५४२) २४०२२३०

मुद्रक : प्रिंट 'ओ' लैण्ड, २२ गोदाम, जयपुर (राज.)
दूरभाष : (०१४१) २२१०१३२
मो. : ९४१४०४३६१७

---

**Teerthraj Prayag Aur Rambhakti Ka Amrit Kalash**
*Edited by* : Dr. Udai Pratap Singh

# अनुक्रमणिका

# तीर्थराजप्रयाग की महिमा

श्री जाह्नवीरवि सुतापरमेष्ठि पुत्री-
सिन्धुत्रयाभरण तीर्थवर प्रयाग ।
सर्वेश मामनुगृहाण नयस्व चोर्ध्व-
मन्तस्तमोदशविधं दलय स्वधाम्ना ।।
वागीशविष्ण्वीशपुरन्दराद्याः
पापप्रणाशाय विदां विदोऽपि ।
भजन्ति यत्तीरमनीलनीलं
स तीर्थराजो जयति प्रयागः ।।१।।
कलिन्दजासङ्गमवाप्य यत्र
प्रत्यागता स्वर्गधुनी धुनोति ।
अध्यात्मतापत्रितयं जनस्य
स तीर्थराजो जयति प्रयागः ।।२।।
श्यामो वटोऽश्यामगुणं वृणोति
स्वच्छायया श्यामलया जनानाम् ।
श्यामः श्रमं कृन्तति यत्र दृष्टः
स तीर्थराजो जयति प्रयागः ।।३।।
ब्रह्मदयोऽप्यात्मकृतिं विहाय
भजन्ति पुण्यात्मकभागधेयम् ।
यत्रोज्झिता दण्डधरः स्वदण्डं
स तीर्थराजो जयति प्रयागः ।।४।।
यत्सेवया देवनृदेवतादि–
देवर्षयः प्रत्यहमामनन्ति ।
स्वर्गं च सर्वोत्तमभूमिराज्यं
स तीर्थराजो जयति प्रयागः।।५।।
एनांसि हन्तीति प्रसिद्धवार्त्ता
नामप्रतापेन दिशो द्रवन्ती ।
यस्य त्रिलोकी प्रतता यशोभिः
स तीर्थराजो जयति प्रयागः ।।६।।
धत्तोऽभितश्चामरचारुकान्ती
सितासिते यत्र सरिद्वरेण्ये ।
आद्यो वटश्छत्रमिवाति भाति
स तीर्थराजो जयति प्रयागः ।।७।।
ब्राह्मीनपुत्रीत्रिपथास्त्रिवेणी-
समागमेनाक्षतयागमात्रान् ।
यत्राप्लुतान् ब्रह्मपदं नयन्ति
स तीर्थराजो जयति प्रयागः ।।८।। पद्मपुराण (उत्तरखण्ड)

---

संकलनकर्त्ता, डॉ. देवेन्द्र सिंह, दारागंज, प्रयाग

।। नमोऽस्तुरामाय ।।

जगद्गुरु रामानंदाचार्य पदप्रतिष्ठित
श्रीरामनरेशाचार्य जी महाराज

आदिपीठ श्रीसम्प्रदाय (रामावत)
पञ्चगंगा काशी, (उत्तर प्रदेश)

# ।। मंगलाकांक्षा ।।

श्रीसम्प्रदाय (रामावत) में प्रयागस्थ कुम्भ का विशेष महत्त्व है। मध्यमाचार्य स्वामी रामानंद की प्राकट्य भूमि प्रयाग ही है। प्रयाग स्थित ठाकुर हरितमाधव मंदिर संत-समाज में स्वामीजी की प्राकट्य स्थली के रूप में वर्षों पूर्व मान्यता प्राप्त कर चुका है। इसका जीर्णोद्धार आदि पीठ पञ्चगंगा, काशी द्वारा अर्धकुम्भ सन् २००७ से पूर्ण कुम्भ २०१३ तक सम्पूर्णता को प्राप्त हुआ है। आज यह प्राकट्यभूमि रामभक्ति को अपनी अम्लान आभा से निरंतर आलोकित कर रही है। यह पुण्य भूमि एक प्रकार से रामभक्ति का अमृतकलश है। अमृत कलश की प्राप्ति का देवासुर संग्राम न केवल अतीत की घटना है, बल्कि युग-युगीन सत्-असत् के बीच निरंतर चलने वाला संघर्ष भी है। रामभक्ति रूपी इस अमृत कलश की सम्प्राप्ति में आसुरी प्रवृत्तियों से वर्षों संघर्ष करना पड़ा है। राघवजी की कृपा से उनका शमन समयतः सम्पन्न होता गया है। आज इस कलश से निकले अमृत का पान देवस्वरूप रामभक्त अहर्निश कर रहे हैं।

११-५-१९२१ ईस्वी में उज्जैन कुम्भ के अवसर पर हमें वे विश्वास प्राप्त हुए जिसके अभाव में हम अपना अस्तित्व ही खोते जा रहे थे। हमारी गरिमा पृथक् अस्मिता तथा परमोदार सर्वश्रेष्ठ कल्याणमयी सर्वसुलभधारा को निगला जा रहा था। हमें हीनभावना के सागर में डुबोया जा रहा था। सीतानाथ से प्रवर्तित तथा जगद्गुरु रामानन्दाचार्य जी से प्रवर्धित सर्वश्रेष्ठ कल्याणमार्ग को ही मिटाने की कल्पनातीत षडयन्त्र-योजना थी। इस अन्याय के निवारण के लिए परम प्रभु सर्वावतारी श्रीराम जी की प्रेरणा एवं शक्ति से पण्डितराज, वेदोपनिषद्-भाष्यकार, महाकवि, शास्त्रार्थमहारथी, परमविरक्त तथा रामानन्दसम्प्रदाय एवं सनातन धर्म के परमप्रहरी जगद्गुरु रामानन्दाचार्य श्रीभगवदाचार्यजी महाराज के वैचारिक झंझावातों ने सम्प्रदाय विद्वेषियों के भ्रम, अभिमान तथा अज्ञान के बादलों को उड़ा दिया। इस महान् उपक्रम से अपने सम्प्रदाय वालों को भी दिव्यदृष्टि की प्राप्ति हुई। फलतः अपने गौरवमय स्वरूप की पहचान तथा हीन भावना का निवारण हुआ। सम्प्रदाय को नई स्फूर्ति, विलक्षण चेतना, अद्भुत प्रकाश स्वरूप अमृतकलश की प्राप्ति हुई जिसके माध्यम से सर्वग्राह्य, सर्वश्रेष्ठ, सार्वभौम स्वरूप के सूर्य का उदय हुआ। रामानन्द सम्प्रदाय अपने विजयात्मक इस अनमोल धन तथा ज्ञानात्मक अमृतकलश को कभी-भी नहीं भूल

सकता है। परमप्रभु श्रीराघव अपने, हमारे तथा मानवता के इस परमधन को सुरक्षित रखें यही हमारी प्रार्थना है।

वैसे मनुष्य अनादि काल से समुद्र मंथन से निःसृत अमृत कलश की खोज में तल्लीन है। अन्वेषण की यथार्थ प्रक्रिया का ज्ञान नहीं होने के कारण अमृतकलश के बदले विष कलश ही प्राप्त हो जाते हैं। अमरता के बदले मृत्यु एवं आनन्दसिन्धु के बदले दुःख-सागर प्राप्त होते हैं। जन्म-मृत्यु, जराव्याधि दुःखादि विषों से संत्रस्त प्राणी प्रतिक्षण उस साधन की खोज में है, जिसकी महिमा से विषों की आत्यन्तिक निवृत्ति हो।

प्रारम्भ में अमृत अन्वेषण की इस अनादि यात्रा में हम एकाकी ही रहे होंगे। इस क्रम से सदा ही असफल होते हुए हमने मिलकर अमृतकलश को खोजना शुरू किया होगा। मिलकर सत्य, अमृत व सुख खोजने का क्रम ही मेला है। वस्तुतः यही अमृत अन्वेषण की साधु रीति है। मिलकर अमृत खोज की प्रक्रिया की सुचारुता की प्रामाणिकता पुराण के उस सुप्रसिद्ध आख्यान से भी सिद्ध होती है, जिसमें देवों एवं दानवों ने मिलकर समुद्र मन्थन से अमृत खोज निकाला। अपनी-अपनी योग्यता एवं शक्ति के द्वारा आज भी हम परिवार, समाज, राष्ट्र, जाति एवं संसार के रूप में मिलकर अमृतकलश की प्राप्ति के लिये परम व्यग्र हैं। वैदिक सनातन धर्म का कुम्भ मेला अमृतखोज का अनुपम, गौरववर्धक विराट् एवं प्रामाणिक निदर्शन है।

समाज के प्रत्येक वर्ग के लोग इस कुम्भ मेला में भाग लेकर अपनी अनादि अमरत्व तृषा को सुशान्त करना चाहते हैं। वैसे तो संसार के सभी मिलन ही जाने-अनजाने में अमृतखोज की यात्रा में ही हैं। अतएव इनके समायोजक व सम्प्रेरक वैदिक विद्या की जिज्ञासा कोई महत्त्व नहीं रखती परन्तु कुम्भ मेला का अतुलनीय विराट् स्वरूप बलात् ही वैदिक सम्प्रेरक विद्या की जिज्ञासा को जन्म देता है। क्या कुम्भ वेदों के द्वारा समर्थित है? क्या स्मृतियाँ कुम्भ का पक्षधर हैं? क्या पुराण कुम्भ अस्तित्व के साक्षी हैं? क्या इतिहास कुम्भ को भी अपना समझते हैं?

वेदों में कुम्भ मेला का प्रेरक वाक्य प्रत्यक्षतः समुपलब्ध नहीं होता है तथापि अनादिकाल से वेद 'प्रामाण्याभ्युपगन्तृशिष्टो' का कुम्भ मेला सेवन ही मेला को प्रामाणिकता का कवच पहना देता है। जैसे न्यायविदों ने शिष्टाचारानुमितश्रुतियों– "विघ्नध्वंसकामो मंगलमाचरेत्-समाप्तिकामो मंगलामाचरेत्" के द्वारा मंगलकरणीयता की प्रामाणिकता का समर्थन किया है। उसी प्रकार से यहाँ भी शिष्टाचारानुमित श्रुतियों के माध्यम से कुम्भ महापर्व की प्रामाणिकता सम्पन्न होती है। श्रुति का आधार इस प्रकार होगा– "अमृतकामैः कुम्भपर्वाणि आश्रयणीयानि"। होली व दीपावली के वैदिकता की संसिद्धि जिस रीति से महर्षि जैमिनि भाष्यकार शबरस्वामी ने किया है उसी रीति से कुम्भ मेला के वैदिकता की भी सिद्धि सुलभ है। वहाँ का मूल भाव है

शिष्टों के द्वारा सम्पादित होने वाले जिन कृत्यों का वेदों में प्रत्यक्षतः दर्शन नहीं होता उनके लिये ऐसा समझना चाहिए कि उनकी प्रतिपादिका शाखाएँ लुप्त हो गयी हैं।

वैदिक परम्परा में वेदों तथा स्मृतियों के अविरोधी पुराण भी प्रमाण कोटि में प्रविष्ट हैं। स्कन्दादि पुराणों में कुम्भ मेला का अस्तित्व वर्णित है। निम्नांकित पुराण वाक्य ध्यातव्य हैं। स्कन्दपुराण के अनुसार चार स्थानों पर कुम्भ आयोजित होता है–

**पृथिव्यां कुम्भयोगस्य चतुर्धा भेद उच्यते ।**
**विष्णुद्वारे तीर्थराजे अवन्त्यां गोदावरीतटे ।।**
**सुधाबिन्दुविनिक्षेपात् कुम्भपर्वेति विश्रुतम् ।**

कुम्भ का माहात्म्य वर्णन करते हुए स्कन्दपुराण में लिखा है–

**तान्येव यः पुमान् योगे सोऽमृतत्वाय कल्पते ।**
**देवा नमन्ति तत्रस्थान् यथा रंकाः धनाधिपान् ।।**

जो व्यक्ति कुम्भ का लाभ प्राप्त करता है उसको देवता उसी प्रकार नमन करते हैं जैसे भिखारी किसी धनवान को।

देवताओं एवं दानवों के समुद्रमन्थन से जो अमृतकलश प्राप्त हुआ था उसके पहले ही विषकलश भी प्राप्त हुआ था जिसको भगवान् शंकर ने पीकर पचाया एवं मन्थन करने वालों को बचाया। मन्थन की सम्पूर्णता भी कच्छपावतार भगवान् विष्णु के सहयोग से ही हुई जो वस्तुतः अमृतकलश ही नहीं अमृतसागर हैं। संसार का सम्पूर्ण अमृत उनके द्वारा ही वितरित एवं प्रसारित है।

मन्थन से प्राप्त अमृत के पान के लिये देवताओं एवं दानवों में घनघोर युद्ध हुआ उसी क्रम में इन्द्रपुत्र जयंत अमृतकलश को छिपाने के लिये, जा रहे थे जिनसे प्रयाग, हरिद्वार, उज्जैन तथा नासिक में बारह-बारह दिनों तक दानवों ने युद्ध किया। देवताओं का एक दिन मनुष्य के एक वर्ष के बराबर होता है। अतएव जयन्त तथा दानवों की लड़ाई ग्रहों के जिस योगायोग में हुई थी उसी योगायोग के समुपस्थित होने पर मुमुक्षुजनों ने, देवताओं के पक्षपातियों ने, प्रयाग आदि स्थलों पर एकत्रित होना शुरू कर दिया।

वर्तमान कुम्भ मेला इसी एकत्रीकरण का विराट् स्वरूप है। युद्ध के क्रम में देवताओं की ही विजय हुई। भगवान् विष्णु के मोहिनी अवतार के कारण देवताओं को ही अमृत का लाभ हुआ। प्रस्तुत विचार बिन्दुओं के आधार पर कुछ संकेत समुपलब्ध होते हैं जो वस्तुतः ध्यातव्य हैं।

आंशिक एवं सापेक्षिक अमृतत्व की प्राप्ति भी अमृतसागर भगवान् विष्णु के बिना सम्भव नहीं। अमृतमंथन क्रम में अनभीष्ट रूप से सम्प्राप्त विष के शमन के लिये भगवान् शंकर की अनुकम्पा की परमापेक्षा है।

कुम्भ मेला का समायोजन केवल अमृतपान की अभिलाषा से ही होता है ऐसा

कहना सर्वथा बुद्धिसंगत नहीं है, क्योंकि देवताओं एवं दानवों की लड़ाई में अमृतकलश से अमृत के अत्यन्त स्वल्पबिन्दु ही गिरे होंगे, मिट्टी में ही मिल गये होंगे जिनका पान सम्भव नहीं।

मेला तो अमृतविजय लीला का संस्मरण, दैवी सम्पत्ति व देवताओं का समर्थन एवं अमृतत्व की परम महत्ता का ज्ञापन है। अमृतकलश से गिरे हुए अमृत बिन्दुओं के माध्यम से अमृतत्व की सम्प्राप्ति भी सम्भव है तथा साधकों ने प्राप्त भी किया होगा परन्तु उन स्वल्प अमृतबिन्दुओं की प्राप्ति के ब्याज से समायोजित मेला ने वस्तुतः अमृत के सागर का निर्माण कर दिया जिसका पानकर मानव जीवन धन्यता को प्राप्त करता है। "विद्ययाऽमृतमश्नुते" के माध्यम से वेद भगवान् ने ज्ञान के द्वारा ही अमृतत्व प्राप्ति की उद्घोषणा किया। देवर्षिनारद ने "सात्वस्मिन् परमप्रेमरूपा अमृत स्वरूपा च" इन सूत्रों के माध्यम से ईश्वर भक्ति को ही अमृत स्वरूप माना है। इन दोनों ही अमृतों की प्राप्ति कुम्भ मेला के द्वारा सम्पादित होती है। भगवत-भागवत् सेवा, नामसंकीर्तन, लीला दर्शन तत्त्वदर्शियों एवं प्रभुप्रेमियों के द्वारा ज्ञान एवं प्रभुप्रेम सहज रूप से ही मेला में प्राप्त हो जाता है। कल्याण के जिन साधनों का एकत्र समावेश सर्वथा असम्भव है वे अनायास कुम्भ मेला में प्राप्त हो जाते हैं। ज्ञान तथा भक्ति की सभी धारायें एक साथ सार्वभौम रूप से अविच्छिन्न रीति से एक माह तक प्रवाहित होती रहती हैं। समुद्रमन्थन तो देवताओं एवं दानवों ने किया था तभी तो अमृत के पूर्व विष भी प्रकट हुआ परन्तु मेला में तो मन्थन ज्ञानी एवं भक्त ही करते हैं। अतएव विष के प्राकट्य का सर्वथा शमन कर देते हैं, मन्थन कर्ताओं को लड़ाते नहीं। अमृतभूमि की महिमा से ज्ञानामृत एवं प्रेमामृत में भी अनुपम सहयोग प्राप्त होता है।

अत्यन्त दुःख की बात है कि सनातन धर्म के विराट् स्वरूप अमृतकलश प्रदायक कुम्भ– मेला का स्वरूप लगातार विकृत एवं धूमिल होता जा रहा है। मेला में सम्प्रभुतासम्पन्न प्रेरणा-स्रोत संत महान्त एवं आचार्यगण ही अमृतकलश के बदले विद्वेष व युद्धकलश प्राप्त करा देते हैं। उनमें स्वयं भी अमृत पिपासा की तीव्रता दृष्टिगोचर नहीं होती है। सम्पूर्ण कल्याणमय व्यवहार दम्भ बादलों से घिरते जा रहे हैं। मेला, अमृत रति के सम्पादन के बदले विरति का ही सम्पादन करने लगा है। कुम्भस्नान जो परम कल्याणप्रद है, उसे शाही स्नान बना दिया गया है। स्नान के धर्म आत्मकल्याण को शाही रूप प्रदान कर पूर्णअवैदिकत्त्व तथा मुमुक्षुत्व का सम्पादन एवं पूजा की मर्यादा का परम उल्लंघन है। पूज्य के पास पूजनक्रम में मुमुक्षु को अत्यन्त सादगीपूर्ण एवं विनीत वेश में जाना चाहिए। परन्तु वे लोग भी शाही रूप बनाने का जोर-शोर से प्रयास करते हैं जो भिक्षुक संन्यासी व परोपजीवी अर्थात् जीवननिर्वाह के लिये दूसरों पर पूर्णतः आधारित हैं, उनका यह शाही प्रदर्शन निश्चित रूप से व्यक्ति, समाज, धर्म तथा अध्यात्म का सम्पूर्ण रीति से घातक है। हम सभी अमृतपिपासुओं को

शाही के आसक्तों से सावधान रहते हुऐ अमृतकलश को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए। हम लोगों को शीघ्रता एवं सावधानी से इस शाही, दम्भी, विद्वेषी,लोकार्थी एवं धनार्थी के स्वरूप का परित्याग कर वस्तुतः अमृतपिपासु स्वरूप को धारण करना है तभी मानव जीवन, सनातन धर्म एवं कुम्भमेला पूर्णतः सार्थक होंगे।

तीर्थराजप्रयाग में पूर्णकुम्भ के अवसर पर प्रकटित यह 'तीर्थराजप्रयाग और रामभक्ति का अमृतकलश' वस्तुतः अमृतकलश ही है। इस कलश में संग्रहीत अमृत बिन्दु तीर्थराजप्रयाग-कुम्भ-समुद्रमन्थन, अमृत प्राप्ति रामभक्ति के परम उन्नायक रामावतार श्रीसम्प्रदाय (रामावत) के मध्यमाचार्य रामानन्दाचार्यजी के दिव्यजीवन के विभिन्न स्वरूप अमृतमयी प्रपत्ति का परमविस्तार-नारी के लिये समान औदार्य-सभी दृष्टि से उपेक्षित रविदास आदि के लिये परम औदार्य, हिन्दी को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाना, तुलसीदास से मैथिलीशरण गुप्त पर्यन्त रामभक्ति गायकों का अनुपम स्रोत होना किंवा अद्यावधि सम्पूर्ण रामभक्ति साहित्य का परम्परया प्रेरक होना इत्यादि अपने श्रवण, गायन एवं स्मरण के माध्यम से असंख्य जीवों को मानव जीवन का परम स्वरूप (अमृतव्य) प्रदान करेंगे। यह अमृत पिपासा-तदर्थ प्रयास-अमृत की प्राप्ति, उसका पान तथा मानवजीवन की सम्पूर्णता, देवताओं की पिपासा-तदर्थ उद्योग-प्राप्ति एवं सम्प्राप्त जीवन से श्रेष्ठ है। देवताओं को तो स्वर्ग से उतरना पड़ता है। पुण्य के नष्ट होने के बाद पुनः उसी जन्म-मृत्यु स्वरूपविष-सागर में निमज्जित होना पड़ता है।

रामभक्तिकलश बिन्दुओं का पान कराये तो साकेतधाम से कभी नहीं लौटते, "न स पुनरावर्तते" ऐसा भगवान् वेद का परम उद्घोष है।

देवताओं एवं दानवों के मन्थन समान ही निरूपण भी एक मन्थन ही है, क्योंकि इसमें भी परमत का निराकरण कर स्वमत का व्यस्थापन किया जाता है। परमत ही विष है तथा उसके समर्थक ही दानव स्वरूप हैं।

प्रस्तुत अमृतमन्थन में सम्पृक्त सभी देवों (विद्वानों) का मैं अभिनन्दन करता हूँ, रामभक्ति परम्परा की मूलपीठ श्रीमठ की ओर से तथा उनके सतत् मन्थन जीवन के लिये परम प्रभुश्रीरामजी के चरणों में प्रार्थना भी।

प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादक डॉ. उदयप्रताप सिंह तो इस प्रसंग में 'जयन्त' की भूमिका में हैं। परमप्रभु श्रीरामजी इन्हें कभी भी इस भूमिका से अवकाश प्रदान न करें।

वसंत पंचमी १५ फरवरी, २०१३ ई. ज.गु.रा. श्रीरामनरेशाचार्य

ज.गु. रामानंदाचार्य प्राकट्यधाम,

हरितमाधवमंदिर, प्रयाग

# 'सकल कामप्रद तीरथराऊ'

तीर्थराज प्रयाग भारतीय जनमत की आस्था का हिमालय है। गंगा-यमुना के पवित्र पुलिनों पर हजारों-हजार आश्रम, धर्म सभाओं का समायोजन कर लोकमंगल विधान की विधियाँ न जाने कब से यहाँ सम्पन्न होती रही हैं। प्रयाग की महत्ता इसी से प्रकट हो जाती है कि समुद्रमंथन से निःसृत अमृत कुछ क्षणों के लिए ही सही यहाँ की धरती पर अवस्थित था। प्रयाग से काशी पर्यन्त भूमि धर्म के महाभाव में निरंतर अवगाहन करती रही है। समय-समय पर यहाँ संस्कृति और सभ्यता की नयी कोपलें प्रस्फुटित हुई हैं। सारनाथ में महामानव बुद्ध ने अपना उपदेश प्रदान कर प्रथम प्रयाग की धरती पर ही विश्राम किया था। जैनियों के अनेक संतों ने प्रयाग के इतस्ततः अपने कल्याणकारी क्रियाकलापों का विस्तरण किया था। भारद्वाज आश्रम और भगवान् श्रीराम के लोकविश्रुत कथा प्रसंग भारतीय संस्कृति का एक न्यारा अध्याय ही सृजित करते हैं। इसी सनातन परम्परा को सातवीं शती में सम्राट् हर्षवर्द्धन ने गतिमान करते हुए अर्द्धकुम्भ और पूर्ण कुम्भ को व्यवस्थित रूप प्रदान किया था। इतिहासविदों की मान्यता है कि हर्षवर्द्धन प्रत्येक छठें वर्ष अपने राजकोष का आय-व्यय व्यवस्थित करते हुए बारहवें वर्ष महोत्सव के रूप में प्रयाग के मेले में राज्य की समृद्धि का प्रदर्शन करते हुए प्रभूत मात्रा में राजकोष का दान संतों, महंतों, कल्पवासियों और गरीबों में कर देता था। प्रायः सर्वस्व दान के उपरांत वह अपनी बहन 'राजश्री' से धन लेकर कन्नौज वापस लौटता था। कहा तो यहाँ तक जाता है कि हर्षवर्द्धन के राजत्वकाल में कुम्भ की समय सीमा पचहत्तर दिन हुआ करती थी। यह तो असंदिग्ध ही है कि दान देने की परम्परा और कुम्भ-अर्द्धकुम्भ का आधुनिक स्वरूप सम्राट् हर्षवर्द्धन की अभिरुचियों का ही प्रतिफल है।

प्रयाग भारतीय जनजीवन को अनेक कोणों से प्रभावित करता है। संगम पर त्रिवेणी का प्रवहन मात्र धार्मिकता से ओतप्रोत ही नहीं है अपितु प्राकृतिक दृष्टि से भी यह अद्भुत दृश्य है। सितासित गंगायमुना और रक्ताभवर्णी सरस्वती की अंतःस्रवित धारा सम्पूर्ण विश्व का ध्यान प्रयाग की ओर बरबस आकृष्ट करती है। सातवीं शती (६४७) ई. में चीनी यात्री ह्वेनसांग प्रयाग का जीवंत चित्र अपने यात्रा वृत्तांतों में सविस्तार देता है। तीनों नदियाँ संस्कृति और सभ्यता के तीन महिमाशाली अध्यायों का सृजन करती हैं। गंगा भगवान श्रीराम के रामराज्य का साक्षात् गवाह है। रामराज्य के न जाने कितने गूढ़ निर्णय गंगा के पवित्र तटों पर ही लिये गये। गंगा के निर्मल जल की भाँति राम की शासन व्यवस्था भी उज्ज्वल रही है। गंगा अपने विस्तृत आँचल में

श्री वेणीमाधव मंदिर
प्रमुखदेव, प्रयाग (इलाहाबाद)

भगवान नाग वासुकी का दर्शन, प्रयाग
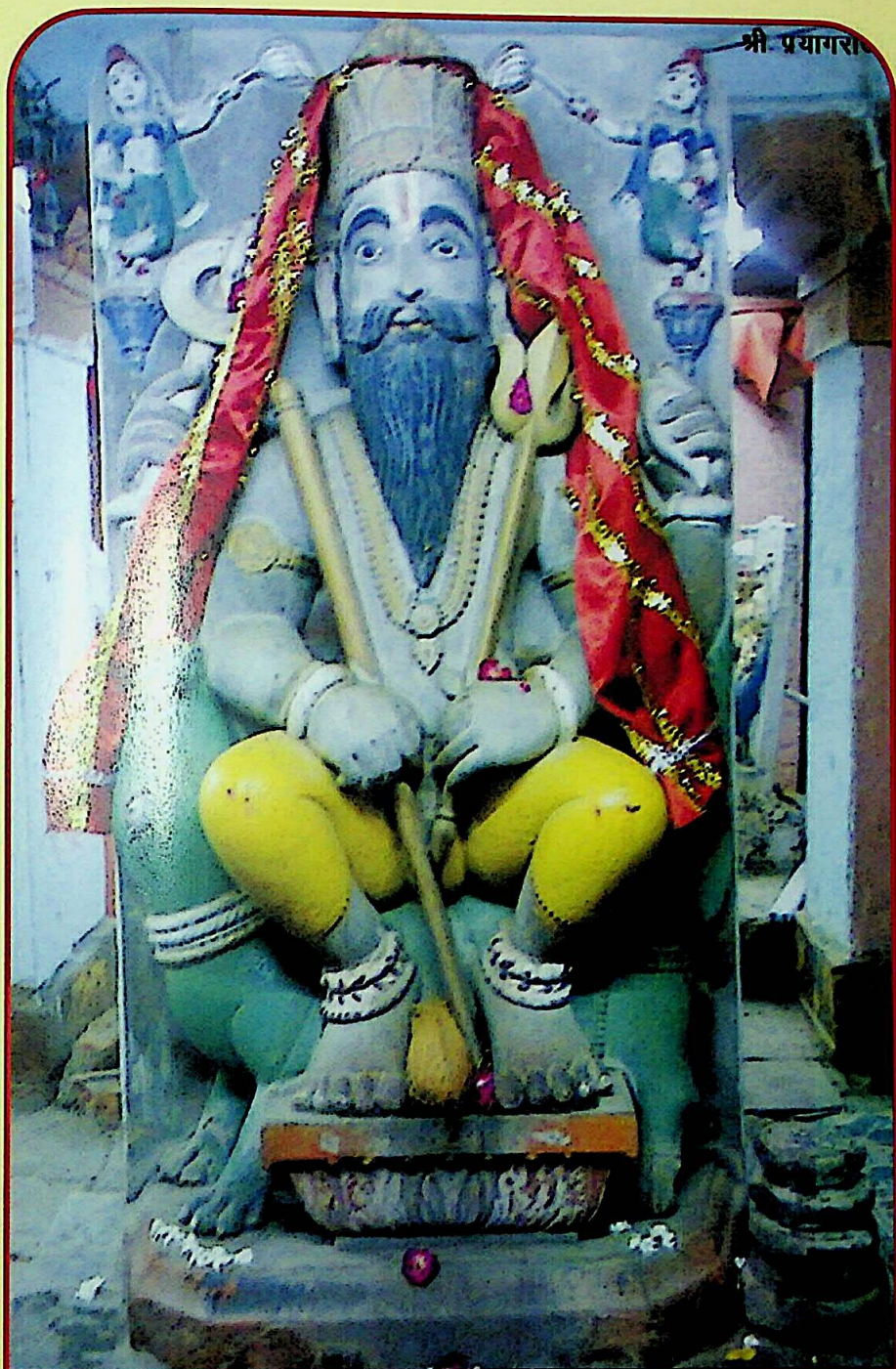
# तीर्थों के राजा प्रयागराज का दर्शन

प्राकट्य-धाम, प्रयाग (इलाहाबाद)

# भगवान अक्षयवट का दर्शन

## प्राकट्य-धाम, प्रयाग (इलाहाबाद)

श्री हरित माधव मंदिर-कृष्ण-राधा विग्रह
प्राकट्य-धाम, प्रयाग (इलाहाबाद)
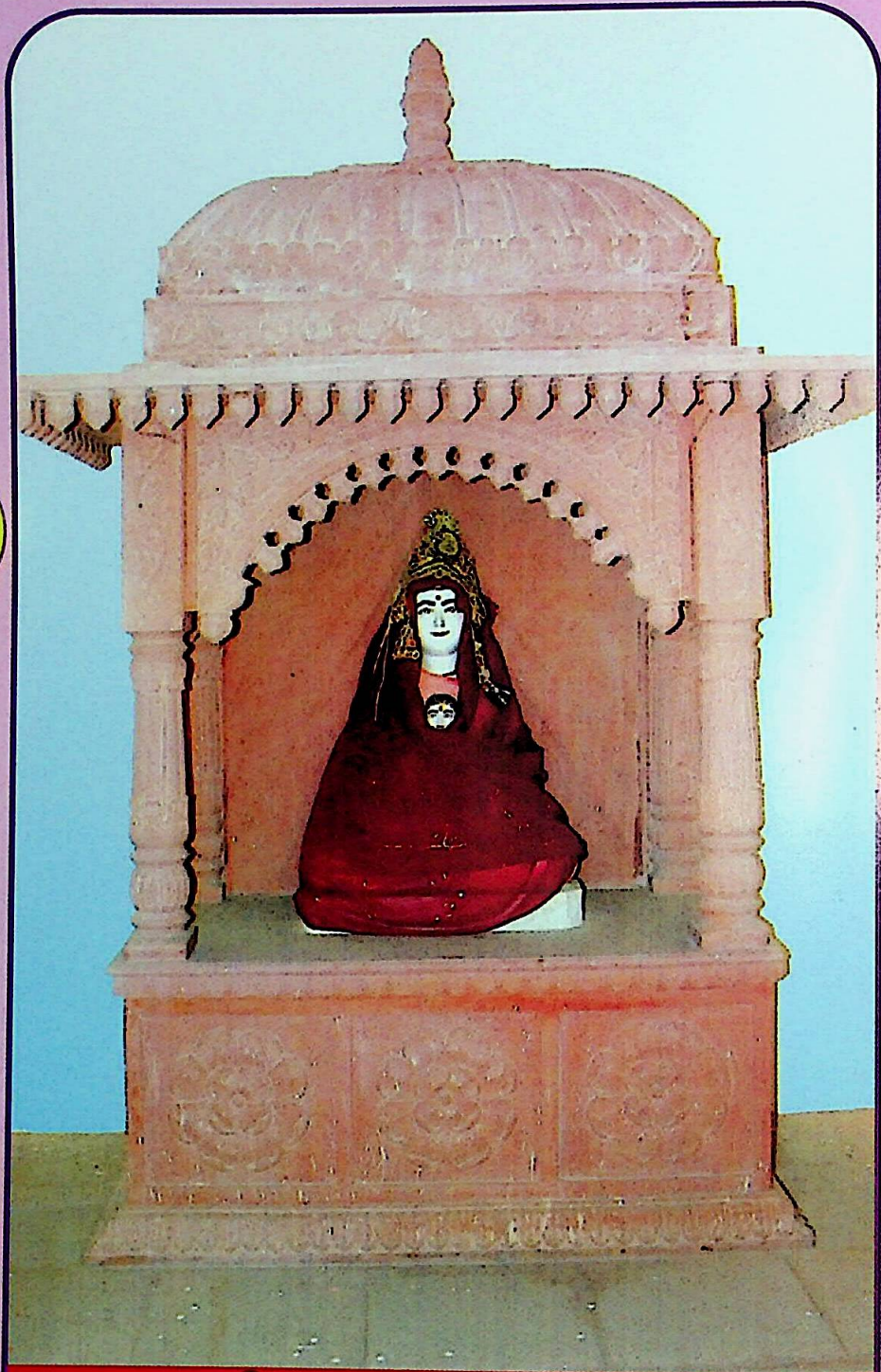
**स्वामी रामानंद माँ की गोद में**

प्राकट्य-धाम, प्रयाग (इलाहाबाद)
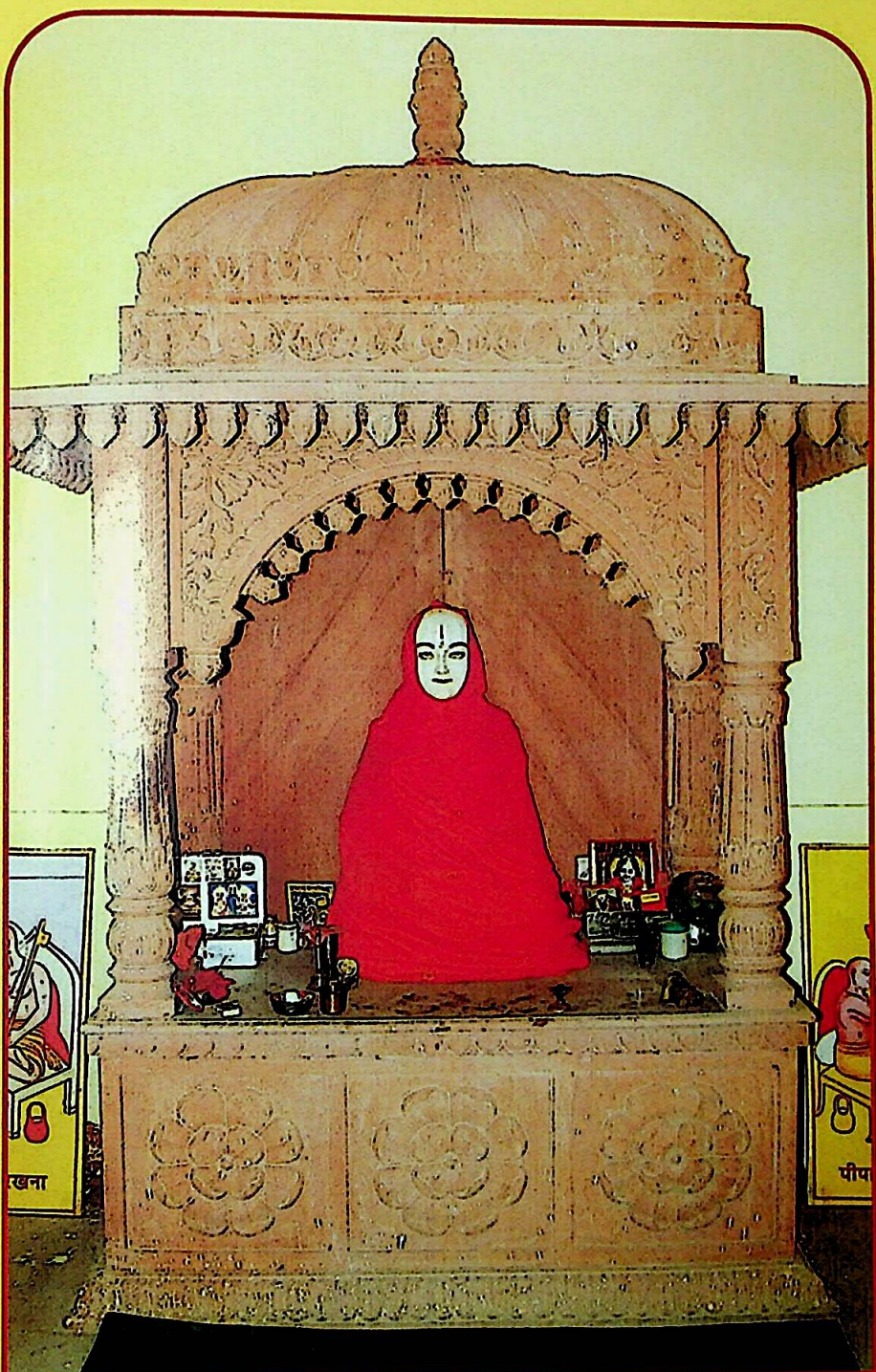
स्वामी रामानंद (प्रौढ़ावस्था)

प्राकट्य-धाम, प्रयाग (इलाहाबाद)

ज.गु. रामानंदाचार्य प्राकट्य-धाम, प्रयाग, मोरीगंज, इलाहाबाद (उ.प्र.)

रामसंस्कृति की विराटता को समोये आज भी कल-कल, छल-छल निनाद करती प्रवहनशील है। उसके उर्वर मैदान, हरित कछार और मनोहारी उपत्यकाओं में नर-बानर, निषाद-कोल-भील, भालू-रीछ तथा अन्यान्य जीव-जंतु राम संस्कृति की उदारता को आज भी प्रतिध्वनित कर रहे हैं। यमुना के भूभाग लीलानिपुण, कर्मनिष्ठ श्रीकृष्ण का जीवन चरित्र कण-कण में समोये हैं। उत्सवधर्मिता और अकुण्ठ प्यार का सैलाब यमुना के कगारों पर ही छबिमान हुआ। गोपियों के संग रास रचाते कृष्ण और महाभारत के युद्ध का संचालन करते कृष्ण, जीवन में प्रेम और संघर्ष दोनों को बराबर महत्व देते हैं। श्रीराम गंगा के पवित्र पुलिनों पर मर्यादा, अनुशासन और औदार्य की अनुपम त्रिवेणी बहाते दिखायी पड़ते हैं। सरस्वती के रम्य तटों पर चिंतन और वैदुष्य परम्परा की धवल कीर्ति सतत प्रस्फुटित होती रही है। चिंतन का यह चिरंतन प्रवाह उसकी तीव्र उर्मियों से कम बेगवान नहीं है। इसी के किनारे वास करने वाले ही तो सारस्वत बने। इन्हीं सारस्वतपूतों ने भारतीय संस्कृति को विश्वव्यापिनी बनाया। इन्हें ही 'आर्य' कहते हैं। गंगा यमुना और सरस्वती के सम्मिलन के साथ प्रयाग में रामकृष्ण संस्कृति और सारस्वत (विद्वत्) परम्परा का संगमन भी हुआ। यहाँ मर्यादा, लीला और वैदुष्य की त्रिधारा भी बही। संत महंत और आश्रम की त्रयी भी बनी। लोक-परलोक और ज्ञान लोक की स्रोतस्विनी भी प्रवाहित हुई। इतिहास पुरातत्व और पुराण का त्रिभुज भी बना। साहित्य संस्कृति और सभ्यता का सेतु भी निर्मित हुआ। सरस्वती के इन्हीं तटमार्गों से आर्यों ने आर्यावर्त से बाहर जाकर अपने ज्ञान-ध्यान और मान का परचम फहराया। अतः प्रयागराज और प्रयागस्थ कुम्भ पौराणिक ग्रन्थों में बिम्बित आख्यायिकाएँ ही नहीं, भारतीय लोकमन की ऐतिहासिक और धार्मिक अभिव्यक्ति भी हैं। लोकोत्सवों के प्रबल दृष्टांत हैं। जीवंत समाज के धार्मिक पर्व हैं। राष्ट्रीय एकात्मता के प्रबल सूत्र है। यहाँ साधु, संन्यासी, आश्रमी, गृहस्थ, सरकार, आमजन, विद्यार्थी, साधक, उपासक सभी एकत्रित होते हैं। स्वदेशी, विदेशी, परदेशी सभी का संगमन इसी संगम पर होता है।

प्रयाग की इसी तेजस्वी भूमि पर तेरहवीं शती में तपस्वी यशस्वी और आचार्य रामानंद का अवतरण हुआ। उनका प्राकट्य स्थल हरितमाधव मंदिर, दारागंज, प्रयाग में अद्यैव अपनी अम्लान आभा से धर्मभूमि को आलोकित कर रहा है। उनकी त्रिकाल दर्शिनी दृष्टि सात सौ चौदह वर्षों बाद भी रामावत सम्प्रदाय की प्राणधारा बनी हुई है। उनकी उदारता ने तत्कालीन सामाजिक वैमनस्य को न्यूनतम धरातल पर ला खड़ा किया था। उनकी सदाशयता ने पांथिक मतभेदों को अदृश्य कर दिया। उनकी दृष्टि में धर्म का संसार समाज के द्वार को स्पर्श करते हुए सृजित होता है। उनकी प्रगतिशीलता ने भक्त और भगवान के बीच में किसी अन्य सत्ता को देखा ही नहीं। स्वामी रामानंद की मान्यतानुसार सर्वावतारी परमप्रभु का विस्तार ही समस्त सृष्टि है। अखण्डता के इस

सर्वस्पर्शी चिंतन ने स्वामी रामानंद को 'साधु-सम्राट्' के रूप में प्रतिष्ठित किया। उन्होंने दक्षिण की भक्तिभावित लहर को आत्मसात कर उत्तर में एक ऐसे आलोकपर्व के रूप में सृजित किया जिसमें मानवमात्र का एक ही रंग दिखायी पड़ा। सगुण-निर्गुण की ध्वनि एक जैसी कर्णप्रिय लगी। समस्त पंथों की गर्भनाल एक ही दीख पड़ी। लोकरहित परलोक उन्हें अधूरा लगता है और परलोक रहित लोक निःतत्व। ऐसे महामनीषी की अवतार भूमि यही प्रयाग है। कालांतर में काशी के पंचगंगा घाट पर गुरुवर राघवानंद से अभिमंत्रित हो इन्हें जगद्गुरु की पदवी प्राप्त हुई। यहीं से इनका लोकनायकत्व प्रारंभ हुआ। परिणामतः संस्कृत के साथ लोकभाषा हिन्दी में ग्रन्थों की रचनायें कीं। श्रीराम को आराध्य मान जगत् जननी माँ सीता को आदि देवी के रूप में वंदित किया। राम जैसे महत तत्व को ग्रहण कर स्वामी रामानंद ने राष्ट्रीयता की अलख जगायी। राजनीतिक रूप से पराधीन रहते हुए भारत देश में आत्मिक स्तर पर स्वाधीन चेतना का स्पंदन किया। 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' जैसे वाक्यों की सार्थकता सिद्ध किया।

पौराणिक ऐतिहासिक और धार्मिक प्रयाग के समानान्तर एक आधुनिक प्रयाग भी बसता है जिसे इलाहाबाद कहते हैं। परिस्थितियों के साथ मापदण्ड भी बदलते हैं। मनुष्य की मानसिकता भी समय के दबाव को स्वीकार करती है। आधुनिकता के दबाव और प्रभाव में प्रयाग में भी ऐसा घटित हुआ है। मुगलकाल में प्रयाग इलाहाबाद बना। ब्रिटिश काल में इलाहाबाद कार्यालयों के शहर के रूप में विकसित हुआ। आधुनिक शैक्षिक व्यवस्था में विश्वविद्यालय एवं शिक्षण संस्थाओं की स्थापनाएँ हुईं। कोर्ट-कचहरी बनीं। व्यापारिक केन्द्र विकसित हुए। साहित्यिक अधिष्ठान बने। राजनीतिक सरगर्मियाँ बढ़ीं। स्वाधीनता आन्दोलन का केन्द्र इलाहाबाद बना। क्रांतिकारी चन्द्रशेखर आजाद ने अलफ्रेड पार्क में अपनी आहुति दी। अट्टालिकाएँ तो काल के गाल में समा जाती हैं पर संस्कारों के प्रासाद अनंत काल तक अपनी अमिट छाप संजोए रखते हैं। प्रयाग इस अर्थ में अत्यंत समृद्ध महानगर है। पौराणिक युग से आधुनिक युग तक प्रयाग ने एक लम्बा जीवनानुभव प्राप्त किया है। पराधीनता से स्वाधीनता तक उसने अपने शासकों को धैर्यपूर्वक सहा है। फिर भी प्रयाग की प्रस्तर-भेदिनी जीजिविषा और कालातीत संस्कार निरंतर पीयूषधारा की भाँति प्रवाहित हो रहे हैं।

भौतिक प्रयाग बदला है पर पारलौकिक प्रयाग अब भी उन संस्कारों का प्रवहन कर रहा है। प्रयाग में आज भी इलाहाबाद किले के अन्तर्गत अनेक धार्मिक तथा पुरातात्विक स्थल बंदी बने हुए हैं। अक्षयवट और अन्य देव मंदिरों की मुक्ति तथा उद्धार के लिए सनातन धर्मी जन आवाहन करते हैं। जन स्वर के रूप में इस पुस्तक की प्रस्तुति मानी जानी चाहिए। प्रयास है कि प्रयाग और रामानंदाचार्य की सम्पूर्णता आपके समक्ष रखी जाय पर यह संभव कहाँ है? बहुत कुछ छूटा है। बहुत कुछ टूटा-फूटा है। बहुत कुछ आधा-अधूरा है। पर आप क्षमा करेंगे– इसी विश्वास के साथ

लेखों-निबंधों का यह स्तवक आपके हाथों में सौंपता हूँ। लेखकों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन मेरा परम कर्त्तव्य है। पुस्तक का यह स्वरूप कदापि न प्रकट होता यदि विद्वान् लेखकों ने अपने ज्ञानगंगा की पीयूषधारा इधर न मोड़ी होती। पुस्तक में अपूर्णताओं का होना अत्यन्त स्वाभाविक है। उन्हें सम्पादक की अल्पज्ञता मानकर त्याग दें। पर गुणों की सराहना से सम्पादक का उत्साह अवश्य बढ़ायें। सराहना की इस ऊर्जा से कदाचित् आधुनिक 'धर्मनिरपेक्ष' बुद्धिजीवियों की नाक-भौं सिकुड़ना बंद हो जाय।

'प्रिन्ट ओ लैण्ड' के स्वत्वाधिकारी जयपुर वासी श्री सत्यनारायण अग्रवाल की सदाशयता इस पुस्तक के प्रकाशन में सदैव बनी रही। उनकी यह धर्मपारायण प्रवृत्ति और समाज के प्रति सेवा निरंतर बढ़ती रहे परब्रह्म श्रीराम से यही प्रार्थना है। अक्षर सेवी बनने की प्रेरणा तथा प्रकाशन की सम्पूर्ण व्यवस्था जगद्गुरु रामानंदाचार्य श्रीरामनरेशाचार्य जी की रही है। जगद्गुरु रा. श्रीरामनरेशाचार्य महाराज की अकादमिक निष्ठा, स्नेहिल दृष्टि और अहेतुकी कृपा ही पुस्तक सम्पादन का संबल है। प्रयागराज और आचार्य प्रवर श्रीरामानंदाचार्य जैसे महत्त्वपूर्ण और अगाध विषय पर संयोजन अत्यंत दुरूह है फिर भी महाराजश्री की कृपा से यह कार्य सुगम होता गया। उनकी यह कृपा आजीवन प्राप्त होती रहे इसी कामना के साथ अपनी बात समाप्त करता हूँ।

ज.गु.रा. श्रीरामनरेशाचार्य जयंती **उदयप्रताप सिंह**
१५ फरवरी, २०१३
प्रयाग (इलाहाबाद)

•

# तीर्थराज प्रयाग

**श्री कृष्णकुमार पाण्डेय ***

भारतीय संस्कृति के सभी तीर्थों में प्रयाग तीर्थ का विशेष महत्व है। सामान्य अर्थों में पवित्र नदियों के संगम स्थल को ही प्रयाग कहा गया है। देव प्रयाग, रुद्र प्रयाग, कर्ण प्रयाग, नन्द प्रयाग एवं विष्णु प्रयाग को पंच प्रयाग कहा गया है, परन्तु तीर्थराज प्रयाग अर्थात् गंगा, यमुना एवं सरस्वती का त्रिवेणी संगम सर्वश्रेष्ठ तीर्थ है। इसकी महिमा पर प्रयाग शताध्याई, महाभारत, वन पर्व ३५-७ ऋक् प. ७/५/१, अग्नि, गरुड़, नारद, कूर्म, पद्म, स्कन्ध, मत्स्य आदि पुराणों में कई अध्याय है। इसके अतिरिक्त त्रिस्थली सेतु, तीर्थ कल्पतरु, चिन्तामणि आदि में भी इसकी महिमा वर्णित है।

आदि कवि वाल्मीकि ने ऋषि भरद्वाज के मुख से भगवान श्रीराम के प्रति तीर्थराज प्रयाग की प्रशंसा निम्न प्रकार की है–

**अवकाशो विविक्तोऽयं महानद्योः समागमे ।**
**पुश्यश्च रमणीयश्च वसित्विह भवान् सुखम् ।।**

वाल्मीकि रामायण अयोध्या काण्ड, सर्ग ५४, श्लोक २२

**भाषार्थ–** 'गंगा, यमुना और सरस्वती के संगम के पास का यह स्थान बड़ा ही पवित्र और एकान्त है। यहाँ की प्राकृतिक छटा भी मनोरम है, अतः तुम यही सुख पूर्वक निवास करो।'

महा कवि कालिदास ने प्रयाग संगम पर गंगा-यमुना का अनूठा चित्रण किया है। यथा–

**क्वचित् प्रभा चांद्रमती समोभिश्छायाविलीनैः शबली कृतेव ।**
**अन्यत्र शुभ्रा शरदभ्र लेखा रंध्रेसुइवालक्ष्य नभः प्रदेशाः ।।**
**क्वचिच्च कृष्णोरग भूषणेव, भस्मांगरागा तनुरिश्वरस्य ।**
**पश्यानवद्यांगि विभातिगंगा, भिन्नप्रवाहा यमुना तरंगैः ।।**

मत्स्य पुराण के १०५वें अध्याय में कहा गया है–

**व्याधितो यदि वा दीनो, वृदो वापि भवेन्नरः ।**
**गंगा यमुनयोर्मध्ये यस्तु प्राणान् परित्यजेत् ।।**
**दीप्त कांचनवर्णा भैर्विमानैः सूर्य वर्चसैः ।।**

---

* हिन्दी-संस्कृत के गम्भीर अध्येता, रायबरेली।

अर्थात् जो मनुष्य रोगग्रस्त दीन अथवा वृद्ध होकर गंगा और यमुना के संगम में प्राणों का त्याग करता है, वह तपाए हुए सुवर्ण की सी कांति वाले एवं सूर्य सदृश तेजस्वी विमानों द्वारा स्वर्ग में जाकर गन्धर्वों और अप्सराओं के मध्य में आनन्द का उपभोग करता है और अपने अभीष्ट मनोरथों को प्राप्त कर लेता है।

**देशस्थो यदि वारण्ये विदेशस्थोऽथवा गृहे।**
**प्रयागं स्मरणाऽपि यस्तु प्राणान् परित्यजेत्।**
**ब्रह्म लोकमवाप्नोति वदन्ति ऋषि पुंगवाः।**

अर्थात् 'ऋषिवरों का कथन है कि मनुष्य चाहे देश में हो अथवा विदेश में, घर में हो अथवा वन में यदि वह प्रयागराज का स्मरण करते हुए प्राणों का परित्याग करता है तो ब्रह्म लोक को प्राप्त होता है।'

## रामचरितमानस में तीर्थराज की महिमा

गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरित मानस में तीर्थराज प्रयाग की तुलना पवित्र मंगलमय संत समाज से की है–

**मुद मंगलमय संत समाजू। जिमि जग जंगम तीरथ राजू ।।**

(बालकाण्ड, १/७)

तीर्थराज प्रयाग का आध्यात्मिक वर्णन बड़े ही रोचक ढंग से करते हुए कहते हैं–

**बटु विश्वास अचल निज धरमा। तीरथराज समाज सुकरमा ।।**
**सबहिं सुलभ सब दिन सब देसा। सेवत सादर समन कलेसा ।।**
**अकथ अलौकिक तीरथराऊ। देई सद्य फल प्रगट प्रभाऊ ।।**
**सुनि समुझहिं जन मुदित मन, मज्जहिं अति अनुराग।**
**लहहिं चारि फल अछत तनु, साधु समाज प्रयाग।।**

(बालकाण्ड, दो. सं. २)

राम वन गमन के समय तीर्थराज पहुँचने पर गोस्वामी जी ने भगवान् श्रीराम के मुख से बड़ा पुनीत वर्णन किया है–

**संगमु सिंहासनु सुठि सोहा। छत्रु अखयबटु मुनि मनु मोहा ।।**
**चंवर जमुन अरु गंग तरंगा। देखि होहिं दुख दारिद भंगा ।।**

(अयोध्या काण्ड, १०४/७-८)

**को कहि सकइ प्रयाग प्रभाऊ। कलुष पुंज कुंजर मृगराऊ ।।**
**अस तीरथपति देखि सुहावा। सुख सागर रघुबर सुखु पावा ।।**
**कहि सिय लखनहिं सखहिं सुनाई। श्रीमुख तीरथराज बड़ाई ।।**

(अयोध्या काण्ड, १०५/१-३)

भरत द्वारा तीर्थराज से की गई विनम्र भाव से विनती में उसके माहात्म्य का प्राकट्य देखे–

**देखत स्यामल धवल हिलोरे। पुलकि शरीर भरत कर जोरे।**
**सकल कामप्रद तीरथराऊ। बेद बिदित जग प्रगट प्रभाऊ।।**
**मागउँ भीख त्यागि निज धरमू। आरत काह न करइ कुकरमू।।**
**अस जियँ जानि सुजान सुदानी। सफल करहिं जग जाचक बानी।।**
**अरथ न, धरम न काम रुचि, गति न चहउँ निरबान।।**
**जनम जनम रति राम पद, यह बरदानु न आन।।**

(अयोध्याकाण्ड २०४)

लंका जीतकर अयोध्या आते समय भगवान श्रीराम सीता से कहते हैं–

**तीरथपति पुनि देखु प्रयागा। निरखत जन्म कोटि अघ भागा।**
**देखु परम पावनि पुनि बेनी। हरनि सोक हरि लोक निसेनी।।**

(लंकाकाण्ड ११९/७-८)

## तीर्थराज में मकर एवं माघ स्नानः–

प्रयागराज में आदिकाल से ही पौष पूर्णिमा से प्रारम्भ होकर माघ पूर्णिमा तक प्रति वर्ष पूरा एक महीना स्नान पर्व मनाया जाता रहा है। माघ स्नान में पाँच मुख्य स्नानों को विशेष मान्यता दी गई है–

१. मकर संक्रान्ति २. माघी अमावस्या ३. पौष पूर्णिमा ४. वसंत पंचमी ५. माघ पूर्णिमा।

## मकर स्नान

सौरमत के अनुयाई मकर संक्रान्ति से कुम्भ संक्रान्ति तक पूरे मकर राशि के काल में जब तक सूर्य मकर राशि में रहता है, मकर स्नान करते हैं।

पुराणों में माघ एवं मकर स्नान के माहात्म्य को बहुत ही विस्तार से बताया गया है कि माघ मास एवं मकर राशि काल में गंगा,यमुना एवं सरस्वती के त्रिवेनी संगम में प्रातः स्नान, जप, होम तथा दान का विशेष फलदाई महत्व है। मकर संक्रान्ति को अन्नदान विशेषकर खिचड़ी दान का अधिक महत्व है।

## तीर्थराज में कल्पवास

तीर्थराज प्रयाग में प्रति वर्ष पूरे माघ मास/मकर राशि में स्नानार्थी श्रद्धालु भक्तगण संन्यासियों की भाँति संयम नियम से पर्ण कुटी, छोलदारी, टेन्ट आदि लगाकर निवास करते हैं जिसे कल्पवास कहते हैं। विभिन्न पुराणों, रामायण, महाभारत

आदि में इसका वर्णन आया है।

मत्स्य पुराण के अध्याय १०८ में मार्कण्डेय ऋषि युधिष्ठिर संवाद में श्री मार्कण्डेय जी ने कहा है–

**श्रुणु राजन् महागुह्य सर्वपाप प्रणाशनम् ।**
**मासमेकं तुयः स्नायात् प्रयागे नियतेन्द्रियः ।।**
**शुचिस्तु प्रयतचो भलूत्वाहिंसकः श्रद्धयान्वितः ।**
**मुच्यते सर्वपापेम्यः सगच्छेत् परमं पदम् ।।**

अर्थात् हे राजन्! यह प्रसंग तो परम गोपनीय एवं समस्त पापों का विनाशक है इसे बतला रहा हूँ, सुनो! जो मनुष्य जितेन्द्रिय, श्रद्धायुक्त और अहिंसाव्रती होकर पवित्र भाव से नियम पूर्वक एक मास तक प्रयाग में स्नान करता है, वह समस्त पापों से मुक्त हो जाता है और परमपद को प्राप्त कर लेता है।

## रामचरितमानस में माघ/मकर स्नान

गोस्वामी तुलसीदास ने तीर्थराज प्रयाग में माघ महीना/मकर राशि काल में प्रति वर्ष बहुत बड़े स्नान मेले पुरातन काल से लगते रहने तथा भरद्वाज मुनि के आश्रम में संत, ऋषियों, मुनियों के वृहद् समागम का वर्णन किया है यथा–

**माघ मकरगत रबि जब होई। तीरथपतिहिं आव सब कोई।।**
**देव दनुज किंन्नर नर श्रेनीं। सादर मज्जहिं सकल त्रिबेनी।।**
**पूजहिं माधव पद जलजाता। परसि अखय बटु हरषहिं गाता।।**
**भरद्वाज आश्रम अति पावन। परम रम्य मुनिवर मन भावन।।**
**तहाँ होइ मुनि रिषय समाजा।जाहिं जे मज्जन तीरथराजा।।**
**मज्जहिं प्रात समेत उछाहा। कहहिं परस्पर हरि गुन गाहा।।**

(बालकाण्ड, ४३/२-८)

**एहि प्रकार भरि माघ नहाहीं। पुनि सब निज निज आश्रम जाहीं।।**
**प्रति संबत अति होइ अनन्दा। मकर मज्जि गवनहिं मुनिवृन्दा।।**

(बालकाण्ड, ४४/१-२)

उपरोक्त पंक्तियों से यह स्पष्ट है कि तीर्थराज प्रयाग में पुरातन काल से प्रति वर्ष माघ/मकर राशिके महीने में त्रिवेनी स्नान एवं संत मुनि-ऋषियों का महासमागम होता रहा है।

## कुम्भ स्नान : मेला

## वैदिक/पौराणिक पृष्ठ भूमिः–

ऋग्वेद, विभिन्न पुराणों, वाल्मीकि रामायण एवं महाभारत में देवासुर संग्राम एवं

सागर मंथन की घटना का वर्णन आया है। वाल्मीकि रामायण के बालकाण्ड के पैंतालिसवें सर्ग में देवताओं और दैत्यों द्वारा क्षीर, समुद्र मंथन, भगवान रुद्र द्वारा हलाहल विष का पान, धनवन्तरि, अप्सरा, वारुणी, उच्चै:श्रवा, कौस्तुभमणि, ऐरावत, लक्ष्मी, चन्द्रमा एवं अमृत आदि चौदह रत्नों की उत्पत्ति हुई। अमृत को लेकर देवताओं और दैत्यों में महान युद्ध छिड़ गया। जब देवताओं और असुरों का वह सारा समूह क्षीण हो चला, तब महाबली भगवान विष्णु ने मोहिनी माया का आश्रय लेकर तुरन्त ही अमृत का अपहरण कर लिया। देवराज इन्द्र का पुत्र जयन्त उस अमृत के कुम्भ को लेकर छिपाने हेतु सम्पूर्ण पृथ्वी के ऊपर भ्रमण करता रहा। उस समय चार स्थानों प्रयाग, हरिद्वार, उज्जैन एवं नासिक में क्रमशः गंगा, शिप्रा एवं गोदावरी में कुम्भ से अमृत के बूँद गिर गए थे। बाद में उस अमृत को देवताओं ने पी डाला एवं बलशाली होकर दैत्यों एवं असुरों का संहार कर दिया। अमृत कुम्भ से भारतभूमि में जहाँ-जहाँ अमृत की बूँदे गिरीं वह स्थान पवित्र होकर तीर्थ बन गए एवं वहाँ स्नान-दान के लिए माघ/मकर राशि के महीने में विशाल मेले एवं संत समागम होने लगे।

## ज्योतिष के अनुसार कुम्भ स्नानों का निर्धारण

**१. तीर्थराज प्रयाग में–** अमृत बूँद गिरने का स्थान– गंगा, यमुना, सरस्वती के त्रिवेणी संगम में।

**कुम्भ स्नान का समय–** जब सूर्य व चन्द्र मकर राशि में व वृहस्पति मेष राशि में रहते हैं। यह योग प्रत्येक बारह वर्ष के बाद बनता है। छः वर्ष बाद अर्ध कुम्भ का स्नान भी होता है।

**२. हरिद्वार में–** अमृत बूँद गिरने का स्थान गंगा में हर की पैड़ी में।

**कुम्भ स्नान का समय–** जब सूर्य मेष राशि में व बृहस्पति कुम्भ राशि में पड़ते हैं। यह योग भी प्रत्येक बारह वर्ष बाद पड़ता है। छः वर्ष बाद अर्द्ध कुम्भ का स्नान भी होता है।

**३. उज्जैन में–** अमृत बूँद गिरने का स्थान– शिप्रा नदी का कुण्ड।

**कुम्भ स्नान का समय–** जब सूर्य मेष राशि में बृहस्पति सिंह राशि में पड़ते हैं। यह योग बारह वर्ष बाद पड़ता है। अर्द्ध कुम्भ का स्नान नहीं होता है।

**४. नासिक में–** अमृत बूँद गिरने का स्थान– गोदावरी नदी के कुण्ड में।

**कुम्भ स्नान का समय–** जब सूर्य एवं बृहस्पति दोनों कुम्भ राशि में पड़ते हैं। यह योग बारह वर्ष बाद पड़ता है। अर्द्ध कुम्भ का स्नान नहीं होता है।

## इतिहास में तीर्थराज प्रयाग का कुम्भ/अर्द्ध कुम्भ स्नान/दान

सम्राट हर्ष जो समस्त उत्तर भारत में ६०६ ई. से ६४७ ई. तक सम्राट रहा है

उसके बारे में ऐतिहासिक अभिलेखों एवं चीनी यात्री ह्वेनसांग की दैनन्दिनी के अनुसार ज्ञात होता है कि सम्राट हर्ष प्रयाग में प्रत्येक ६ वर्ष में धार्मिक अनुष्ठान माघ/मकर राशि के काल में (कुम्भ/अर्द्ध कुम्भ स्नान काल में) धार्मिक अनुष्ठान करता था। चीनी यात्री ह्वेनसांग ने उसे बौद्ध मतावलम्बी बताया है परन्तु वह सनातन आर्य धर्म को मानता था। उसने चीनी यात्री का बहुत अच्छे ढंग से आदर सत्कार किया था। सम्राट के अनुष्ठान में एक लम्बे दानसत्र का आयोजन होता था जो लगभग तीन महीने तक चलता था। इन तीनों महीनों में उसकी लगभग सारी धन सम्पत्ति समाप्त हो जाती थी जो पिछले छः वर्षों में जमा हुई थी, यहाँ तक कि हर्ष अपने वस्त्र और रत्न आभूषण भी दान कर देता था और एक बार तो उसने पहनने के लिए अपनी बहन से भीख माँगकर एक साधारण वस्त्र लिया था। उस अनुष्ठान में चीनी यात्री ह्वेनसांग भी उपस्थित था। हर्ष ने अपने जीवन काल में प्रयाग में ऐसी छः सभाओं (दान सत्रों) में भाग लिया और अपना सब कुछ दान में दे दिया।

●

# प्रयाग के तीर्थ

**हरिओम पाण्डेय ***

**सर्वत्र सुलभा गङ्गा त्रिषु स्थानेषु दुर्लभा।**
**गङ्गाद्वारे प्रयागे च गङ्गासागर सङ्गमे।।**
**तत्र स्नात्वा दिवं यान्ति ये मृतास्तेऽपुनर्भवाः।।**

(कूर्म पुराण पूर्व विभाग/अ.३५.३३)

प्रयाग आदिकाल से ही विश्वबन्द्य भारत की पुण्यदायिनी मोक्षदायिनी नगरियों में मूर्धन्य है। प्र (प्रकृष्ट) उपसर्गपूर्वक 'यज् (यजने) धातु से निष्पन्न प्रयाग का अर्थ ही है, वह स्थल जहाँ पर यज्ञ किये गये हों। ब्रह्मा ने सर्वप्रथम प्रयाग में ही यज्ञ किया। ब्रह्मा, विष्णु, महेश तथा इन्द्र के द्वारा यह पुण्य भूमि रक्षित है। प्रयाग पृथ्वी का जघान प्रदेश है। (कूर्म पुराण पू. वि.अ. ३५), (मत्स्य पुराण पु. अ. १०८, अग्नि पु. अ. १११) प्रयाग की गङ्गा यमुना से सिक्त रज कण स्वयं तीर्थ है, जिसके सेवन एवं नियमपूर्वक वास से अज्ञानी, मूर्ख तथा निर्धन व्यक्ति भी सदाचार परायण वेद वेदान्त मर्मज्ञ योग युक्त विद्वान् पुरुषों को होने वाली सद्गति प्राप्त कर लेते हैं। वाल्मीकि रामायण के ५४वें सर्ग में– भगवान् राम लक्ष्मण से कहते हैं, 'हे सौमित्र! देखो यही प्रयाग है, क्योंकि यहाँ मुनियों के द्वारा किये गये अग्निहोत्र का सुगन्धित धुआँ सर्वत्र उठ रहा है।' अत: प्रयाग आदिकाल से ही तपोभूमि, यज्ञभूमि एवं ज्ञान की भूमि के रूप में प्रतिष्ठित है, जहाँ महर्षि वाल्मीकि एवं भरद्वाज के विराट् गुरुकुल थे। वराह पुराण (अ. १३६) के अनुसार प्रयाग में त्रिकंटेश्वर शूल कंटक और सोमेश्वर आदि शिवलिङ्ग तथा वेणीमाधव भगवान के मन्दिर हैं तथा हंसतीर्थ है। मत्स्य पुराण (अ. १०७) में कम्बल और अश्वतर दो तटों का वर्णन है, तथा अक्षयवट का उल्लेख हुआ है। वहाँ भोगावतीपुरी है, जो कि प्रजापति की वेदी की रेखा है। वही अध्याय ३० एवं ३१ में समुद्रकूप का भी वर्णन मिलता है। मत्स्य पुराण के अध्याय १०५ में लिखा है कि यमुना के उत्तर तट पर प्रयाग से दक्षिण ऋणमोचन तीर्थ है। इसी अध्याय में गंगा के पूर्व और उत्तर उर्वशी-रमण, हंस प्रपतन, विपुल तथा हंसपांडुर तीर्थों का उल्लेख है। कूर्म पुराण के अध्याय ३७ में कम्बल तथा अश्वतर तटों को यमुना के दक्षिण में स्थित बतलाया गया है। कूर्म पुराण के अनुसार प्रयाग में दस

* शोध अध्येता, इलाहाबाद, उत्तर प्रदेश।

हजार (प्रधान) तीर्थ और तीस करोड़ दूसरे (अप्रधान) तीर्थ स्थित हैं–

**दस तीर्थसहस्राणि त्रिंशत्कोटयास्तथापराः ।**
**प्रयागे संस्थितानि स्युरेवमाहुर्मनीषिणः ।।**

(पूर्व. वि. अ. ३७/६)

पद्म पुराण (स्वर्ग खण्ड/अ. ७६) में कहा गया है, तीस करोड़ दस हजार तीर्थ प्रयाग में सदा निवास करते हैं। यहाँ तीन अग्नि कुण्ड हैं जिनके बीच से होकर गङ्गा प्रयाग से निकलती है। पद्म पुराण के अ. २३ एवं २५ में अक्षयवट की चर्चा आती है, जिसके पत्तों पर विष्णु भगवान शयन करते हैं। अग्नि पुराण के अध्याय १११ में अक्षयवट, वासुकि और हंसतीर्थ का उल्लेख मिलता है।

अब हम क्रमशः इन प्राचीन तथा अर्वाचीन तीर्थों का एवं प्रसिद्ध देवालयों का वर्णन करेंगे–

**१. संगम–** गंगा और यमुना की श्वेत श्याम तरङ्गमालाओं का सम्मिलन ही सङ्गम है, जो कि प्रयाग की आत्मा है। यहाँ सरस्वती नदी अदृश्य रूप में (बालू के या पृथ्वी के नीचे) प्रवाहमान है–

**हिमविद्धन्ध्ययोर्मन्ध्ये, यत्प्राग्विनश नादपि ।**
**प्रत्यगेव प्रयागाच्च, मध्यदेशः प्रकीर्तितः ।।**

(मनुस्मृति २/२१)

संगम की महिमा सर्वत्र लोकाविश्रुत है, एक ओर जहाँ भगवान् विष्णु की चरणोदक स्वरूप गङ्गा प्रवहमान है वहीं दूसरी ओर कृष्ण प्रिया सूर्यतनया कालिन्दी यहाँ आकर अपनी लोकलीला का संवरण का भागीरथी से एकाएक हो जाती है, मानो ज्ञान और प्रेम का मिलन हो गया हो। अतः इन दो जीवनदायिनी कल्याण वाहिनी नदियों का सम्मिलन लोक-परलोक दोनों का साधन करने वाली है, इसलिए पुराणों से लेकर संस्कृत कवियों तक सभी ने समवेत स्वर से इसकी महिमा का गान किया है–

**जलप्रवेशं यः कुर्यात् संगमे लोकविश्रुते ।**
**राहुग्रस्तो यथा सोमो विमुक्तःसर्वयातकै ।।**

(कूर्म पुराण, पू.वि. अ. ३६/६)

अर्थात् गङ्गा-यमुना के लोकप्रसिद्ध संगम पर जो जल में प्रवेश करता है, वह जिस प्रकार राहु से ग्रस्त चन्द्रमा मुक्त हो जाता है, वैसे ही सभी पापों से मुक्त अर्थात् गङ्गा-यमुना के लोकसिद्ध संगम पर जो जल में प्रवेश करता है, वह जिस प्रकार राहु से ग्रस्त चन्द्रमा मुक्त हो जाता है, वैसे ही सभी पापों से मुक्त हो जाता है।

**समुउपत्योर्जलसंनिपाते पूतात्मनामत्र किलाभिषेकात् ।**
**तत्त्वावबोधेन विनाऽपि भूयस्तनुत्यजां नास्ति शरीरबन्धः ।।**

(रघुवंशम १३ सर्ग/३२)

यहाँ गङ्गा यमुना दोनों नदियों के संगम में जो स्नानकर पवित्र हो जाते हैं, वे तत्त्वज्ञानी न होने पर भी संसार बन्धनों से छूट जाते हैं, फिर शरीर धारण नहीं करते।

**गङ्गा यमुनयोर्मध्ये स्नातो मुच्येत किल्विषात् ।**
**मनसा चिन्तितान् कामान् सम्यक् प्राप्नोति पुष्कलान् ।।**

(पद्म पुराण ४१/१७)

पुराणों में सङ्गम की महिमा बहुत अधिक वर्णित की गई है। संगम में प्रतिवर्ष माघ मेले का आयोजन होता है, जो कि मकर संक्रान्ति या पौष पूर्णिमा से प्रारम्भ होकर माघी पूर्णिमा अथवा महाशिवरात्रि पर्यन्त चलता है। विश्व में सर्वाधिक दिनों तक चलने वाला यह मेला अपने आप में अपूर्व है। प्रत्येक छः वर्ष पर अर्द्धकुम्भ तथा १२ वर्ष पर कुम्भ मेले का आयोजन होता है, इस अवसर पर इसका स्वरूप विराट् हो जाता है, जिसमें न केवल भारत के अपितु विश्व के सुदूर देशों के श्रद्धालु पुण्य सञ्चयार्थ आते हैं।

**२. अक्षयवट–** संगम के समीप ही यमुना के किनारे अक्षयवट स्थित है। इसके बारे में मान्यता है कि जल प्रलय के उपरांत भगवान श्रीकृष्ण बालमुकुन्द रूप में इसी वट के पत्ते पर तैरते हुए दिखाई पड़े। इस वृक्ष का उद्‌गम कब हुआ इसका तो पता नहीं किन्तु रामायण काल से लेकर आज तक इसका अस्तित्व इसके अक्षयवट नाम को सार्थक करता है। मुगल बादशाह अकबर ने सन् १५८३ ई. (१४ नवम्बर सोमवार) को प्रयाग के किले की नींव रखी। किले का निर्माण होने से अक्षयवट इसकी चहारदीवारी में आ गया जिससे अब अक्षयवट सामान्य लोगों के लिए दुर्लभ हो गया है, औरंगजेब ने इस वटवृक्ष को जलवा दिया, किन्तु यह वृक्ष पुनः आ गया, जिसके जलाने के चिह्न आज भी देखे जा सकते हैं। सम्प्रति यह किला सेना के अधिकार में है, जिसमें आयुध कारखाना स्थापित है, अतः जन सामान्य के लिए अक्षयवट का दर्शन दुर्लभ है।

कूर्मपुराण में कहा गया है, जो मनुष्य इस वटवृक्ष के नीचे जितेन्द्रिय होकर ब्रह्मचर्य पूर्वक पवित्रता से उपासना करता है, वह ब्रह्मलोक प्राप्त करता है। (अथ संध्यावटे रम्ये ब्रह्मचरित्र जितेन्द्रियः। नरः शुचिरूपासीत ब्रह्मलोकमवाप्नुयात्।। पू.वि. अ. ३५/२७)। ऐसा ही पद्मपुराण में भी प्राप्त होता है।

**३. पातालपुरी मन्दिर–** यह मन्दिर कितना प्राचीन है, इसका पता तो नहीं लगता, लेकिन हर्षवर्धन के साथ लगभग ६४४ ई. में आये चीनी यात्री ह्वेनसांग ने

इसका वर्णन किया है, जो इस प्रकार है– "नगर में एक देव मन्दिर (किले के भीतर वर्तमान पातालपुरी के मन्दिर के) स्थान पर रहा होगा है, जो अपनी सजावट और विलक्षण चमत्कारों के लिए विख्यात है। इसके विषय में प्रसिद्ध है कि जो कोई यहाँ एक पैसा चढ़ावे, उसने मानो और (तीर्थ) स्थानों में एक सहस्र स्वर्ण मुद्राएँ चढ़ाई और यदि यहाँ आत्मघात द्वारा अपने प्राणों का विसर्जन कर दे तो वह सदैव के लिए स्वर्ग चला जाता है।" अत: इससे यह बात तो जरूर सिद्ध हो जाती है कि यह मन्दिर पाँचवीं शती में अपने पूर्ण अस्तित्व में रहा होगा।

वर्तमान समय में यह मन्दिर किले के आँगन में पूर्व द्वार की ओर पृथ्वी के नीचे तहखाने में है। १९वीं शती तक यह मन्दिर पत्थर के १०० खम्भों पर जिनकी ऊँचाई ६ १/२ फुट के करीब है, पर स्थित था, किन्तु अब यह ईंट की दीवारों से निर्मित है। मूर्त्तियों के शिल्प से यह बहुत प्राचीन नहीं प्रतीत होती किन्तु इनका निर्माण कब हुआ यह अज्ञात है। मन्दिर में धर्मराज, गणेश, गोरखनाथ तथा नरसिंह अवतार की मूतियाँ हैं, जिनकी संख्या ४३ है। बीच-बीच में शिवलिंग भी स्थापित है।

अनुमान यह है कि किले के बन जाने से अक्षयवट और उसके निकट के पुराने मन्दिर पृथ्वी के धरातल से नीचे पड़ गये थे, जिनकी मूर्तियों को अकबर ने इस तहखाने में सुरक्षित रखवा दिया। जहाँगीर ने इसके द्वार को बन्द करवा दिया था। उसके पश्चात् फिर कब इसका द्वार खुला यह अविदित है।

**४. बड़े हनुमान जी–** किले के पूर्वी तरफ हनुमान जी का मन्दिर है। मन्दिर ३० फुट लम्बा तथा २० फुट चौड़ा है, जो कि सीमेन्ट के खम्भो पर टीन शेड के द्वारा बनाया गया है। यह भूमि से लगभग आठ फुट नीचे है, गर्भगृह तक जाने के लिए सीढ़ियाँ बनी हुई हैं। ऐसा लगता है कि पहले कभी यहाँ यह मन्दिर अपने भव्य रूप में रहा होगा, क्योंकि विग्रह १०-११ फुट के लगभग लम्बा तथा एक ही शिलाखण्ड को काटकर बनाया गया है। इस प्रकार के विग्रह का निर्माण मुस्लिम काल से पूर्व ही होता था, बाद में किन्हीं कारणों से यह मंदिर नष्ट हो गया और विग्रह उसी स्थान पर जहाँ पर इस समय प्रतिष्ठित है, मिट्टी के नीचे दब गया होगा। ऐसी मान्यता है कि ४०-५० वर्ष पूर्व किसी पुजारी को हनुमान जी ने स्वप्न के माध्यम से इस मूर्ति की सूचना दी और निकलवाने को कहा। भूमि से निकालते समय यह ८ फुट के करीब नीचे ही रुक गया बहुत प्रयत्न करने पर भी ऊपर न आ सका। रात्रि में हनुमान जी ने स्वप्न के माध्यम से उसे वहीं रखने का आदेश दिया। यह विग्रह लेटा हुआ है। हनुमान जी के हाथ में राम तथा लक्ष्मण जी विराजमान हैं और नीचे पैरों पर अहिरावण की मूर्ति है। गंगा के बाढ़ के कारण यहाँ स्थाई निर्माण सम्भव नहीं था। लेकिन अब बहुत

सौन्दर्यीकरण कर दिया गया है। मन्दिर का प्रबन्धन महानिर्वाणी अखाड़ा बाघम्बरी गद्दी इलाहाबाद के द्वारा किया जाता है।

**५. हरितमाधव मन्दिर–** यह मन्दिर गंगा के तट पर रेलवे पुल के ठीक नीचे है। बलुआ पत्थर से बना यह मन्दिर मध्यकाल का प्रतीत होता है, जिसके दोनों तरफ गोलाकार दो गर्भगृह है तथा बीच में बरामदा बना हुआ है। मन्दिर का शिखर गुम्बद के आकार में है। बहुत दिनों तक यह मंदिर उपेक्षित पड़ा हुआ था, कुछ वर्ष पूर्व यह मन्दिर श्रीमठ पंचगङ्गा घाट वाराणसी के वर्तमान पीठाधीश्वर स्वामी रामनरेशाचार्य जी के संरक्षण में चला गया, तब से उन्होंने यहाँ पर बहुत सुधार करवाया। मध्ययुग के महान अवतारी सन्त स्वामी रामानन्द जी का जन्म प्रयाग में गंगा के समीप ही कहीं हुआ था जिसका अब पता नहीं चलता, वर्तमान स्वामी जी ने इस मन्दिर को ही उनका अवतरण स्थल स्वीकार कर तदनुरूप विकास कर रहे हैं।

**६. दशाश्वमेध–** रेलवे पुल के नीचे दारागंज प्रकोष्ठ में यह घाट स्थित है, इसके नाम से प्रतीत होता है कि किसी काल में यहाँ पर दश अश्वमेध यज्ञ किये गये होंगे, जिससे इस घाट का यह नाम पड़ा। कूर्म तथा पद्मभूषण में घाट पर स्नान का बहुत फल बताया गया है। पद्मपुराण के अनुसार "सत्य बोलने से जो पुण्य होता है, सत्य बोलने से जो फल होता है तथा अहिंसा के पालन से जो धर्म होता है, वह दशाश्वमेध घाट की यात्रा करने से ही प्राप्त हो जाता है।" (स्वर्ण खण्ड/८६)। इसी घाट पर एक गणेश जी की बैठी हुई भव्य प्रतिमा है, जो लगभग ७-८ फुट ऊँची है। शैली की दृष्टि से यह महाराष्ट्र की प्रतीत होती है, मन्दिर के पीछे कुछ मराठी पुरोहितों के भवन भी हैं, जो कभी यहाँ आकर बस गये होंगे।

**७. रामदास जी का हनुमान मन्दिर–** रेलवे पुल के नीचे गंगा तट पर दारागंज में ही एक छोटी सी कोठरी में हनुमान जी का मन्दिर है जिसके सामने कुआँ भी है। अपनी उत्तर भारत यात्रा के समय शिवाजी के गुरु स्वामी समर्थ रामदास ने अपने प्रयाग प्रवास के समय इस मन्दिर को बनवाया था। यह हरित माधव मन्दिर के समीप ही है। पहले यह साधारण सा ही था किन्तु विगत कुछ वर्षों से इसका सौन्दर्यीकरण हो गया है।

**८. श्रीवेणीमाधव मन्दिर–** यह प्रयाग का सर्वप्रधान मन्दिर है, जो दारागंज में दशाश्वमेध घाट से ३०० मीटर पहले स्थित है। यहाँ गर्भगृह में श्री राधा माधव की श्याम प्रतिमा स्थापित है। पहले यह छोटा था, किन्तु १०-१५ वर्षों से यह लगातार विकसित होता जा रहा है, मन्दिर का शिखर ७० फीट के लगभग ऊँचा बनाया गया है जिससे दर्शन दूर से ही हो जाता है। इसके ठीक सामने शिव जी का अलंकृत प्रस्तर खण्डों से निर्मित छोटा देवालय है।

**९. नाग वासुकि मन्दिर–** यह वासुकी जी (नागों के राजा) का सम्पूर्ण भारत का एकलौता मन्दिर है। प्रयाग वासुकि नाग तीर्थ का वर्णन पद्मपुराण स्वर्ग खण्ड में आता है। यह मन्दिर दारागंज में ही स्थित है। यहीं पर किले से प्रारम्भ वेणी बाँध आकर समाप्त हो जाता है। गंगा के तट पर स्थित यह मन्दिर बहुत रमणीक है। मन्दिर की बाह्य दीवारों पर सुन्दर नक्काशी की गई है। गर्भगृह में एक काले पत्थर पर वासुकि जी की सुन्दर सजीव प्रतिमा निर्मित की गई है। मन्दिर के बाहर मुख्य द्वार के बाईं तरफ गंगापुत्र श्रीभीष्म पितामह की विशालकाय (लगभग २० फीट लम्बी) सर- सैय्या पर लेटी हुई प्रतिमा है। मन्दिर प्रांगण में गंगा स्नान हेतु पत्थर की सीढ़ी पर घाट का निर्माण किया गया है।

**१०. मनकामेश्वर मन्दिर–** यह छोटा-सा मन्दिर यमुना के किनारे किले के दक्षिण में स्थित है। मन्दिर गोलाकार १०-१२ स्तम्भों पर निर्मित है। ऊपर गुम्बद बना हुआ है। यह स्थल बहुत ही रमणीक है बगल में नगर निगम द्वारा निर्मित सरस्वती घाट एवं पार्क है। वर्तमान में मन्दिर की व्यवस्था शारदापीठ के शंकराचार्य स्वामीस्वरूपानन्द सरस्वती द्वारा किया जाता है।

**११. बलुआ घाट एवं इस्कॉन मन्दिर–** बलुआ घाट यमुना के किनारे स्थित है। यह मध्यकाल का बना हुआ सुन्दर तथा सुदीर्घ घाट है, जिसमें एक बरामदा एक बारादरी तथा गोलाकार गुम्बद से युक्त भवन निर्मित है। यमुना सूर्य तनया है, अतः यहाँ सूर्य पूजा के चिह्न मिलते हैं। कार्तिक में यहाँ मेले का आयोजन होता है। पद्मपुराण में यमुना के उत्तर तट पर और प्रयाग के दक्षिण भाग में ऋणप्रमोचन नामक तीर्थ का वर्णन आया है। सम्भवतः यह वही स्थल है, क्योंकि वर्णन के आधार पर बलुआ घाट की स्थिति बसी ही हैं। कूर्म पुराण में यमुना के पश्चिम भाग में धर्मराज का अनरक नामक तीर्थ कहा गया है। यहाँ स्नान करने वाले स्वर्ग जाते हैं और जो यहाँ मृत्यु को प्राप्त होता है, उनका पुनर्जन्म नहीं होता।

**पश्चिमे धर्मराजस्य तीर्थं त्वनरकं स्मृतम् ।**
**तत्र स्नात्वा दिवं यान्ति ते मृतास्तेऽपुनर्भवाः ।।**

(पूर्व विभाग, अ. ३७/४)

सम्भवतः यह तीर्थ भी यही बलुआ घाट हो अथवा इसी के आस-पास रहा होगा। इसी बलुआ घाट के उत्तर में काशी नरेश स्व. विभूतिनारायण सिंह के महल के बाग में अन्तर्राष्ट्रीय श्रीकृष्ण भावनामृत संघ द्वारा स्थापित राधाकृष्ण का मन्दिर है। यह मन्दिर बहुत ही सुन्दर तथा आकर्षक है।

**१२. ललिता देवी मन्दिर–** प्रयाग में ललिता देवी की शक्तिपीठ है। यद्यपि आद्य ललिता शक्तिपीठ कौन-सा है? इस विषय में विवाद है। कुछ विद्वान् इसे ही

शक्तिपीठ मानते हैं। कुछ विद्वान् अलोपी माता के मन्दिर को शक्तिपीठ मानते हैं। कुछ लोग अतरसुईया मोहल्ले में स्थित कल्याणी देवी को ही शक्तिपीठ मानते हैं। जो भी हो विशेष प्रमाणों के अभाव में मीरापुर प्रकोष्ठ में स्थित ललिता देवी मन्दिर को ही आदि शक्तिपीठ के रूप में मान लेना चाहिए। यहाँ देवी देह की हस्ताङ्गुलि गिरी थी। यहाँ की शक्ति 'ललिता' और भैरव 'भव' है।

(द्रष्टव्य, देवीपुराण-शक्तिपीठाङ्क, पृष्ठ ४२)

**१३. कल्याणी देवी–** यह मन्दिर प्रयाग के पश्चिम अतरसुईया नामक जगह पर स्थित है। वास्तु की दृष्टि से यह मन्दिर १७-१८वीं शती के जैसा प्रतीत होता है। गर्भगृह में देवी की २ $\frac{१}{२}$ फीट के लगभग काले रंग की प्रतिमा है। वास्तु की दृष्टि से मन्दिर उच्चकोटि का है। कुछ लोग इसी मन्दिर को 'ललिता शक्तिपीठ मानते हैं।

**१४. अलोपी देवी मन्दिर–** यह मन्दिर 'अलोपीबाग' नामक मुहल्ले में स्थित है। दारागंज से इलाहाबाद जंक्शन को जाने वाली सड़क पर बाईं ओर यह मन्दिर है। इसी के सामने बद्रिकाश्रम शङ्कराचार्य का मठ है। इस मन्दिर का प्रवेश द्वार भव्य है। द्वार के दोनों तरफ सिंह की प्रतिमा बनी है। इस मन्दिर का प्रबन्ध बाघम्बरी अखाड़े द्वारा होता है। यहाँ की विशेषता है कि यहाँ पर देवी की कोई प्रतिमा गर्भगृह में नहीं है। अपितु एक झूला टँगा है और उसके नीचे ३ फीट ऊँचा चबूतरा है। ऐसी मान्यता है कि कोई भक्त माँ विन्ध्यवासिनी की प्रार्थना करके उन्हें अपने घर की ओर लेकर चला, तो भगवती ने शर्त रखी कि तुम अगर मुझे बीच में कही रखोगे तो मैं वापस लौट जाऊँगी। विन्ध्याचल से चलने के पश्चात् नाव द्वारा गङ्गा पार करके वह तट पर रुका और उसे नींद आ गई। जब उठा तो देखा विग्रह अदृश्य हो गया। वह रोने लगा तो देवी ने आकाशवाणी की कि मेरा केवल विग्रह गया है, मैं नहीं। मैं अब से यहाँ पर अदृश्य रूप में रहूँगी। १३-१४वीं शतीं में इस मन्दिर के प्रमाण प्राप्त होते हैं, यद्यपि तब यह घास-फूस का बना था।

**१५. कोटितीर्थ/शिवकोटि–**

**कोटितीर्थं समाश्रित्य यस्तु प्राणान् परित्यजेत् ।**
**कोटिवर्ष सहस्राणि स्वर्गलोके महीयते ।।**

(कूर्म पुराण पू.वि. अ. ३७/२८)

प्रयाग में स्थित यह कोटि तीर्थ सम्भवत: आज का शिवकोटि या शिवकुटी मोहल्ले में स्थित है। यह इलाहाबाद-फैजाबाद राजमार्ग पर तेलियरगंज से अन्दर की ओर गंगा तट पर है। आज से ५०-६० वर्ष पूर्व यह क्षेत्र सघन वनों से युक्त तथा अनेक तपस्वियों द्वारा सेवित था। इसलिए यह तपोवन कहलाता था। इस कोटि तीर्थ पर १ करोड़ शिवलिङ्ग से युक्त मन्दिर है जिसके कारण यह मुहल्ला ही शिवकोटि

कहलाने लगा तथा इस समय अपभ्रंश के कारण शिवकुटी भी कहलाता है। 'कोटि तीर्थ' इस नाम का कारण भी यहाँ पर स्नान से करोड़ों वर्ष स्वर्ग में अधिवास फल से पड़ा होगा। यहीं पर नारायण आश्रम भी है। इसके संस्थापक श्री केशवनान्द जी थे बाद में उनके सुयोग्य शिष्य श्री नारायण जी (मति) हुई। इन दोनों की जीवित समाधि गंगा के तट पर आश्रम प्रकोष्ठ में है। इनके शिष्य नेपाल, कलकत्ता, मध्यभारत आदि में हैं। यह महिला साधुओं का बहुत बड़ा आश्रम है। यहाँ के आचार्य या प्रधान महिला ही होती है। जो पीला या भगवा वस्त्र धारण करती हैं। इस आश्रम में दुर्गा जी, लक्ष्मी नारायण के बहुत भव्य मन्दिर है। आश्रम में एक बालिका इण्टर कालेज एवं चिकित्सालय भी जन सेवार्थ संचालित होते हैं।

**१६. हंस तीर्थ**– यह तीर्थ गंगा के दक्षिण प्रतिष्ठानपुर नई झूँसी के बायी तरफ स्थित है।

**उत्तरेण प्रतिष्ठानं भागीरथयास्तु सत्यतः ।**
**हंस प्रपतनं नाम तीर्थं त्रैलोक्य विश्रुतम् ।।**

(कूर्म पुराण, पू.वि.अ. ३५/२३)

इलाहाबाद वाराणसी राजमार्ग पर गंगा पुल पार करके बायें हाथ पर यह तीर्थ है। यहाँ एक कुंआ है, इसकी चर्चा मत्स्य तथा वराह पुराण में आई है। इस कुएँ की पक्की दीवारों पर यह लेख खुदा हुआ है–

**हंस प्रपत वंती**
**हंस रूपी जगं**
**नाथः सदास?**
**तत्र स्नाने पाने**
**हंस गति लभेत्**

अर्थात् इस हंस रूपी बावली में स्नान करने और इसके जल को पीने से मनुष्य हंसगति (मुक्ति) को पाता है।

अब यह कूप सरकारी पुरातत्त्व विभाग के द्वारा संरक्षित है। इससे कुछ हटकर पूर्व और दक्षिण के कोने में 'हंसतीर्थ' नामक स्थान है, जो हंस सम्प्रदाय के साधुओं का एक आश्रम है। ये लोग शिखा-सूत्र रखते हैं और श्वेतवस्त्र धारण करते हैं। इसे वि.सं. १२६ में भागलपुर जनपद के शाहपुर-सोनबरसा नामक क्षत्रिय जमींदार ठाकुर प्रसाद जी ने साधु होकर बनवाया था, उनका उपनाम 'आत्मा हंस' था।

यह स्थान बड़े विचार के साथ बनवाया गया है, जिसमें हठयोग के सिद्धान्त के अनुसार शरीर के आन्तरिक स्थलों का स्थूल रूप में दिखाने का प्रयत्न किया गया है।

बीच-बीच में कुछ देवी देवताओं की मूर्तियों का भी समावेश है, जिसमें से बहुतों का ध्यान योग के अनुसार षट्चक्र भेदन क्रिया से सम्बंधित है। (इसके विषय में विशेष विवरण हेतु शालिग्राम श्रीवास्तव की 'प्रयाग प्रदीप' नामक पुस्तक द्रष्टव्य है।)

**१७. गंगोली शिवाला–** नई झूँसी में गंगा तट पर गंगा प्रसाद तिवारी (उपनाम गंगोली) का बनवाया हुआ एक बलुआ पत्थर का बड़ा विशाल शिवाला है। कहा जाता है कि यह मन्दिर सन् १८०० ई. के लगभग सवा लाख रुपये की लागत से बना था। इसकी संगतराशी का काम दर्शनीय है। इसके बाहर प्रदक्षिणा पथ पर चारों ओर खंभों और दीवारों पर नीचे से ऊपर तक देवताओं की असंख्य मूर्तियाँ तथा कतिपय पौराणिक गाथाओं के दृश्य बहुत ही जीवन्तता के साथ पत्थर पर खुदे हुये हैं। गंगोली तिवारी आगरा के रहने वाले थे। किसी समय झूँसी में उनका बड़ा कारोबार था। उनके वंशज कुछ यहाँ, कुछ आगरे में रहते हैं। अब यह मन्दिर उपेक्षा का शिकार है।

**१८. समुद्रकूप–** पुरानी झूँसी में गंगा के दक्षिण की ओर समुद्रकूप का प्रसिद्ध टीला है जिसको वहाँ के लोग 'कोट' कहते हैं। इस पर एक बड़ा पक्का कुआँ है। उसका नाम 'समुद्रकूप' है। इसकी चर्चा 'मत्स्य पुराण' में है। अनुमान किया जाता है कि यह कूप सम्राट् समुद्रगुप्त ने बनवाया था। यह बहुत दिनों तक बंद पड़ा था। वहाँ के लोगों को विश्वास था कि इसका संबंध नीचे-नीचे समुद्र से है। इसलिए इसके खुलने से समुद्र उमड़ आएगा और सारी पृथ्वी जलमग्न हो जाएगी। परन्तु आज से १०० वर्ष पूर्व लगभग अयोध्या से एक वैष्णव साधु बाबा सुदर्शनदास जी ने आकर इस कूप को खुलवाकर साफ करवाया तथा यहाँ एक सुन्दर आश्रम और मन्दिर का निर्माण कराया। इसमें गंगा की ओर एक बड़ी सीढ़ी तथा कई गुफाएँ हैं। यह स्थल दर्शनीय है।

**१९. शेखतकी का मजार–** समुद्र कूप के दक्षिण एक टीले पर पुरानी कब्र है, जिसके चारों ओर एक बड़ा घेरा है। इसी में एक मस्जिद भी बनी हुई है। शेखतकी एक प्रसिद्ध सूफी सन्त थे, जो सन् १३२० में पैदा हुए तथा सन् १३८४ ई. में मरे थे। स्वामी रामानन्द के प्रसिद्ध शिष्य कबीरदासजी प्रयाग में इनसे मिले थे। उस समय फिरोज तुगलक दिल्ली का बादशाह था। यहाँ कार्तिक मास में मेले का आयोजन होता है।

**२०. अरैल या अलर्कपुरी–** यह स्थान संगम से यमुना के दक्षिण में है। इस नगर को मदालसा के पुत्र महाराज अलर्क ने बसाया था। यहीं पर कूर्म एवं पद्मपुराण वर्णित 'कम्बल' एवं 'अश्वतर' तीर्थ थे। यद्यपि वर्तमान में उनकी पहचान नहीं हो सकी है। ये दो नाग तीर्थ थे। यहाँ पर महाप्रभु बल्लभ की बैठक है, अपने भारत भ्रमण के समय महाप्रभु यहाँ कुछ दिन विश्राम किये थे। यहाँ पर अनेक छोटे-बड़े मन्दिर जिसमें 'सोमेश्वर नाथ' सर्वप्रमुख हैं, यह शिव जी का मन्दिर है। वर्ष २००१ के प्रयाग

महाकुम्भ के अवसर पर 'त्रिवेणी पुष्प' का निर्माण किया गया था, जिसके चारों कोनों पर चारों धाम– केदारनाथ, बद्रीनाथ, गंगोत्री, यमुनोत्री के मन्दिरों की प्रतिकृति बनाई जानी थी, जो अब तक निर्मित नहीं हो सकी। त्रिवेणी पुष्प एक ऊँचे स्तम्भ पर ऊपर कमल दल तथा उनके मध्य में 'कुम्भ' या 'कलश' के द्वारा सुशोभित है। यहीं पर महर्षि महेश योगी का गुरुकुल एवं आश्रम है, उनका समाधि मन्दिर बनवाया जा रहा है।

**२१. शृंगवेरपुर–**

**सीता सचिव सहित दोउ भाई । शृंगवेरपुर पहुँचे जाई।।**

(श्रीरामचरितमानस)

यह स्थान सोराँव तहसील के नवाबगंज परगना में गंगा के उत्तर तट पर स्थित है। यह इलाहाबाद-लखनऊ राजमार्ग पर प्रयाग से ४० किमी उत्तर पश्चिम के कोने पर है, राजमार्ग से १० किमी बाईं तरफ जाना पड़ता है। मान्यता है कि यहाँ गंगा के तट पर शृंगी ऋषि का आश्रम था, जो राजा दशरथ के दामाद भी थे। इन्होंने महाराज दशरथ के यहाँ सन्तानोत्पत्ति के लिए 'पुत्रेष्टि यज्ञ' करवाया था। अतः यह स्थान उन्हीं के नाम से 'शृंगवेरपुर' कहलाता है, जो अब बिगड़कर सिंगरौर हो गया है।

वाल्मीकीय रामायण 'अयोध्याकाण्ड' के ५०वें सर्ग में इस स्थान का उल्लेख इस प्रकार है कि उस समय यहाँ निषाद जाति का एक राजा 'गुह' राज्य करता था। जब श्रीराम, लक्ष्मण, सीता, सुमन्त एवं पुरवासियों के साथ यहाँ अयोध्या से चलकर पहुँचे तो गुह ने उनका सम्मानपूर्वक स्वागत किया। राम ने इसी स्थान से सुमन्त्र तथा सब अयोध्यावासियों को विदा कर दिया और स्वयं सीता एवं लक्ष्मण सहित मुनियों का वेष धारण कर नौका द्वारा गंगा के इस पार उतरे। जिस घाट पर वह उतरे थे, वह अब 'रामचौरा' कहलाता है, जो वर्तमान सिंगरौर से लगभग आधा मील दूर है। अकबर के समय में सिंगरौर एक परगने का केन्द्र था और यहाँ गंगा के किनारे ईंट का एक किला बना हुआ था, जिसके भग्नावशेष अब तक पाये जाते हैं। गंगा के किनारे शृंगी ऋषि की एक समाधि बनी हुई है और उसी के निकट 'शांता देवी' उपनाम आनन्द माई का मन्दिर है, जो उनकी पत्नी बतलाई जाती है। यहाँ आषाढ़ और सावन में कृष्ण पक्ष की सप्तमी तथा अष्टमी, रामनवमी, वैशाख कृष्णपक्ष की तृतीया और कार्तिक की पूर्णिमा को मेले लगते हैं।

**सन्दर्भ-ग्रन्थ**

१. वाल्मीकीय रामायण, गीताप्रेस गोरखपुर
२. कूर्म पुराण, गीताप्रेस गोरखपुर
३. पद्म पुराण (संक्षिप्त) गीताप्रेस गोरखपुर

४. मत्स्य पुराण, गीताप्रेस गोरखपुर
५. देवी भागवत शक्तिपीठाङ्क, गीताप्रेस गोरखपुर
६. रघुवंशम्, चौखम्भा प्रकाशन
७. प्रयाग प्रदीप, एकेडमी प्रेस
८. वराह पुराण, साहित्य सम्मेलन प्रकाशन
९. अग्नि पुराण, साहित्य सम्मेलन प्रकाशन
१०. मनुस्मृति, चौखम्भा प्रकाशन
११. श्री रामचरितमानस, गीताप्रेस, गोरखपुर

●

# तीर्थराज प्रयाग : अतीत और वर्तमान

डॉ० उदय प्रताप सिंह *

भारतीय संस्कृति, धर्म और साहित्य को मध्यकाल से ही अनेक चुनौतियाँ मिलनी प्रारम्भ हो गयी थीं। अंग्रेजी शासन काल तक यह चुनौती और विकराल रूप पकड़ चुकी थी। मुस्लिम शासन काल में प्रयाग ही नहीं सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति को इस्लामी परम्परा में अनुस्यूत करने का षड्यन्त्र निरन्तर चल रहा था। भारतवर्ष को हिन्दुस्तान तथा भारतीय नगरों को अपने अनुकूल नाम रखने की मानो होड़-सी मची हुई थी। गुजरात का कर्णावती-अहमदाबाद बन गया; व्यासनगर-मुगलसराय के रूप में बदल गया और गाधिपुर-गाजीपुर हो गया। एक नहीं अनेक ऐसे नामांतरण के दृष्टांत देखे जा सकते हैं। संस्कृति, सभ्यता, प्रमुख स्थल, धार्मिक केन्द्र, आस्था के मानबिन्दु सबको कहीं न कहीं से विद्रूप करने की चेष्टा लगभग पाँच सौ वर्षों तक चलती रही। इसकी चरम परिणति तो तब दिखायी पड़ी जब भारतीय संस्कृति के पुरोधा श्रीराम सोलहवीं शती में बाहर से आये बाबर से छोटे कर दिये गये। जनमानस में रचे-पगे अनेक रागों के प्रेरणास्रोत श्रीकृष्ण की जन्मभूमि विवादित हो गयी। अनादिदेव विश्वनाथ, ज्ञानवापी मस्जिद की तलहटी में साँस लेने लगे। इतिहास के इस भयंकर विध्वंसकारी करवट में प्रयाग भी इलाहाबाद बन गया तो कोई आश्चर्य नहीं। ऐतिहासिक दस्तावेज इस बात के साक्षी हैं कि अकबर ने इसे अल्लाहाबाद नाम दिया। अच्छा हुआ कि प्रयाग का केवल नामांतरण कर ही तत्कालीन शासन ने अपने कर्तव्य की इतिश्री मान ली। यद्यपि प्रयाग को इस्लामी रंग में रंगने का प्रयास हुआ। किले बने। सेना का स्थायी निवास हुआ। पर यहाँ की यज्ञमयी धरती और अध्यात्ममयी संस्कृति ने तत्कालीन प्रभाव को पूर्णतः निरस्त कर दिया, जो कुछ घटित हुआ भी वह त्रिवेणी में नहा-धोकर पुनः पूर्व स्थिति में आ गया।

भारत एक धर्मप्राण देश है। यहाँ नदी, पर्वत, वृक्ष, नक्षत्र, धरती, आकाश, जड़, चेतन, छोटा, बड़ा सब में परमेश्वर का वास है। उससे विरहित कोई नहीं। एक लम्बे कालखण्ड से भारतीय चिन्तन परम्परा सतत् वर्धमान रही है। वेद, उपनिषद्, पुराण, ब्राह्मण ग्रंथ मनुस्मृति, रामायण, महाभारत, षड्दर्शन उसी चिन्तन के सुन्दर परिपाक हैं। उत्सवों, व्रतों, त्योहारों, मेलों, कुम्भ-पर्वों, तीर्थस्नानों तथा अनादिकाल से

* आलोचक व संत साहित्य के गम्भीर अध्येता, सारनाथ, वाराणसी।

चले आते लोकोत्सवों में भारतीय जीवन की धर्म-गंगा अव्याहत रूप से बहती रही है। इसी निमित्त सप्तपुरियों की सर्जना हुई, द्वादश महालिंगों की स्थापना हुई, शक्तिपीठों की अवधारणा बनी, तीर्थों का माहात्म्य बढ़ा, दक्षिण से उत्तर की यात्राएँ चलीं, संतों की जमातें चतुर्दिक परिभ्रमण करती रहीं। शंकराचार्य ने मठों की स्थापनाएँ कीं, शैवों ने गाँव-गिराँव में धूनी रमायी, शाक्तों ने शक्ति का संचरण किया, वैष्णवों ने धर्म की यात्राएँ करते हुए ठाकुरद्वारों का सृजन किया, संतों ने समस्त समाज को उद्‌बुद्ध करने के लिये लोकभाषा में 'बानियों' की रचनाएँ कीं। इस प्रकार सम्पूर्ण भारतीय समाज धर्म के रंग में रंगायित ईश्वरीय महाभाव में निमग्न हो गया। इस धार्मिक, सांस्कृतिक वातावरण के निर्माण में प्रयाग, काशी, अयोध्या, चित्रकूट, रामेश्वरम नासिक, उज्जैन, द्वारका, वैद्यनाथधाम की भूमिकायें अविस्मरणीय हैं। ये मात्र भू-आकृतियाँ नहीं, प्राचीन नगर नहीं अपितु सम्पूर्ण भारतीय जनमानस के प्रेरणापुंज हैं। अनेक कालगत झंझावातों को इन पवित्र स्थानों ने अपनी आँखों से देखा है। अनेक क्रूर शासकों की वक्र भृकुटियों को सहा है। फिर भी इन धर्मस्थलों की जिजीविषा लौहस्तम्भ की भाँति अडिग रही है। इनकी अमंद ऊर्जा ने भारतीय जनमानस को खण्डित नहीं होने दिया। इनकी रमणीयता ने उत्सवप्रियता को निरन्तर समृद्ध किया है। इतना ही नहीं इन धर्मकेन्द्रों ने भारतीय जनमानस को एकसूत्र में पिरोया भी है। इस सब में प्रयाग का स्थान अन्यतम है।

पुराण भारतीय जनजीवन की धड़कन को व्यक्त करने वाले सशक्त माध्यम हैं। कल्पित-अकल्पित कहानियों तथा अन्यान्य अवान्तर कथा-प्रसंगों के माध्यम से पुराणों ने भारतीय इतिहास और संस्कृति को सफल अभिव्यक्ति दी है। इनके वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ दोनों अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। मत्स्य, कूर्म, अग्नि तथा पद्मपुराणों में प्रयाग की सांस्कृतिक धरोहर की महिमा सविस्तार दिखायी पड़ती है। तीर्थराज प्रयाग हजारों तीर्थों में श्रेष्ठ है। इसीलिये प्रयाग में माघ मास में तीन दिन के स्नान हजार अश्वमेध यज्ञ के समान हैं। गंगा अनेक स्थलों पर सुलभ है पर प्रयाग के संगम की गंगा अत्यन्त दुलर्भ है। ज्योतिषशास्त्र के अनुसार सूर्य के मकरस्थ होने पर और मेष के गुरुमृगशिरा के चन्द्र के अवसर पर कुम्भ योग होता है। इंसकी अर्द्धस्थिति प्रत्येक छः वर्ष में और पूर्ण स्थिति बारह वर्ष में घटित होने के अवसर पर कुम्भ योग होता है। इसकी अर्द्धस्थिति प्रत्येक छः वर्ष में और पूर्ण स्थिति बारह वर्ष में घटित होती है। राम-कथा के अमर गायक गोस्वामी तुलसीदास ने इसी तथ्य की स्पष्ट अभिव्यक्ति रामचरितमानस में किया है:

**माघ मकर गति रबि जब होई। तीरथ पतिहिं आव सब कोई ।।**

प्रयाग में माघ का यह पवित्र स्नान अनेक फलों का प्रदाता माना गया है। यद्यपि

यह स्नान समुद्र और काशी के दशाश्वमेध में भी सम्पन्न होता है पर प्रयाग की स्थिति यहाँ कहाँ? इन पुण्यदायी स्नानों की शृंखला पूरे माह भर चलती रहती है। पौष पूर्णिमा को प्रथम स्नान, माघ का पहला दिन द्वितीय स्नान, मकर संक्रांति तृतीय स्नान, माघ अमावस्या-मौनी अमावस्या, चतुर्थ स्नान, बसंत पंचमी तथा माघी पूर्णिमा को अन्तिम स्नान सम्पन्न होता है। कतिपय श्रद्धालु कल्पवास करते हुए महाशिवरात्रि तक धर्म की वर्षा में अवगाहन करते रहते हैं। कूर्मपुराण जहाँ गंगा-यमुना के संगम में हजारों-हजार तीर्थों की सार्थकता व्यक्त करता है वहीं वायुपुराण प्रयाग में साढ़े तीस करोड़ तीर्थों की स्थिति बताता है।

प्रयाग की धरती पर कुम्भ परम्परा का इतिहास खोजना असम्भव और असंगत दोनों लगता है। अनन्त काल से प्रवहनशील यह परम्परा इतिहास के समयबोधक मापक में समाने वाली नहीं है। फलतः प्रलय में भी यथावत् रहने वाला अक्षयवट ही इस दीर्घ और अनादि परम्परा का साक्षी बन सकता है। वैसे भी भारतीय चिन्तन परम्परा में आधुनिक किस्म की इतिहास पद्धति को उतनी महत्ता नहीं मिल सकी है, जितनी परम्परित धार्मिकता आस्था एवं विश्वास को मांगलिक कार्यों में कुम्भ स्थापना की चर्चा प्राचीन काल से ही धार्मिक ग्रंथों में उपलब्ध होती है। अथर्ववेद कुम्भ को समस्त दुःखों का निवारक बताते हुए कहता है- 'कुं दुःखम् विदारयति'। यद्यपि नासिक, उज्जैन तथा हरिद्वार में भी कुम्भ के अमृत का क्षरण हुआ था परन्तु प्रयाग में अमृत कुम्भ किंचित्, काल तक संरक्षित हुआ था। पुराण की मान्यता के अनुसार प्रयाग को ही सर्वाधिक महत्व दिया गया है। 'कुम्भ' शब्द अनेक अर्थों को एक ही साथ प्रकट करता है। कहीं यह सृष्टि का नियामक है, तो कहीं आकाश, नदी, सरोवर, घट-शरीर, बारह राशियों में से एकादश राशि और विराटता का अर्थ भी ध्वनित करता है। जल से पूर्ण कुम्भ-घट आत्म और परमात्म तत्व का संकेतक है। क्षिति, जल, अग्नि, गगन, वायु से निर्मित शरीर की संरचना से घट-कुम्भ का पुराना नाता है। कुम्भ में स्थित जल ही गंगाजल है, जो अमृत के समान है। उसका पान पुण्यकारी है। उसी को प्राप्त करने की लड़ाई देव-दानवों का युद्ध है। समुद्र-मंथन से निःसृत अमृत-घट, उसका जयंत द्वारा अपहरण करना, राहु इत्यादि के शिरोच्छेदन में सूर्य, बृहस्पति और शनि की भूमिकायें अनेक पौराणिक धारणाओं को जन्म देती है। सभी कथा-प्रसंगों में कुम्भ कलश-अमृत कहीं न कहीं विद्यमान रहते हैं। मानव जाति के इतने प्रसंग और प्रभूत मनोवृत्तियों का चित्रण कुम्भ से जुड़ा हुआ है। इसलिए उसकी महत्ता सर्वसिद्ध है।

धर्माचार्यों, मनीषियों, चिंतकों की भूमि प्रयाग, कुम्भ के महापर्व से कब जुड़ी कहना कठिन है, पर धार्मिक महात्म्य एवं प्राकृतिक अद्‌भुतता (संगम) के कारण सहस्राब्दियों पूर्व से यह मेला की भूमि रही है। इतने विराट रूप में मेला का प्रचार-

प्रसार सौ, दो सौ वर्षों की घटना नहीं अपितु अनंत काल से जनमानस में संगृहीत होता हुआ यह महाभाव का प्रगटीकरण है। सातवीं शती (६०६-६४३) महाराजा हर्षवर्द्धन के राजत्व काल में कुम्भ की चर्चा विशेषरूप से आती है। इतिहासविदों की मान्यता है कि जनप्रिय राजा हर्षवर्धन गंगास्नान के उपरान्त माघ के मेले में अपना सर्वस्व दान करके अपनी बहन राजश्री से वस्त्र माँग कर पहनता था। चीनी यात्री ह्वेनसांग (६४७ ई०) के यात्रा वृत्तांत कुम्भ के इसी महात्म्य को रेखांकित करते हैं। आदि शंकराचार्य दशनामी अखाड़ों का विधिवत् गठन कर प्रयाग में कुम्भ की महत्ता को ही सिद्ध करते हैं। इतिहासकार यदुनाथ सरकार जहाँ इसकी शुरुआत १३ वीं शती स्वीकार करते हैं वहीं पुराणों के विशिष्ट विद्वान् आर.सी. हजारा इसे १२वीं से १६वीं शती के मध्य विकसित मानते हैं। समय का चक्र और उसकी सीमा जो भी हो कुम्भ पर्वों का सूत्रपात वैदिकसंहिताओं में पुरा काल से संकेतित है। संभव है इसकी विराटता हर्ष के उपरांत प्रकाश में आयी हो। आज कुम्भ का विराट स्वरूप देखकर उसके हिमालयी जीवन की कल्पना सहज ही की जा सकती है।

प्रयाग का कुम्भ अथवा अर्द्धकुम्भ एक ऐसा विशाल पर्व है जहाँ सनातन हिन्दू संस्कृति अपने सम्पूर्ण वैभव-समृद्धि और सौन्दर्य के साथ समुपस्थित रहती है। यह आर्य संस्कृति का वृहत्तम मिलन बिन्दु है। भाषा, जाति-पाँति, सम्प्रदाय, विचारधारा, वेश-भूषा सबको एक रंग में रंगता प्रयाग का मेला राष्ट्रीय एकता का सबसे बड़ा दृष्टांत है। उत्तर-दक्षिण, पूरब-पश्चिम, निर्गुण-सगुण, शैव-वैष्णव, शाक्त-स्मार्त सभी तो यहाँ अपनी धूनि रमाते हैं। कहीं दशनामी अखाड़ों-जूना , अग्नि, निरंजनी, आवाहन, महानिर्वाणी, अटल बड़ा उदासीन, नया उदासीन तथा निर्मल का वितान तना होता है तो कहीं संन्यासी, भक्त, गृहस्थ, नागा जमात की जमात दृष्टिगत होते हैं। भजन, कीर्तन, प्रवचन, उपदेश, रास-लीला, योग, हाथी-घोड़े, यज्ञ के धुएँ, गाजे-बाजे, वेद-मंत्रों की ध्वनियाँ, भजनानन्दियों के गेय पद, नागा संन्यासियों की चमकती तलवारें, भाला और बर्छी, ज्ञान, वैराग्य एवं भक्ति की त्रिवेणी सब कुछ तो एक ही परिसर में दिखायी पड़ता है। आस्तिक सम्प्रदाय मेला-भूमि पर अपनी पारंपरिक शैली में साधनारत दिखायी पड़ते हैं। नास्तिक सम्प्रदाय के लोग अपने मत के प्रचार-प्रसार में तल्लीन रहते हैं। कहीं कल्पवासी रेत की शीतलता में बैठकर अपनी धार्मिक प्रतिज्ञाएँ पूर्ण कर रहे होते हैं तो यत्र-तत्र, संन्यासी, साधु और योगी अपने ज्ञान और शरीर के चमत्कार से चमत्कृत कर रहे होते हैं। धर्म की यह ऊर्ध्व चेतना आत्म-परमात्म को तो जोड़ती ही है, मनुष्य को मनुष्य के सन्निकट भी लाती है। साधना के इस काल में प्रकृति का अशेष साहचर्य-सुख भी खूब प्राप्त होता है।

प्रयाग का कण-कण धार्मिक इतिहास की घटनाओं से परिपूर्ण है। प्रयाग वन की

चर्चा वाल्मीकि रामायण में प्रमुखता से की गयी है। बीस कोस में अर्थात् ७१५१ बीघे में फैला प्रयाग का पवित्र परिसर न जाने कितने काल से मुक्तिदाता, अभय-प्रदाता तथा धर्म का विधाता बना हुआ है। अनेक आश्रम, बस्तियाँ। भवन, मंदिर, मठ काल के गाल में समा चुके हैं। फिर भी वर्तमान प्रयाग का धार्मिक परिसर कम विस्तृत नहीं है। प्रसिद्ध है कि प्रयाग के संगम तट पर ८८ हजार ऋषि-मुनियों के सुसज्जित आश्रम थे। उत्तर-दक्षिण, पूरब-पश्चिम चतुर्दिक् इस पुण्य भूमि का क्षेत्र फैला हुआ है। पनासा में पर्ण मुनि, ककरा-कोटवा में दुर्वासा ऋषि, गंगापार में पांडेश्वर महादेव, शृंगवेरपुर में पभोसा कौशाम्बी, अलर्कपुरी (अरैल), कड़ा तथा प्रतिष्ठानपुरी तक इसका विस्तार है। भारद्वाज आश्रम, स्वामी रामानंद प्राकट्य धाम, स्वामी नारायण आश्रम, सच्चा बाबा आश्रम, वेणीमाधव, नरसिंह मंदिर, नागवासुकि, सदाफलदेव आश्रम, प्रभुदत्त ब्रह्मचारी आश्रम, अन्योक सम्प्रदायों के जीवंत रूप जनमानस की आध्यात्मिक क्षुधा को शांत करते हुए आज भी दिखायी पड़ते हैं।

प्रयाग के महात्म्य को द्विगुणित करने में कुम्भ के साथ संगम का भी अन्यतम महत्व है। विष्णुप्रिया गंगा, कृष्णप्रिया यमुना तथा अंत:सलिला सरस्वती यहाँ संगमित होकर पुण्यभूमि का सृजन करती हैं। त्रिवेणी का स्वरूप बनाती हैं। युग-युगों से त्रिवेणी के प्रति जनमानस में संग्रहीत भाव न मालूम कितनी पीढ़ियों का मार्ग प्रशस्त कर चुके हैं। त्रिवेणी की पवित्रता इतनी लोकविश्रुत हो चली थी कि शृंगार के रस-सिद्ध कवि पद्माकर भी सौन्दर्य में इसी संगम की पवित्रता खोजते हैं। कहते है– 'तैरे जहाँ ही जहाँ वह बालि, तहाँ-तहाँ ताल में होत त्रिवेणी।' ऋग्वेद के दसवें स्कन्ध में प्रयाग स्थित संगम का उल्लेख मिलता है– इमं गंगे यमुने सरस्वती शतुद्रि स्तोत्रपरुषण्या। अन्यत्र भी 'सितासिते सरिते यत्र संगमे'। अर्थात् गंगा, यमुना और अलक्ष्य सरस्वती का संगमन ही संगम भूमि है। संगम के आख्यानों से रामायण, महाभारत, मत्स्य, वायु, कूर्म आदि पुराण, प्रयाग शताध्यायी इत्यादि ग्रंथ भरे पड़े हैं। पवित्र नदी गंगा स्वयं में चारों पुरुषार्थों का प्रवाह है। यमुना-सरस्वती का सम्मिलन तो स्वर्गलोक का सृजन करता है। इसीलिए प्रयाग यज्ञ की भूमि भी बना, अरण्यसंस्कृति का प्रतीक माना गया, प्रजापति ब्रह्मा की यज्ञस्थली तो था ही, सृष्टि के प्रथम उन्मेष का पुण्यशाली स्थल भी बना। निस्संदेह कहा जा सकता है कि प्रयाग की त्रिवेणी यहाँ का संगम यहाँ की पवित्र धरती में एक चुम्बकीय ऊर्जा है जो विश्व के करोड़ों लोगों को सहस्रों वर्षों से कुम्भ अर्द्धकुम्भ पर आकर्षित करती रही है।

प्रयाग में पहले भी मेला लगता था आज भी मेला लग रहा है। यह पूरे माह तक चलता है। विश्व का सर्वाधिक विशाल मेला होते हुए भी आज तक यहाँ भौतिक वस्तुएँ विक्रय के लिए नहीं आती हैं। अपितु करोड़ों-करोड़ वर्षों की इतिहास के जीवन्त झाँकी

आज भी प्रयाग में देखी जा सकती है। मेले में सर्वत्र आधुनिक सुख-सुविधाओं का अभाव है। उपभोक्तावादी संस्कृति से जकड़ा विश्व यहाँ नहीं दिखायी पड़ता। न कीमती वस्तुओं का अम्बार लगा होता है न वातानुकूलित भवनों की छाया ही दिखायी पड़ती है। यह विचित्र मेला है। ईंट, पत्थरों की नहीं तम्बुओं की विशाल बस्तियाँ, संगम परिक्षेत्र की रेती में कड़ाके की ठंड सहती हुई साधक की भाँति खड़ी है। यहाँ हाड़ कपाने वाली शीतल बयार है। कुज्झटिकाच्छन्न आकाश के नीचे वज्र सरीखे संकल्प वाले कल्पवासी हैं। नंग-धडंग साधु-संत हैं तो त्रिपुण्डधारी एवं दण्डधारी संन्यासी भी। भस्माच्छादित शरीर वाले साधक तो सर्वत्र दिखायी ही पड़ते हैं, वेदों के गुंजायमान मंत्र हैं, तोरणद्वारों पर ग्रंथों के उद्धरण हैं तो सम्प्रदायों के प्रतीक चिह्न भी हैं। पुण्य की कामना वाले उत्कण्ठित आमजन हैं तो पापों का क्षय करने वाले गृहस्थ जन भी हैं। यहाँ आत्मचिंतन की पाठशाला चलती है, परलोक का दृश्य दिखायी पड़ता है, धर्म-मंथन की प्रक्रियाएँ चलती हैं। वाद-विवाद और संवाद की त्रिवेणी भी बहती है। गोदान, स्वर्णदान, गुप्तदान, पिण्डदान और अन्नदान का पर्व तो महीनों लगा रहता है। अद्‌भुत है यहाँ का दृश्य, विचित्र है इसमें आने वाले लोग और धन्य है यह विचित्र भूमि।

धार्मिक-पौराणिक प्रयाग के साथ एक आधुनिक प्रयाग भी यहाँ बसता है जिसे इलाहाबाद कहते हैं। जिसमें बड़े-बड़े भवन हैं, आधुनिक किस्म की अट्टालिकाएँ हैं, बड़े प्रकाशनों के केन्द्र हैं और अंग्रेजों द्वारा स्थापित विभिन्न विभागों के मुख्यालय हैं। अंग्रेजों द्वारा १९ वीं शताब्दी में (१८८७ ई०) स्थापित इलाहाबाद विश्वविद्यालय आज केन्द्रिय विश्वविद्यालय बन चुका है जिसे पूरब का आक्सफोर्ड कहा जाता है। भारतीय प्रशासनिक सेवा का केन्द्रिय कार्यालय इलाहाबाद को बौद्धिक जगत् सदैव स्मरण करता रहता है। हाईकोर्ट सम्पूर्ण प्रदेश को न्याय दिलाने के लिए तत्पर रहता है। हिन्दी के विकास और प्रकाश में अपनी साधना को बलवती और फलवती बनाते हुए बाबू पुरुषोत्तम दास टंडन ने हिन्दी साहित्य सम्मेलन की श्री वृद्धि यहीं की थी। जिसकी विश्वव्यापी शाखाएँ आज भी उनकी स्मृति ताजा कर देती हैं। भारती-भवन अपने यश और कीर्ति की पताका आज भी फहरा रहा है। हिन्दुस्तानी एकेडमी हिन्दी के विकास का रथ आज भी शनैः-शनैः परिचालित कर रहा है। महीयसी महादेवी का साहित्यकार संसद वर्तमान में सूना पड़ा है। उनके वन्य-प्रेम का स्मारक आज गिलहरियों, पक्षियों और बिल्लियों की चहलकदमी के बिना उदास है।

छायावादी काव्य परम्परा को वैचारिक ऊँचाई देने में महादेवी वर्मा का योगदान अन्यतम रहा है। प्रयाग की आध्यात्मिक परम्परा का आधुनिक संस्करण महादेवी के गीत कहे जा सकते हैं। 'मैं नीरभरी दुख की बदली' जैसी कविताओं में भारतीय चिन्तन-धारा का स्वर स्पष्ट सुनायी पड़ता है। अरूप की आराधिका महादेवी वर्मा के

साहित्य में रहस्य से सने भाव-बिम्ब भारतीय आध्यात्मिक चेतना की वैभव-कहानी कहते हैं। डॉ० राम कुमार वर्मा जैसे साहित्यकारों की कर्म-भूमि प्रयाग ही रहा है। उन्होंने हिन्दी साहित्य की सेवा अनेक दृष्टियों से प्रभूत मात्रा में की है। हिन्दी में एकांकी के प्रवर्तक वही माने जाते हैं। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा जैसा भाषा-वैज्ञानिक, डॉ० विजयदेव नारायण साही जैसा प्रखर हिन्दी आलोचक प्रयाग की धरती के ही रत्न थे। महाप्राण निराला की साहित्यिक साधना धुर प्रयाग (दारागंज) में ही सम्पन्न हुई थी। 'तोड़ती पत्थर' कविता ने तो साहित्य का प्रतिमान ही बदल दिया था। इस कविता में इलाहाबाद की पूर्ण गंध है। मानवीय संवेदनाओं के कवि निराला ने अपनी प्रतिभा का बहुलांश इलाहाबाद को ही प्रदान किया था। डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी जैसे समीक्षक जीवन भर मार्क्सवादियों को इलाहाबाद से ही चुनौती देते रहे। इनके अतिरिक्त सुमित्रानन्दन पन्त, सुभद्रा कुमारी चौहान, उपेन्द्रनाथ अश्क, हरिवंश राय बच्चन, अकबर इलाहाबादी, फिराक गोरखपुरी जैसी विभूतियों ने भी इसे अलंकृत किया है।

स्वाधीनता की लड़ाई में इलाहाबाद सदा अग्र पंक्ति में खड़ा दिखायी पड़ता है। शहीद चन्द्रशेखर आजाद, पं० मदनमोहन मालवीय, मोतीलाल नेहरू, लालबहादुर शास्त्री, जवाहरलाल नेहरू, इंदिरा गांधी, श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित, कैलाशनाथ काटजू इसे अपनी कर्मभूमि बना चुके थे। (अल्फ्रेड पार्क) आजाद पार्क (१८७० ई०), आनन्द भवन, स्वराज भवन, नेहरू पार्क, इलाहाबाद कृषि संस्थान, मेडिकल कालेज, आई०आई०टी० इत्यादि अपनी कीर्ति का झंडा यहाँ वर्षों से फहरा रहे हैं।

इलाहाबाद में गंगा, यमुना और सरस्वती की त्रिवेणी के सामान्तर धर्म, संस्कृति और साहित्य की त्रिवेणी भी प्रवाहित है। शिक्षा, प्रशासन और प्रकाशन की त्रयी भी इलाहाबाद को समृद्ध करती है। यहाँ पुराण, इतिहास और पुरातत्व का अद्भुत मेल है। प्राचीनता, मध्यकालीनता और आधुनिकता का विचित्र संगम है। इलाहाबाद का अतीत प्रस्थानत्रयी की भूमिका का आलोक पुंज है। इसका वर्तमान धर्म की समरसता का प्रतीक है और भविष्य संस्कृति के पातालगामी स्रोतों का अक्षय भण्डार है।

●

# 'मानस' में प्रयाग-प्रसंग

डॉ. पाण्डेय रामेन्द्र *

'प्रयाग' को तीर्थों का राजा माना गया है। मान्यता यहाँ तक है कि माघ महीने में जब सूर्य मकर राशि में आता है, सारे तीर्थ, देवता, राक्षस, किन्नर, सामान्य जन तथा संत सभी प्रयाग आकर संगम में स्नान करते हैं और अध्यात्म में पूर्णत: निमग्न हो जाते हैं–

**माघ मकरगत रवि जब होई। तीरथपतिहिं आव सब कोई ।।**
**देव दनुज किन्नर नर श्रेनी। सादर मज्जहिं सकल त्रिवेनीं ।।**

मानस १/४४/३-४

लोक और परलोक को बनाने का ऐसा शुभ अवसर तथा स्थान अन्यत्र दुर्लभ हैं– पुराणों की भी यही मान्यता है। यथा–

**सहस्त्र कार्तिके स्नानं माघस्नानं शतानि च ।**
**वैशाखे नर्मदा कोटि कुम्भस्नानतत्फलम् ।।**

विष्णु पुराण

गोस्वामी जी यायावर थे, वे जीवन-पर्यन्त परिव्राजक की भाँति तीर्थों का भ्रमण करते हुए राम-भक्ति की अतल गहराई में निमग्न रहे। काशी, चित्रकूट, अयोध्या इन तीनों का तुलसी के आध्यात्मिक जीवन और साहित्य में विशेष महत्व है। तीनों ही स्थान भक्त कवि की प्रेरणा-भूमियाँ रहे; शक्ति-केन्द्र रहे। वे वृन्दावन भी गए जहाँ धनुर्धारी राम की छवि को ही वे निरन्तर तलाश करते रहे। चित्रकूट, काशी और अयोध्या के मध्य तीर्थराज प्रयाग आता है अत: वे यहाँ भी आये और इस तीर्थ के सभी महत्वपूर्ण स्थलों के दर्शन, संतों का समागम एवं त्रिवेणी स्नान किए, क्योंकि उनके युगल आराध्य की भी यह प्रिय स्थली थी। इन्हीं प्रभावों के फलस्वरूप तुलसी ने अपने रामचरितमानस के बालकाण्ड, अयोध्याकाण्ड तथा लंकाकाण्ड में प्रयाग का विशेष वर्णन किया है। वे संत समागम को चलता-फिरता तीर्थराज प्रयाग ही मानते हैं–

**मुद मंगलमय संत समाजू। जो जग जंगम तीरथराजू ।।**
**राम भक्ति जहँ सुरसरि धारा। सरसइ ब्रह्म बिचार प्रचारा ।।**

---

* मानस मर्मज्ञ, प्रसिद्ध-समीक्षक पूर्व उपाचार्य हिन्दी, रायबरेली, उत्तर प्रदेश।

**विधि निषेध मय कलिमल हरनी। करम कथा रविनंदनि बरनी।।**
**हरि हर कथा बिराजत बेनी। सुनत सकल मुद मंगल देनी।।**
**बटु बिस्वास अचल निज धरमा। तीरथराज समाज सुकरमा।।**
**सबहिं सुलभ सब दिन सब देसा। सेवत सादर समन कलेसा।।**
१/२/७-१२।।

यहीं मुनि भरद्वाज ने रामकथा के तत्वज्ञ महर्षि याज्ञवल्क्य से रामकथा के रहस्य को जिस काल में समझा वह समय भी मकर संक्रांति का था। जल-समुद्र के बीच नहीं बल्कि उसके उथले (हलके होने या छीजने पर) होने पर अपने आश्रम के लिए प्रस्थान कर रहे परम विवेकी मुनीश्वर से वह भी अत्यंत विनम्रता एवं सेवा से लोककल्याणार्थ जिज्ञासा की थी

**राम कवन प्रभु पुछउँ तोही। कहिअ बुझाइ कृपा निधि मोही।।**
**एकराम अवधेस कुमारा। तिन्ह कर चरित विदित संसारा।।**
**नारि बिरहँ दुख लहेउ अपारा। भयउ रोष रन रावन मारा।।**

गीता प्रेस गोरखपुर से प्रकाशित 'रामचरितमानस' के आरम्भ में प्रकाशित तुलसी की 'संक्षिप्त जीवनी' दी गयी है, जिसमें यह स्वीकार किया गया है कि– "(गोस्वामी जी संवत् १६२४ (सन् १५६७) में हनुमान जी की आज्ञा से अयोध्या की ओर चल पड़े। उन दिनों प्रयाग में माघ का मेला था। वहाँ कुछ दिन वह ठहर गए। पर्व (मकर संक्रांति) के छह दिन बाद एक बट वृक्ष के नीचे उन्हें भरद्वाज और याज्ञवल्क्य मुनि के दर्शन हुए। वहाँ उस समय वही कथा हो रही थी जो उन्होंने सूकरक्षेत्र में अपने गुरु से सुनी थी। वहाँ से वे काशी चले गए।"[१]

गोस्वामी जी ने प्रयाग-दर्शन किया था। वहाँ रहकर उन्होंने वहाँ के सभी प्रमुख स्थानों, मंदिरों के दर्शन के साथ-साथ त्रिवेणी (संगम) स्नान भी किया था तभी वहाँ के वेद-पुराण प्रसिद्ध माहात्म्य और अन्य उल्लेखनीय विशेषताओं से वे भली-भाँति परिचित थे–

**तहाँ होइ मुनि रिष्य समाजा। जाहिं जे मज्जन तीरथराजा।।**
**मज्जहिं प्रात समेत उछाहा। कहहिं परसपर हरि गुन गाहा।।**
**ब्रह्म निरूपन धरम विधि बरनहिं तत्त्व विभाग।**
**कहहिं कथा भगवंत कै संजुत ग्यान बिराग।।**
**अकथ अलौकिक तीरथ राऊ। देइ सद्य फल प्रगट प्रभाऊ।।**

तुलसी ने 'मानस' में वक्ता और श्रोता की जिन चार जोड़ियों की परिकल्पना की उनमें से याज्ञवल्क्य और भरद्वाज की मूल प्रेरणा उन्हें प्रयाग में वटवृक्ष के नीचे बैठे

इन्हीं मुनियों से प्राप्त हुई कही जा सकती है। 'मानस' में वर्णित रामकथा का प्रथम प्रेरणा भक्त कवि को सूकरक्षेत्र में अपने गुरु महाराज से प्राप्त हुई थी जिसकी पुनः पुष्टि प्रयाग में प्रभु-प्रेरणा से प्राप्त याज्ञवल्क्य-भरद्वाज के दर्शन एवं वहाँ रामकथा के तत्त्वज्ञाता महर्षि याज्ञवल्क्य द्वारा जिज्ञासु ऋषिवर भरद्वाज को सुनाई गयी कथा से मिली; तभी गोस्वामी जी ने दृढ़ विश्वास के साथ कहा–

**जागबलिक जो कथा सुहाई। भरद्वाज मुनिबरहिं सुनाई।।**
**कहिहउँ सोइ संवाद बखानी। सुनहुँ सकल सज्जन सुख मानी।।**
१/३०/१-२

'मानस' में प्रयाग-वर्णन तथा उसके माहात्म्य का गान विशेष रूप से अयोध्याकाण्ड में मिलता है। पिता की आज्ञा से बनवास के लिए प्रस्थान कर चुके राम जब पत्नी सीता, अनुज लक्ष्मण और मंत्री सुमंत्र के साथ रथ पर बैठकर शृंगवेरपुर पहुँचते हैं तो राज्य की सीमा तथा राजकीय प्रभाव से मुक्त होने के लिए मंत्री को अयोध्या लौटने हेतु विवश कर देते हैं। सभी नौका से गंगा पार कर प्रयाग-क्षेत्र में पहुँचते हैं।

प्रयाग में आगमन से राम, सीता, लक्ष्मण तथा निषादराज के प्रस्थान का वृत्तांत अयोध्याकाण्ड में दोहा सं. १०५ की दूसरी अर्द्धाली से दोहा १०९ तक व्याप्त है। इस प्रकार पाँच दोहों एवं ३९ चौपाइयों में राम का प्रयाग में रहना वर्णित है।

मनोविज्ञान के अनुसार जब कोई पहली बार किसी विशिष्ट स्थान– जिसका माहात्म्य उसने पहले से सुन रखा है– पर पहुँचता है तो वह हर दृश्य,. वस्तु, व्यक्ति तथा वहाँ के कार्य-व्यापार को बड़े ध्यान से देखता है, क्योंकि उसमें पूर्व से ही एक धारणा बन गयी होती है। राजवंशीय परिवेश में पले राम भी जब पहली बार प्रयाग पहुँचते हैं तो उन्हें तीर्थराज पूर्णत; 'महाराजा' लगता है। गोस्वामी जी ने अनेक दिन यहाँ रहकर इसके भौगोलिक परिवेश, दर्शनीय स्थानों को तो देखा ही साथ ही उन्हें प्रयाग की अलौकिकता की भी सहज अनुभूति हुई। तुलसी राम के ब्याज से स्वानुभूति को सांगरूपक के सहारे विराट रूप देते हैं–

सत्य तीर्थराज प्रयाग का मंत्री और श्रद्धा उसकी राजरानी (महारानी) है। भगवान वेणीमाधव जैसे तीर्थराज के घनिष्ट मित्र हैं जो हर परिस्थिति में अपने मित्र के साथ हैं, विश्वास-पात्र हैं। प्रयाग नाम भर का राजा नहीं; अपितु यह राज्य वैभवपूर्ण है, समृद्ध है। कहीं कोई किसी प्रकार का अभाव नहीं हैं। अर्थ, धर्म, काम (इच्छा), और सभी पदार्थों की यहाँ व्याप्ति है। अन्य तीर्थों की अपेक्षा प्रयाग सर्वाधिक पुण्य प्रदान करता है। लोक और परलोक को सँवारने वाला है। प्रत्येक शासक का अपना सुदृढ़ दुर्ग होता

है, तीर्थराज का भी अपना ऐसा दुर्ग है जो अत्यंत दुर्गम है। उसके शत्रु स्वप्न में भी उसके दुर्ग पर विजय नहीं प्राप्त कर सकते। प्रयाग के आस-पास स्थित तीर्थ ही उसके श्रेष्ठ महाबली हैं जो पाप (रूपी) की विशाल सेना को कुचलने, ध्वस्त करने में पूर्ण समर्थ हैं।

गंगा-यमुना एवं सरस्वती जैसी पवित्र नदियों का दिव्य संगम ही तीर्थराज का सिंहासन है। प्रयाग-स्थित अक्षय वटही प्रयागराज के सिंहासन का छत्र है जो बड़े से बड़े सिद्ध-साधकों को सदैव अपनी ओर आकर्षित करता है। मकर संक्रांति के अवसर पर देश-विदेश के सभी स्थानों के श्रद्धालुओं का उमड़ता जन-समुद्र इसका प्रमाण है। गंगा-यमुना जैसी पवित्र नदियों की लोल लहरियाँ तीर्थराज पर निरन्तर चलने वाला चँवर (मूर्छल) है। ऐसे वैभव तथा महात्म्य से परिपूर्ण तीर्थराज का जो लोग यहाँ आकर दर्शन करते हैं उनके समग्र पाप और जीवन के संताप तुरंत समाप्त हो जाते हैं।

जो भी श्रद्धालु– साधु-संत, पुण्यात्मा यहाँ आते या कल्पवास करते हैं प्रयाग उनकी सभी मनोकामनाओं को पूर्ण करता है, जिस प्रकार प्रत्येक राज्य में शासक का यशोगान करने वाले बंदीजन (चारण) होते हैं वैसे ही प्रयाग का कीर्तिगान कितने ही वेद, पुराण तथा अन्य धार्मिक ग्रंथ सदैव करते हैं। प्रयाग की कीर्ति अलौकिक एवं अकथनीय है। अकेले तीर्थराज श्रद्धालुओं के सभी पापों, अभावों को उसी प्रकार दूर करने में सक्षम है जैसे हाथियों के झुण्ड को खदेड़ने के लिए एक सिंह पर्याप्त होता हैं। यहाँ आस्थावादी तुलसी का मानना है कि कितने ही पाप रूपी हाथियों को दूर करने में अकेले तीर्थराज प्रयाग पूर्ण समर्थ है। वह अनुपम महातीर्थ है। उसके दर्शन कर 'आनन्द-सिंधु' तथा सुखधाम कहाने वाले राम को भी वहाँ पहुँचकर परम शांति एवं अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति होती है।

अयोध्याकाण्ड में वर्णित प्रयाग-वर्णन में सर्वत्र हृदय की प्रधानता है। तुलसी ने बालकाण्ड में कहा है– 'अस मानस मानस चख चाहिय'। अर्थात् 'मानस' कैसा है इसे समझने के लिए व्यक्ति में हृदय की प्रधानता या अनुभूति की प्रधानता अनिवार्य है। अन्तः चक्षुओं के द्वारा ही भावों की अतल गहरायी का आकलन संभव है। अन्यत्र भी गोस्वामी जी ने कहा है–

**मुकुर मलिन औ नयन बिहीना। राम रूप चाहिय किमि चीन्हा।**

राम का सीता, लक्ष्मण और निषादराज सहित, प्रयाग की धरती पर पदार्पण दिव्य अनुभूति प्रधान है। इसमें उनकी आस्था, विश्वास, शील तथा आन्तरिक सौन्दर्य की जिस दिव्य झाँकी की अलौकिक अनुभूति मुनिवर भरद्वाज, उनके शिष्य, गृहस्थ एवं समग्र प्रयागवासी करते हैं, वह अकथनीय है, अवर्णनीय है। 'अकथ अलौकिक तीरथ राऊ' तो है ही इसके साथ ही राम की शालीनता, संकोच, भक्तवत्सलता तथा

ऋषिवर की भाव-विभोरता 'गूँगे का गुड़ खाना' है। राम का भरद्वाज आश्रम में पहुँचकर महर्षि को प्रणाम करना तथा ऋषिवर को हर्ष का पारावार लहराना और विद्युत गति से अतिथि को हृदय से लगाने, स्वागत-सत्कार करने में अपार भगवद् प्रेमानुभूति की व्याप्ति है। फलस्वरूप वे अपने आप पर नियंत्रण नहीं कर पाते और वाणी स्वयं मुखर हो उठती है–

**आजु सुफल तपु तीरथ त्यागू। आजु सुफल जप जोग बिरामू।।**
**सफल सकल सुभ साधन साजू। राम तुम्हहिं अवलोकत आजू।।**
**लाभ अवधि सुख अवधि न दूजी। तुम्हरे दरस आस सब पूजी।।**
**अब करि कृपा देहु बर एहू। निज पद सरसिज सहज सनेहू।।**

२/१०७/५-८।।

ऋषि भरद्वाज तत्त्वज्ञ याज्ञवल्क्य से 'रामरहस्य' को पूर्व ही भली-भाँति जान चुके हैं। अत: ब्रह्म राम को अपने आश्रम में आया देखकर उनके हर्ष का कोई ओर-छोर नहीं है। शील और स्नेह के निर्वाह में परम प्रवीण राम मुनिवर की 'भाव-भगति' के आनन्द से तृप्त हैं। वे उनके उद्‌गारों से अत्यधिक संकोच अनुभव करते हैं, पर हृदय से अत्यंत पुलकित हैं।

इसीलिए 'जैसे को तैसा' व्यवहार का परिचय देकर सम्पूर्ण परिवेश एवं आश्रम में आये प्रयागवासियों को अपनी कृपा पूर्ण आचरण से भाव-विभोर कर देते हैं–

**तब रघुबर मुनि सुजसु सुहावा। कोटि भाँति कहि सबहिं सुनावा।।**
**सो बड़ सो सब गुन गन गेहूँ। जेहि मुनीस तुम्ह आदर देहू।।**
**मुनि रघुवीर परसपर नवहीं। बचन अगोचर सुख अनुभवहीं।।**

२/१०८/१-४

विनम्रता की यह पराकाष्ठा प्रत्येक सहृदय पाठक को परमानन्द से आप्लावित करने वाली तथा सम्बन्धों का आदर्श उपस्थित करने वाली है। मुनिवर के प्रति ही नहीं अपितु समग्र प्रयागवासियों के प्रति राम की अतिसय विनम्रता विस्मयकारी है–

**यहसुधि पाइ प्रयाग निवासी। बहु तापस मुनि सिद्ध उदासी।।**
**भरद्वाज आश्रम सब आए। देखन दसरथ सुमन सुहाए।।**
**देहिं असीस परम सुखु पाई। फिरे सराहत सुन्दर ठाई।।**

मानस २/१०८/५-८

ननिहाल से आने पर भरत किसी भी दशा में सत्ता नहीं सँभालते अपितु पिता के दाह-संस्कार आदि के उपरांत राम को मनाने के लिए सभी के साथ चित्रकूट चल पड़ते हैं। अत: मानस के अयोध्याकाण्ड में प्रयाग का प्रसंग पुन: दोहा सं. २०३ से

२१६ तक आता है। भरत स्वजन-परिजनों के साथ प्रयाग में पदार्पण करते हैं। उस अवसर पर उनकी भावदशा ध्यान देने योग्य है–

**भरत तीसरे पहर कँह कीन्ह प्रबेसु प्रयाग।**
**कहत राम सिय राम सिय उमगि उमगि अनुराग।।**

२/२०३।।

कुल तेरह दोहों और अट्ठानवे (९८) चैपाइयों में गोस्वामी जी ने भरत के जिस उदात्त चरित्र का गौरव गान किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है। भरत चरित्र तुलसी की सर्वश्रेष्ठ पात्र-परिकल्पना है। अयोध्याकाण्ड में इस चरित्र का चरम रूप प्रस्तुत हुआ है। अयोध्या, प्रयाग और चित्रकूट इन तीनों स्थानों का भरत चरित्र में विशेष महत्त्व है; पर प्रयाग उनमें सर्वोपरि है। भरत राम-भक्ति के आदर्श हैं जो सकल कामना हीन हैं फिर भी संगम पहुँचने पर गंगा-यमुना की श्वेत-श्याम लहरों को देखते हुए आत्म ग्लानि और अपराध बोधसे ग्रस्त होकर वे तीर्थराज से यही याचना करते हैं–

**अरथ धरम न काम रुचि गति न चहउँ निरवान।**
**जनम जनम रति राम पद यह बरदानु न आन।।२/२०४।।**

भरत राम के अनुज हैं, अनुगामी हैं। श्रृंगवेरपुर से प्रयाग तक जब उनके आराध्य पैदल आये हैं तो भरत को तो उनका अनुकरण करना ही था। परिणामतः भरत के चरणों में छाले पड़ गए हैं। एवं प्रयाग-समाज को जब इसका ज्ञान हुआ और भरत के चरणों में झलकते फफोलों को उन्होंने देखा तो सभी की संवेदना और सहानुभूति के केन्द्र बन गए–

**झलका झलकत पायन्ह कैसें। पंकज कोस ओस कन जैसे।।**
**भरत पयादेहिं आए आजू। भयउ दुखित सुनि सकल समाजू।।**

२/२०४/१-२।।

भरत 'सकल काम प्रद तीरथ राऊ' के दरबार में उपस्थित हैं उन्हें तीर्थराज के वेद-पुराणों में वर्णित प्रभाव का सम्यक् ज्ञान है, फिर भी वे क्षात्र-धर्म के विपरीत जग याचक बनने में ही अपना भला समझ रहे हैं।

मुनीश्वर भारद्वाज भरत-दशा से भली-भाँति सुपरिचित होते हुए भी उन्हें 'अयोध्यापति मानकर उनके मान-सम्मान के लिए तप बल से वैभव और विलास के सभी उपकरण जुटा देते हैं; क्योंकि उन्हें भरत के (मनोभावों) की परीक्षा भी लेनी है? परिणामतः सम्पूर्ण रात्रि भरत ने छटपटाते हुए कैसे व्यतीत की है इसे अनुभव गम्य बनाने के लिए गोस्वामी जी ने अपने 'मानसपुत्र' की भावदशा को इस प्रकार प्रस्तुत किया है–

**संपति चकई भरत चक मुनि आयसु खेलवार ।**
**तेहि निसि आश्रम पिंजरा राखे भा भिनुसार ।।** मानस-२/२१५।।

भरत 'भायप भगति के आदर्श हैं। अनुज होकर भी वे अपने को अग्रज का दास ही मानते हैं। उनकी मान्यता है–

**सिर भर जाउँ उचित अस मोरा। सबतें सेवक धरम कठोरा ।।**
२/२०३/७।।

भरत का राम के प्रति ऐसा आत्मिक समर्पण प्रत्येक भक्ति-भाव संवलित हृदय को भाव-विह्वल करने वाला है। निषादराज ही नहीं अवध के सेवकों का ग्लानि से कण्ठ अवरुद्ध हो जाते हैं–

**देखि भरत गति सुनि मृदु बानी । सब सेवक गन गरहिं गलानी ।।**
२/२०३/८।

'मानस' के महानायक राम हैं पर अयोध्याकाण्ड के एक मात्र नायक भरत हैं। उनके व्यक्तित्व के आगे या तो सब हतप्रभ हैं या निरुपाय, यहाँ तक कि राम भी। प्रयाग पहुँचने पर आत्मग्लानि से ग्रस्त भरत को त्रिवेणी की लहरों द्वारा दी गई सांत्वना इनकी महानता में चार-चाँद लगाती है।देवता भी भरत की महानता पर आकाश से पुष्प-वर्षा करते हैं–

**तात भरत तुम सब विधि साधू। राम चरन अनुराग अगाधू ।।**
**बादि ग्लानि करहु मन माहीं। तुम्ह सम रामहिं कोउ प्रिय नाहीं ।।**
**भरत धन्य कहि धन्यसुर हरषित बरसहिं फूल ।।**
मानस-२/२०५।।

मुनि भरद्वाज भी कैकेयी और भरत दोनों को निर्दोष मानते हैं। राम, सीता और लक्ष्मण सभी का भरत के प्रति उदार दृष्टिकोण है, जिसके आधार पर महर्षि की वैचारिक स्थापना अत्यंत महत्त्वपूर्ण है–

**तात तुम्हार विमल जसु गाई । पाइहि लोकउ बेदु बड़ाई ।।**
२/२०७/२।

**सुनहु भरत रघुबर मन माहीं। पेम पात्रु तुम्ह सम कोउ नाहीं ।।**
**लखन राम सीतहिं अति प्रीती। निसि सब तुम्हहिं सराहत बीती ।।**
**जाना मरमु नहात प्रयागा। मगन होहिं तुम्हरें अनुरागा ।।**
**तुम्ह तौ भरत मेर मत एहू। धरें देह जनु राम सनेहू ।।**
मानस-२/२०८।।

महर्षि भरद्वाज अयोध्या के अकाण्ड-तांडव को राम-भक्ति रूपी रस की सिद्धि

प्राप्ति के परिप्रेक्ष्य में लेते हैं। वे भरत के यश को 'नव विधु विमल' के समान मानते हैं। भरत के प्रति मुनिवर की उदात्त विचारधारा से सम्बन्धित निम्नांकित अर्द्धालियाँ अत्यंत प्रसिद्ध हैं–

**सुनहु भरत हम झूठ न कहहीं। उदासीन तापस बन रहहीं।।**
**सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन राम सिय दरसनु पावा।।**
**तेहि फल कर फलु दरस तुम्हारा। सहित पयाग सुभाग हमारा।।**
**भरत धन्य तुम्ह जसु जगु जयऊ। कहि अस प्रेमु मगन मुनि भयऊ।।**

मानस-२/२१०/३-६।।

भक्ति राग की वह दिव्य भूमि है जहाँ पहुँचकर अभिव्यक्ति अंततः मौन हो जाती है। वाणी के असहाय होने पर नेत्र प्रेमाश्रुओं से आप्लावित हो जाते हैं। यह भावदशा की पराकाष्ठा है। भक्ति वह निर्मल भाव-भूमि है जहाँ समता का साम्राज्य स्थापित होता है।

'मानस' में प्रयाग का चौथी बार उल्लेख लंकाकाण्ड के अंतिम १२०-१२१ दोहों में हुआ है। लंका पर विजय प्राप्त करने के उपरांत सीता और लक्ष्मण सहित राम शीघ्रातिशीघ्र अयोध्या पहुँचने को तत्पर हैं। वे पुष्पक विमान पर आरूढ़ हो अयोध्या के लिए प्रस्थान करते हैं। आकाश मार्ग से जाते हुए राम सीता को उल्लेखनीय स्थलों की जानकारी देते हैं। मार्ग में प्रयाग के आते ही वे बड़ी तत्परता के साथ सीता का ध्यान आकर्षित करते हैं–

**पुनि देखी सुरसरी पुनीता। राम कहा प्रनाम करु सीता।।**

६/२०/६।।

**तीरथपति पुनि देखु प्रयागा। निरखत जन्म कोटि अघ भागा।**
**देखु परम पावन मुनि बेनी। हरति सोक हरि लोक निसेनी।।**

६/१२०/७-८।।

यहाँ 'पुनि' शब्द का बार-बार उल्लेख पुनः का बोध कराने के लिए कवि ने किया है। पुष्पक विमान आगे अयोध्या की ओर बढ़ जाता है। अयोध्या के आकाश में पहुँचकर उसे प्रणाम करने के अनन्तर वे पुनः प्रयाग के लिए लौट पड़ते हैं। त्रिवेणी (संगम) में सभी स्नान करते हैं। ब्राह्मणों को दान देकर वे महर्षि भरद्वाज के पास उनका आशीर्वाद प्राप्त करने पहुँचते हैं–

**पुनि प्रभु आइ त्रिबेनी हरषित मज्जनु कीन्ह।**
**कपिन्ह सहित बिप्रन्ह कहुँ दान बिबिध बिधि दीन्ह।।६/१२०**

**तब प्रभु भरद्वाज पहिं गयऊ ।।**

**×　　　×　　　×**

**नाना विधि मुनि पूजा कीन्हीं। अस्तुति करि पुनि आसिष दीन्हीं ।।**
**मुनि पद बंदि जुगल कर जोरी। चढ़ि बिमान प्रभु चले बहोरी ।।**

६/१२१/३-५

इस विस्तृत विवेचन से स्पष्ट है कि 'मानस' में वर्णित प्रयाग-प्रसंग का विशिष्ट महत्त्व है। 'मानस' के बालकाण्ड में प्रयाग का उल्लेख विचारों की प्रधानता के परिप्रेक्ष्य में है। अयोध्याकाण्ड में प्रयाग-वर्णन पूर्णत: भाव-प्रधान है, हृदय प्रधान है, भक्ति प्रधान है। लंकाकाण्ड में पुन: प्रयाग का उल्लेख संस्कार प्रधान है। जिन उद्देश्यों की पूर्ति हेतु राम का अवतार हुआ था, जिसके लिए उन्होंने राक्षसी संस्कृति के विनाश से पूर्व प्रतिज्ञा की थी और ऋषि-मुनियों के आश्रमों में जाकर उन्हें आश्वस्त किया था–

**निसिचर हीन करहुँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह ।**
**सकल मुनिन्ह के आश्रमन्ह जाइ जाइ सुख दीन्ह ।।**

●

# श्री कुम्भदर्शनम्

**डॉ. रमाकान्त आगिंरस** *

आर्य मेधा को जब यह मंत्र सूझा होगा–

**पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।**
**पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।**

अथवा इस मन्त्र का साक्षात्कार हुआ होगा तो उस पूर्णता का बिम्ब अमृत-कलश के रूप में ही हुआ होगा। इस कलश में जीवन की समग्रता के वे सारे अंकुर भरे हुए होंगे जिनमें मृत्यु और अभाव भी रचना-प्रक्रिया के पूरक बन जाते हैं। जहाँ जन्म मरने के लिए नहीं होता अपितु नित्यनूतन का संचार करने के लिए होता है– "नवो नवो भवति जायमान;" वैदिक संस्कृति में जिस ज्ञातबल और क्रियाबल की समानान्तर धाराएँ उपासना का विषय बनकर बह निकली थीं उन्हीं को कर्मकाण्ड में समन्वित कर के जब पुराण-साहित्य ने प्रस्तुत किया तो उसका उद्देश्य युगधर्मानुसार उसे सुन्दरतर रूप में प्रस्तुत करने का भी था और सही सच्ची उपयोगिता को बनाए रखने का भी था। क्योंकि पूर्णता को बनाए रखने के लिए कर्मकाण्ड की उपासना की परिणति के लिए यजमान की प्रार्थना का चरम रूप यह था–

**देवनाथ गुरो स्वामिन् देशिक स्वात्मनायक**
**पाहि पाहि कृपासिन्धो पात्रं पूर्णतरं कुरु।।**

इसमें 'पात्रं पूर्णतरं कुरु' का जो उद्‌घोष है वही कर्मकाण्ड की कुम्भ-उपासना में आज भी प्रचलित है। पुराणाचार्यों ने धर्म-शास्त्र और सौन्दर्यबोध की अन्विति बिठाते हुए कर्मकाण्ड सम्बन्धी उपासना प्रकरणों में कुम्भस्थापना या कलशस्थापना करते हुए कलश को खूब वस्त्रादि से सुसज्जित करते हुए उसमें जल भर कर फिर उसमें गन्ध, पुष्प, फल, सर्वौषधि, दूर्वा, पंचपल्लव, सप्त-मृत्तिका एवम् तीर्थजल आदि को डालकर वैदिक देवाधिदेव वरुण का आवाहन किया। वरुण, जो क्रान्ति और जीवन या प्राणिक ऊर्जा के आदि स्रोत हैं उनका कलशस्थ वरुण के रूप में स्मरण करते हुए कुम्भ का ऋग्वेद के मन्त्रों से स्तवन किया– "मही द्यौः पृथिवी च न इमं यज्ञं मिमिक्षताम्। पिपृतां नो भरीमभिः (१-१२-१३) अर्थात् महती पृथिवी और महान् द्यौ के अधिदेव हमारे इस यज्ञ कर्म को मेहन रूप सिंचन से सफल करें तथा नाना प्रकार

* वैदिक वाङ्मय के अधीत विद्वान्, चण्डीगढ़।

की 'भरिमा' या संपन्नताओं से हमारी कामनाओं को संपूर्ण करें। ऐसे प्रतीत होता है कि नीचे पृथिवी और ऊपर द्युलोक दोनों मिलकर एक ब्रह्माण्ड का निर्माण कर रहे हैं जिस के अन्दर अगणित पिण्डघट ब्रह्माण्ड की पद्धति पर ही अपनी अनवरत यात्रा में अग्रसर हो रहे हैं। यह महाघट सर्वदेवमय होने से अनेकता का प्रतिनिधि होने से प्रतिक्षण परिवर्तन का प्रतीक है तो दूसरी ओर एकत्व की दृष्टि से अमर अखण्ड समरस नित्य है। इस अखण्डता के संचित अमृत को पाने के लिए भारत के सभी तरह के मनीषी जागरूक रहे हैं। देवशक्तियों और दानव शक्तियों के संघर्ष की गाथा इसी अमृतकुंभ को पाने और खोने की सफलता और विफलता की कहानी है। पुराणों की आख्यायिकाओं में बार-बार जीवमात्र के लिए इस संसार को घोर सागर कहा गया है। "संसार सागरे घोरे ज्योतीरूपां सदा भजे" कहकर देवीभागवत स्पष्ट संकेत करता है कि इस घोर संसार में भी 'अमृत गमय" की संभावना सदा जीवन्त है। यह ज्योति क्या है? जिसका प्रत्यक्ष करने के लिए भारत का असंख्य जनबल नदियों की ओर दौड़ पड़ता है। साधुसंग का लाभ पाने के लिए बेचैन हो जाता है। आकाशीय नक्षत्र-मण्डल में कुछ एक विशेष ग्रहों के विशिष्ट राशिस्थानों में समागम होने से भारत की विशिष्ट नदियों के संगम स्थल पर स्नान करने, यज्ञ, दान, जप, तप, करने के मानवों के उद्योग का पर्व आरम्भ हो जाता है। उदारहण के रूप में सूर्य और चन्द्र के मकर राशि में तथा गुरु के शुक्र की राशि वृषभ में आ जाने पर अमावस्या तिथि के काल का योग होने पर प्रयाग-स्थल में कुम्भपर्व मनाया जाता है। जिस काल में गुरु कुम्भ राशि में तथा सूर्य मेष राशि में स्थित हो तो हरिद्वार में कुम्भपर्व का उत्सव मनाने की परम्परा रही है। जिस समय गुरु सिंह राशि में तथा सूर्य और चन्द्र कर्क राशि में आ जाएँ तो कुम्भ पर्व नासिक में एवम् सूर्य के शुक्र की राशि तुला में और गुरु के मंगल की राशि वृश्चिक राशि में स्थिति होने पर कुम्भ पर्व उज्जैन में घटित होता है। देवभाषा के इन संकेतों एवम् प्रतीक योजना को समझना भारतीयों के लिए अनिवार्य हैं।

उपर्युक्त चार प्रकार की कालिक अवस्थाओं के उदय होने पर भारत के ही चार देश-स्थलों में कुछ ऐसा घटित होता है जो हम मनुष्यों की देश-काल की कल्पना में अद्भुत पुण्योदय का आयोजन करता है। देश-काल के साथ क्रिया का विनियोग होने पर ही सत्कर्म का परिपाक होता है। देश और काल ईश्वर-प्रदत्त है तो कर्म या क्रिया-व्यापार मनुष्य के अधीन होता है। ईश्वर और मनुष्य-जीव मिलकर ही इस सृष्टि के नाट्यरूप को लीलायित करते हैं। इस प्रकार कुम्भ का यह महापर्व प्रकृति के ही विराट् पर्व का मानवी संस्करण है जिसमें वह उदात्त, अनुदात्त एवम् स्वरित आदि स्वभाव के सभी प्रकार के लोग बिना किसी अधिकार भेद के सरिता, सरोवर, वापी एवम् कूप आदि जलस्रोतों के तटों पर देवाधिदेव वरुण की शरण में आ जाते हैं। शास्त्र कहता

है कि जब भी भजन-साधन में विक्षेप या विघ्न आने लगे तो जल का स्पर्श कर लेना चाहिए। वह क्षुब्ध प्राण को शान्त कर प्रतिष्ठान प्रदान करता है। उन्नीसवाँ महानारायणोपनिषद् का उन्नीसवाँ अनुवाक् जल या आपः के विषय में जो कहता है उस पर जरा ध्यान केन्द्रित करें तो आप को प्रत्यक्ष हो जाएगा कि सम्पूर्णता क्या होती है–

"ओं आपो वा इदं सर्वं विश्वा भूतान्यापः प्राणा वा आपः पशव आपोऽन्नमापोऽमृतमापः सम्राडापोः विराडापः स्वराडापश्छन्दां स्यापो ज्योतीष्यापो यजूंष्यपः सत्यमापः सर्वा देवता आपो भूर्भुवस्सुवराप ओइम्।" कुम्भकाल में एक बार धारा में या उसके पास खड़े होकर इन मंत्रपंक्तियों को भावनाबल से बोलियेगा तो समूची चेतना की कुण्डलिनी खुलकर सुषुम्ना का पथ ढूँढ़ लेगी। पथ मिल गया तो शिवपद तक की संपूर्ण यात्रा सहज हो जाएगी।"

वास्तव में भारत के ऋषिप्राणों को यह साक्षात्कार प्रारम्भ में ही हो गया था कि जो यह अपर जल है यही चित्त की अनादि अविधा के मल का प्रक्षालन कर चेतना से उज्ज्वलतम सोपान पर जाकर "परजल" या 'रामजलु' के रूप में आविर्भूत होगा। कबीर इसी अनुभव को रामनन्दी रसधारा के प्रवाह में बरबस गा उठते हैं–

**सोचत सोचत निकसिओ नीरु ।**
**सो जल निर्मल कथत कबीरु ।।**

इसीलिए जीवन की चरितार्थता को ढूँढने को उत्सुक लोग जन्म जन्मान्तर के पुण्य-संचय के फलस्वरूप अर्थ और काम पुरुषार्थों को धर्मनीति और मोक्षधर्म का सम्पुट लगाकर अनलस सुखी समाज-संरचना के लिए सहज रूप में प्रेरित होते रहे हैं। अधर्म के माध्यम से प्राप्त होने वाली सद्यः उन्नति के कभी भी पक्षधर नहीं रहे। इसके विपरीत असुरशक्तियाँ विकास के नाम पर सद्यः फलप्राप्ति में घोर आसक्ति रखती रहीं। वैसे ध्यान से देखा जाए तो फल-प्राप्ति कोई निन्दनीय तथ्य नहीं है। अध्यात्म का ही अधिभूत रूप फल है। परमार्थ का ही व्यावहारिक रूप 'फल' होता है। किन्तु नास्तिकता हमारे बोध में व्यावहारिकता को नितान्त भौतिकता में पर्यवसित करके उसे अध्यात्म से पूरी तरह विच्छिन्न कर देती है। दूसरी ओर निरलिम्ब समाधि भी जब अधिभूत को निरस्त करने लगता है तो बौद्ध-बुद्धि का उदय भी लोक को शून्यता में ले जाता है। वाल्मीकि और व्यास की परम्परा ने इन दोनों अतियों से बचते हुए परमार्थ और व्यवहार का नित्य सम्बन्ध स्वीकारते हुए सत्ता के भौतिक रूप को परमार्थ का ही प्रकट होना बताया। दोनों के चरित-नायकों का सम्पूर्ण जीवन मूर्त और अमूर्त के सम्बन्धों में विकास की सीमा का चरम निदर्शन है।

अमूर्त से मूर्तरूप में आने के लिए अमृत कुम्भरूप गर्भ का उदय तो अपरिहार्य

है। श्रुति परम्परा में "हिरण्यगर्भ का आदिसृष्टि के पूर्व उदय होना इस बात का प्रमाण है कि स्वर्ण-गर्भ में समस्त चराचर सृष्टि की विविधता का सार समवेत होकर प्रकट हुआ। यह समस्त भूतजात का एकमात्र पति था। उसने ही पृथिवी और द्युलोक को धारण किया हुआ था। क्योंकि वह धर्म भी था और धर्मी भी।

यह हिरण्यगर्भ जल-कुम्भ ही था। प्रजापति की सृष्टि का सार इसी में निहित था। मन्त्रोक्त 'कस्मै' पद का मूल अभिप्राय प्रश्नवाचक न होकर सुखस्वरूप जल की ओर ही इंगित करता है इसी में नारायण लेटे-लेटे ही विंश्व का विधान करते हैं। संस्कृत में आपः या जल को 'नार' भी कहते हैं, यह 'नार' ही जिनका 'अयन' गति या आश्रयस्थल है वे ही नारायण पद के वाच्य भी हैं, व्यंग भी हैं। इनकी ही त्रिपाद् विभूति से हरिद्वार, नासिक एवम् उज्जैन जैसे नगरस्थलों में मायिक जगत् के गर्भ से जीवन रूप अमृतबिन्दुओं का क्षरण और विश्वोत्तीर्ण चतुर्थ चरण से प्रयाग में तीनों पदों का समरसीभूत सिद्ध जीवन का आविष्कार हुआ। यदि भारतीय जनसमुदाय कुम्भ पर्व की इस महिमा को जीवन के अमृत से जोड़ कर नहीं देखेगा तो सारा शास्त्र-ज्ञान रूढ़िमात्र बन कर शुष्क काष्ठ हो जाएगा। परमसत्ता के लिए प्रयुक्त "स्वर्णगर्भा ज्ञानगर्भा वरदा वागधीश्वरी" आदि पद निरर्थक होकर नास्तिकता या उच्छेद को ही जन्म देंगे। मर्त्य के अमर्त्य होने का संकल्प मिथ्यात्व में ही डूब जाएगा।

पुराणाचार्यों ने बड़े ही सुचारू ढंग से इस सम्पूर्ण कुम्भदर्शन का समाहार करते हुए पौराणिक मिथक का उपयोग करते हुए जो सार रूप दिया है वह बहुत ही सरल प्रकार से वैदिक कर्मकाण्ड का उत्तर-वैदिक काल का युगानुसारी रूप है जिसमें मानव जीवन की अर्थवत्ता के लिए सब प्रकार के भौतिक अभौतिक पदार्थों का संग्रह कर दिया गया है–

**देवदानवसंवादे मध्यमाने महोदधौ**
**उत्पन्नोऽस्तिदा कुंभ विधृतो विष्णुना स्वयम्।**
**त्वत्तोये सर्वतीर्थानि देवाः सर्वे त्वयि स्थिताः**
**त्वयि तिष्ठन्ति भूतानि त्वयि प्राणाः प्रतिष्ठिताः**
**व्रह्मणा निर्मितस्त्वं हि मंत्रैश्चैवामृतोपमैः**
**पार्थयामि च त्वां कुम्भ वांछितार्थं प्रयच्छ मे ।।**

•

# पौराणिक वाङ्मय : समुद्रमन्थन के विविध आयाम

**प्रो. प्रभुनाथ द्विवेदी ***

रत्न प्राप्त करने की अभिलाषा किसे नहीं होती? सभी जन रत्न पाना चाहते हैं, चाहे वे कोई भी हों– देव, दानव, मनुष्य। और वह रत्न भी क्या! अनुपम रत्न अमृत। अमृत एक दिव्य रसायन, जिसका पान करके कोई भी जीव अमर हो जाय और जो मृत व्यक्ति के ऊपर छिड़क भी दिया जाय तो वह पुनर्जीवित हो जाय। ऐसा अनुपम-अमूल्य रत्न—अमृत जो सबको काम्य है। सागर की एक संज्ञा है 'रत्नाकर' अर्थात् रत्नों की खान, जिसमें विविध रत्न भरे पड़े हैं। 'जिन खोजा तिन पाइयाँ'। यदि सागर को मथा जाय तो अमृत रूप रत्न प्राप्त हो सकता है। समुद्र मन्थन– एक अति दुष्कर कार्य किन्तु असम्भव नहीं। अमृत पाना है तो समुद्र का मन्थन करना ही होगा।

समुद्र-मन्थन से पूर्व विचार-मन्थन प्रारम्भ हुआ। अमृत की आवश्यकता देवों को सर्वाधिक थी। वे परस्पर विचार-विमर्श करके भी जब किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचे तो 'हारे को हरि नाम'– नारायण की शरण में गये। नारायण ने उन्हें अमृत प्राप्ति का उपाय बताया और उद्योग के संसाधन भी बताये। समुद्र-मन्थन जैसा दुष्कर कार्य अकेले देवों के वश की बात न थी। दानव देवों की अपेक्षा बली, क्रूर और दुर्धर्ष थे। देवगुरु बृहस्पति, तो दानव गुरु शुक्राचार्य। दोनों ही बेजोड़ पुरोहित। समुद्रमन्थन के लिए दानवों का सहयोग आवश्यक था। अत: देवों के प्रमुख ने दानवों के प्रमुख से बात की। अमृत का लोभ दिखलाया। वह झट तैयार हो गया। 'अमृत' जैसा रत्न पाने से वह भला क्यों चूके? अमृत लाभ हो जाय तो देवगण दानवों की ओर से निश्चिन्त हो जाँय और दानव भी देवों को परास्त कर स्वर्ग पर सदा-सदा के लिए अधिकार जमा लें। देवों को नारायण विष्णु की चतुराई पर पक्का भरोसा था। बस, अमृत मिलने भर की देर थी।

पौराणिक वाङ्मय विपुलकाय है। महर्षि व्यास अन्वर्थनामा थे। उनकी दृष्टि का व्यास इतना अधिक था कि ब्रह्माण्ड का कोई भी विषय उनकी दृष्टि से परे न था। 'व्यासोच्छिष्टं जगत्सर्वम्' उक्ति इसी कारण प्रख्यात हो गयी है। पुराणों की रचना करते समय महर्षि व्यास ने इस बात का खास ध्यान रखा कि कोई विषय छूट न जाये। हुआ तो यह कि जो विषय उन्हें विशेष प्रिय था अथवा जिस विषय का विशेष महत्त्व था,

---

* हिन्दी, संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान्, पूर्व प्रो. महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी।

वह विषय कई पुराणों में विविध रूप में वर्णित हुआ। विषय का यह दुहराव अनजाने में, या भूलवश नहीं हुआ है, अपितु जानबूझ कर हुआ है। ऐसे ही विषयों में एक विख्यात विषय है– 'समुद्र-मंथन।' पुराणों के साथ-साथ, 'समुद्रमन्थन' का उल्लेख इतिहास ग्रन्थों में भी हुआ है। वे इतिहास ग्रन्थ हैं– श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण तथा महर्षि व्यासकृत पञ्चमवेद महाभारत। कम से कम सात पुराणों में समुद्रमन्थन का आख्यान सविस्तार वर्णित है। इस निबन्ध में पौराणिक वाङ्मय और इतिहास ग्रन्थों में उपलब्ध समुद्रमन्थन के विविध आयाम निरूपित किये जायेंगे।

यद्यपि महर्षि व्यास ने अष्टादश पुराणों की रचना की है तथापि उनमें श्रीमद्भागवतपुराण की महत्ता सर्वोपरि है। प्रत्येक दृष्टि से यह पुराण सर्वोत्कृष्ट है, अतः 'महापुराण' की संज्ञा से विभूषित होकर पौराणिकों, भक्तों, गृहस्थों और विद्वानों के द्वारा सुपूजित है। इसकी महनीयता की पुष्टि, 'विद्यावतां भागवते परीक्षा'– यह सूक्ति करती है। पारम्परिक विषयों के निरूपण के साथ इसमें भगवान् श्रीकृष्ण की सुमधुर लीलाओं का मनोरम वर्णन किया गया है। प्रसङ्गतः इसमें 'समुद्र-मन्थन' का भी उल्लेख है।[१]

दैत्य-दानवों से त्रस्त एवम् आतङ्कित देवगण त्राणोपाय के लिए पितामह के पास गये। पितामह ने उन सबके साथ मिल कर, "प्रसीदतां नः स महाविभूतिः" इत्यादि आर्तवचनों से परब्रह्म की स्तुति की। उनकी हार्दस्तुति से प्रसन्न होकर सहस्रसूर्यद्युतिमान् भगवान् साक्षात् प्रकट हुए। उन्हें देखकर पितामह समेत सभी देवगणों को वैसा ही परम सुख मिला जैसे दावानल से सन्तप्त गजराजों को गङ्गाजल में प्रवेश करने से मिलता है– "दुष्ट्वा गता निर्वृतिमत्र सर्वे गजा दवार्ता इव गाङ्गमम्भः॥"[२] ब्रह्मादि को सम्बोधित करके भगवान् नारायण ने कहा– "यदि अपना कल्याण चाहते हैं तो अमृत प्राप्ति के लिए प्रयत्न करें। समुद्रमन्थन से अमृत की प्राप्ति होगी। कार्यार्थगौरव को देखते हुए शत्रु से भी सन्धि कर लेनी चाहिए। अतः दैत्य-दानवों से सन्धि करके इस कार्य में उनकी भी सहायता लें। वे जो भी कहें, उसे चुपचाप स्वीकार कर लें। रोष अथवा लोभ प्रकट न करें। मन्दर पर्वत को मथानी बनायें तथा वासुकि नाग को रस्सी। क्षीरोदधि में औषधीय वनस्पतियों को डालकर मन्थन करें। कालकूट विष निकलने पर न डरें और न हताश हों। (धैर्यपूर्वक मन्थन में लगे रहने पर कार्य सिद्ध होगा।"[३]

भगवान् से उपदिष्ट होकर इन्द्रादि देवगणों ने समुद्रमंथन का प्रयोजन बताकर दैत्यदानवों से सन्धि कर ली और इस कार्य के लिए उन्हें सहयोग हेतु राजी कर लिया। फिर दोनों पक्ष के वीरों ने जाकर मन्दराचल को उखाड़ लिया तथा क्षीर-सागर की ओर ले चले। किन्तु श्रान्त होने तथा उसका भार असह्य होने से बीच मार्ग में ही उसे रखकर निराश बैठ गये। तब नारायण स्वयम् आये और अनायास ही उसे उठाकर गरुड़ पर

रखकर सागर तक पहुँचा दिया।[४] इधर नागराज वासुकि भी रस्सी बनने के लिए तैयार हो गये। देवता स्वयं उनके मुँह की ओर हुए तथा दानवों को पूँछ की ओर करके मन्थन प्रारम्भ हो गया। दानवों को पूँछ की ओर होने में कुछ हीनत्व का भान हुआ तब देवताओं ने स्वयं वासुकि की पूँछ संभाली तथा दैत्य-दानवों ने मुँह की ओर जाकर रज्जुरूप नाग को पकड़ा।[५] किन्तु मन्थन आरम्भ ही हुआ था कि मन्दर समुद्र में निराधार होने के कारण बैठने लगा। तब नारायण ने स्वयं कूर्म का शरीर धारण किया और समुद्र में नीचे जाकर मन्दर के आधार के रूप में अवस्थित हो गये। इस प्रकार देवों-दानवों के सम्मिलित प्रयत्न और श्रम से समुद्र मन्थन का कार्य निर्विघ्न रूप से चलने लगा।

मन्थन के फलस्वरूप सर्वप्रथम जीव-जन्तुओं को व्याकुल बनाता हुआ महाभीषण कालकूट विष निकला, जिसके प्रभाव से दिशायें जलने लगीं। तब प्रजापतियों ने भगवान् शङ्कर से प्रार्थना की और उन्होंने लोक कल्याणार्थ प्रसन्नतापूर्वक उस गरल को उदरस्थ कर लिया। कालकूट के प्रभाव से शङ्कर का कण्ठ नीला हो गया और वे परमसामर्थ्यवान् देवाधिदेव 'नीलकण्ठ' के नाम से विख्यात हुए। देवों-दानवों सबने उनकी पूजा की।[७]

भगवान् शङ्कर द्वारा विषपान करके सबको निर्भय कर देने के पश्चात् देव-दानवों ने पुनः प्रसन्नचित्त होकर समुद्र को मथना जारी रखा। तब समुद्र से चन्द्रमा के समान श्वेतवर्ण का 'उच्चैःश्रवा' नामक अश्व उत्पन्न हुआ जिसे दानवराज बलि ने ले लिया। तत्पश्चात् उत्पन्न 'ऐरावत' हाथी इन्द्र के हिस्से में गया। फिर जो 'कौस्तुभ' मणि निकला उसे विष्णु ने ले लिया। 'पारिजात' वृक्ष नन्दनोद्यान में ले जाया गया। आगे 'अप्सराएँ' उत्पन्न हुईं जो स्वर्ग लोक में बिराजीं। तत्पश्चात् समुद्र से उत्पन्न 'लक्ष्मी' को देखकर सुरासुर मोहित हो गये। किन्तु लक्ष्मी ने स्वयं विष्णु को वरण कर लिया। 'वारुणी' (मदिरा) के उत्पन्न होने पर असुरों ने उसे सहर्ष ग्रहण कर लिया। सबसे अन्त में एक सुन्दर युवक 'धन्वन्तरि' अपने हाथ में सुवर्ण कुम्भ लिये हुए बाहर आया जिसमें अभीप्सित 'अमृत' भरा हुआ था। अमृत कुम्भ देखते ही असुरों ने झपट कर छीन लिया और देवगण मुँह ताकते रह गये। उधर, अमृत के लिए असुरों में परस्पर छीनाझपटी होने लगी और भगवान् हरि ने देवों का अभीष्ट पूरा होता न देखकर तुरन्त मोहिनी कामिनी का कान्तरूप धारण किया और असुरों के बीच जा पहुँचे जहाँ अमृत के लिए मारामारी मची थी। मोहिनी को देखकर सारे असुर अमृत से ध्यान हटाकर इसे एकटक निहारने लगे। मोहिनी ने बड़ी चतुराई से उनसे अमृतकलश स्वायत्त कर लिया और बोली– "व्यर्थ ही क्यों परस्पर झगड़ते हो। इस पर समान रूप से देवों का भी अधिकार है।' असुरों ने मन्त्रमुग्धवत् 'हाँ, में 'हाँ" मिलाया। फिर मोहिनी ने देवों और असुरों को

अलग-अलग दो पंक्तियाँ में बैठाया तथा देवताओं को अमृत पिला दिया। मोहिनी का छल भाँप कर राहु धीरे से देवताओं के वेष में आकर देवपंक्ति में बैठ गया। इसे ताड़कर सूर्य और चन्द्रमा ने विष्णु को सङ्केत कर दिया और विष्णु ने चक्र से उसका सिर काट कर गिरा दिया किन्तु उसका सिर अमृत पान के कारण अमर हो गया।[८]

श्रीमद्भागवत-महापुराण में समुद्रमन्थन विषयक इतना विवरण प्राप्त होता है। मत्स्य महापुराण के अध्याय २४९-२५१ में समुद्रमन्थन की कथा प्राप्त होती है। यहाँ वर्णित समुद्रमन्थन संक्षेपतः इस प्रकार है–

"देवों और दानवों में वर्चस्व स्थापित करने के लिए प्रायः भीषण संघर्ष हुआ करता था। दानव क्रूर और बलशाली तो थे ही, अपने पुरोहित गुरु शुक्राचार्य की संजीवनी विद्या के बल से सदैव सुरक्षित और मदोन्मत्त रहते थे। एक बार हुए ऐसे ही भयंकर युद्ध में सहस्रों देवता मारे गये। तब गुरु बृहस्पति के साथ इन्द्रादि देवगण ब्रह्मा की शरण में गये। ब्रह्मा ने उनसे क्षीरसागर का मन्थन करके अमृत प्राप्त करने का परामर्श दिया और इस कार्य में दानवों-दैत्यों से भी सहयोग प्राप्त करने तथा विष्णु मंदराचल, शेषनाग तथा कूर्म भगवान् को प्रसन्न करके उनका समुचित उपयोग करने का उपदेश दिया। देवताओं ने तदनुसार, दैत्यराज बलि के पास जाकर सहयोग करने के लिए राजी कर लिया। पुनः मन्दराचल को मथानी बनने का आग्रह करने पर मन्दर तैयार हो गये। देवगण का अभीष्टसिद्ध करने के लिए शेषनाग और कूर्म स्वयं पाताल के ऊपर आ गये। कूर्म मथानी रूप मन्दर का आधार बने और शेषनाग वेष्टनी बन गये। शेषनाग ने मन्दाराचल को लपेटकर उखाड़ लिया और क्षीरसागर में ला खड़ा किया। कूर्म उनके आधार रूप में विराजमान हुए।[९] देवगण और असुरसमूह मिलकर जब नाग वेष्टनी को पकड़ कर समुद्रमन्थन के लिए उद्यत हुए तब प्रयत्न करने पर भी मन्दर को नहीं घुमा सके। फिर उन्होंने निवेदन करके भगवान् विष्णु की सहायता ली। इस प्रकार सौ दिव्य वर्षों से अधिक समय तक समुद्रमन्थन चलता रहा किन्तु कुछ भी नहीं निकला। सभी श्रान्त, क्लान्त और हताश होकर मन्थन से विरत होकर बैठ गये। इन्द्र ने मेघरूप धारण कर शीतल जल की वृष्टि की और शीतल वायु बहने लगी। ब्रह्मा पुनः उत्साहित करने लगे तो मन्थन प्रारम्भ हुआ। इस बीच मन्दर पर स्थित पशु आदि जीवों का असंख्य समूह, फूल-फल से लदे वृक्ष तथा औषधियों वाली वनस्पतियाँ वेग के कारण समुद्र में गिरने लगीं। पत्रों, पुष्पों, फलों और औषधियों के सारभाग रस से क्षीरसागर दधिसागर के रूप में परिवर्तित हो गया तथा जीवों के पिस जाने से उनकी मज्जा-रक्त आदि के जल से संयुक्त होने पर वारुणी (मदिरा) उत्पन्न हुई। उसकी गन्ध से देव-दानव परम प्रसन्न हुए तथा उसके आस्वादन से पुष्ट और बलवान हो गये। पुनः वेग से मथने के कारण दुग्ध से दधि तथा दधि से घृत निकलने लगा किन्तु 'अमृत'

का कहीं पता न था। ब्रह्मा के कहने पर भगवान् विष्णु ने देवों-दानवों को और अधिक बल प्रदान किया।[१०]

देव दानव अधिक शक्ति लगाकर उत्साहपूर्वक मन्दर को घुमाने लगे। फलस्वरूप निरन्तर हो रहे समुद्र मन्थन से दीप्तिशाली शीतरश्मि चन्द्रमा उत्पन्न हुआ। पुनः लक्ष्मी, सुरा, उच्चैःश्रवा (अश्व), कौस्तुभमणि और पारिजात उत्पन्न हुए। तत्पश्चात् मन्दर के चतुर्दिक व्याप्त हुए धुएँ से अग्नि उत्पन्न होने का ज्ञान हुआ। अग्नि की लपटों से नाना प्रकार के विषैले सर्प, जीव, जन्तु और अनेक प्रकार के विष उत्पन्न हुए। एक विचित्र एवं भीषण शरीरधारी प्रकट हुआ जिसे देखकर अनेक देव दानव भय से मूर्च्छित हो गये। विष्णु के पूछने पर उसने अपना नाम 'कालकूट' विष बताया और कहा कि मैं देवों और दानवों के संहार के लिए उत्पन्न हुआ हूँ। या तो देव दानव मिलकर मुझे पी जाँय अथवा शङ्कर की शरण में जाँय। तब भीत देव-दानव भगवान् अशुतोष शङ्कर के यहाँ जाकर स्तुति करके उन्हें प्रसन्न करने लगे। प्रसन्न होकर भगवान् शङ्कर ने उनका प्रयोजन पूछा और फिर कालकूट विष का पान कर उन्हें निर्भय बना दिया। निर्भय होकर देवों और दानवों ने पुनः समुद्रमन्थन आरम्भ किया। तब कामधेनु, ऐरावत, धन्वन्तरि तथा अमृत उत्पन्न हुए। धन्वन्तरि के हाथ में एक श्वेत वर्ण का कमण्डलु था जिसमें 'अमृत' भरा था। उस अद्‌भुत पात्र में अमृत देखकर उसे प्राप्त करने के लिए देव दानवों में होड़ लग गयी और वे "यह मेरा है, यह मेरा ही है" ऐसा चिल्लाने लगे। देवों को मलिन मुख देखकर भगवान् विष्णु ने मोहिनी माया का आश्रय लिया और अनुपम सौन्दर्यशाली नारीरूप धारण करके दानवों के बीच पहुँचे। मोहिनी के आकर्षण से मुग्ध दानवों ने यह अमृतपूतपात्र स्वयं मोहिनी को समर्पित कर दिया तथा संगठित होकर देवों से युद्ध करने लगे। इस युद्ध का लाभ लेकर विष्णु देवों को अमृतपान कराने लगे। उधर भीषण देवासुर संग्राम चल रहा था। इस बीच राहु ने धोखा देकर अमृत पान किया ही था कि सूर्य चन्द्र का संकेत पाकर विष्णु ने उसकी गदरन उतार दी। देवगण अमृतपान करके अमर हो चुके थे। इस संग्राम में देवों की विजय हुई। बचे हुए दैत्य,दानव पलायन कर गये। देवताओं ने शेष अमृत को सुरक्षित करके विष्णु को सौंप दिया।[११]

विष्णुपुराण में समुद्रमन्थन की कथा संक्षेपतः १.९ में वर्णित है। महर्षि दुर्वासा के शाप से इन्द्र का पराभव[१२] अतः तीनों लोकों का श्रीहीन होना[१३] और दैत्य-दानवों द्वारा देवताओं का संहार कर उन्हें पराजित करना[१४] यहाँ समुद्रमन्थन के वृत्तान्त के मूल में है। पराजित देवगण इन्द्र समेत ब्रह्मा को आगे करके विष्णु की शरण में गये। विष्णु ने देवों से कहा कि अजर-अमर होने के लिए आप सबको अमृतपान करना चाहिए और वह अमृत क्षीरोदधि के मन्थन से प्राप्त होगा। अतः सामनीति का आश्रय

लेकर इस महत्कार्य में दैत्यों-दानवों को भी सहयोगी बनाइए। मन्दराचल को मथानी तथा वासुकि नाग को नेती बनाकर मन्थन कार्य कीजिए। मैं भी इसमें आपकी सहायता करूँगा। अमृत प्राप्ति के लिए सारी औषधियाँ लाकर क्षीरसागर में डालिए। देवों ने वैसा ही किया।[१५]

भगवान् ने विशाल कच्छप का रूप धारण किया और मन्दाराचल के आधार बन गये। साथ ही, उन्होंने अदृश्य रूप से ऊपर से मन्दराचल को दबा रखा था और वासुकि तथा देवों-दानवों में बल का सञ्चार भी कर रहे थे।[१६] इस प्रकार, जब क्षीरसागर का पर्याप्त मन्थन हुआ तो सर्वप्रथम कामधेनु उत्पन्न हुई। पुनः वारुणी देवी प्रकट हुई। तत्पश्चात् क्रमशः कल्पवृक्ष, अप्सराएँ, चन्द्रमा, विष, अमृतपूर्ण कमण्डलु लिये हुए धन्वन्तरि, तथा अन्त में लक्ष्मी जी प्रकट हुईं।[१७]

देवगण अत्यन्त प्रसन्न थे क्योंकि उनका अभीष्ट सिद्ध हो गया था किन्तु इसी बीच बली दैत्यों ने सहसा धन्वन्तरि के हाथ से वह कमण्डलु छीन लिया। तब भगवान् विष्णु ने मोहिनी माया का आश्रय लेकर दैत्यों से अमृत से भरा कमण्डलु ले लिया और उसे इन्द्र को दे दिया। इन्द्र स्वयम् अमृतपान करके अन्य सभी देवताओं को शीघ्रता पूर्वक अमृतपान कराने लगे जिसे देखकर दैत्य-दानवों ने देवताओं पर भीषण आक्रमण किया। देवगण अमृत पीकर बलशाली और अमर हो गये थे। उन्होंने दैत्यों-दानवों का संहार कर उन्हें पराजित किया। सभी लोक श्रीसम्पन्न हो गये।[१८]

श्रीहरिवंशपुराण[१९] के तृतीयखण्ड 'भविष्यपर्व' (अध्याय ३०-३१) में समुद्रमन्थन का उल्लेख किया गया है। एक बार देवगण गन्धमादन पर्वत के शिखरों पर भ्रमण कर रहे थे। वहाँ चारों ओर सुगन्धि फैली हुई थी। वे वहाँ शान्त होकर बैठ गये। फिर वसन्त ऋतु के आने पर उस गन्ध ने देवों, मनुष्यों और दैत्यों को अत्यन्त विस्मित और आह्लादित किया। दैत्यों ने सोचा कि जब फूल की गन्ध इतनी मादक है तो फल कैसा होगा? (किन्तु उस फल की प्राप्ति के लिए अमरता पाना आवश्यक है) अतः हम अमरत्व के हेतु भूत अमृत की प्राप्ति के लिए औषधियों को डालकर समुद्र का मन्थन करेंगे और इस कार्य में हमारे अग्रणी विष्णु होंगे। ऐसा विचार कर मथानी बनाने के लिए दैत्यों ने मंदराचल को उखाड़ना चाहा किन्तु परिश्रम करने पर भी सफल न हुए। तब वे सब ब्रह्मा की शरण में गये। ब्रह्मा ने सरस्वती को बुलाया और लोकमङ्गल की भावना से सरस्वती ने आदित्य, वसु, रुद्र, मरुद्गण आदि देवों तथा यक्ष, गन्धर्व और किन्नर आदि को प्रेरित किया।[२०] सभी ने दैत्यों के साथ मिलकर उस विशाल मन्दर पर्वत को उखाड़ कर उसे मथानी तथा वासुकि नाग को नेती (रस्सी) बनाया। फिर उस समुद्र में औषधियाँ डालकर हजार वर्ष तक मथते रहे। इसके फलस्वरूप वह खारा समुद्र स्वादिष्ट दुग्ध के समान मीठे जल वाला हो गया और लोभ

तथा रोष के वशीभूत असुरों ने उसे ग्रहण कर लिया। इसके पश्चात् धन्वन्तरि, मदिरा, लक्ष्मी, कौस्तुभ मणि, चन्द्रमा, उच्चैःश्रवा अश्व तथा अन्त में पीयूष अर्थात् अमृत उत्पन्न हुआ।[२१] उस अमृत को दैत्य-दानव नहीं प्राप्त कर सके। देवेन्द्र को वह अमृत मिला। देवता का रूप बनाकर अमृतपान करने की चेष्टा वाले राहु का सिर विष्णु ने काट कर गिरा दिया।

अन्य कई पुराणों (यथा-वायुपुराण (अध्याय १९२), स्कंदपुराण-वैष्णवखण्ड (अध्याय ९, १०, ११), पद्मपुराण- ब्रह्मखण्ड (अध्याय ८, ९, १०) तथा उत्तरखण्ड (अध्याय २३१-३३) में भी समुद्रमन्थन का वृत्तान्त वर्णित है। किन्तु हम यहाँ विस्तारभय से नहीं दे रहे हैं (जिज्ञासु जन वहाँ देख सकते हैं)। पुराणों के ही समानान्तर इतिहास ग्रन्थ भी श्रद्धेय हैं। मुख्यतः दो इतिहासग्रन्थ प्रसिद्ध हैं– श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण और महर्षि व्यासकृत महाभारत। इन दोनों ग्रन्थों में भी समुद्रमन्थन का वृत्तान्त महर्षियों के द्वारा निबद्ध है। अतः इन दोनों इतिहासग्रन्थों में प्राप्त समुद्रमन्थन के वृत्तान्त का संक्षेपतः समुल्लेख किया जा रहा है।

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण, बालकाण्ड के अध्याय ४५ में समुद्रमन्थन की कथा निबद्ध है। वहाँ विशालापुरी के प्राचीन इतिहास का वर्णन करते हुए महर्षि विश्वामित्र ने इसे श्रीराम-लक्ष्मण को सुनाया है।

सत्ययुग में दैत्यों और आदित्यों (देवताओं) के मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि हम नीरोग और अजर-अमर कैसे होंगे? फिर मनन करते हुए उन्होंने अनुमान किया कि यदि क्षीरसागर का मन्थन किया जाय तो उससे निश्चय ही अमृत रस प्राप्त होगा जिसका सेवन करने से हम यथाभिलषित हो सकेंगे। समुद्रमन्थन का निश्चय करके देव-दैत्यों ने वासुकि नाग को रस्सी तथा मंदराचल को मथानी बनाकर क्षीरसागर को मथना प्रारम्भ किया। ऐसा करते हुए एक हजार वर्ष व्यतीत हो गये। सर्वप्रथम अग्नि के समान दाहक भीषण हालाहल विष ऊपर उठा। उसने सुरासुर आदि समस्त जीवों को दग्ध करना आरम्भ किया। सभी लोग त्राण के लिए भगवान् शिव की शरण में गये। वहाँ प्रकट हुए श्रीहरि ने मुस्कुराकर शिवजी से कहा कि समुद्रमन्थन के फलस्वरूप प्रथमतः जो वस्तु प्राप्त हुई है, देवों में अग्रगण्य होने के कारण अग्रभाग के रूप में आपको समर्पित है। उसे ग्रहण करें।[२३] भगवान् शिव ने सुरासुर के भय को देखकर उस भयङ्कर विष को अपने कण्ठ में धारण करके सबको अभय प्रदान किया। पुनः मन्थन आरम्भ करने पर वह मथानीरूप मन्दराचल पाताल में घुस गया। उस पर्वत का उद्धार करके धारण किये जाने हेतु देव-दैत्यों द्वारा स्तुति किये जाने पर भगवान् विष्णु ने मन्दर को ऊपर उठाकर, कच्छप का रूप धारण कर उसे अपनी पीठ पर सम्हाला। स्वयं प्रत्यक्ष रूप में बाहर आकर भगवान् केशव मन्दराचल के शिखर को पकड़ कर

देव-दैत्यों के बीच में खड़े हो गये।[२४]

इस प्रकार, समुद्र-मन्थन करते हुए एक हजार वर्ष बीत गया और तब उसमें से आयुर्वेद पुरुष धन्वन्तरि निकले। उनके एक हाथ में दण्ड और दूसरे हाथ में कमण्डलु था। तत्पश्चात् कान्तिमती साठ करोड़ सुन्दर अप्सराएँ प्रकट हुईं। तत्पश्चात् वरुण की कन्या 'वारुणी' ऊपर आयी और स्वयं को स्वीकार करने वाले पुरुष की खोज करने लगी।[२५] दैत्यों ने उसे ग्रहण नहीं किया अपितु आदित्यों ने उस वारुणी (सुरा) को स्वीकार कर लिया।[२६] वारुणी के प्रकट होने के पश्चात् उत्तम अश्व उच्चैःश्रवा, मणिरत्न कौस्तुभ तथा परम उत्तम अमृत प्रकट हुए। उस अमृत के लिए देवों और दैत्यों में भीषण संग्राम हुआ। समस्त असुर और राक्षस एक जुट हो गये। तब श्रीविष्णु ने मोहिनी माया का आश्रय लेकर अमृत को अपने अधीन कर लिया। जो असुर अमृत छीनने का प्रयत्न करता, श्रीविष्णु स्वयं उसे मार डालते। आदित्यों ने दैत्यों का महान् संहार कर डाला। तत्पश्चात् इन्द्र सुखपूर्वक समस्त लोकों पर शासन करने लगे।[२७]

समुद्रमन्थन का वृत्तान्त महाभारत के आदिपर्व (अध्याय १७-१८) में वर्णित है। वहाँ इस वृत्तान्त का उपक्रम अदिति और दिति द्वारा उच्चैःश्रवा अश्व के दर्शन से होता है कि ऐसा अपूर्व सुन्दर अश्व कहाँ से आया? 'समुद्रमन्थन से अन्य रत्नों के साथ इसकी भी उत्पत्ति हुई है'– ऐसा बताये जाने पर समुद्रमन्थन विषयक कुतूहल होने पर सौति ने शौनक को यह वृत्तान्त बताया था।[२८]

एक बार सभी देवगण मेरुपर्वत पर बैठकर अमृत प्राप्ति के उपाय के विषय में विचार कर रहे थे। उस समय वहाँ प्रकट होकर भगवान् नारायण ने ब्रह्मा से कहा कि देवों और दैत्य-दानवों को मिलकर महासागर का मन्थन करना चाहिए। उसी से अमृत की प्राप्ति होगी। औषधियों और नाना प्रकार के रत्नों की प्राप्ति होने के पश्चात् अन्ततः अमृत की प्राप्ति होगी।[२९]

भगवान् विष्णु के द्वारा उपाय बताये जाने पर महासागर को मथने हेतु मथानी बनाने की इच्छा से सभी देवता मिलकर विशाल मन्दराचल को उखाड़ने में प्रयत्नरत हुए किन्तु जब उनसे यह कार्य न हुआ तो उन्होंने ब्रह्मा और विष्णु से इसके लिए निवेदन किया। तब भगवान् विष्णु ने नागराज अनन्त को मन्दराचल को उखाड़ने की आज्ञा दी। ब्रह्मा की उत्साहवर्धक उक्तियों और विष्णु की आज्ञा से अनन्त ने वनों तथा जीवजन्तुओं सहित उसे उखाड़ दिया। देवगण प्रसन्नता पूर्वक मन्दर सहित समुद्र तट पर जाकर उस सागर से बोले कि अमृत के लिए हम तुम्हारा मन्थन करेंगे। तब समुद्र ने कहा कि यदि अमृत में मुझे भी मेरा अंश प्राप्त हो तो मन्थन की पीड़ा सहने के लिए मैं तैयार हूँ।[३०]

इसी बीच अमृत प्राप्ति की बात सुनकर असुर गण भी देवों का सहयोग करने

के लिए तैयार हो गये। सागर की शर्त स्वीकार करके सुरासुरों ने सागरतल में स्थित कूर्मराज को मन्दराचल रूपी मथानी का आधार बनाने के लिए और नागराज वासुकि को नेती (रस्सी) बनने के लिए राजी कर लिया। फिर तो सुरासुरों ने मिलकर समुद्रमन्थन आरम्भ किया। असुरगण वासुकि के मुख की ओर और देवगण पूँछ की ओर लगे थे। भगवान् नारायण दोनों के बीच में और उनके पार्श्व में अनन्तदेव खड़े थे जो बार-बार वासुकि के मुँह को ऊपर की ओर करके झटकते रहते थे। वासुकि के मुँह से निरन्तर धूम-सहित अग्नि और गर्म साँसे निकल रही थीं जो आकाश में जाकर मेघ-घटा के रूप में परिणत होकर श्रमसंतप्त देवों पर जल वर्षा कर रहे थे तथा मन्दराचल के वृक्षों से सुरासुरों पर पुष्पवृष्टि हो रही थी। वृक्ष आपस में रगड़ खाकर दावानल उत्पन्न कर रहे थे जिसके कारण उस पर रहने वाले जीव जन्तु जलकर भस्म हो रहे थे किन्तु इन्द्र वृष्टि द्वारा अग्नि की ज्वालाओं को शान्त कर देते थे। नाना प्रकार की वनस्पतियाँ उखड़ कर नीचे गिर रही थीं।[३१]

मथे जाते समुद्र में, नाना प्रकार के वृक्षों के सत्त्व तथा अमृत तुल्य औषधियों के रस और दिव्य प्रभावशाली मणियों के चूर्ण निरन्तर गिर रहे थे। उनके सम्मिश्रण से सागर का सारा जल दूध बन गया और फिर मथने से घी बनने लगा।[३२]

इस प्रकार, मन्थन करते हुए बहुत समय व्यतीत हो गया। सुरासुर थक गये किन्तु अमृत का कहीं पता न था। उन्होंने ब्रह्मा से अपनी पीड़ा व्यक्त की। ब्रह्मा द्वारा कहने पर श्री विष्णु भगवान् ने सुरासुरों को सम्बल प्रदान करते हुए कहा कि आप लोग पूरी शक्ति लगाकर मन्दर को घुमाएँ और सागर को क्षुब्ध कर दें। बल पाकर सुरासुर उत्साहपूर्वक पुनः समुद्रमन्थन करने लगे। तब सागर से सर्वप्रथम चन्द्रमा उत्पन्न हुआ और फिर क्रमशः लक्ष्मी, सुरा, श्वेत अश्व, कौस्तुभ मणि, पारिजातवृक्ष, कामधेनु प्रकट हुए। तत्पश्चात् दिव्य देहधारी धन्वन्तरि प्रकट हुए जिनके हाथ में अमृतपूर्ण श्वेत कलश था। अमृत कलश देखते ही दानवगण–"यह मेरा है– यह मेरा है"– ऐसा कहते हुए कोलाहल करने लगे। इसके बाद ऐरावत नामक श्वेत हाथी समुद्र से निकला और तुरन्त ही त्रिलोक को मूर्च्छित करने वाला कालकूट महाविष उत्पन्न हुआ। ब्रह्मा की प्रार्थना से द्रवित होकर भगवान् शङ्कर उस विष का पान करके 'नीलकण्ठ' हुए। यह सब दानवों के लिए विस्मयकारी था। वे अमृत और लक्ष्मी को प्राप्त करना चाहते थे किन्तु निराशा हाथ लगी और उन्होंने देवों से वैर बाँध लिया। श्रीविष्णु ने मोहिनी रूप धारण करके अमृत कलश को अपने अधिकार में ले लिया।[३३] उन्होंने देवों को अमृत पिलाया और राहु ने देवों के वेष में अमृत पी लिया किन्तु सद्यः सूर्य-चन्द्र से यह भेद जानकर विष्णु ने अपने चक्र से उसका सिर काट दिया। फिर तो उस सागर तट पर सुरों का असुरों से भयङ्कर संग्राम प्रारम्भ हो गया। देवों ने श्रीविष्णु की सहायता से असुरों का भारी

संहार किया। शेष असुर भयभीत होकर पृथ्वी के अन्दर और समुद्र में तिरोहित हो गये।[३४] विजयी देवताओं ने यत्नपूर्वक मन्दराचल को पुनः उसके स्थान पर स्थापित कर दिया और इन्द्र ने उस अमृत कलश को सुरक्षित करने के लिए किरीटधारी भगवान् नर को सौंप दिया।[३५]

पुराणों और इतिहास ग्रन्थों में प्राप्त समुद्र-मन्थन के वृत्तान्तों में अमृत प्राप्ति रूप प्रयोजन सबमें एक समान है किन्तु समुद्रमन्थन का उपक्रम सब में भिन्नता लिए हुए है। यदि रामायण को छोड़ दें तो पुराण में और महाभारत के कर्त्ता हमारी परम्परा में एक ही– महर्षि वेद व्यास माने जाते हैं। तब एक ही घटना के वर्णन में इतनी असमानता क्यों? इस प्रश्न का सर्वकाल समाधान दुष्कर है। महाभारत में समुद्रमन्थन का वर्णन, पुराणों में प्राप्त वर्णनों का मिला जुला रूप है। प्रतीत होता है कि महाभारतकार ने पूर्वतः प्राप्त समुद्रमन्थन के समस्त वृत्तान्तों का समन्वय करके इसे प्रस्तुत किया है।

समुद्रमन्थन के उपक्रम में सागर, मन्दराचल (मथानी) और वासुकि (नेती) तीन उपादान प्रमुख हैं। प्रेरकों और सहायकों में सर्वत्र ब्रह्मा तथा विष्णु हैं और विष से रक्षा भगवान् शङ्कर ने की है। ये सारे मूल तथ्य सभी पुराणों और इतिहासग्रन्थों में एक समान हैं।

समुद्रमन्थन का एक मात्र प्रयोजन है अमृत की प्राप्ति। आनुषंगिक रूप से अन्य रत्न भी प्राप्त हुए। सागर को प्रायः क्षीरसागर कहा गया है किन्तु खारे जल वाला भी कहा गया है।

समुद्रमन्थन की भूमिका सभी वृत्तान्तों में भिन्न है। उपाय कहीं ब्रह्मा ने, कहीं विष्णु ने और कहीं दोनों ने मिलकर बताया है। मन्दराचल को उखाड़ने तथा समुद्र तक ले जाने के प्रयत्न में भेद है। प्रायः सर्वत्र सुरों-असुरों ने मिल कर उखाड़ा है। किन्तु मत्स्यपुराण और महाभारत में विष्णु की आज्ञा से शेषनाग अथवा नागराज अनन्त ने उसे उखाड़ा तथा समुद्र तक पहुँचाया। मन्दराचल का स्वरूप वर्णन प्रायः एक जैसा है। मत्स्यपुराण में शेषनाग ही वेष्टनी भी बने हैं किन्तु अन्यत्र सर्वत्र वासुकि वेष्टनी के रूप में वर्णित हैं। महाभारत में अनन्त (नागराज) को वासुकि की सहायता करते दिखाया गया है। मन्दराचल के आधार के रूप में कूर्म को प्रतिष्ठित किया गया है। मन्थन कर्म में दैत्य नाग के मुख की ओर देव पूँछ की ओर ही प्रायः रखे गये हैं। अमृतप्राप्ति के लिए सागरमन्थन के समय उसमें औषधियाँ डाली गयीं। परम्परया अमृत सहित चौदह रत्न– 'श्रीमणि, रम्भा, वारुणी, अमिय शंख, गज, वाजि। कल्पद्रुम शशि धेनु धनु धन्वन्तरि विषराज।– उत्पन्न होना कहा गया है किन्तु पुराणों और इतिहास ग्रन्थों में ये चौदह रत्न पूरे के पूरे नहीं उल्लिखित हैं। इन रत्नों के उत्पन्न होने का क्रम भी भिन्न-

भिन्न है। सर्वप्रथम सागर से विष का ऊपर आना तर्क संगत और वैज्ञानिक है। किन्हीं पुराणों में वारुणी और विष का मानवीकरण भी किया गया है। अधिकांश रत्न देवों के अधिकार में आये। दैत्यों को कुछ ही रत्न मिले और अमृत तो नहीं ही मिला। अमृत तो विष्णु ने मोहिनी माया से देवों के लिए अधिकृत कर लिया। अन्ततः देवों-दैत्यों का भीषण संग्राम हुआ और विजय देवों की हुई। विष्णु ने अमृत की रक्षा की। महाभारत में देवों द्वारा मन्दराचल को पुनः उसके मूल स्थान पर स्थापित कराया गया है।

'समुद्रमन्थन' का एक आध्यात्मिक अभिप्राय भी है। इसके सारे उपादानों की एक प्रतीक योजना है। मानव शरीर में दैव (सत्) और आसुर (असत्) प्रवृत्तियाँ निरन्तर संघर्ष करती रहती हैं। दोनों को अपनी सत्ता की रक्षा के लिए अमृतत्व की कामना रहती है, अतः मन (मन्दराचल) को मथनीदण्ड तथा इन्द्रिय समूह (वासुकि) को नेती (वेष्टनी रज्जु) बनाकर निरन्तर अन्तःकरण का मन्थन दोनों करते रहते हैं। ब्रह्मा बुद्धि है और विष्णु आत्मा है। कूर्म धैर्य है और शङ्कर सत्यसङ्कल्प हैं। इस प्रकार, निरन्तर होने वाले समुद्र (देह) मन्थन से सद्भाव (अमृत) और असद्भाव (विष) निकलते हैं तथा लोकोपयोगी विचार भी अन्य रत्नों की भाँति प्राप्त होते हैं सबल और निर्मल आत्मा (विष्णु) के सहयोग से सद्वृत्तियों (देवों) की जय होती है। आधुनिक सन्दर्भ में 'समुद्रमन्थन' को पर्यावरण से जोड़कर देखना प्रासङ्गिक और उपयुक्त होगा। सन्तुलित और स्वच्छ पर्यावरण सबको काम्य और हितकर होता है। यह अच्छे-बुरे सभी लोगों को प्रभावित करता है। समुद्र को जल को योनि (मूल स्रोत) कहा गया है। देवों-दैत्यों द्वारा मिलकर समुद्रमन्थन किया जाना, प्राचीन काल में जलीय पर्यावरण के प्रदूषण के निवारण और उसके विशद स्वरूप तथा सन्तुलन के पुनःस्थापन के सार्थक प्रयत्न को सूचित करता है।

समुद्रमन्थन के विविध आख्यानों का माहात्म्य तब तक पूरा नहीं होगा जब तक उसकी फलश्रुति का निर्देश न किया जाय और वह फलश्रुति है 'कुम्भपर्व।' समुद्रमन्थन के फलस्वरूप जो चतुर्दशरत्न निकले उसमें सबसे महत्त्वपूर्ण रत्न है 'अमृत', जिसे लेकर देवों और दानवों में भारी छीना-झपटी हुई। देवों का मुख्य प्रयोजन तो अमृत को प्राप्त करना ही था और विष्णु के चातुर्य से देवों ने उसे अन्ततः स्वायत्त किया। मनुष्यों के प्रति देवों की सदैव उदारदृष्टि रहती है। देवगण तो अमृतपान कर अमर हो गये और अमृतकुम्भ की इस छीना-झपटी ने मनुष्यों के अमरत्व अथवा मोक्ष का मार्ग प्रशस्त कर दिया। यह कैसे? कुम्भ पर्व-स्नान के द्वारा। वस्तुतः यह 'कुम्भपर्व' भी आनुषङ्गिक रूप से 'समुद्रमन्थन' से जुड़ा है।

समुद्रमन्थन के फलस्वरूप जब धन्वन्तरि अमृतपूर्ण कुम्भ (कलश=घड़ा) लेकर प्रकट हुए तो दैत्य उसे हस्तगत करने हेतु सचेष्ट हुए। दैत्यों की मंशा भाँप कर विष्णु

ने उसे छिपाने के लिए इन्द्रपुत्र जयन्त को सङ्केत कर दिया। जयन्त उस अमृत कुम्भ को लेकर भागने लगा (किन्हीं आख्यानों में गरुड़ द्वारा अमृत कलश को ले जाने का वर्णन है)। दैत्य गुरु शुक्राचार्य के ललकारने पर दैत्य जयन्त के पीछे दौड़े। यह लुका-छिपी का खेल (संघर्ष) बारह दिन तक चलता रहा। इस खींचतान में अमृतकुम्भ चार स्थानों पर गिरा (कुछ आख्यानों के अमुसार, गरुड़ ने उसे चार स्थानों पर छिपाया और कुछ के अनुसार चार स्थानों पर कुम्भ से अमृत छलक कर गिरा)। कुम्भ की रक्षा में लगे सूर्य ने कुम्भ को फूटने से बचाया, चन्द्रमा ने अमृत को बहने से (गिरने से) रोका, बृहस्पति ने दैत्यों को अमृत तक पहुँचने से रोका और शनि ने देवों को विशेषतः जयन्त को भयाक्रान्त नहीं होने दिया–

**चन्द्रः प्रस्रवणाद्रक्षां सूर्यो विस्फोटनाद् दधौ।**
**दैत्येभ्यश्च गुरू रक्षां शौरिर्देवेन्द्रजं भयात्।।**

अमृतकुम्भ के संरक्षण काल में सूर्यादि ग्रह जिन राशियों में थे, उन्हीं में उन ग्रहों के उपस्थित होने पर 'कुम्भ (पर्व) योग' घटित होता है। पूर्वोक्त देवों के बारह दिन मनुष्यों के बारह वर्ष के बराबर होते हैं। अतः बारह वर्षों में बारह कुम्भ होते है। इनमें से आठ 'देव-कुम्भ' अन्य लोकों में होते हैं और चतुःस्थानीय चार कुम्भ मनुष्यों के हेतु (पृथ्वी) पर अर्थात् भारतवर्ष में होते हैं–

**देवानां द्वादशाहोभ्भिर्मर्त्यैर्द्वादशवत्सरैः।**
**जायन्ते कुम्भपर्वाणि तथा द्वादशसंख्यया।।**
**भारते भुवि तुर्य्याः स्युर्नृणां कल्याणहेतवे।**
**अष्टौ लोकान्तरे प्रोक्ता देवैः गम्या न चेतरैः।।**

पृथ्वी पर (भारत में) जिन चार स्थानों पर अमृतकुम्भ छलका या गिरा अथवा रखा गया, वे हैं– हरिद्वार, प्रयाग, उज्जयिनी और नासिक–

**चतुःस्थले निपतनात् सुधाकुम्भस्य भारते।**
**गङ्गाद्वारे प्रयागे चोज्जयिन्यां नासिके तथा।**
**कलशाख्यो हि योगोऽयं प्रोच्यते शङ्करादिभिः।।**

इन चारों स्थानों पर प्रत्येक बारह वर्ष में एक बार कुम्भपर्व घटित होता है। मेष राशि में सूर्य और कुम्भ राशि में गुरु के होने पर हरिद्वार में कुम्भयोग होता है–

**पद्मिनीनायको मेषे कुम्भराशिगतो गुरुः।**
**गङ्गाद्वारे भवेद्योगः कुम्भ नामा तदोत्तमः।।**

सूर्य, गुरु और चन्द्र जब एक साथ तुला राशि में होते हैं तब उज्जयिनी (धारा) में कुम्भयोग होता है–

घटे सूरिः शशी सूर्यः कुहूवा दामोदरो यदा।
धारायां च तदा कुम्भो जायते खलु मुक्तिदः।।

अथ च,

तुलाराशौ शशी सूर्यो मेषे सिंहे गुरुर्यदा।
उज्जयिन्यां भवेत् कुम्भः 'सिंहस्थः' स च मुक्तिदः।।

उज्जयिनी में घटित कुम्भ पर्व को 'सिंहस्थ पर्व' भी कहा जाता है। जब गुरु सिंह राशि में आता है तब नासिक में कुम्भयोग होता है–

यस्यां तिथौ मृगेन्द्रेण युक्तो देवगुरुर्भवेत्।
तस्यां तु गौतमी स्नानं कोटि जन्मौघनाशनम्।।

उपर्युक्त चारों स्थानों में घटित होने वाले कुम्भ पर्वों में सर्वाधिक माहात्म्य प्रयाग में घटित कुम्भपर्व का स्वीकार किया गया है। हरिद्वार में गङ्गा, उज्जयिनी में शिप्रा और नासिक में गोदावरी के पवित्र जल में यह अमृत स्नान होता है। प्रयाग में गङ्गा, यमुना और सरस्वती नदियों के पावन त्रिवेणी सङ्गम के कारण प्रयाग की महिमा 'तीर्थराज' के रूप में विख्यात है। यही कारण है कि प्रयागस्थ कुम्भ का सविशेष महत्त्व है।

जब मकर राशि में सूर्य और मेष या वृष राशि में बृहस्पति होते हैं, तिथि अमावस्या होती है, तब प्रयाग में कुम्भ योग घटित होता है–

प्रयागे भास्कर क्षेत्रे मकरस्थे रवौ सति।
मेषे जीवे मृगे चन्द्रे कुम्भाख्यो योग उच्यते।।
मकरे च दिवानाथे वृषराशिगते गुरौ।
प्रयागे कुम्भयोगो वै माघमासे विधुक्षये।।

प्रयागस्थ कुम्भपर्व के सम्बन्ध में एक प्राचीन श्लोक इस प्रकार है–

यदा स्यातां वक्रे दिनकर निशेशौ खगरवौ
सुमन्त्री देवानां रविसुतयुतोऽमी खलु यदा।
श्रुतिर्विश्वं माघे शमयति च विश्वाघमखिलं
त्रिवेणी कुम्भोऽस्मिन् ननु नरकपातश्च न भवेत्।।

एतदनुसार, प्रयाग कुम्भ के लिए माघी अमावस्या मेष या वृष राशि का गुरु, श्रवण या धनिष्ठा नक्षत्र के पूर्वार्धजन्य मकरराशि में चन्द्र और सूर्य का होना आवश्यक है। इस वर्ष वि.सं. २०६९ की माघी अमावस्या तदनुसार, दि. १० फरवरी, २०१३ ई. रविवार को तीर्थराज प्रयाग में (महा) कुम्भ पर्व का अमृतस्नान होगा। जिसमें आस्था और श्रद्धायुत कोटिशः धर्मप्राण जन त्रिवेणी सङ्गम में अवगाहन कर पुण्यार्जन करेंगे।

## सन्दर्भ-सूची


१. श्रीमद्भागवतमहापुराण ८.६.९
२. वही, ८.६.१३
३. श्रीभगवानुवाच– "......। शृणुतावहिताः सर्वे श्रेयो वः स्याद्यथा सुराः१॥ यात दानवदैतेयैस्तावत्सन्धिर्विधीयताम्। कालेनानुगृहीतैस्तैर्यावद्वो भव आत्मनः॥ अरयोऽपि हि सन्धेयाः सति कार्यार्थगौरवे। अहिमूषकवद्देवा ह्यर्थस्य पदवीं गतैः॥ अमृतोत्पादने यत्नः क्रियातामविलम्बितम्। यस्य पीतस्य वै जन्तुर्मृत्युग्रस्तोऽमरो भवेत्॥ क्षिप्त्वा क्षीरोदधौ सर्वा वीरुत्तृणलतौषधीः। मन्थानं मन्दरं कृत्वा नेत्रं कृत्वा तु वासुकिम्॥ सहायेन मया देवा निर्मन्थध्वमतन्द्रिताः। क्लेशभाजो भविष्यन्ति दैत्या यूयं फलग्रहाः॥ यूयं तदनुमोदध्वं यदिच्छन्त्यसुराः सुराः। न संरम्भेण सिध्यन्ति सर्वेऽर्थाः सान्त्वया यथा॥ न भेतव्यं कालकूटाद्विषाज्जलधिसम्भवात्। लोभः कार्यो न वो जातु रोषः कामस्तु वस्तुषु॥
–श्रीमद्भागवतमहापुराण, ८.६.१८-२५
४. ततो देवासुराः कृत्वा संविदं कृतसौहृदाः। उद्यमं परमं चक्रुरमृतार्थे परन्तप॥ ततस्ते मन्दरगिरिमोजसोत्पाट्य दुर्मदाः। नदन्त उदधिं निन्युः शक्ताः परिघबाहवः॥ दूरभारोद्वहश्रान्ताः शक्रवैरोचनादयः। अपारयन्तहस्तं वोढुं विवशा विजहुः पथि॥
× × × ×
विज्ञाय भगवांस्तत्र बभूव गरुडध्वजः।......
गिरिं चारोप्य गरुडे हस्तेनैकेन लीलया। आरुह्य प्रययावब्धिं सुरासुरगणैर्वृतः॥ अवरोप्य गिरिं स्कन्धात्सुपर्णः पततां वरः। ययौ जलान्त उत्सृज्य हरिणा स विसर्जितः॥
– वही, ८.६.३२-३९
५. वही, ८.७.१-५
६. ममन्थुः परमायत्ता अमृतार्थं पयोनिधिम्। मथ्यमानेऽर्णवे सोऽद्रिरनाधारो ह्यऽविशत्॥ ध्रियमाणोऽपि बलिभिर्गौरवात्पाण्डुनन्दन। ते सुनिर्विण्णमनसः परिम्लानमुखश्रियः॥ आसन्स्वपौरुषे नष्टे दैवेनाति बलीयसा॥ विलोक्य विघ्नेशविधिं तदीश्वरो दुरन्तवीर्योऽविततथामिसन्धिः। कृत्वा वपुः काच्छपमद्भुतं महत्प्रविश्य तोयं गिरिमुज्जहार॥ तमुत्थितं वीक्ष्य कुलाचलं पुनः समुत्थिता निर्मथितुं सुरासुराः –वही, ८.७.६-९
७. वही, ८.७. १८-३६
८. श्रीमद्भागवतमहापुराण, ८.८-९
९. एठमुक्त्वा स दैत्येन्द्रो देवैः सह ययौ तदा। मन्दरं प्रार्थयामास सहायत्वे धराधरम्॥ मन्था भव त्वमस्माकमधुनामृतमन्थने। सुरासुराणां सर्वेषां महत्कार्यमिदं यतः॥ कल्प्यतां नेत्रकार्ये यः शक्तः स्याद् भ्रमणे मम। ततस्तु निर्गतौ देवौ कूर्मशेषौ महाबलौ॥
× × × ×
तत उत्पाट्य तं शैलं तत्क्षणात् क्षीरसागरे। चिक्षेप लीलया नागः कूर्मश्चाधः स्थितस्तदा॥
मत्स्यमहापुराण, २४९.२३-२६ एवं ३०
१०. मत्स्यमहापुराण, २४९. ३१-८०
११. मत्स्यमहापुराण, अध्याय २५०-५१
१२. श्री विष्णुपुराण, १.९. १-२५

१३. वही, १.९.२६-३१
१४. लोभाभिभूता निःश्रीका दैत्याः सत्त्वविवर्जिताः। श्रिया विहीनैर्निःसत्त्वैर्देवैश्चक्रुस्ततो रणम्॥ विजितास्त्रिदशादैविष्णु. १.९.३३-३४
१५. आनीय सहिता दैत्यै क्षीराः सकलौषधीः। प्रक्षिप्यात्रामृतार्थं ताः सकला दैत्यदानवैः॥ मन्थानं मन्दरं कृत्वा नेत्रं कृत्वा च वासुकिम्। मथ्यताममृतं देवाः सहाये मय्यिवस्थिते॥ सामपूर्वं च दैतेयास्तत्र साहाय्यकर्मणि। सामान्यफलभोक्तारो यूयं वाच्या भविष्यथ॥ इत्युक्ता देवदेवेन सर्व एव तदा सुराः। सन्धानमसुरैः कृत्वा यत्नवन्तोऽमृतेऽभवन्॥ नानौषधीः समानीय देवदैतेयदानवाः। क्षिप्त्वा क्षीराब्धिपयसि शरदभ्रामलत्विषि॥ मन्थानं मन्दरं कृत्वा नेत्रं कृत्वा च वासुकिम्। ततो मथितुमारब्धा मैत्रेय तरसाऽमृतम्॥
—श्रीविष्णुपुराण, १.९.७७-७९ तथा ८२-८४
१६. क्षीरोदमध्ये भगवान् कूर्मरूपी स्वयं हरिः। मन्थनाद्रेरधिष्ठानं भ्रमतोऽभून्महामुने॥ ... उपबृंहितवान्प्रभुः॥ – वही १.९. ८८-९१
१७. वही, १.९. ९२-१००।
१८. वही, १.९.१०६-१४९
१९. श्रीहरिवंशपुराण, महाभारत का अन्तिम (पृथग्भूत) खिल पर्व के रूप में मान्य है। इसकी गणना प्रसिद्ध अष्टादशपुराणों में नहीं होती।
२०. श्रीहरिवंशपुराण, भविष्यपर्व (तृतीय पर्व), ३०.५-२२
(एतस्मिनन्तरे देवा गन्धमादनसानुषु...... अमृतार्थे महातेजा धातुभिः समरञ्जितः॥)
२१. सुरासुरगणाः सर्वे सहिता लवणाम्भसः। मन्दरं पुष्करं कृत्वा नेत्रं वासुकिमेव च॥ समाः सहस्रं मथितं जलमौषधीभिः सह। क्षीरभूतं समायोगादमृतं समपद्यत॥ तज्जह्रुरसुराः पूर्वमाक्रान्ता लोभमन्युना। धन्वन्तरिस्तथा मद्यं श्रीर्देवी कौस्तुभो मणिः॥ शशाङ्को विमलश्चापि समुत्तस्थुः समन्तः। उच्चैःश्रवा हयो रम्यः पीयूषं तदनन्तरम्॥
—श्रीहरिवंशपुराण, भविष्य. ३०.२६-२९
२२. श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण, बालकाण्ड, ४५.१५-२२।
२३. उवाचैनं स्मितं कृत्वा रुद्रं शूलधरं हरिः। दैवतैर्मथ्यमाने तु यत्पूर्वं समुपस्थितम्॥ तत्त्वदीयं सुरश्रेष्ठ सुराणामग्रतो हि यत्। अग्रपूजामिह स्थित्वा गृहाणेदं विषं प्रभो॥
श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण, बालकाण्ड, ४५.२३-२४
२४. श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण, बालकाण्ड, ४५.२७-३०।
२५. वही, ४५.३१-३६
२६. यहाँ 'सुर' और 'असुर' शब्दों का अत्यन्त तार्किक निर्वचन किया गया है– 'असुरास्तेन दैतेयाः सुरास्तेनादितेः सुताः। हृष्टाःप्रमुदिताश्चासन् वारुणीग्रहणात्सुराः॥३८॥
२७. वही, ४५. ३९-४५
२८. महाभारत, आदिपर्व, १७.१-८
२९. देवैरसुरसङ्घैश्च मथ्यतां कलशोदधिः। भविष्यत्यमृतं तत्र मथ्यमाने महोदधौ॥ सर्वौषधीः समावाप्य सर्वरत्नानि चैव ह। मन्थध्वमुदधिं देवा वेत्स्यध्वममृतं ततः॥
– वही, आदिपर्व, १७.१२-१३
३०. अथ पर्वतराजानं तमनन्तो महाबलः। उज्जहार बलाद् ब्रह्मन् सवनं सवनौकसम्॥ ततस्तेन सुराः सार्धं समुद्रमुपतस्थिरे। तमूचूरमृतस्यार्थे निर्मथिष्यामहे जलम्॥ अपां पतिरथोवाच ममाप्यंशो भवेत् ततः। सोढाऽस्मि विपुलं मर्दं मन्दरभ्रमणादिति॥
—महाभारत, आदिपर्व, १८.८-१०

३१. मन्थानं मन्दरं कृत्वा तथा नेत्रं च वासुकीम्।
देवा मथितुमारब्धाः समुद्रं निधिमम्भसाम्॥
–वही, आदिपर्व, १८.१३
तथा अन्य वर्णन– वही, आदिपर्व १८.११-२५

३२. ततो नानाविधास्तत्र सुस्रुवुः सागराम्भसि। महाद्रुमाणां निर्यासा बहवश्चौषधीरसाः॥
ततस्तस्य समुद्रस्य तज्जातमुदकं पयः। रसोत्तमैर्विमिश्रं च ततः क्षीरादभूद् घृतम्॥
–वही आदिपर्व, १८. २६, २८

३३. महाभारत, आदि पर्व, १८. २९-४६

३४. वहीं, आदिपर्व, १९. १-२९

३५. ततः सुरैर्विजयमवाप्य मन्दरः
स्वमेव देशं गमितः सुपूजितः।
विनाद्य खं दिवमपि चैव सर्वशः
ततो गता सलिलधरा यथागतम्॥
ततोऽमृतं सुनिहितमेव चक्रिरे
सुराः परां मुदमभिगम्य पुष्कलाम्।
ददौ च तं निधिममृतस्य रक्षितुं
किरीटिने बलभिदमथामरैः॥
–वही, आदिपर्व, १९. ३०-३१

●

**१. जहाँ इच्छाशक्ति रूपी समिधा में–**
**क्रियाशक्तिरूपी अग्नि का सन्धान कर–**
**ज्ञान शक्ति रूपी वृत्त की अजस्र आहुति दी जा रही हो,**
**उस प्रकृष्ट याग की संज्ञा है– 'प्रयाग'।**

**२. जहाँ भक्ति, कर्म और ज्ञान–**
**गङ्गा, यमुना और सरस्वती की त्रिवेणी रूप–**
**एकरस, एकभाव, एकनिष्ठ–**
**शाश्वत, अजस्र, निर्मल प्रवाहित हैं,**
**वह पुण्यभूमि है– 'प्रयाग'।**

# कुम्भ-कालगणना : एक विश्लेषण

**आचार्य अविनाश राय**

संसार की सभी संस्कृतियों में पवित्र नदियों, सरोवरों आश्रमों आदि की तीर्थ यात्रा का प्रचलन रहा है, भारतवर्ष में इस प्रवृत्ति ने जो महत्त्वपूर्ण और शक्तिशाली स्वरूप ग्रहण किया है, वह विश्व में अतुलनीय है।

तीर्थ उस स्थान को कहते हैं जहाँ से पार किया जा सके। यह स्थान नदी, पर्वत अरण्य कोई भी हो सकता है। ऋषियों, महात्माओं, महापुरुषों से सम्बन्धित स्थान तीर्थ स्थल हो सकते हैं। नगाधिराज हिमालय के पूर्वी पण्डाल से गंगा और पश्चिमी पण्डाल से यमुना निकल कर भारत देश के पूर्वोत्तर में स्थित प्रयाग नामक स्थल पर मिलती हैं। गंगा-यमुना के मिलन स्थल, अनेक पौराणिक घटनाओं के साक्षी होने तथा भारत की ऐतिहासिकता से लगातार जुड़े रहने के कारण भी यह स्थल दुनिया के पवित्रतम स्थलों में तीर्थराज प्रयाग के नाम से विख्यात हुआ।

यह स्थान २४.४७ अंश से २५.४७ अंश उत्तरी अक्षांश और ८१.१९ अंश से ८२.२१ अंश पूर्वी देशान्तर के मध्य स्थित है। वर्तमान में यह इलाहाबाद के नाम से जाना जाता है। इस नगर की समुद्र तल से ऊँचाई ३१५ फीट मानी जाती है। यहाँ का उच्चतम तापमान ४५ डिग्री से.ग्रे. तथा न्यूनतम तापमान ४.५ डिग्री से. ग्रे. तक पहुँच जाता है। इलाहाबाद का प्राचीन नाम प्रयाग प्रचलित है। वेदों में, पुराणों में, रामायण में, महाभारत में तथा ऐतिहासिक ग्रन्थों में इस नगर की अध्यात्मिक विशेषता एवं भौगोलिक स्थितियों का भरपूर वर्णन किया गया है। स्कन्धपुराण में वर्णित है कि–

**पृथिव्याम कुम्भ योगस्य चतुर्धा भेद उच्वते ।**
**विष्णुद्वारे तीर्थराजे अवन्त्यांगोदावरी तटे,**
**सुधाविन्दुविनिक्षेपात कुम्भपर्वेति विश्रुतम् ।**

हरिद्वार में गंगा के तट पर प्रयाग से गंगा-यमुना के संगम स्थल पर, नासिक में गोदावरी के तट पर तथा उज्जैन में क्षिप्रा के तट पर कुम्भ पर्व होता है। कुम्भ पर्व भारतीय संस्कृति का अद्वितीय पर्व है। आस्था और तपस्या का यह अनूठा संगम है। हर बारहवें वर्ष यह पर्व मनाया जाता है। चारों कुम्भों के काल निर्णय के विषय में स्कन्ध पुराण, पद्मपुराण, मत्स्यपुराण आदि में वर्णन मिलता है–

---

* प्रसिद्ध ज्योतिषी एवं वास्तुशास्त्री, प्रयाग।

**पद्मिनीनायके मेषे कुम्भराशिगते गुरौ ।**
**गंगाद्वारे भवेद्योगः कुम्भनामा तथोत्तमः ।।**

अर्थात् जिस समय वृहस्पति कुम्भ राशि पर स्थित हो और सूर्य मेष राशि पर रहे उस समय गंगाद्वार (हरिद्वार) में कुम्भ पर्व होता है।

**मेषराशिगते जीवे मकरे चन्द्रभास्करौ ।**
**अमावस्या तदा योगः कुम्भख्यस्तीर्थनायके ।।**

जिस समय वृहस्पति मेष राशि पर स्थित हो और चन्द्रमा और सूर्य मकर राशि में स्थित हों (अमावस्या) उस समय तीर्थराज प्रयाग में कुम्भ पर्व होता है।

**सिंहराशिगते सूर्ये सिंहराशौ बृहस्पतो ।**
**गोदावर्या भवेत् कुम्भो जायते खलु मुक्तिदः ।।**

जिस समय सूर्य तथा वृहस्पति सिंहराशि पर हों उस समय नासिक में मुक्ति प्रदायक कुम्भ पर्व होता है।

**मेषराशिगते सूर्ये सिंहराशौ वृहस्पतौ।**
**उज्जयिन्यां भवेत् कुम्भः सदा मुक्तिप्रदायकः ।।**

मेष राशि में सूर्य और सिंह राशि में वृहस्पति के होने पर उज्जैन में मुक्ति-प्रदायक कुम्भ पर्व होता है। अन्यत्र इस प्रकार की सूक्तियाँ भी इन्हीं कुम्भ पर्वों के लिए प्राप्त होती हैं।

**मकरे च दिवानाथे वृषगे च वृहस्पतौ ।**
**कुम्भ योगे भवेत प्रयागे ह्यति दुर्लभः ।।**

मकर राशि में सूर्य व चन्द्रमा तथा वृष राशि में वृहस्पति के रहने पर अति दुर्लभ योग प्रयाग में होता है।

**कर्के गुरुस्तवा भानुचन्द्रश्चन्द्रगस्तवा ।**
**गोदावर्या तदा कुम्भो जायतेऽवनिमण्डले ।।**

कर्क राशि में गुरु, सूर्य तथा चन्द्रमा के होने पर गोदावरी तट पर नासिक में कुम्भ पर्व होता है।

प्रयाग कुम्भ पर्व के साथ-साथ उज्जैन तथा नासिक के कुम्भ पर्वों को मनाने की वैकल्पिक व्यवस्था पुराणोक्त सूक्तों में वर्णित है। हमारे प्राचीन ग्रन्थों में राशियों के आधार पर पर्वों के निर्धारण की व्यवस्था संदिग्ध लगती है। वेदों सहित रामायण व महाभारत में राशियों का वर्णन नहीं मिलता है। क्या कुम्भ पर्व महाभारत काल में आयोजित नहीं होते थे? व्रत, पर्व व त्यौहारों में तिथिमान को ही प्रमुखता से स्वीकार किया गया है। हमारे ही नहीं इस्लाम धर्म के अनुयायी भी तिथिमान व चन्द्रमास के आधार पर ही अपने व्रत, पर्व व त्यौहार निर्धारित करते हैं। प्रयाग और उज्जैन का

कुम्भ पर्व अमावस्या तिथि पर तथा हरिद्वार और नासिक का कुम्भ पूर्व पूर्णिमा तिथि पर होने की बात पुराणोक्त श्लोकों में कही गयी हैं। ये चारो ही कुम्भ पर्व पुराणों में निर्देशित योगों पर ही मनाये जाते हैं। इसके पीछे चन्द्रमा का पृथ्वी पर पड़ने वाला अदृश्य प्रभाव है, अमावस्या तथा पूर्णिमा को चन्द्रमा के अदृश्य प्रभाव का अवलोकन समुद्र में उठने वाले ज्वार-भाटें को देखकर किया जा सकता है। ऐसा लगता है कि जत्योतिषी आधारों का उल्लेख, तब किया गया जब भारत वर्ष में कुम्भ पर्व पूर्ण रूप से प्रचलित हो चुका था। किसी भी ज्योतिष के मूलग्रन्थ में कुम्भ योग अथवा कुम्भ पर्व का उल्लेख नहीं है। पाण्डुरंग वामनकाणे ने व्रतों की सूची में कुम्भ पर्व का वर्णन किया है, उसके स्रोतों का उल्लेख नहीं किया है। काल गणक ऋषियों ने चन्द्रमा की इन्हीं विशेषताओं को देखते हुए मानव कल्याणार्थ व्रत, पर्व, त्यौहार, यज्ञ आदि के निर्धारण में चान्द्रमास तथा अमावस्या व पूर्णिमा को प्रमुखता पूर्वक स्वीकार किया है।

पुराणों में वर्णित कुम्भ पर्व को अमावस्या व पूर्णिमा से अर्थात् सूर्य और चन्द्रमा के साथ-साथ वृहस्पति के सम्बन्ध से भी प्रमुखता से स्वीकार किया गया है। सूर्य, चन्द्रमा और वृहस्पति का अदृश्य प्रभाव एक स्थान विशेष के समस्त चर-अचर पर अवश्य पड़ता है। मानव के भीतर ज्ञान-विज्ञान, आत्मज्ञान तथा उच्चकोटि के मानवीय गुणों के विकसित होने का या संस्कारित होने का योग बनाता है। इन प्रभावों के साथ-साथ चान्द्र वर्ष, सौरवर्ष और वृहस्पति वर्ष में अद्भुत समन्वय का परिणाम है कुम्भ पर्व।

चान्द्र वर्ष और सौर वर्ष के वर्षमानों में जो अंतर आता है उसे क्षय मास और अधिक मास की सहायता से सम्बन्धित करके व्रत पर्वों का निर्धारण सुचारू रूप से चलता रहता है, और वर्षमान में किसी भी प्रकार की विसंगति नहीं आ पाती है। कुम्भ पर्व १२ वर्षों के अन्तराल पर मनाया जाता है। सौर वर्ष और वृहस्पति वर्ष के वर्षमान के अन्तर को समन्वित करने की कोई व्यवस्था नहीं मिलती है। इसी कारण से कुम्भ पर्वों के निर्धारण में विसंगतियाँ उत्पन्न होती हैं। पुराणों में वैकल्पिक व्यवस्थाओं का वर्णन प्राप्त होने लगता है। ग्रह, गणित पद्धति को किनारे रखकर धार्मिक जगत के लोगों ने मनमाने ढंग से शास्त्रोक्त विधान को मनाने की व्यवस्था बनाई, जिससे यह विसंगति और विडंबना उत्पन्न हुई है। अगर इसको यहीं पर संशोधित नहीं किया गया, तो शास्त्र की मर्यादा तो खण्डित होगी ही, कुम्भ पर्वों के निर्धारण में और भी विकृति उत्पन्न होती जायेगी।

कुम्भ पर्व की ज्योतिषीय परम्परा विभिन्न पुराणों में वर्णित है। यह पर्व तब होता हैं जब आकाश के ग्रहों का, पृथ्वी के पवित्र-स्थलों में एक निश्चित समय पर वृहस्पति, सूर्य और चन्द्रमा का परस्पर सम्बन्ध बनता है। चारो कुम्भों के लिए अलग-अलग

ज्योतिषीय योगों का वर्णन प्राप्त होता है तथा हरिद्वार को छोड़कर अन्य कुम्भ पर्व के लिए वैकल्पिक वर्णन भी प्राप्त होते हैं।

कुम्भ पर्व तीन वर्षों के अंतराल पर चारों स्थानों में क्रमशः मनाया जाता है। अन्तराल की गणना हरिद्वार से आरम्भ होती है। हरिद्वार के बाद प्रयाग, नासिक और उज्जैन में यह पर्व मनाया जाता है।

प्रयाग में, कुम्भ पर्व हरिद्वार कुम्भ पर्व के तीसरे वर्ष मनाया जाता है तथा प्रयाग और नासिक कुम्भ का अन्तराल भी तीन वर्षों का ही। लेकिन नासिक और उज्जैन के कुम्भ में पर्वों का अंतराल तीन वर्ष का नहीं है। नासिक और उज्जैन के कुम्भ पर्व तो एक ही वर्ष के अन्तर्गत मनाये जाते हैं। उज्जैन में कुम्भ पर्व यदि वैशाख में लगता है तो उसी वर्ष नासिक में भाद्रपद में कुम्भ पर्व मनाया जाता है। कभी-कभी नासिक का कुम्भ पर्व उज्जैन से पूर्व भी हो जाता है। सिद्धान्त और व्यवस्था का यह विरोधाभास सैद्धान्तिक व्यवस्था का माखौल उड़ाता नजर आता है। क्योंकि जिस वर्ष हरिद्वार में कुम्भ पर्व होता है, उसके नवें वर्ष जो कुम्भ पर्व होना चाहिए, वह क्यों नहीं मनाया जाता? उज्जैन में सिंहस्थ कुम्भ पर्व मनाने का प्रचलन ही इस समस्या की जड़ है। यह परम्परा १५० वर्षों से अधिक पुरानी नहीं है। इसके प्रचलन के मूल में वैशाख पूर्णिमा के दिन क्षिप्रा में स्नान की महिमा है। जिसका उल्लेख स्कन्द पुराण (५/१(१), ४८/५१ ५/१ (२), ८२/१६) में मिलता है। किन्तु उज्जयिनी में तुलास्थ कुम्भ पर्व मनाने की व्यवस्था है। वृहस्पति, सूर्य और चन्द्रमा तुलाराशि में कार्तिक अमावस्या के दिन १२ वर्षों में एक बार होते हैं। इस दिन क्षिप्रा में स्नान का विशिष्ट महात्म्य स्कन्द पुराण में बताया गया है। यह अमावस्या कालरात्रि के नाम से विख्यात है और उज्जयिनी महाकाल की नगरी है। वहाँ तुलास्थ पर्व मनाने की परम्परा अपेक्षकृत प्राचीन, अधिक प्रामाणिक और तर्कसंगत प्रतीत होती है। इस व्यवस्था को स्वीकार कर लेने पर सिद्धान्त और पौराणिक व्यवस्था का दृश्यमान विरोधाभास स्वयमेव दूर हो जाता है।

कुम्भ पर्व के समय चक्र के संदर्भ में कुछ विद्वानों का मानना है कि यह प्रत्येक १२वें वर्ष लगता है। अन्य विद्वानों का विचार है कि जब तक निश्चित ज्योतिषीय योग नहीं होता, कुम्भ पर्व नहीं लगता है। उनके अनुसार ११वें और १३वें वर्ष में भी कुम्भ पर्व लग सकता है। १२ वर्ष की परम्परा सदैव लागू नहीं होती है। यह वृहस्पति के पश्चगामी संचरण और सूर्य के चारो ओर चक्कर काटने में लगे समय के आधार पर होता है। वृहस्पति, सूर्य का चक्र पूरा करने में ११.७८ वर्ष लेता है जिससे १२ सौर वर्षीय चक्र में ५० दिन का क्षय हो जाता है। यह बढ़ते-बढ़ते छठें और सातवें कुम्भ पर्वों के बीच लगभग १ वर्ष का समय हो जाता है।

इस प्रकार ७ कुम्भ पर्वों में से ६ तो प्रत्येक १२ वर्ष पर लगते हैं और सातवाँ ११वें वर्ष में लगता है। हर शताब्दी में ऐसा कम से कम एक बार अवश्य होता है। यदि स्वस्थलीय विगत कुम्भ पर्वों से १२वें वर्ष ही कुम्भ पर्व मनाने का आग्रह निभाया जाये, तो लगभग सातवें कुम्भ पर्व के बाद आने वाले तत्स्थलगीय कुम्भ के समय गुरु की ज्योतिष द्वारा निर्दिष्ट अपेक्षित राशि में स्थिति उपलब्ध न होगी। कुम्भ पर्व का गुरु की निर्दिष्ट राशि विशेष में स्थिति से सम्बन्ध विच्छिन्न हो जायेगा अर्थात् द्वादशवर्षान्त पक्ष का अनुसरण करने पर प्रत्येक १०० वर्ष की अवधि में केवल ७२ वर्ष तक ही हरिद्वार में कुम्भ पर्व के समय कुम्भस्थ गुरु मिल सकेगा, ७वें कुम्भ पर्व पर नहीं। यही दशा अन्य तीन स्थलों के कुम्भ पर्वों की भी होगी। द्वादशवर्ष पक्ष की अवधारणा भ्रामक है। वस्तुतः १२वें सौर वर्ष में कुम्भ पर्व होता है। यह वचन बाहुल्याभिप्रायक है। चूँकि प्रत्येक स्थान में कुम्भ पर्व स्वपूर्ववर्ती कुम्भ पर्वों से बाहुल्येन १२वें वर्ष की घटित होता है और शताब्दि में केवल एक ही कुम्भ पर्व ११वें वर्ष घटता है, अतः छत्रिन्याय से द्वादशवर्षीय अवधारणा ११वें वर्ष मनाये जाने वाले कुम्भ पर्व को भी समाविष्ट किये हुए है। ११वें वर्ष मनाया जाने वाला कुम्भ पर्व परम्परा विरुद्ध नहीं है। कुम्भ पर्व के निर्धारण में गुरु की निर्णायक भूमिका इसका आधार है। गुरु ही इस ब्रह्माण्ड की जीवात्मा है, चन्द्रमा ब्रह्माण्ड का मन है और सूर्य आत्मा है। जीव मन और आत्मा के स्रोत पिण्डों का पृथ्वी के पवित्र भू भाग पर जब कोणात्मक सम्बन्ध बनता है तब उस पवित्र स्थान में एक निश्चित अवधि के लिये, एक विशेष चुम्बकीय शक्ति उत्पन्न होती है यह चुम्बकीय शक्ति ही परम् रहस्य है इन कुम्भ पर्वों का इस रहस्यमयी शक्ति के प्रभाव से ही सनातन संस्कृति के विराटतम् स्वरूप कुम्भ पर्व पर दिखलाई पड़ता है जिसमें भारतीय संस्कारों, संवेदनाओं और सामाजिक समरसता जीवन्त होती हुई दिखाई देती है। जातियों व छोटे-बड़ों का बन्धन टूट जाता है और इन्हीं पर्वों में भारतीय अन्तःकरण का प्रतिबिम्ब दिखलायी पड़ता है।

कुम्भ मेला पूरे एक महीने चलता है, लेकिन कुछ विशेष दिनों में स्नान का महत्त्व अधिक ही होता है। चैत्र पूर्णिमा के दिन हरिद्वार स्थित हरि की पौड़ी में स्नान होता है। प्रयाग में संगम पर माघ अमावस्या के दिन मुख्य स्नान होता है। नासिक में रामघाट पर भाद्रपद अमावस्या या श्रावण पूर्णिमा के दिन विशेष स्नान होता है। उज्जयिनी में वैशाख पूर्णिमा या कार्तिक अमावस्या का स्नान विशेष महत्त्व रखता है।

●

# अमृत-कुंभ की तलाश

डॉ. योगेन्द्र नाथ शर्मा 'अरुण'*

देव भूमि मेरे भारत में
कभी गूँजा था–
शाश्वत् जिजीविषा का स्वर,
मेरे आर्यावर्त्त में हुई थी–
एक अमृत वाणी मुखर
"मृत्योऽर्मामृतं गमय"
यानि–
हम मृत्यु से अमृत की ओर चलें!
तब शुरु हुई थी,
एक अन्तहीन यात्रा
जो जारी है आज भी निरन्तर;
'अमृत' यानि अमर होने का बरदान!
'अमृत' यानि मृत्यु पर जीवन की,
सार्थक विजय महान!
'अमृत' यानि–
अदम्य जिजीविषा का सम्मान!
और यहीं से शुरू होती है
एक चिरन्तन समर-गाथा
पुराण प्रसिद्ध
देवासुर-संग्राम की गाथा–
और फिर,
समुद्र-मंथन का महा उपक्रम!

सागर-मंथन से
पहले निकला था कालकूट विष
और देखकर विभीषिका विष की
देव-असुर सब मौन हो गए
लगा कि जैसे सब के सब
स्वार्थ में खो गए!
सच ही तो है–
विष पीना आसान नहीं होता है,
भला कोई क्या यूँ ही,
अपने प्राणों को खोता है?
तब! हा, तब!
मृत्युंजय 'शिव' ही आगे आए,
विष पीने को;
शेष सभी तो लालायित थे,
बस जीने को!
यों भी और कौन है जो,
मृत्यु से आँख मिलाए?
विष पीकर स्वयं जो,
औरों को जीवन दे जाए?
चलता रहा सागर का मंथन
सतत निरन्तर
और फिर एक दिन–
अमृत-कुम्भ मिल गया
देवों और असुरों को जब;
मच गया था शोर–

* भारतीय संस्कृति के व्याख्याता, पूर्व प्रचार्य, रुड़की, उत्तरांचल।

चारों ओर
दिशाएँ काँप उठीं तब!
लगा कि जैसे महास्वार्थ–
स्वयं ही देह धरे आया है
अमृत-कुम्भ के साथ,
सिंधु-तल से!
लगा कि जैसे–
देव और असुर हो गए हैं पागल;
दोनों में ही होड़ लगी थी
महा भयंकर;
अमृत-कुम्भ को कैसे भी–
हथियाना चाहते निरन्तर!
अमृत पर अधिकार जमाना,
किसे नहीं अच्छा लगता है?
यानि–
'अमृत को पीना
हो गया बहुत ही दुष्कर!
देव-असुर में हर कोई,
चाहता था पीना
अमृत को सत्वर!
देवों को लगा कि–
सबसे पहले करनी होगी–
रक्षा अमृत-घट की!
अमृत-घट बचा रहे असुरों से,
तभी कहीं–
'अमृत कर पाएगा अमृत देवों को!
भागे देवता लेकर वह अमृत-घट,
देव-लोक से मृत्यु-लोक तक;
पीछे दौड़े असुर–
छीन लेने को वह अमृत-घट!
भाग रहे थे देव,
पीछे-पीछे थे असुर–
लक्ष्य एक ही
बचा रह सके अमृत कुम्भ!
तभी अचानक–
अमृत-घट से छलक पड़ीं
अमृत की कुछ बूँदें;
बिखर गईं वे अनायास ही,
धरती के कोनों में;
अमृत हो गए 'अमृत बूँदों से
धरती के वे पावन स्थल!
हरिद्वार, प्रयाग और नासिक तीर्थ महान,
महाकाल की उज्जैयिनी संग
अमृत हुए चारों स्थान!
युगों-युगों से जुड़ती रही
आस्तिकों की आस्था;
सन्तों, महन्तों, दार्शनिकों संग-
असंख्य गृहस्थों की भीड़,
एक ही लक्ष्य लिए,
एक ही कामना संजोए मन में!
कामना एक–
अमृत-पान की कामना
हर मन की अमृत भावना!
आज सोचता हूँ बरबस–
क्या है इस पुराण कथा में ऐसा,
जिसने बाँधा है आस्था को
युगों-युगों से?
क्या वह चेतना है,
जो देती आई है दिशा–
युगों-युगों से?
उत्तर हर बार मिलता रहा है एक ही,
शब्द हर बार उभरता रहा है एक ही,
'जिजीविषा'
और सच कहूँ–

यही शब्द बनता रहा है पर्याय,
'अमृत-कुम्भ' का भी!
अमृत की तलाश,
किसे नहीं होती?
अमरत्व की प्यास,
किसे नहीं होती?
फिर क्यों हुआ संग्राम
अमृत के लिए?
क्यों सभी बेचैन,
अमृत के लिए?
प्रश्न यह कुरेदता है
दूर तक मन को;
और
उत्तर मिलता है अन्तर्मन से,
जिसे जोड़ लेता हूँ मैं–
शाश्वत जीवन से!
'अमृत' वह जो,
मृत्यु के भय से मुक्ति देता है सबको!
इसीलिए तो अमृत–
प्रेय भी और श्रेय भी;
बस–
इसीलिए दौड़ा करता है
मरण-भीत यह मानव
अमृत-कुंभ की तलाश में हर क्षण!
पूरब से, पश्चिम से,
उत्तर से, दक्षिण से,
उमड़ता है विशाल जन-प्रवाह
जब अमृत पा लेने की चाह में,
तब लगता है मुझे जैसे–
यह विराट चेतना ही तो अमृत है!
अमृत घट की तलाश में,
दौड़ती हुई शाश्वत, आस्था;
अमृत-घट को खोजता हुआ,
चिरन्तन चिन्तन–
जाने क्यों भूल जाता है
इस विराट-चेतना में छिपे–
महान अमृत तत्त्व को?
मुझे हर बार,
कहूँ तो बार-बार
यही लगा है कि मेरे भारत की,
यही विराट-चेतना है
अमृत, सच्चा अमृत!
'स्व' से निकल कर
'पर' तक जाने की इस चेतना का ही,
नाम है अमृत;
सब से बढ़कर,
आदमी से आदमी की पहचान का ही,
नाम है अमृत!
मेरे भारत की चेतना कहती है–
'नाभि-कुण्ड' तो है सब के ही पास;
'ज्ञान-कस्तूरी' का इसमें है सदा निवास;
फिर भी भटकता है मन का मृग,
हर क्षण उदास!
तब गूँजता है शाश्वत प्रश्न–
'आखिर क्यों?'
उत्तर देता है हर बार,
कुम्भ का महापर्व,
अमृत-कुम्भ को तलाशती आस्था को!
'नाभि-कुण्ड' का अमृत मिला हुआ है
सबको,
'ब्रह्म-कुण्ड का अमृत इसे बनाना होगा!
मृत्यु के भय से मुक्ति की चाह,
मन में है अगर तुम्हारे–
तो फिर–

'स्व' से निकल कर दूर तुम्हें,
'पर' तक अब जाना होगा!
युगों से तलाश है जिस अमृत-कुम्भ की,
वह तो 'नाभि' से 'ब्रह्म तक
जाना ही है;
'पर' में 'स्व' को पाना ही है।
अमृत-कुम्भ मिलेगा सबको अपने भीतर,
तमस मिटेगा और उगेगा उजियारा;
'परोपकारः पुण्यार्थं' बने जब लक्ष्य
हमारा!
मैं, तुम, हम और सब,
आस्था की डोर से बँधकर
जिसे अनुभव करेंगे
'शिवत्व की चेतना को
मिल जाएगा अमृत-कुंभ हम सबको!

●

# माघ-मकर का सूर्य योग

**कैलाश गौतम***

आजकल तीर्थराज प्रयाग उत्सव के रंग में डूबा हुआ है। राग-रंग, चहल-पहल का वातावरण संगम की दिनचर्या में शामिल हो चुका है। संगम का हाल अजीब है– उत्सुक आँखों से हर आगत-सभागत को केवल निहार रहा है– गद्गद है। जनमानस के स्वागत में बिछा हुआ है– देश-दुनिया की तमाम करोड़ों-अरबों आँखों में तीर्थराज प्रयाग की सुर-मंगलकारी छवि डोल रही है। दिशाएँ और रास्ते अपने-अपने ढंग से अपने-अपने साधन से इधर ही भाग रहे हैं; क्योंकि यहाँ मेला लगा हुआ है। ऐसा मेला, जो एक डुबकी में स्वर्ग का अधिकारी होता है–

**धन्य-धन्य यह भूमि है, धन्य-धन्य यह धाम।**
**तीरथराज प्रयाग को, शत-शत बार प्रणाम।।**

सदियों से यह मेला संगम पर जुड़ता चला आ रहा है। दुनिया में इसकी कोई मिसाल नहीं है। कुंभ क्या, अर्धकुंभ क्या? अरे, हर साल का माघ मेला भी उतना ही दर्शनीय और वर्णनीय होता है। आदमी अपना सबकुछ छोड़-छोड़कर सिर के बल भागा चला आता है। जिस तरफ देखिए भीड़-ही-भीड़। हर रंग की भीड़। मिनी भारत, मिनी दुनिया–

**भीड़ है मराठी कहीं, कहीं गुजराती और**
**कहीं मदरासी कहीं उड़िया-बिहारी हैं।**
**राग में है, रंग में है, भीड़ ये उमंग में है**
**बुढ़ऊ के संग-संग बुढ़िया बिचारी है।**
**गठरी पिसान की है, पगड़ी**
**ईमान की है**
**भीड़ ये नहान की है यार**
**बलिहारी है।**
**खेत-खलिहान छोड़, हाट**
**औ' दुकान छोड़**
**अँगना में धान छोड़, कुंभ**
**की दुआरी है।।**

---

* प्रसिद्ध कवि, व्यंग्यकार, पूर्व अध्यक्ष, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद।

यह भीड़ आदमी की है, केवल आदमी की। आदमी आता जा रहा है, समाता जा रहा है। सारी भीड़ इसी पुण्यक्षेत्र में दाखिल हो रही है– सब मुक्तभोगी हैं, सब मुक्तकामी होना चाहते हैं। जल्दी डुबकी लगाने की होड़-सी लगी है। इस पूरी भीड़ को अच्छी सुविधा और व्यवस्था देना तीर्थराज का धर्म है। भीड़ को रास्ता दिया जाता है। भीड़ को जगह दी जाती है। कई वर्ग किलोमीटर में फिर तंबुओं का शहर बसा है। चहल-पहल, रास-नौटंकी, कथा-कीर्तन गूँजता रहता है, गूँज रहा है। इस भीड़ को कोई न्यौता नहीं दिया जाता। भीड़ तो इस इंतजार में रहती है, मौका मिले तो दरसन होय। माघ-मकर का सूर्य-योग उसकी साँसों में महकता रहता है, आँखों में नाचता रहता है। जनमानस का भीड़ स्वरूप चेहरा सैकड़ा-हजार में बँटता जाता है, शिविरों में समाता जाता है। यह चटपट तैयारी करके झटपट पहुँची है। योगी-जती, साधु-संत, गृहस्थ सब एक साथ इसी पुण्य क्षेत्र में वास करते हैं; क्योंकि इन्हीं दिनों यहाँ कोरे तीर्थ और देवी-देवता भी पधारते हैं। अब ऐसे अद्भुत पुण्य योग का लाभ भला कौन भकुवा नहीं उठाना चाहेगा। सब चाहते हैं, सब आते हैं। न जाने मन में कैसी-कैसी इच्छाएँ लेकर दुनिया यहाँ आती है, जहाँ हजारों बसें होती हैं वहीं लाखों ट्रैक्टर्स होते हैं। भीड़ की मत पूछिए। भीड़-ही-भीड़। वो आलम कि बाप रे। यहाँ साधारण भीड़ भी साठ-सत्तर लाख की होती है। और बड़े-बड़े पर्वों पर तो पूछिए मत। कई-कई करोड़ की भीड़ उमड़ पड़ती है। गाँव-देहात का तो हाल और होता है। अगहन बीतते-बीतते पूस नियराते-नियराते भीतर-ही-भीतर बजने लगता है, खनकने लगता है, चलो मन गंगा-यमुना तीर। और लोग हो उठते हैं अधीर। यह भीड़ सवारी की राह नहीं देखती। निकल पड़ती है टेरती हुई– 'तिरबेनी में लागा नहान चलहु पिया प्यारे' चौताल की यह टेक ठिठुरती ठंड में फागुनी ऊर्जा का काम करती है। आदमी भागता-पराता चला आता है गोता लगाने, पुण्य कमाने। कुहरा ज्यादा है कि अहरे-लकड़ी-कोयले का धुआँ ज्यादा है, यह बताना मुश्किल है। खुले आसमान के नीचे गीली रेत पर पूस की ठिठुरती रात जिस उत्साह और उल्लास के साथ भीड़ काट देती है वह देखते ही बनता है।

ऐसा कहा जाता है कि पहले यह मेला केवल साधु-संतों और गृहस्थों का ही होता था। उन्हीं की व्यवस्था उन्हीं की भीड़। तब यहाँ घास-फूस की झोंपड़ियाँ थीं। गलियोंनुमा सड़कें भी। लोग सटकर ज्यादा रहते थे, बँटकर कम। आज यहाँ तंबू और टीन दिखाई देते हैं। समतल चौकोर चौकोर प्लेट की सड़कें। चौकोर चौड़ी चार-चार कतारवाली, जगर-मगर चौराहेवाली सड़कें हो गई हैं। जमाने के हिसाब से मेले के बाहरी-भीतरी स्वरूपों में बहुत बदलाव आया है। मेले का रंग बदला है, ढंग बदला है, स्वरूप बदला है, कद-काठी बदली है। अब तो पूरा एक जिला बसता है। उसकी पूरी

एक प्रशासन व्यवस्था होती है। सप्लाई भी, सुरक्षा भी, सफाई भी, दवाई भी, बाजार भी, मनोरंजन भी, सरकार जहाँ यात्रियों को विधिवत् नहाने और धरम-करम करने की अच्छी व्यवस्था से जोड़ती है, वहीं उन्हें जागरूक बनाने का प्रयास भी करती है– अनेकानेक प्रदर्शनियों, शिविरों एवं कार्यक्रमों के माध्यम से। नहाने-धोने के बाद आदमी जब अपने नियमित पूजा-पाठ से छुट्टी पाता है तब जुड़ता है– पंडालों से, शिविरों से, खेल-तमाशों, नाटक-नौटंकियों से। इन प्रदर्शनियों में बहुत कुछ चित्रों और कठपुतलियों के माध्यम से सिखाया-समझाया जाता है– मसलन परिवार-नियोजन क्यों करें? कैसे करें?। एड्स से क्यों बचें? कैसे बचें? कैसा पानी पिएँ? कैसा भोजन करें? दहेज, घूस, हत्या, भ्रूण-हत्या, बलात्कार में लिप्त लोगों की दुर्दशा एवं सामाजिक निंदा करते हुए इससे बचने की सलाह भी दी जाती है। और यहाँ आनेवाला भी किसी-न-किसी संकल्प के साथ आता है–

**चलो जी चलो / आज संगम नहाएँ / लिये हाथ में हाथ / गोता लगाएँ। बुलाया है संगम ने / आओ नहाओ / नहाओ, यहाँ पाप धोओ बहाओ / वहाँ धर्म की कर्म की / बात होगी / वहाँ प्राण की मर्म की बात होगी / चलो, गीत लेकर / भजन से भुनाएँ / यही पुण्य लूटें यही फल कमाएँ।।**

अद्भुत है यह जनमानस और अद्भुत है इसकी दिनचर्या सुबह का रंग और दोपहर का रंग और शाम का रंग और मोक्ष का भी है और धंधा भी। जागरण की वेला ही धँधे की भी वेला होती है। कैसेट बजानेवाला इसलिए होता है। वह कैसेट लगाकर खुद सो जाता है। उसका काम कैसेट करता है। साधु-संत और घाटवाले सब फौरन भाव विभोर हो जाते हैं। 'गंगे तव दर्शनात् मुक्ति। पुलिस के ऊँचे-ऊँचे टावर दिशा निर्देश देने लगते हैं। यही शुभ घड़ी होती है कोढ़ियों और भिखारियों के मेकअप करने की। दो ही चार प्रतिशत संख्या इनकी सही होती है, बाकी सब नकली, फर्जी और पैसा कमाने का धंधा, मेकअप, असली होता है, सूर्योदय होने से पहले-पहले ये अपने ठेला-गाड़ी, कटोरी-कटोरा, करताल-इकतारा आदि से लैस होकर अपनी जगह पर जम जाते हैं–

**कमर टूटी राम छूटी न गठरी,**
**भूल गई चमड़ी बटुर गई गठरी।**

**× × ×**

**रोज-रोज गीला गरीबी में आटा,**
**ए गंगा माई हमार पाप काटा।**

वातावरण में ये या इनके जैसी तमाम पंक्तियाँ गूँजती रहती हैं। आगे बढ़ने की

होड़ जहाँ वहाँ किसके पास इतना समय है कि रुककर इनका मेकअप पहचाने। जैसे किसी-किसी झील-ताल पर खास मौसम में कुछ खास किस्म के पंछी आते हैं, वैसे ही ये भी अवतरित होते हैं। ये मेला बीतने पर वैसे ही गायब भी हो जाते हैं जैसे मौसम बीतने के साथ ही गायब होते हैं गुबरैले और वीर-बहूरियाँ।

**तरह-तरह के मंच हैं, तरह-तरह के गेट,**
**दर्शन के भी रेट हैं, प्रवचन के भी रेट।।**
**असली-नकली की भी भला, कैसे हो पहचान,**
**जितने हैं तंबू यहाँ, उतने हैं भगवान्।।**

यहाँ की प्रभाती में थोड़ा-बहुत योगदान सबका होता है। सब परस्पर एक-दूसरे के लिए बने हैं और काम भी आते हैं। संगम की प्रभाती बहुत ही रसवंत और जीवंत होती है। जहाँ लाखों उतरते हैं मुँह अँधेरे गोता लगाने, वहीं कमर तक पानी में हजारों पहले से खड़े मिलते हैं गंगा मइया को भक्तों द्वारा चढ़ाए जाने के लिए बाल्टी में डेयरी लिये हुए। जब तक नहानेवाले डटे रहते हैं तब तक वह पट्ठा वैसे ही पानी में खड़ा रहता है। बाल्टी का दूध कभी खत्म ही नहीं होता। लगता है जैसे बाल्टी में कहीं कोई ऐसा अद्भुत पाइप बिना कार्डवाले माइक्रोफोन की तरह जुड़ा हुआ है, जिसका दूसरा सिरा जरूर किसी दूध सप्लाई करनेवाली मशीन से जुड़ा है, अथवा लाखों-करोड़ों कामधेनुएँ इन बालटियों में समाई हुई हैं। यही हाल फूलमाला वालों का है। जितने बेचनेवाले हैं उतने ही चढ़ाए गए फूलों-मालाओं को बटोरनेवाले भी हैं। सावन से भादों भला दूबर क्यों? ये बटोरनेवाले बटोरकर वहाँ पहुँचाते हैं जहाँ बेचनेवाले बैठे हैं और खरीदनेवाले खड़े हैं। बटोरनेवाले-बेचनेवाले दोनों एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं, सँधे-भँधे हैं। प्रतिशत पहले से तय है। दोनों के चेहरे पर मुसकराहट है, संतोष है– तीर्थराज की महिमा न्यारी है। जिसे देते हैं, छप्पर फाड़कर देते हैं। बटोरनेवाला भी छिंककर भर बटोर रहा है–

**नाव नदी में तट कछार में,**
**सुख ही सुख है आर-पार में।**
**माघ मकर का सूर्य योग है,**
**महा मिलन है चिर वियोग है।**
**रस ही रस है आस-पास में,**
**गीत भजन में कल्पवास में।**
**आकर्षण कण-कण में जैसे**
**सम्मोहन है तार-तार में।**

नाववाले तो और कमाल करते हैं। उनका वश नहीं चलता वरना दो मंजिली-

तिमंजिली नाव चलाते या नाव को उलटकर उसकी पीठ से भी यात्रियों को लगेज की तरह चिपका लेते, बाँध लेते। लेकिन ऐसा कर नहीं पा रहे हैं। फिर भी सीधी नाव के तट पर ही डूबने का खतरा मोल लेने तक नहीं डरते और जबरदस्ती हाथ पकड़-पकड़कर बैठाते रहते हैं। छोटी-छोटी डोंगियाँ भी मोटी-मोटी होकर निकलती हैं। लोग टेंपोवालों को बिना वजह भला-बुरा कहते हैं। नाववाले भी क्या करें। यही तो उनका सीजन है। इसमें चूक गया तो फिर पछतावा ही हाथ रहेगा–

**सबकी नीयत एक सी, सब हैं एक समान।**
**पता नहीं किस नाव में, बैठे थे भगवान्।।**

तीर्थ पुरोहितों की चौकियों पर तो जैसे बरसात हो रही है– खिचड़ी की, चावल-दाल की, आलू की, आटे की, तिलवा ढुंढा लाई-चूड़ों की, सिक्कों की, नोटों की। मंत्रों के अखंड पाठ पर कैसेट बैठा हुआ है। पुरोहितजी महाराज मुँह में दोहरा भरे पगुरा रहे हैं। बछिया सप्लाई संघ की बहुत बड़की योजना के चलते जहाँ बछिया नहीं पहुँच पाई या मिल पाई है वहाँ पड़ियाँ-पड़वाँ को ही बोरा पहना-ओढ़ाकर ऐसा बना दिया जाता है कि केवल पूँछ ही बाहर रहे, बाकी सब परदे के भीतर। वही पूँछ पकड़कर आदमी वैतरणी पार करने को बेचैन है– पहले मैं, पहले मैं। उसके पास पूँछ छोड़कर पूँछ की गंगोत्री देखने का समय कहाँ है? वह तो संकल्प छोड़ता है और मुक्त हो जाता है। उसे तो अभी ये भी करना है अभी वो भी करता है–

**धन्य-धन्य यह धाम यहाँ सब कुछ बलिहारी है,**
**तीरथराज-प्रयाग तुम्हारी महिमा न्यारी है।**
**लहर-लहर लहराता संगम पुण्य बाँटता है,**
**यही हमारे जनम-जनम के पाप काटता है।**
**जगमग-जगमग दीप शिखा पूजा की थाली में,**
**बारह, माधव बैठे हैं इसकी रखवाली में।**
**सुख देता है श्री देता है आशा देता है,**
**जन-जन की करुणा को संगम भाषा देता है।**
**यज्ञ भूमि यह धर्म भूमि यह भूमि सृजन की है,**
**दान त्याग की भूमि, यह भूमि गीत भजन की है।**

धीरे-धीरे ओस में पूरी तरह से भीगी सनी रेत धूप की हलकी मीठी छुअन महसूस करने लगती है। ठिठुरन और सिहरन को आँच जैसा सुख मिलता है। जमीन पर कहाँ क्या पड़ा हुआ है, यह साफ-साफ दिखाई देने लगता है। गंदगी भी मिलती है। गंदगी से कोसों दूर सफाई कर्मचारी भी मिलते हैं अपने-अपने ठेकेदार को इलाहाबादी लहजे में आशीर्वाद देते हुए। नामी-गिरामी ओहदाधारी शिविरों और कैंपों

के आस-पास रात में खाली की गई बोतलें, नमकीन के खाली पैकेट, होटल से आए खाने के खाली डिब्बे और वहीं आस-पास हड्डी व काँटों के लिए लड़ते हुए कुत्ते भी दिखाई देते हैं। यह जागरण अनेक रंगों-रूपों में एक साथ प्रकट होता है। जहाँ तट पर घी के दीये जलाए, आरती के स्वर सुनाई देते हैं वहीं लहरों का मधुर कलकल भी स्वर पर ताल देता-सा महसूस होता है–

**यह संगम की भूमि पुण्य की कथा सुनाती है,**
**श्वेत-श्याम जलधार यहाँ हरदम लहराती है।**
**कहने को यह बस गंगा-यमुना का संगम है,**
**त्याग-तपस्या-प्रेम और करुणा का संगम है।**
**यही प्रभाती है जन-जन की यह सँझबाती है।।**

वैसे तो चाय की टंकियाँ बराबर ही बासी-तिबासी और भरी-भरी सी गरमाहट बेचती रहती हैं, लेकिन इस समय हर नुक्कड़, हर चौराहों पर भट्ठियाँ भी चाँदी काटने लगती हैं और भरपूर ताजा गरमाहट भी बाँटने लगती हैं। चाय-पकौड़ी, दही-जलेबी, दमालू, समोसा, कचौड़ी सबके दर्शन होने लगते हैं, सबके स्वाद मिलने लगते हैं। जहाँ पुलिसवाले अधिकतर मुफ्तपेट-पूजा करते हैं वहीं आम आदमी दुगुना तिगुना अदा करता है। ऐसी जगहों पर भीड़ का बहुत बड़ा हिस्सा ठहरा हुआ दिखाई देता है। इस मेले में मूँड़ने और मुँड़वाने की भी परंपरा आदिकाल से चलती है। एक वक्त था जब यहाँ लोग प्राणदान करते थे। अक्षयवट पर चढ़कर नीचे कूदते थे और जल समाधि ले लेते थे। लेकिन अभयवट जैसी सुविधा खत्म हो गई और वह परंपरा भी काल-कवलित हो गई। रही दान देने की बात, सो अभी निभ रही है। हर्षवर्धन तो कोई रहा नहीं लेकिन रुपया-पैसा, कपड़ा-लत्ता, वगैरह आज देनेवाले अभी भी आते हैं और अपनी हैसियत के मुताबिक देते भी हैं। बड़े-बड़े व्यपारी और पूँजीपति तो थ्रू प्रॉपर चैनल चलते हैं। वे सबकुछ सौंप देते हैं शिविरों के संयोजकों एवं मालिकों को ये अपने ढंग से मुँह देखकर रेवड़ी की तरह बाँटते हैं। अपना कोई छूटे ना, गैर पाए ना। कंबल, काजू, किशमिश, बादाम लूटनेवालों का ताँता लगा रहता है। गाड़ियों से, स्कूटरों से ये तथाकथित जरूरतमंद दाँत चियारे आते हैं, बाबाजी के चरणों में मत्था टेकते हैं और बड़े-बड़े थैलों-अटैचियों में 'प्रसाद' पाते हैं। असली जरूरतमंद तो भीतर फटकने भी नहीं पाता।

मुंडन की परंपरा का निवारण अभी भी हो रहा है। पचासों बीघे में नाईबाड़ा हर साल बनता है और हर वक्त खचाखच भरा हुआ ही दिखाई देता है। केशदान का यहाँ बहुत महत्त्व है छोटे बच्चों के मुंडन की मनौती भी यहाँ पूरी होती है। यहाँ भी नेग के लिए ननद अपनी भौजाई से लगन करती है। वह भूल जाती है कि गाँववाला आँगन नहीं है, संगम है। मोक्ष की इच्छा लेकर आया हुआ आदमी पहले तो शान से मुँड़वाने

बैठता है, लेकिन मूँड़े जाने के बाद जब पैसा देने लगता है तब उसका मुँह देखने लायक होता है। उसका वश चले तो वह नाई का मुँह नोच ले। मगर करे क्या? लाचार होता है। वह इसीलिए यहाँ आता ही है, क्योंकि सिर मुँड़ाने से उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है। फिर भी जेब में जरूरतों की लिस्ट इतनी लंबी होती है कि बार-बार उसे जेब खोलनी ही पड़ती है। बेचारा मूँड़नेवाला भी तो इसी दिन की प्रतीक्षा में हाथ में खुला छुरा लिये बैठा रहता है। हालाँकि मूड़ता तो है वह सीधे छुरे से ही, लेकिन मूँड़े गए सिर को देखने से लगता है कि उलटे छूरे से मूँड़ा गया है। बीसियों जगह से अगर खून निकलता रहता है तो तीसियों जगह पर बाल छूटे रहते हैं जैसे काटे गए सरपत के जंगल में जहाँ-तहाँ सरपत की पौध ज्यों की त्यों खड़ी और साबुत सुरक्षित दिखाई देती है। वह तो जब नहाने के बाद आदमी पंडाजी के शीशे में अपना मुँह देखता है तब चिहाता है और मन मसोसकर रह जाता है। नाईबाड़े की ओर वह शिकायत करने के लिए भी नहीं उलटता और भाग खड़ा होता है। इसी में सैकड़ों भूलते-भटकते हैं। भोंपू नाम-पता गुहराने लगता है– फलाने-फलाने-फलाने।

धीरे-धीरे समय हो जाता है भंडारों और अन्न क्षेत्रों का। अखाड़ों और आश्रमों की ओर से हजारों-हजारों की पंगतें बैठाई जाती हैं। लोग बड़े मन से परोसते हैं और खानेवाले अघा जाते हैं। एक-से-एक धनाढ्य भक्तों की कृपा होती है इन पंगतों पर। ये धनाढ्य भक्त ट्रकों राशन, घी, तेल, तरकारी पहुँचवा देते हैं। यह पृथ्वी तभी तो टिकी है वरना...बहरहाल इसके बाद ही शुरू होता है प्रवचन, कीर्तन, नाटक, नौटंकी और गोष्ठियों का कार्यक्रम। इधर-उधर फैली-बिखरी भीड़ ऐसे शिविरों-पंडालों में समाने लगती हैं। आँखें धन्य होने लगती हैं, कान धन्य होने लगते हैं। भगवानों के आसन मंचों पर प्रगट होते हैं, फिर उनपर विराजते हैं उनके भगवान्। पब्लिक नीचे पुआल पर, दरी पर, रेत पर। तिल भर भी खाली जगह नहीं मिलती। भगवान् को घेरकर बैठते हैं उनके असलहाधारी बॉडी गार्ड। ये विशेष श्रेणीवाले भक्त भगवान् को हर तरह की सुरक्षा-सुविधा मुहैया कराते हैं। जो थोड़ा-बहुत भी परिचित होते हैं वे आसानी से जान जाते हैं कि ये फलाने गुरु हैं, ये ठेकाने गुरु। सामने बैठी भीड़ अपने भाव में मगन रहती है। यह भीड़ प्रणम्य है। जो कुछ छोड़कर आई हुई है, उसी के बारे में सोच रही है–

**कलपबास में घर क चिंता लगल हौ।**
**कटल धान खरिहाने वइसैं पड़ल हौ।।**

बरही-तेरही, गौना-ब्याह, खेत-कचहरी, थाना–सबके बारे में सोचती रहती है यह भीड़ और प्रवचन भी सुनती रहती है। सास की सताई बहू भी इसी भीड़ में है और बहू की सताई सास भी। बरसों से घर छोड़कर चले गये पति की पत्नी भी इसी भीड़ में मिलती है। मन-ही-मन यह प्रार्थना भी करती रहती है–

**धुनिया रमइबै हम करबै पुजनिया कि**
**धरबै जोगिनिया के भेष गंगाजी।**
**घरवा न भावै मइया भावै ना दुअरवा कि**
**पियवा बसेला परदेस गंगाजी।**

पता नहीं उसका भगोड़ा गायब तथाकथित परदेसी पति कभी वापस आता है कि नहीं, लेकिन वह अपनी गुहार बड़े विश्वास के साथ यहाँ लगाती है। यह दुखियों की सांत्वना-भूमि है। गुहार केवल विहरिणी ही नहीं लगाती, सभी लगाते हैं। पुत्र की कामना लेकर भी भीड़ यहाँ आती है और बड़े भाव से गंगा की पूजा करती है–

**'देहलू जिनिगिया मइया, देहलू सेन्हुरवा**
**मोर अँचरवा भरतू ना**
**देके गोदिया में ललनवाँ**
**मोर अँचरवा भरतू ना।'**

या यह कि–

**कलकल बहे पुण्य कै धारा**
**गोता मारा प्रान पखारा**
**अइसन निरमल हमरे तिरबेनी क नीर सजनी**
**एकरे तट पर हरदम लगल रहैले भीर सजनी।**

इन पंक्तियों, इन स्वरों के आस-पास भीड़ लगी रहती है। जिसकी दुखती रग छू जाती है वह वही जुड़ जाता है। आदमी अपने भीतर झाँकता है तो उसे ऐसी अनुभूति होती है कि बस पूछिए मत। भीतर-ही-भीतर वह छटपटाने लगता है। यहाँ मन की गाँठें भी खुलती हैं और मन की आँखें भी। दृष्टि भी मिलती है और रास्ता भी मिलता है। राग-वैराग्य के ताने-बाने में, सगुण-निर्गुण के आरोह-अवरोह में और धर्म-कर्म के संग-साथ सुख-सान्निध्य में आदमी बँधा रहता है। मुक्त होने की पूरी-पूरी कोशिश करता है, लेकिन मुक्त हो नहीं पाता। वह भागता रहता है– इस पंडाल से उस पंडाल में। इस सड़क से उस सड़क पर चक्कर काटता रहता है।

**गुलब्बन क दुलहिन चलैं धीरे धीरे**
**भरल नाव जइसे नदी तीरे-तीरे**
**सजल देह जइसे हो गौने क डोली**
**हँसी हौ बताशा, शहद हउवै बोली**
**अ देखैली ठोकर बचावैली धक्का**
**मनै मन छोहारा मनै मन मुनक्का।**

ढलती हुई धूप के साथ ही दिनचर्या शाम से जुड़ने लगती है। एक तरफ आरती की जल्दी रहती है तो दूसरी तरफ नून-तेल-लकड़ी की जरूरत दुकान-दुकान दौड़ाने

लगती है। लोग दौड़ते हैं, उन्हें दौड़ना पड़ता है। जैसे पखेरू अपने बसेरे पर लौटते हैं वैसे ही लोगबाग अपने-अपने शिविरों में सिमटने लगते हैं। फिर भी स्वर फूटते ही रहते हैं। गूँजते ही रहती हैं। नहाने वाले नहाते ही रहते हैं। न घड़ी देखते हैं, न लहरों को सोने देते हैं। आधी-रात में नहानेवाले भी उसी भाव से, संकल्प से नहाते हैं जैसे भोर में नहानेवाले।

हालाँकि भौतिकता और आधुनिकता का दबाव-प्रभाव दिनोदिन बढ़ता जा रहा है। इसकी आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक छवि अब पहले जैसी बिलकुल नहीं रह गई है, लेकिन श्रद्धा-विश्वास-आस्था और संकल्प के उत्तराधिकारी न कभी मरे हैं न मरेंगे। हर पीढ़ी में ऐसे कंधे बहुतायत से आगे आ जाते हैं और अपना दायित्व निभाने लगते हैं। सच पूछिए तो इसका मूल आधार भी यही है। इसकी जड़ें बहुत गहराई में हैं। ऐसा कहा जाता है कि वे भी धरती के साथ-साथ शेषनाग के फन पर टिकी हुई हैं। यहाँ आया हुआ जनमानस हर रंग से जीता है। पश्चिमी बिहार के ढेर सारे मुसलिम परिवार केवल बाँसुरी लेकर आते हैं और लगभग दो-ढ़ाई महीने तक लगातार संगम में डुबकी लगाते हैं। बाँसुरी बेचते हैं। अच्छी खासी कमाई करके घर वापस जाते हैं। न रंगों की कमी है, न भावों की। लोकरंग जिस मंच या बहुवचन में उतरता-उभरता है वहाँ सांस्कृतिक छाँह और अध्यात्म के आईने में खड़ा होता है तो भारतीय संस्कृति को एक संपूर्ण संबोधन भी मिलता है। यहाँ सबका समागम होता है। प्रलय में भी जीवन यहाँ बालमुकुंद की तरह वटपत्र पर पैर का अँगूठा चूसता रहता है। यह जिजीविषा आदमी को कहाँ-कहाँ से नहीं खींच लाती। 'तीरथ पतिहि आउ सब कोई' की डोर में संवेदनशील मन बँधा चला आता है।

हाँ, आँख तब भर आती हैं जब यह तंबुओं का शहर उजड़ने लगता है। बसने में महीनों का समय लगता है, लेकिन उजड़ने में ज्यादा से ज्यादा दो-चार दिन बस। बड़े-बड़े रंगारंग चमकदार भव्य गेट और उनकी आलीशान तामझामवाली व्यवस्था सब देखते-देखते धराशायी हो जाते हैं। मेले के स्वर में रेत में लहरों में समा जाते हैं। वसंत पंचमी के स्नान के ही साथ बहुत बड़ा हिस्सा यहाँ से कूच कर जाता है। कल्पवासी माघ पूर्णिमा तक संकल्प पूरा करते हैं। दूसरे दिन से उनका डेरा-तंबू भी सिमट जाता है। फिर भी अच्छी-खासी भीड़ शिवरात्रि तक यहाँ आसन जमाए रहती है। फागुनहर ऊबड़-खाबड़ रेत को स्वयं अपने हाथों समतल करने लगती है। हवन-कुंड भर जाते हैं। रास्ते गायब हो जाते हैं। जहाँ हजारों की पंगत बैठती थी वहाँ हजारों भेंड़ें, गायें और भैंसें घूमने-फिरने लगते हैं। निकल गई मुनिया उजड़ गया टोलावाला हाल होता है। रातें तो बिजली की जगर-मगर रोशनी में सजी-धजी रहती हैं और मीलों में अपने होने का एहसास कराती रहती हैं, सहसा सन्नाटे और अँधेरे के साथ हो गई है। दिन में चिरई का पूत भी नहीं दिखाई देता। आएदिन फिर वही सब शुरू हो जाता

है इस कछार में, जिसे अखबारवाले घटना बनाकर छापते हैं।

**धंधेबाजों का यहाँ, एकच्छत्र अधिकार,**
**उनकी जैसे सल्तनत फैला हुआ कछार।**
**फैले हुए कछार में होता कारोबार,**
**पुलिस बँटाती हाथ खुद करती बेड़ापार।**
**दारू की हैं भट्ठियाँ, बम कट्टों की खान,**
**मृत्यु यहाँ आसान है, मोक्ष नहीं आसान।**

लेकिन यह हाल भी यहाँ दो ही चार महीनों तक रहता है। आधे आषाढ़ से इन्हें भी ठिकाना बदलना पड़ता है। क्योंकि इस समय तक तो स्वयं गंगा मइया यहाँ पैर पसारने लगती हैं। जो सबसे बड़ा खतरा पिछले कुछ दशकों से यहाँ मँडराने लगा है वह है दिनोदिन गहराते प्रदूषण का शिकार होती गंगा-यमुना। कभी-कभी तो लगता है कि धार अब टूटी तब टूटी। ऐसी गंगा का पानी भी, बोतलों में, शीशियों में धड़ल्ले से बंद हो रहा है और आस्थावानों में मनमाने रेट पर बेचा जा रहा है। पिछले दो कुंभों से विदेशी भक्तों की संख्या में बेतहाशा बढ़ोत्तरी हो रही है। इस आस्था को तथाकथित गुरुजी महाराज इस रूप में भुनाते हैं कि तुलसी की माला पाँच रुपए में या ज्यादा-से-ज्यादा दस-बारह रुपए में दुकानों पर आसानी से मिल जाती है वही माला गुरुजी जब अपने हाथ से भक्तों को देते हैं तो उसकी कीमत कम-से-कम बीस डॉलर होती है। गुरुजी मुसकराकर देते हैं। शिष्य सिर झुकाकर ग्रहण करता है। मुख्य स्नान पर्वों पर नरौरा बाँध से पानी छोड़ा जाता है, वरना नहाने के लाले पड़ जाएँ। लेकिन विश्वास हमारा ऐसा है कि बस पूछिए मत–

**जब तक पिरथी रही ई शहर ना मरी,**
**गंगा जमुना क लहर कबो ना मरी।**

यहाँ काली-गोरी लहरों की भेंट-अँकवार बहुत माने रखती है, क्योंकि यह भेंट-अँकवार भी करवट बदलती है। लगभग आधी सदी तक यह भेंट-अँकवार झूसी की ओर दिखती थी, अब किले की ओर बँधे दिखने लगी है। दोनों करवट कोई बिरला ही देखता है। अगली करवट बदलने की दम शायद गंगा में न रहे, शायद हर जानेवाला मुड़-मुड़कर इसीलिए देखता है– चलती की बिरियावाले भाव से। सन्नाटे में ही जागरण की संभावना समाहित है और जागरण में ही एकांत की। एकांत भी यहाँ राग की तरह गाया जाता है–

**लोहे से तोड़ो ना आग से**
**सन्नाटा तोड़ो तो राग से,**
**लाया हूँ राग मैं प्रयाग से**
**आज मिले आप बड़े भाग से।**

# महाकुम्भ का महाभाव

## प्रो. सूर्यप्रसाद दीक्षित *

महाकुम्भ विश्व का सबसे बड़ा मानव मेला कैसे बन गया? सोचते हुए हैरत होती है, किन्तु सोचने से कारण मिल भी जाते हैं। सम्भव है, संक्रान्ति पर प्रयाग में हर्ष की दान-सभाओं ने यह भीड़ जुटायी हो। संभव है, परिब्राजक वृत्ति ने मेले का रूप ले लिया हो, किन्तु अधिक संभावना दिखती है, इन तीन प्रयोजनों में एव-अमरत्व की लालसा, दूसरा– अस्तित्व रक्षा, तीसरा– पाप-ताप-मोचन।

भारतीय वाङ्मय में कुम्भ के अनेक गूढ़ प्रतीकार्थ तथा फलितार्थ निकाले गए हैं। इसकी व्युत्पत्ति तीन प्रकार से सिद्ध की गयी है। एक है– 'कुत्सित उम्भयति दूरयति जगद्वितायेति इति कुम्भः।' अर्थात् जो जीवन को कुत्सित तत्त्वों से दूरकर देता है जिसमें विकार छन कर बैठ जाते हैं), वह कुम्भ है। दूसरी व्युत्पत्ति है– कुं भाययति दीपयति तेजोवर्धनेति। कुम्भ अर्थात् जो पृथ्वी को सुशोभित करता है, तेजोद्दीप्त करता है, वह कुम्भ है। तीसरी व्युत्पत्ति है– कुं. (पृथ्वी के प्राणियों का) भ. (प्रजनन) अर्थात् कुम्भ-कुम्भी के युग्म द्वारा सृष्टि का विस्तार, कुम्भज ऋषि की तरह। ये तीनों व्याख्याएँ कुम्भ को शरीर के उपमान के रूप में प्रस्तुत करती हैं। मानव शरीर का रूपक तैयार करते हुए भक्त कवियों ने भी उसे प्रायः 'घट' या 'भाण्ड' की संज्ञा दी है। जिस प्रकार घड़ा मिट्टी से तैयार किया जाता है (और मिट्टी में जल, अग्नि, वायु, आकाश-सबका सुयोग होता है) उसी प्रकार शरीर का निर्माण होता है– पंचभूत तत्त्वों से। गीली-चिकनी मिट्टी के पिण्ड को कुम्हार चाक पर चढ़ाता है, उसी तरह जैसे विधाता (स्रष्टा) कालचक्र के सहारे, स्थूल पिण्ड से जीवन का निर्माण करता है। कच्चा घड़ा भला किस काम का? उसे पकाना जरूरी है। जितना पक जायेगा, उतना ही मजबूत, यानी धारक होगा। और धारणा ही धर्म है। संकेत यह है कि मनुष्य अपनी साधना की ऊष्मा से जितनी तपस्या करेगा, उतना ही परिपक्व होगा। मिट्टी के पात्रों को आवों में पकाया जाता है। इस प्रकार के पके-पकाये पात्र में ही पदार्थ को धारण करने की क्षमता आती है। यही वास्तविक पात्रता है। इस जीवन घट (कुम्भ) में क्या भरा जाये? भव सागर में सहज सुलभ है विष, किन्तु वह मारक होता है। समुद्र का देवता है वरुण, इसलिए यहाँ वारुणी भी सहजोपलब्ध है, किन्तु वह मादक होती है। ये दोनों द्रव उपद्रवकारी हैं।

* हिन्दी साहित्य के सुख्यात विद्वान्, पूर्व प्रो. लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

इसलिए वैष्णव भक्तों ने सिद्धों, तांत्रिकों तथा हठयोगियों में सहजरस-सोमरस को भक्ति के रसायन के रूप में बदल दिया। यही एक मात्र महाद्रव है– अमृत, जिसके पान से अमरत्व प्राप्त हो जाता है। किन्तु यह अमृत कैसे प्राप्त किया जाये? प्रत्येक संस्कृति में, प्रत्येक देशकाल में, सुर-असुर नर-नाग प्रत्येक जाति में इस अमरत्व को प्राप्त करने के लिए संघर्ष होता रहा है। प्रत्येक देश के पुराख्यान, सभी धर्म-दर्शन और विज्ञान इस अमृततत्त्व की खोज से सम्बद्ध दिखायी देते हैं। वस्तुतः प्राणिमात्र की चिन्ता का सबसे बड़ा कारण है और रहा है– मृत्युबोध। भारतीय दर्शन में जीवन को नश्वर कहा गया, उसके प्रति मोह न रखने का प्रबोध दिया गया, स्वर्ग और मोक्ष का विधान किया गया, किन्तु इच्छा मृत्यु जौहर या समाधि के कुछ प्रसंगों को छोड़कर जीवन की वासना से कोई मुक्त नहीं हो पाया। **जन-जन की इस जिजीविषा को केन्द्र में रखकर ही हमारे मनीषियों ने अमृत कुम्भ का एक रूपक रचा।** क्षीर सागर का मंथन। चौदह रत्नों की प्राप्ति और सबसे अन्त में अमृत कलश का प्राकट्य।

यह रूपक बड़ा रहस्यपूर्ण है। बड़ा कवित्वपूर्ण भी है। मन्दराचल की मथानी, वासुकि की रज्जु। सृष्टि के पालनहार विष्णु का कच्छप रूप में पृष्ठाधार। देवदानव, दोनों जातियों ने पूरे भवसागर को मथ डाला, तब कहीं धन्वन्तरि प्रकट हुए अमृत कुम्भ के साथ। बड़ा विराट् रूपक है यह। यह कोरी कल्पना नहीं, बल्कि **प्राणी की दुर्दम जीवनेच्छा का एक अनोखा आद्यबिंब है**। मानव मात्र की एक मंगलाशा– 'मृत्योर्मा अमृतं गमय' (अर्थात् मुझे मृत्यु से अमरत्व की ओर ले चलो) की काव्यात्मक परिणति है यह।

समुद्र मंथन के रूपक को इस प्रकार व्याख्यायित किया जा सकता है–

संसार एक सागर (भवसागर) है। इसमें रहने वाले सत-असत प्राणी ही देव-दानव हैं। सब अपने अपने-ज्ञान-विज्ञान के सहारे इसके गूढ़ तत्त्वों को खोज निकालने (मथने) के लिए तत्पर हैं। भव सागर में गहरे उतरने के लिए ऊँचाइयों का आश्रय लेना होता है, इसीलिए मंदराचल को, जो पृथ्वी का उत्तुंग शैल-शृंग रहा है, जो निर्वाण क्षेत्र है और अलभ्य संजीवनी तत्त्व से युक्त है, उसे मंथन का उपकरण (मथानी) बनाया गया है। वासुकि नाग राज हैं। नाग जाति देवों की मित्र जाति रही है। उसे सहायक (रज्जु) बनाना समीचीन ही था। उससे अभिमुख होकर भिड़ते हैं दानव और वे उसकी विषैली फूत्कार से आहत होते हैं। देव उनके पीछे हैं, इसलिए वे सुरक्षित हैं। पूरे घटना चक्र के मूलाधार हैं विष्णु। विष का शमन करते हैं शिव। मद का सेवन करते हैं दानव और अमृतपान करते हैं देव। जब दानव मदान्ध हो जाते हैं तो देव गण शेष १२ रत्नों (उपयोगी पदार्थों) का अधिग्रहण कर लेते हैं। अमृत कुम्भ के प्रकट होने पर दोनों झगड़ पड़ते हैं। पहले अपने देह बल द्वारा दानव उसे झपट लेते हैं, फिर उसे अपने बुद्धिबल से

देवता हड़प लेते हैं। विष्णु (मोहिनी) की सम्मोहन शक्ति दानवों को छलती है, फिर बड़ी चतुराई से जयन्त (कौआ) उस अमृत घट को लेकर उड़ जाता है। उसकी सहायता के लिए इन्द्र चार ग्रहों को लगा देते हैं। सूर्य दिन के प्रकाश द्वारा, चन्द्ररात्रि के प्रकाश द्वारा, गुरु विद्याबुद्धि के सहारे और शनि अपनी सक्रियता, गतिशीलता द्वारा जयन्त को संरक्षण देते हैं। १२ दिनों के सुरासुर कर्षण में पूरी सावधानी के बावजूद कुम्भ का अमृत चार-छः स्थानों पर कुछ-कुछ छलक जाता है– शायद मर्त्यलोक के प्राणियों के कल्याणार्थ। १. प्रयाग त्रिवेणी संगम में, २. हरिद्वार की गंगा में, ३. उज्जैन की क्षिप्रा में, ४. नासिक की गोदावरी में और कुछ-कुछ वृन्दावन में तथा दक्षिण के कुम्भकोणम् में। विचारणीय है कि अमृत सर्वत्र नदियों में ही गिरता है। हमारी संस्कृति में नदियों का बड़ा ही महत्त्व है। इसीलिए उनके तट प्रायः तीर्थ बन गए हैं। तीर्थ का अर्थ है पार करना अर्थात् जीवन सरिता को उत्तीर्ण कर लेना। यह भौतिक सफलता का प्रतीक है। यही हमारी तीर्थ संस्कृति है। सागर मंथन की एक कथा में दुर्वासा के शाप और लक्ष्मी के प्राकट्य का तथा दूसरी कथा में गरुड़ द्वारा अमृत घट लाने का विवरण है। तीनों में पृथ्वी पर अमृत के छलकने का वृत्तान्त है। तीनों में समुद्र, वायु और पक्षिराज हैं।

इस अमृतकुम्भ का रूपक बड़ा विलक्षण है। इसके मुख में विष्णु, कंठ में शिव, मूल में ब्रह्मा, मध्य में मातृशक्ति, कुक्षि में सागर, पृष्ठ में सप्तद्वीप, हाथों में ऋग्, यजु, साम तथा अथर्ववेद, अंग में सविता अर्थात् पूरी सृष्टि समाहित है। सम्पूर्ण पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड का प्रतीक है यह अमृत भाण्ड। इस प्रकार महाकुम्भ का यह मिथक एक स्नानपर्व रूप में परिणत हो गया। इस तीर्थाटन को दुस्साध्य बनाना भी जरूरी था। जोखिम उठाने (एडवन्चर) का एक जन मनोविज्ञान होता है, इसलिए ये स्नान कड़ाके की ठण्ड या प्रचण्ड पावस के साथ जोड़ दिए गए। ज्योतिष गणना का भी आश्रय लिया गया। जब बृहस्पति मेष राशि में हो और सूर्य चन्द्र मकर राशि में अर्थात् पूरे खगोल में उथल-पुथल हो रही हो तो पृथ्वी पर भी उसकी अनुकृति या प्रतिक्रिया होनी स्वाभाविक प्रतीत हुई। सर्वाधिक महत्त्व मौनी अमावस्या को दिया गया, इसलिए कि 'मौनं सर्वार्थ साधकम्।' अमा का अर्थ है साथ, वश का अर्थ है रहना अर्थात् सूर्य। चन्द्र का साथ-साथ बस जाना। चूँकि ये दोनों पृथ्वी के निकटस्थ और सर्वाधिक भास्वर ग्रह हैं, इसलिए पृथ्वीवासी मनुष्यों के समस्त कार्यकलाप सूर्य तथा चन्द्र की गति से परिचालित होने लगे। इसीलिए दोनों का संयोग सुखद प्रतीत हुआ। अस्तु! 'सूर्येन्दु गुरु संयोग' एक महापर्व बन गया। पर्व पर मन वचन कर्म की पवित्रता अभीष्ट होती है, इसलिए ६-६ वर्षों बाद अर्द्धकुम्भ और १२ वर्षों बाद आयोजित महा या पूर्ण कुम्भ में महत्त्वपूर्ण पर्वों पर लगभग एक माह में कई स्नानों का विधान किया गया– १. पौष पूर्णिमा, २. मकर संक्रान्ति, ३. मौनी अमावस्या, ४. बसंत पंचमी, ५. माघ पूर्णिमा,

६. महाशिवरात्रि, ७. श्रावणी पूर्णिमा आदि। धीरे-धीरे विष्णु पुराण की यह धारणा दृढ़ हो गयी कि– 'अश्वमेध सहस्राणि पृथिव्याः कुम्भ स्नानेन च तत्फलम् ।'

अर्थात् हजार अश्वमेध करने से, सौ वाजपेय यज्ञ करने से और लाखों बार पृथ्वी प्रदक्षिणा करने से जो पुण्य लाभ होता है, वह पुण्य मात्र कुम्भ में स्नान करने से प्राप्त हो जाता है। यह विश्वास दिलाया गया कि कुम्भ क्षेत्र का स्पर्श कर लेने या वहाँ की रेणु का लेपन कर लेने से भी समस्त पाप-ताप-शाप का क्षरण हो जाता है। गंगा तो स्वर्गमोक्षप्रदा हैं ही, यमुना यमकी भगिनी यानी मृत्युभय हारिणी हैं। गोदावरी भी गौतम द्वारा नामान्तरित गंगा ही है। 'क्षिप्राको गंगालिंगिता' कहा गया है। तात्पर्य ये 'सकलमुदमंगलमूला' हैं।

प्रत्येक धार्मिक संगठन हेतु अभयदान आवश्यक है। यह प्रलोभन आवश्यक है कि 'अहं त्वां सर्व पापेभ्यो रक्षयिष्यामि।' सब ऊहापोह त्याग कर 'मामेकं शरणं ब्रज'। कुम्भ का आयोजन करते हुए भी इस प्रकार की आश्वस्तियाँ सुविचारित ढंग से प्रसारित की गयीं–भारतीयों, सनातन धर्मावलम्बियों को प्रायः वर्ष-प्रतिवर्ष एक विशिष्ट स्थान पर एक जुट करने के लिए कुम्भ के इतिहास को लेकर यद्यपि काफी मतभेद है, फिर भी इतना सिद्ध है कि इसका सुनियोजित मंगलारंभ नौवीं सदी में आचार्य शंकर द्वारा किया गया। शंकराचार्य विदेशी आक्रमणों से चिन्तित थे। देशी नरेशों का भरोसा न होने के कारण उन्होंने जन-शक्ति के आवाहन का यह नया उपक्रम निकाला। उन्होंने पहले भारत के चार कोनों में चार धाम बनाये, जो अरब सागर, हिन्दमहासागर, बंगाल की खाड़ी और हिमालय से जुड़े हुए हैं। ये धाम उन समुद्री मार्गों पर और पहाड़ी कन्दराओं के निकट हैं, जहाँ से घुसपैठ की अधिक आशंका थी। इन कोनों को सुरक्षित कर लेने के बाद उन्होंने कुम्भ के बहाने मध्य भाग में जनशक्ति के एकत्रीकरण की एक विराट् योजना बनायी। यथासमय इसे चैतन्यमहाप्रभु ने भी काफी व्यवस्थित किया और इस प्रकार ये स्वतः प्रेरित महाकुम्भ सफलतापूर्वक सम्पन्न होने लगे।

कालान्तर में ये महाकुम्भ भारतीय धर्मतंत्र के विराट् समारोह के रूप में परिणत हो गए। इनके समक्ष राजतंत्र फीके पड़ गए। कुम्भ के माध्यम से जो धर्म परिषदें गठित की गयीं, उन्होंने सुनियोजित रूप से स्वरक्षा (अमरतत्त्व) हेतु एक नये अध्यात्मदर्शन की श्रीवृद्धि की और दूसरी ओर भारतीय संस्कृति संस्कृति की रक्षा के लिए नागा नामक जुझारू संत-योद्धाओं के अखाड़ों की स्थापना की। जूना अखाड़ा, दशनामी, निरंजनी, आवाहन, आनन्द, अग्नि, अटल, उदासी, निर्मला, सिक्ख, वैष्णवविरागी, शैवनागा, दिगम्बरी, निर्वाणी जैसी अनेक पेशवाईयाँ इस उद्देश्य से स्वतः गठित हो गयीं। इनका संकल्प हो गया– प्राणार्पण करके स्वधर्म की रक्षा करना। इसी भावना का परिविस्तार गुरु गोविन्द सिंह ने सिक्ख खालसा पंथ द्वारा किया। इन्हीं की प्रेरणा से

अयोध्या, मथुरा आदि में वैष्णव भक्तों ने छावनियाँ बनायीं। आज भी नागा बनाने का कार्य महाकुम्भ में ही सम्पन्न होता है। वहीं महन्तों का चुनाव किया जाता है। वहीं सम्प्रदायों का पंजीयन होता है। तात्पर्य यह है कि धार्मिक प्रशासन का केन्द्र है महाकुम्भ।

महाकुम्भ का महाभाव है– वर्ण, जाति, वर्ग, क्षेत्र, भाषा आदि भेद भूलकर समग्र भारतीयता को वरण करना। महाकुम्भ हमें विचार-स्वातंत्र्य के साथ-साथ समन्वय, सर्वधर्म, समभाव, सहिष्णुता तथा 'विविधता में एकता का संदेश देता हैं। कुम्भ में पूरे भारत के रहन-सहन का परिचय मिलता है अर्थात् असली भारत की पहचान होती है। यहाँ दान को सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता है। संचय न करना और जरूरतमंदों के बीच अपने अर्जन का विसर्जन कर देना एक विशिष्ट धार्मिक समाजवाद है। कुम्भ में विभिन्न मत-मतान्तरों से सम्बन्धित मनीषियों के प्रवचन होते हैं और आध्यात्मिक साहित्य प्रसारित किया जाता है, जिससे जिज्ञासुओं का बौद्धिक विकास होता है। पर्यटकों को यहाँ कुतूहलजन्य आनन्द मिलता है। व्यापारियों को विपणन का लाभ मिलता है। किन्तु सर्वाधिक तो महाकुम्भ द्वारा जनजीवन में एक अकुंठ आस्था का संचार होता है। वस्तुतः कुम्भ में समवेत करोड़ों की भीड़ जन संपर्क विज्ञान के लिए एक पहेली है। विश्वशक्तियों के लिए यह आश्चर्य का विषय है कि सुविधापरस्ती, नास्तिकता एवं व्यक्तिवाद के इस दौर में निमंत्रण तथा प्रलोभन के बिना इतनी संख्या में आबालवृद्ध नर-नारी समुदाय कैसे एकत्र हो जाते हैं? वस्तुतः भारत एक विशाल महामानव सागर है, जिसकी एक गागर है महाकुम्भ। उसमें आस्था पूर्वक (सुस्थिर होकर) ही भारत की आत्मा का प्रतिबिम्ब देखा जा सकता है। जब तक कुम्भ चलेगा, हमारी संस्कृति और अमृतत्व की हमारी आस्था अक्षुण्य रहेगी। कुम्भ का अमृत छलकता रहे। उसमें स्नान कर हम दीर्घायुष्य प्राप्त करते रहें, त्रिविध तापमोचन करते रहें, किन्तु यह रीतने न पाए, इसलिए उसमें अपना-अपना भावामृत भरते रहें। यही महाकुम्भ का महाभाव होगा।

●

# शाहीस्नान : वैभव व अहंकार का प्रदर्शन

उदय प्रताप सिंह

ब्रह्मा के यज्ञ से उत्पन्न प्रयाग (इलाहाबाद) शताब्दियों से विश्व का सबसे बड़ा मानवधर्मी मंच बना हुआ है। एक स्थान और एक समय विशेष पर इतनी भारी संख्या में जुटने वाला मनुष्य समुदाय अन्यत्र दुर्लभ है। यह मानव समूह की सबसे बड़ी धर्म पंचायत है। यहाँ संतों, साधुओं, अखाड़ों व सम्प्रदायाचार्यों के स्वरूप को देखकर प्राचीन ऋषि पंचायतों का स्मरण हो उठता है। आस्तिकता, सामाजिकता व मनुष्यता का दिशाबोधक कुम्भ भारतीय संस्कृति की रीढ़ है। कुम्भ के अतिरिक्त गोलागोकर्ण, मिश्रिख, नैमिषारण्य और बक्सर में अतीत में होने वाले विमर्श भारत ही नहीं वैश्विक मानव-समाज का मार्गदर्शन करते रहे हैं। विमर्श और विनिमय की वह कालातीत भूमिका आज के मानव समाज के लिए अपहिरार्य हो गयी है। प्रयाग, उज्जैन, नासिक और हरिद्वार में शताब्दियों से आयोजित होते कुम्भ उसी सांस्कृतिक परम्परा के प्रतीक हैं।

कुम्भ और महाकुम्भ की कथा पौराणिक होते हुए भी इतिहास सम्मत है। भारतीय जीवन पद्धति को समझने में 'पुराणेतिहास' की महत्त्वपूर्ण भूमिका मानी जाती है। सागरमंथन की कथा को मानव-इतिहास का एक प्रवृत्तिपरक रूपक माना जाय तब भी ऐसी रुचिकर कथा विश्व साहित्य में नहीं मिलती। इस संदर्भ में सत्-असत् के बीच की टकराहट द्वारा देव-दानव के इतिहास की जो इतिवृत्तात्मक कथा बन पड़ी है उसका सीधा सम्बन्ध मनुष्य और कुम्भ दोनों से जुड़ता है। हमने इतिहास को तिथिपरक न बनाकर प्रवृत्तिपरक और कालनिरपेक्ष बनाया है। शताब्दियों पूर्व भारतीय मनीषा ने यह जान लिया था कि काल की कोई सीमा नहीं होती। उसमें मानवीय सत्ता, जीवन और उसकी गतिविधियाँ बुलबुलों सरीखी क्षणभंगुर दिखती हैं। इसलिए इन बुलबुलों का नामकरण, वर्णन या इतिहास किस अर्थ का? मृत्यु से पार पाना कठिन है इस सत्य का बोध हमारे पूर्वजों को था। सागरमंथन की कथा का निहितार्थ वस्तुतः अमरता की तलाश ही है। अमरत्व प्राप्ति की इच्छा मनुष्य की सर्वाधिक बलवती कामना होती है। भारत में वर्षों से चल रही अमरता की यह खोज विश्व मानव समुदाय में बहुत पहले ही चर्चा का विषय बन चुकी थी। सातवीं सदी में सम्राट हर्षवर्धन ने चीनी यात्री ह्वेनसांग को प्रयाग के कुम्भ में अकारण आमंत्रित नहीं किया था। हर्षवर्द्धन इस अमरत्व के

खोज का वर्णन, ह्वेनसांग द्वारा सम्पन्न करा कर विश्वस्तर पर कुम्भ के जीवन दर्शन का विस्तार करना चाहते थे। आदि शंकराचार्य ने इसी भावना को महत्त्व प्रदान करते हुए प्रयागस्थ कुम्भ को एक व्यवस्थित रूप प्रदान किया था।

सागरमंथन की परम्परा वस्तुतः ज्ञानमंथन का अभियान है। इसमें संतों, महंतों, सम्प्रदायों, अखाड़ों, तपस्वियों, आस्तिकों की भागीदारी होती है। तीन प्रमुख स्नानों– मकर संक्रांति, अमावस्या और बसंत पंचमी पर उमड़ने वाला जन सैलाब उन ज्ञान रश्मियों और अमृत बूँदों का साक्षात्कार करना चाहता है जो संगम में ही डुबकी लगाने से प्राप्त होती हैं। दुखद है कि इन लोकधर्मी अवसरों पर अखाड़ों की स्वेच्छाचारिता से जन-मन का आहत होना अब कुम्भपर्वों की परम्परा बनती जा रही है। पहले के पेशवाई जुलूस आज से पूर्णतः भिन्न हुआ करते थे। विशेष दिन व विशेष अवसर पर कुम्भ नगरी में जब इनका प्रवेश होता तो पहले से ही कुम्भ नगरों में 'रमतापंच' डेरा डाल देते थे जिसमें ऊँट, घोड़े, हाथी, बैलगाड़ी, खच्चर पर सामान लादकर एक बार ही कुम्भ नगर में प्रवेश करते थे। कमोवेश यह परम्परा १९७४ ई. तक चलती रही। इस दौरान जनता भी आसानी से कुम्भ में स्नान का लाभ उठाती रही। उस समय तक के संत-महंत, मीडिया और कैमरों से बचते-बचाते हुए कुम्भ स्नान करते थे। वे न विचित्र-चित्र छपने-छपाने में रुचि रखते थे, न अखबार में बयानबाजी करते थे। पर आधुनिकता के प्रभाव ने संतों को भी क्षरित किया है। उनके संतत्व पर प्रश्न चिह्न खड़ा किया है। अब अधिसंख्य साधु सम्प्रदायाचार्य पोज देकर फोटो खिंचवाते हैं। अन्दर से संतत्व का लोप होने के कारण प्रदर्शन पर बल देते हैं। बहुत तो धन-बल से हेलिकॉप्टर द्वारा स्वयं पर प्रसून वर्षा करवाकर 'अहो रूपमहो ध्वनिः' की कहावत चरितार्थ करते हैं। आधुनिकता की यह बयार भारतीयता के लिए न शुभंकर न श्रेयस्कर।

कुम्भ जैसे पवित्र पर्व पर न जाने कब से शाही स्नान की सामंती परम्परा चल पड़ी है। दिन-प्रतिदिन यह व्ययसाध्य बनती, वैभव का खुला आतंक उत्पन्न करती, विकृत होती चली जा रही है। विनम्रता, संयम, नियम और तपश्चर्या का उपहास करती शाही स्नान परम्परा अध्यात्म व लोक-कल्याण के मार्ग में बाधक बन बैठी है। कहना न होगा कि भावों की उदात्तता का शाहीपन जो वस्तुतः आराध्य के लिए विहित है वह तथाकथित संतों के लिए निर्धारित होता जा रहा है। शोभायात्रा में मंडलेश्वर, महामंडलेश्वर संत की वृत्ति से परे किसी अहंकारी राजा और सामंत के वैभवशाली प्रतिनिधि लगने लगे हैं। हाथी, घोड़ा, बाजा संस्थानों और संस्थाओं के जुटाये गये व्यक्तियों, विद्यार्थियों से भीड़ एकत्रित करने का मोह संतों को कहाँ ले जा रहा है? ऐसे संतों की यह सामंती प्रवृत्ति सच्चे संत-साधु के साथ आम श्रद्धालु को भी आहत कर

चुकी है। अब कुम्भ मेला का प्रेरक स्वरूप समाप्त होता जा रहा है। न महंत से संत प्रभावित है और न संत से गृहस्थ। अंदर की आध्यात्मिक ऊर्जा चुक सी गई है। अत: लौकिक प्रदर्शन व अहंकार बढ़ रहा है। मुख्य उद्देश्य से भटके शाही स्नान समर्थक संत, महंत और अखाड़े बैनर, पोस्टर, प्रचार व आत्मविज्ञापन में इतने उलझ गये हैं कि सधुआई और संतई उनके आगे विमूर्च्छित पड़ी है। मानव समाज की सबसे बड़ी पंचायत की यह अवदशा भारतीयता और आध्यात्मिकता के लिए अभिशाप बनती जा रही है।

कुम्भ मेले में साधु-समाज की स्थिति अजीब सी हो गयी है। शंकराचार्य, रामानंदाचार्य, जगद्गुरु जैसी सनातन उपाधियों के धारक स्नान से वंचित कर दिये जाते हैं। सम्पूर्ण मेला क्षेत्र पर अखाड़ों के महंतों का कब्जा हो जाता है। ज्ञातव्य है कि अखाड़ों की विभिन्न शाखाओं का गठन सम्प्रदायाचार्यों की सुरक्षा और धर्म की संरक्षा के लिए किया गया था। पर आज 'राम ते बड़ा राम करि दासा' की कहावत चरितार्थ हो रही है। धर्मधुरीण संतों को अखाड़ों के आतंक परास्त कर चुके हैं। विकृत गृहस्थ जीवन से भी कई गुनी अधिक अनुशासन हीनता अधिसंख्य संतों को गर्हित बना चुकी है। यह तो उसी प्रकार की बात हुई जैसे कोई फौजी शासक लोकतांत्रित ढंग से चुने राष्ट्रप्रमुख को अपदस्थ कर सत्ता की बागडोर अपने हाथ में ले ले। ऐसे स्वनामधन्य महंतों, संतों के बीच सम्प्रदायाचार्यों की स्थिति 'जिमि दसनन बिच जीभ बिचारी' जैसी हो गयी है। धर्म क्षेत्र में यह स्वेच्छाचारिता कितनी आश्चर्यजनक और भयानक है। अरबों रुपयों से मेला का प्रबंधन करती सरकार न जाने क्यों धर्म में अधर्म का यह खेल देख चुप रह जाती है। कुम्भ मेला में भूमि का पूर्ण स्वामित्व प्रदेश सरकार का होता है पर उसकी आमदनी से लाल होते दिखते हैं– अखाड़ों के महंत। एक ही भूमिखण्ड अनेक बार गुलामयुगीन आदमी की तरह बिकती रहती है। चरित्र की यह गिरावट किस गृहस्थ को प्रभावित कर सकेगी? धर्माचार्यों की उपेक्षा, अनादर और कई अखाड़ों की बाहुबली प्रवृत्ति का प्रदर्शन आज सरकार, संत और समाज के समक्ष एक अनुत्तरित प्रश्न बन कर रह गया है! इसका समाधान कौन करेगा? क्या महाकुम्भ में इन 'जिद्दी दागों' को धुलने का प्रयास होगा? आश्चर्यजनक लगता है कि जहाँ चरित्र बनना चाहिए वहाँ उसके पराभव के अनेक रास्ते मुँह बाए खड़े हैं। जहाँ अनुगामी प्रसन्न होने चाहिए वहाँ खिन्न होने लगे हैं।

अब कुम्भ के मेले में सेवक भाव मिट गया है। जितना ही अधिक वैभव उतना ही बड़ा महंत। न आराध्य का पता है, और न आराधक का। यह कितनी बड़ी बिडम्बना है कि धर्म के पवित्र क्षेत्र में पैसे के बल पर उपाधियाँ उसी प्रकार बिक रही हैं जैसे सरकार में मंत्री बिकते हैं। नकली रुपये से नकली धर्माचार्य, शंकराचार्य से

जगद्गुरु तक, मंडलेश्वर से महामंडलेश्वर तक, संत से महंत तक वैभव के क्रीतदास बनकर रह गये हैं। पद से पदार्थ जुड़ा है अतः यह सब खेल चल रहा है। सच्चा साधु नींव की तरह अदृश्य है, कच्चा साधु प्रासाद की तरह प्रकट है। तुलसीदास को इसका आभास था। उनका कलियुग वर्णन इसी पर मुहर लगाता है। सभी कुम्भों के मेले नकली महंतों की लहलहाती फसलों के उर्वर क्षेत्र बनते जा रहे हैं। सामूहिक सोच, जीवन चर्चा और धर्म चर्या गायब हैं। भंडारा, महंती और प्रदान नहीं 'दान' में पूरा समय बीत रहा है। न भजन है न भाव और न भगवान् हैं। कुभाव चारों ओर फैला है। 'सूप स्वभाव' वाले संत का अंत हो गया है। 'सार-सार को गहि रहै' वाली उक्ति विलुप्त हो गई है। 'जो सुख साधू संग में सो बैकुंठ न होय' का भाव मर गया है। नामरूपी साधना के सार को भूलकर थोथी-भौतिक सम्पत्ति पर महंत कुर्बान हो रहा है। बाजारवाद का प्रभाव संत और महंत पर गहरा दिख रहा है। इससे तो बेहतर पश्चिम का भौतिक चिंतन है जो मानव के सांसारिक विकास को ही महत्त्व प्रदान करता है। इससे लाख गुना श्रेयस्कर प्रयाग में कल्पवासियों की साधना है। हजारों गुना अच्छा गृहस्थ है जो भौतिक जंजाल से निकलते ही धार्मिक बन जाता है। दरवाजे पर आये अतिथि को भगवान् मानता है। अपनी कमाई से यथासम्भव संत और अभ्यागत की सेवा करता है।

भिन्न-भिन्न अखाड़ों के विभिन्न भेष-भूषा वाले संत, महंत सांसारिकता में ऐसे लिप्त दिखने लगे हैं जैसे कोई मायावी गृहस्थ हो। नागा बनाने की प्रक्रिया धनबल पर चल रही है। यज्ञादि में, धार्मिक उत्सवों में 'बड़ी सेवा' करने वाले ही 'बड़े भक्त' कहे जा रहे हैं। समानता मिट रही है, समदर्शिता धूमिल हो रही है। एक नये प्रकार का सामंत वर्ग (नकली महंत) खड़ा हो रहा है। करुणा अपना अर्थ खो रही है, दया सिमट रही है, भक्तजन समाप्त हो रहे हैं, 'परिवारी जन' बढ़ रहे हैं। धर्म के क्षेत्र में जातिवाद, राजनीति से कम नहीं हैं। धर्म का पवित्र क्षेत्र राजनीति की दुरभिसंधि से ग्रस्त बनता जा रहा है। अनेक संतों-सम्प्रदायों के सम्बन्ध कई राजनीतिक दलों से जुड़े हैं। इससे धर्म का मुख्य स्वर दब गया है। कई भोले-भाले संत इन राजनीतिक षड्यंत्रों के शिकार भी हो रहे हैं। भाई-भतीजा और स्वजातीय जन मठों-सम्प्रदायों के उत्तराधिकारी बनाए जा रहे हैं। महंती अब संतई से नहीं धनबल और बाहुबल से चल रही है। रामजन्म भूमि आंदोलन को शक्तिहीन करने में राजनीतिक षड्यंत्र के स्पष्ट संकेत प्राप्त होते हैं। एक सर्वेक्षण के अनुसार उस समय अयोध्या का संत समाज अगड़ी और पिछड़ी जातियों में विभक्त हो चुका था।

आज साधुता की पारम्परिक छवि मैली होने लगी है। चमत्कार को महत्त्व मिल रहा है। स्वनामधन्य सम्प्रदायाचार्यों की बाढ़ आ गई है। आश्चर्य है कि धर्म की इतनी

बड़ी पंचायत में इन विकृतियों पर चर्चा तक नहीं होती। शानो-शौकत से शाही स्नान के रथ निकाले जा रहे हैं। धर्म का रथ भ्रष्टाचार तथा प्रदर्शन के कीचड़ में उलझ कर रह गया है। 'समष्टि' में भले ही दस-बीस लाख लग जाय कोई अंतर नहीं। राष्ट्रीयता, सामाजिकता और आध्यात्मिकता की चर्चा शास्त्रों के पन्नों में सिमट गयी है। बड़े-बड़े आश्रम और अखाड़े विकृत गृहस्थाश्रम की शक्ल पकड़ रहे हैं। वहाँ लाइसेंस है यहाँ बिना लाइसेंस के ही सबकुछ हो रहा है।

युग के प्रभाव और समय के दबाव में हिन्दू जीवन पद्धति का परिवर्तनकामी स्वर जड़वत् हो गया है। आज मनु, याज्ञवल्क्य और चाणक्य जैसे आचार्य की शिक्षाएँ कहाँ गुम हो गई हैं? विश्व गुरुत्व और विश्वबंधुत्व की श्रेष्ठताएँ किस कुहेलिका में धूमिल हो गई हैं? आपसी सौमनस्य प्रयाग में प्राप्त होने वाली भूमिखण्ड के लिए क्यों तार-तार हो रहा है? क्या राजनीति की अराजकता धार्मिक क्षेत्र में भी पाँव जमा चुकी है? क्या अहमन्यता ही धर्माचार्यों की पहचान बन गई है। इन प्रश्नों का उत्तर कुम्भ क्षेत्र का जनमानस खुले मंच से सुनना चाहता है आस्थावान कल्पवासी धर्माचार्यों के इस प्रतिवर्ष घटित होते वितंडा से खिन्न है। हे! कुम्भ क्षेत्र में उपस्थित धर्माचार्यों आप का क्या मत है? क्या योजना है?

प्रति छह वर्ष पर कुम्भ और बारह वर्ष पर लगने वाले महाकुम्भ में सनातन धर्म के इन ज्वलंत प्रश्नों पर बहस क्यों नहीं होती? उन धनहीन पर साधता संपन्न भक्तों को संत क्यों नहीं माना जाता जो अहर्निश प्रभुचिंतन में निमग्न रहते हैं। अखाड़ों द्वारा बनाई गई सदियों पूर्व की नियमावली नये युगानुकूल क्यों नहीं प्रस्तुत की जाती? संतों की संख्या का ह्रासोन्मुखी होना, आचार का, विचार का पतनोन्मुखी होना भारतीय समाज का विभिन्न रूपों में बिखरना क्या चिंताजनक नहीं है? शाहीस्नान के संचालकों को इस पर भी चिंतन करना चाहिए।

वर्ष २०१३ का महा-कुम्भ संतों, श्रीमहंतों, अखाड़ा के झंडाबरदारों और 'स्वयंभू' भगवानों को एक अवसर दे रहा है अहंकार प्रदर्शन के विलोपन का वैभव के मद के शमन का, आचार-विचार के परिमार्जन का।

आइये, अमृतत्त्व की प्राप्ति हेतु संत-महंत तो संगम में डुबकी लगाये हीं आमजन भी स्वतंत्रता पूर्वक स्नान कर सकें हम ऐसा वातावरण बनाने का संकल्प लें। कुम्भ तो नर के नारायण से मिलने का ही महापर्व है।

●

# कुम्भ पर्व : तत्व और राष्ट्रीय एकता

## (पूर्वोत्तर भारत के परिप्रेक्ष्य में)

**डॉ. देवेनचन्द्र दास 'सुदामा'**

उपनिषद् के ऋषि ने कहा था– 'शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः' इससे भारतीय सभ्यता और संस्कृति की व्यापकता प्रमाणित होती है। भारतीय संस्कृति संसार के प्रत्येक मनुष्य को अमृत पुत्र घोषित करती है। इसमें कोई भिन्नता नहीं, सब अमृत की सन्तान हैं। इस दृष्टि से हर मनुष्य अमृत का कुम्भ है ऐसा आभास होता है। इसका अन्य प्रमाण उपनिषदों के चार तत्व हैं– १. तत्वमसि, २. अहं ब्रह्मास्मि, ३. सर्व खल्विदं ब्रह्म और ४. सोऽहं।

कुम्भ पर्व के साथ अमृत जुड़ा हुआ है। अमृत का कुम्भ और कुम्भ में अमृत? कौन सत्य है? इस कुम्भ में अमृत खोजते हैं, किन्तु अमृत का कुम्भ कहाँ है, यह नहीं जानते हैं। बाहर भटकते ही रहते हैं। क्या संसार में ऐसी कुछ वस्तुएँ हैं, जिसे पी लेने पर मनुष्य अमृत अर्थात् अमर बन जाता है? आज तक इस प्रकार की वस्तु का आविष्कार नहीं हुआ। फिर भी भारतीय संस्कृति अमृत को इतना अधिक महत्व क्यों देती है। अमृत का अस्तित्व है, परन्तु पदार्थ के रूप में नहीं, तत्व के रूप में अनादि काल से भारत में "कुम्भ पर्व हरिद्वार, प्रयाग, उज्जैन और नासिक में उद्घाटित होता आया है। इन चार क्षेत्रों में बारह वर्षों के अन्तराल में कुम्भ पर्व धूम-धाम से मनाया जाता है। करोड़ों लोग गंगा-यमुना सरस्वती के संगम, शिप्रा और गोदावरी में स्नान कर अपना जीवन सार्थक करते हैं। कुम्भ परंपरा के अनुसार १४४ वर्ष बाद एकबार महाकुम्भ होता है। गत २०१० ई. में हरिद्वार में महाकुम्भ सम्पन्न हुआ, जहाँ करोड़ों लोगों ने गंगा में स्नान किया। कुम्भ पर्व पर स्नान करना सनातन हिन्दू अत्यन्त सौभाग्य का विषय मानता है। शास्त्रों में इस स्नान की महिमा का विस्तृत वर्णन है; परन्तु ये सभी विश्वास के आधार पर ही निर्भर हैं। असमीया में एक कहावत है– 'विश्वासे मिलय हरि तर्के बहुदूर।' अर्थात् विश्वास से ही हरि प्राप्त होता है और तर्क से दूर भागता है। भारतीय धर्म और संस्कृति व्यापक और उदार है क्योंकि इसका आधार है 'एक'। यह एक ही सर्वोपरि है। संसार के सभी तत्व एक पर ही टिके हैं। आज के भौतिक विज्ञान का मूलाधार भी

* हिन्दी-असमीया के विद्वान्, अनेक पुरस्कार और सम्मान प्राप्त, गुवाहाटी, असोम।

एक है। सूक्ष्म एक को तीन भागों में विभाजित किया गया–

प्रोट्रान, इलेक्ट्रॉन और निउट्रान। हमारे सूक्ष्मदर्शी ऋषियों ने लाखों वर्ष पहले सर्वव्यापी एक सूक्ष्म शक्ति को तीन भागों में 'अ-उ-म' में विभाजित कर रखा था। इन तीनों को गुण भी कहा जाता है– सत्, रज और तम। भारतीय धर्म का बीज इनमें निहित है। परन्तु यह भी देखना है कि इन तीनों को जबतक एक करके देखा और परखा नहीं जाता तब तक एक तत्व का अनुभव नहीं हो सकता। इन तीनों का समन्वय ही ॐ कार है। ब्रह्म है वेदों का बीज यानी पिता है।

ऋग्वेद को संसार का आदि ग्रंथ माना जाता है। ऋग्वेद में अनेक देवी-देवताओं की स्तुति-प्रशस्ति तो हैं, परन्तु उनमें भी केन्द्रीय शक्ति को सर्वोपरि माना गया है– "एकं सद् विप्रा बहुधा बदन्ति..."। इस एक में भारतीय सभ्यता, संस्कृति और धर्म का एकत्व निहित है।

इतना होते हुए भी भारतीय समाज ऊँच-नीच, दलित-पूजित, स्पृश्य-अस्पृश्य इत्यादि व्याधि से पीड़ित है। जिसके कारण एक के स्थान पर अनेक का अधिकार हो गया। एकता के बदले अनेकता का बोलबाला हुआ। कुछ स्वार्थी-धर्मध्वजी कथित पण्डितों ने इस प्रकार की अनेकता की व्याधि समाज में फैला कर भारत का सत्यानाश करने का मार्ग प्रशस्त कर दिया है। जिसका लाभ भारतीय धर्म-संस्कृति विरोधी उठा रहे हैं। ऐसी स्थिति में भी कुम्भ पर्व भारतीय समाज को एक सूत्र में बाँधने का काम युगों से करता आया है। कुम्भ के साथ समुद्र मंथन की कथा जुड़ी हुई है। मंथन के बिना अमृत निकलना संभव नहीं है। मंथन के बिना दूध से घी भी नहीं निकलता है। कहानी में एक पदार्थ रूप अमृत (अमृत से भरा हुआ कुम्भ) निकला था। समुद्र मंथन देवता और असुरों ने मिलकर किया। देवता और असुरों में विवाद भी हुआ। कथा के अनुसार अमृत का कुम्भ देवराज इन्द्र का पुत्र लेकर भाग गया। जहाँ जहाँ ज्योतिष के आधार पर कुम्भ रखा था वहाँ-वहाँ उस समय कुम्भ पर्व प्रगट होता गया।

अमृत मंथन क्षीर सागर में हुआ था। क्षीर-सागर हमारे शरीर में ही है। हमारे अन्दर जो दैविक और आसुरी शक्तियाँ हैं दोनों को मिलाकर हृदय में स्थित क्षीरसागर का जबतक मंथन नहीं किया जाएगा तब तक अमृत कुम्भ हाथ नहीं लगेगा। संसार में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जिसका विनाश न हो। अमृत तो एक प्रकार का तत्व है, जो हमारे शरीर में स्थित है। भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा था–

**अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।**
**विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ।।**

गीता-२/७

अर्थात् जो सारे शरीर में व्याप्त है उसे ही तुम अविनाशी समझो। उस अव्यय आत्मा को नष्ट करने में कोई भी समर्थ नहीं है।

हमारे शरीर रूप कुम्भ में जो आत्मारूप अमृत है उस अमृत को खोज निकालना ही समुद्र मंथन है। उस अमृत को खोजकर निकाले बिना समुद्र मंथन का कार्य पूर्ण नहीं होता। इसके लिए हमारे अन्दर स्थित दैवी और आसुरी शक्ति को काम में लगाना ही पड़ेगा। कुम्भ पर्व में आकर साधु-संत-महात्माओं से हमारे अन्दर स्थित अमृत खोजने की शिक्षा लेना ही इस पर्व का उद्देश्य है। कुम्भ में स्नान-दर्शन करना सर्वश्रेष्ठ तीर्थाटन है। तीर्थाटन का उद्देश्य है साधु संग (सत्संग) तथा परमेश्वर का स्मरण चिन्तन तेज करना। 'तीर्थानां च परं तीर्थ कृष्णनाम महर्षय।'

सन्त कबीर ने कहा था–

**तीरथ गए तो एक फल, सन्त मिले फल चार ।**
**सत्गुरु मिले अनेक फल कहे कबीर विचार ।।**

स्कंद पुराण में उल्लेख है–

**सत्यं तीर्थ क्षमा तीर्थ तीर्थमिन्द्रिय निग्रहः ।**
**सर्व भूतया तीर्थ तीर्थमार्जवमेव च ।**

अर्थात् दया तीर्थ है, इन्द्रिय पर नियंत्रण तीर्थ है, सब प्राणियों पर दया करना तीर्थ है।

यह भी उल्ल्ेख है कि दान भी तीर्थ है, मन का संयम तीर्थ है, सन्तोष तीर्थ है, ब्रह्मचर्य परम तीर्थ है। प्रियवचन बोलना भी तीर्थ है। इसके बदले यहाँ तक कहा गया है कि यदि भीतर का भाव शुद्ध नहीं होता तो दान, जप, तप, शौच, तीर्थ सेवन, शास्त्र श्रवण और स्वाध्याय सब अतीर्थ हो जाते हैं।

आज के सामाजिक और राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में ये बातें अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा प्रासंगिक हैं। आधुनिककाल में देश के अनेक लोग अन्याय, भ्रष्टाचार आदि दुष्कार्य कर स्वार्थ सिद्ध कर रहे हैं। छल-बल-कौशल से देश को लूट रहे हैं। इनमें अधिकाधिक शिक्षित हैं, विद्वान् भी हैं। ऐसे दुष्ट बुद्धि के लोग पूजा अर्चना करते हैं, दान-धर्म भी करते हैं, तीर्थाटन के लिए भी निकलते हैं, परन्तु उन लोगों को पता ही नहीं कि किसी भी धार्मिक कार्य करने का अधिकार उनको नहीं है। वे ये कार्य करते भी हैं तो निष्फल ही नहीं होता है। 'देवी-भागवत' में स्पष्ट रूप से उल्लेख है–

**अन्यायोपार्जितनैव द्रवेत्रण सुकृत कृतम् ।**
**न कीर्तिरिहलोके च परलोके न तत्फलम् ।।**

अर्थात् अन्यायोपार्जित द्रव्य (धनादि) के द्वारा जो कुछ पूज्य कार्य (धार्मिक कृत्यादि) किया जाता है। उन सब से इहलोक या परलोक में कुछ भी फल मिलनेवाला नहीं है। अन्यत्र भी कहा गया है कि उन कर्मों से जो फल उत्पन्न होगा उन लोगों को

प्राप्त होगा, जिन लोगों से धन छीन कर लाया गया था। दुष्कार्य करनेवालों को कर्म के अनुसार पापों का फल भोगना भी पड़ेगा; क्योंकि कर्म का फल भोगना अनिवार्य है। इसलिए जबतक सद्भावना के साथ व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और विश्वकल्याण के उद्देश्य से काम नहीं करेगा तब तक किसी भी धार्मिक कार्य, तीर्थाटनों से कुछ पुण्यफल की प्राप्ति असंभव है।

संगम में डुबकी लगाना और स्नान करना अलग बात है। डुबकी तो मेढक भी लगाता है, जलचर प्राणी जल में ही रहता है। स्नान सिर्फ मनुष्य ही कर सकता है। स्नान का अर्थ है दैहिक, मानसिक और आध्यत्मिक रूप से शुद्ध या स्वच्छ होना। डुबकी तो सभी लगा सकते हैं, लेकिन स्नान? इसके साथ संकल्प और मंत्र की आवश्यकता होती है। स्नान के पहले हाथ में जल लेकर संकल्प करता है कि शरीर, मन और आत्मा की मलिनता, कलुषता साफ हो जाय, आगे इस मलिनता-कलुषता से प्रभावित होकर कुछ नकारात्मक कार्य करने की इच्छा न रहे। मंत्रोच्चारण सहित डुबकी लगाकर तर्पण करें। स्नातक हमारी शिक्षा में एक पर्याय है। शिक्षा का उद्देश्य है शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक स्तर को विकसित करना, मलिनता, कलुषता को बाहर निकालना, अपने बाहर भीतर के सभी प्रकार की दुष्प्रवृत्तियों को दूर भगाना। यदि कोई 'स्नातक' बनकर भ्रष्टाचार हिंसा हत्या लुण्ठन आदि दुष्कार्यों में लिप्त हो जाय, तो स्नातक की कोई सार्थकता नहीं रहेगी।

इतना होते हुए भी कुम्भ पर्व भारतीय राष्ट्रीय एकता के अपूर्व पर्व के रूप में आज भी प्रोज्ज्वल है। राष्ट्रीय एकता का प्रतीक है; क्योंकि कुम्भ में सभी संप्रदायों के लोग खुले मन से सम्मिलित होकर अपने को कृतार्थ करते हैं। इसमें ऊँच-नीच, छुआ-छूत, दलित-पूजित का कोई भेदभाव नहीं रहता है। इसलिए भारतीय सभ्यता संस्कृति और धर्म के लिए कुम्भ एक अपूर्व पर्व माना जाता है।

## पूर्वोत्तर के परिप्रेक्ष्य में

उत्तर भारत में कुम्भ पर्व अनादि काल से मनाया जाता है। इसके अनुरूप दक्षिण में भी कुम्भ का आयोजन होता है। इसके लिए एक स्थान विकसित कर लिया गया है। जिसका नाम 'कुम्भकोणम्' है। पूर्वोत्तर भारत का प्रमुख नद है ब्रह्मपुत्र। इस महानद की उत्पत्ति के साथ अमोघा शान्तनु, ब्रह्मा और परशुराम के नाम जुड़े हुए हैं। अनादि काल से इस प्रान्त के लोग दिन विशेष में दो बार ब्रह्मपुत्र स्नान को पुण्यफलदायक मानते हैं। हर वर्ष मकर संक्रांति के दिन से एक महीने तक परशुराम कुण्ड (ब्रह्मपुत्र) में स्नान करने के लिए देश के विभिन्न प्रांतों से हजारों लोग आते हैं। परशुराम कुण्ड वर्तमान अरुणाचल प्रदेश के अन्तर्गत है। प्रदेश सरकार इस पावन पर्व को सुचारु रूप से सम्पन्न करने के लिए अच्छी व्यवस्था करती है। इस पवित्र जलाशय में स्नान करने का अलग मंत्र है–

**ब्रह्मपुत्र महाभाग शान्तनु कुलनन्दनः ।**
**अमोघा गर्भसम्भूत पापं लौहित्य मे हरः ।।**

इसके अतिरिक्त वसन्त काल के राम नवमी के पहले दिन, जिसको सीताष्टमी या अशोकाष्टमी भी कहा जाता है, उसदिन भी ब्रह्मपुत्र स्नान को बहुत महत्वपूर्ण माना जाता है। शास्त्र में वर्णित है कि उस दिन संसार के सभी पवित्र सागर नद-नदियों का जल ब्रह्मपुत्र में समाहित हो जाता है, जिसके कारण उस दिन ब्रह्मपुत्र स्नान से सर्वतीर्थ स्नान का फल प्राप्त हो जाता है-

**पृथिव्याम यानि तीर्थानि सरिता सागरद्ध्या ।**
**सर्वे लोक्यम् आयन्ति चैत्रमासि सीताष्टमी ।।**
**चैत्रमासिक सिताष्टम्यं यो नरो नियतेन्द्रियः ।**
**स्नाति लौहित्यतोयेषु स जाति ब्रह्मणः पदम् ।।**

वर्तमान पूर्वोत्तर भारत सात प्रदेशों में विभाजित हैं- असम, अरुणाचल प्रदेश, नागालैण्ड, मिजोराम, मणिपुर, मेघालय और त्रिपुरा। इन सभी राज्यों के श्रद्धालु अन्ततः एक बार कुम्भ (विशेष रूप से हरिद्वार और प्रयाग में) में स्नान कर अपना जीवन सार्थक करना चाहते हैं। मानव जीवन का उद्देश्य हैं-

**असतो मा सदगमय तमसो मा ज्योतिर्गमय ।**
**मृत्युर्माअमृत गमय ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।।**

## सन्दर्भ ग्रन्थ

१. ऋग्वेद
२. १०८ उपनिषद् ३. श्रीमद्भगवद्गीता
४. श्रीमद्भागवत पुराण
५. स्कन्दपुराण
६. असमा सुषमा कामरूपा
७. कुम्भ माहात्म्य
८. कुम्भ स्नान प्रसंग
९. अमृत तत्व का अनुसंधान
१०. अध्यात्म संस्कृति की रूप रेखा
११. देवी भागवतम्

●

# मानव-संस्कृति का संरक्षक : कुम्भ पर्व

प्रो. वेदप्रकाश शास्त्री *

देश तथा विदेश में निवास कर अपनी जीवन यात्रा के विविध आयामों के साथ जीवन को उन्नत करने की भावना से धर्म के प्रति आस्था रखने वाले करोड़ों मनुष्य अध्यात्म ज्ञान की गङ्गा में स्नान करके जीवन को धन्य करते हैं। इसके निमित्त कभी उज्जयिनी, कभी नासिक, कभी हरिद्वार तो कभी प्रयाग में लगने वाले कुम्भ में महास्नान करते हैं। शिप्रा गोदावरी इत्यादि पवित्र नदियों में तो लोग स्नान करते ही रहते हैं। कुम्भ और कुम्भी पर्वों पर स्नान का कुछ और ही माहात्म्य होता है। शास्त्रीय ग्रन्थों में सूक्ष्मता से विचार करें तो कुम्भ पर्व का महत्व आध्यात्मिक पक्ष के साथ अधिक संयुक्त है। क्योंकि अमृत कलश की बात आती है तो अमृत का आशय ज्ञानामृत से है। ज्ञानामृत रस के लिए ही व्यक्ति तीर्थ स्थलों पर जाता है क्योंकि महात्मा, तपस्वी, ज्ञानी, ब्रह्मवेत्ता, परिव्राजक, आचार्य, गुरु ये सभी तीर्थ कहे जाते हैं। इनके कारण ज्ञानामृत रसधार बहने के कारण प्रमुख नदियों के भौगोलिक क्षेत्र भी तीर्थ कहे जाते हैं। पर्व के कारण ही तीर्थों का महत्व है क्योंकि उस समय ज्ञानस्वरूप संन्यासी, विद्वज्जन वहाँ उपस्थित रहते हैं।

मानव जीवन में संगठन का महत्व है। एक प्रकार से समग्र राष्ट्र को संस्कृति के प्रति, अध्यात्म के प्रति, पारस्परिक सौहार्द के प्रति नैतिकता के प्रति देशभक्ति के प्रति धर्म तथा धर्मशास्त्रों के प्रति, ब्रह्मराशि वेदोपनिषद् तथा पुराणों के प्रति श्रद्धावान करने के लिए कुम्भ पर्व अति विशिष्ट पर्व है। समग्र भारत को एक सूत्र में आबद्ध करने के लिए उत्तर भारत में दो स्थानों को परम पवित्र तथा आकर्षक स्थान मानकर कुम्भ स्थान के रूप में तथा दक्षिण भारत में दो स्थानों को कुम्भ स्थल के रूप में आदिम परम्परा के साथ माना जाता है। उत्तर भारत में हरिद्वार तथा प्रयाग और दक्षिण भारत में उज्जैन तथा नासिक हैं। ये विशिष्ट पर्व इस मुख्य प्रयोजन से मनाए जाते थे या मनाए जाते हैं कि इन विशेष पर्वों पर विभिन्न स्थानों से साधु, सन्यासी, योगी, विद्वान्, उच्चकोटि के साधक परम तपस्वी ज्ञानीजन तथा मनीषी उत्तम कोटि के उपदेशक तथा आचार्यगण अपने ज्ञानोपदेश के द्वारा सामान्य जनता का मार्ग दर्शन करें जिससे कि

* महामहोपाध्याय, पूर्व आचार्य एवं उपकुलपति गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वारम् (उत्तरांचल)

जनता उनके ज्ञानामृत का पान कर अमरता के मार्ग पर चले और जीवन को सार्थक कर सके।

विद्वानों द्वारा कुम्भ का निर्वचन की पद्धति से किया गया अर्थ हृदय ग्राह्य है। जैसे– **कुः पृथिवी उम्भयतेऽमुगृह्यते उत्तमोत्तममहात्मसङ्गमैः तदीय हितोपदेशैः यस्मिन् स कुम्भः।** अर्थात् महात्माओं के सामीप्य से तथा उनके सदुपदेशों द्वारा पृथिवी अनुगृहीत होती है। इसी कारण से उसे कुम्भ कहा जाता है।

कुम्भ पर्व पर आने वाले श्रद्धालुजन यहाँ पावन जल में स्नान करे **"अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति"** जहाँ अनेक प्रकार से लाभ शारीरिक प्राप्त करते हैं वहीं महात्माओं के दिव्य उपदेश को सुन अपने को धन्य मानकर जीवन की दोषमयी परम्परा से मुक्त हो मानवीय गुणों को जीवन में धारण कर सफल होते हैं। इसीलिए कुम्भ पर्व की विशेषता को दर्शाते हुए कहा गया है– कि **" कु कुत्सितं उम्भति दूरयाति जगद्हितायेति वा कुम्भः"** अर्थात् कुत्सित दोषों को जो जगत् कल्याण की भावना से दूर करके गुणों को प्रदान करता है उसी को कुम्भ कहते हैं। इसी प्रकार कुम्भ पर्व की महत्त्वपूर्ण व्याख्या की गई है– **"कुं पृथिवीं उम्भति तेजोवर्धनेनेति वा कुम्भः।"** अर्थात् जो पृथिवी को मङ्गलमयता तथा सम्मान से भरपूर करता है जो पृथिवी पर रहने वाले कुम्भ पर्व पर आते हैं उनको सुख वृद्धि तथा तेज से प्रदीप्त कर आगे बढ़ाता है। अर्थात् जिन पर्वों के द्वारा राष्ट्र समृद्धि, राष्ट्र-भावना, विश्व बन्धुत्व की भावना समष्टि समभाव सभी में अपने को देखना, किसी से वैर न करना इत्यादि धार्मिक भाव उत्पन्न करके सरस, सरल तथा दीर्घजीवी बनाकर परमार्थ की ओर प्रेरित किया जाता हैं उसमे प्रमुख कुम्भ पर्व हैं।

## वैदिक परम्परा में कुम्भ

वेद में जो सदा सत्य सनातन है उसके लिए अर्थवेद में कुम्भ शब्द का प्रयोग कलश के अर्थ में किया जाता है। अर्थवेद के काल सूक्त में पूर्ण कुम्भ का संकेत प्राप्त होता है। प्रस्तुत कुम्भ के विषय में कुम्भ पर्व को अनेक प्रकार से व्याख्यायित किया है। यह कुम्भ काल रूप में वर्णित है। एक मन्त्र में कुम्भ को तीन लोकों का पालक कहा गया है जो संसार में व्याप्त है और इससे बढ़कर कोई तेज नहीं है। इस प्रकार से चिन्तन करने पर कहा जा सकता है कि व्याप्त कालचक्र को पूर्ण कुम्भ कहा गया है। यह बारह राशियों में होता हुआ पूर्ण होता है। अतः पूर्ण कुम्भ का समय १२ वर्ष निर्धारित किया गया है। यह काल रूपी कुम्भ दिन-रात पक्ष मास ऋतु वर्ष आदि के अनेक रूपों में सत्तावान हैं तथा यह काल चक्र तो संसार का पालक है। अर्थववेद का मन्त्र निम्न प्रकार से है–

**पूर्णः कुम्भोऽधिकाल अहितस्तं वै पश्यामो बहुधा नु सन्तः।**
**स इमा विश्वाभुवनानिप्रत्यङ्कालं तमाहुः परमे व्योमन्।।**
–अथर्व १९, ५३, ३

अथर्ववेद के एक मन्त्र में कुम्भों को चार स्थान पर रखने का वर्णन संप्राप्त है जिससे चारों स्थानों पर होने वाले कुम्भ पर्व की वैदिक प्रामाणिकता तथा प्राचीनता एवं सनातनता अभिहिता होती है–

**चतुरः कुम्भाश्चतुर्धा ददामि, क्षारेण पूर्णो उदकेन दध्ना।**
**एतास्त्वाधारा उपयन्तु सर्वाः, स्वर्गे लोके मधुमत्पिन्वमानाः।।**
–अथर्व ४, ३, ४, ७

इस मन्त्र की आध्यात्मिक तथा दार्शनिक व्याख्या करते हुए योगावस्था से संयुक्त करके मानव शरीर को एक पूर्ण कुम्भ का रूप दिया गया है। शरीर में योगियों की मान्यता के अनुसार चार स्थल हैं जहाँ सोमामृत से पूर्ण कुम्भ किये जाते हैं या वहाँ चार कुम्भ माने जाते हैं। साधना के माध्यम से इन चारों स्थानों को प्रबुद्ध किया जाता है तथा वहाँ से निःस्यन्दित होने वाले अमृत रस का चिरंयावत् पान किया जाता है। इससे मानव को मोक्ष प्राप्त होता है। अथर्ववेद के ब्रह्मौदन सूक्त में चार स्थानों पर कुम्भ रखने का वर्णन मिलता है। इस विषय में चिन्तन पूर्वक कहा गया है कि दुग्ध अमृतादि से परिपूर्णता को प्राप्त है। इस अमृत तत्त्व से युक्त ये चार स्थान अमृत कलश या कुम्भ के हैं। इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि योगीजन स्थान ब्रह्मरन्ध्र या सहस्त्रार चक्र (सिर के सर्वोपरि भाग में ज्ञान तन्तु के केन्द्र) में मनाते हैं। द्वितीय स्थान आज्ञाचक्र (भृकुटि के मध्य में ज्ञान नेत्र का केन्द्र) माना गया है। तृतीय स्थान अनाहत चक्र (हृदय में नाभि १२ अंगुल ऊपर) माना गया है। चतुर्थ स्थान मणिपूरचक्र (नाभि में) माना गया है।

यद्यपि मानव शरीर में योगियों ने वेद मन्त्र में प्रयुक्त **"अष्टचक्र नव द्वारा देवानां पूरयोध्या"** आधार पर योगाभ्यास से अनुभूतावस्था में आठ चक्रों को माना है परन्तु उन आठ में से चार स्थान मुख्यतम हैं क्योंकि इन स्थानों पर नाड़ी तन्तुओं के संस्थान हैं। 'ये चार चक्र ही मानव में समग्र ऊर्जा के स्त्रोत तथा केन्द्र हैं। इन स्थानों पर अमृत केन्द्रित है। योगीजन साधना के द्वारा इन केन्द्रों को प्रसुप्तावस्था में ले जाकर अमृत तत्त्व का पान करके ब्रह्मानन्द का अनुभव करते हैं। उपनिषदों में इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया हैं। उपनिषदों में स्पष्ट वहाँ वर्णन है कि प्राणायाम ध्यान आदि तथा मूलबन्ध उड्डयानबन्ध तथा जालन्धर बन्ध इन तीन त्रिबन्धों के द्वारा शक्ति के स्त्रोत स्वरूप में विद्यामान इन चार चक्रों को प्रबुद्ध किया जाता है फलस्वरूप मूर्धा के अन्तिम भाग से निःस्यन्दित होने वाला अमृत इन स्थानों पर पिया जाता है जिससे योगीजन जरा-मृत्यु को जीत लेते हैं। इन चार कुम्भों में अमृत का प्रवाह सतत होता

है साधना द्वारा इन ग्रन्थियों का भेद करने से अमरता मिलती है। जो देवों को प्राप्त है। अतएव अथर्ववेद में शिरोभाग को ब्रह्म का स्थान कहा गया है जो ब्रह्मरन्ध्र है। मन्त्र इस प्रकार है–

**ब्रह्मास्य शीर्ष बृहदस्यपृष्ठं, वामदेव्यमुदरमोदनस्य।**
**छन्दांसि पक्षौ मुखमस्य सत्यं, विष्टारी जातस्तपसोधियज्ञः।।**

अथर्व० ४,३४, १

अर्थात् जिस ब्रह्मौदन का वर्णन है वह यज्ञ ही है। योगीजन सत्य की पराकाष्ठा पर पहुँचकर ब्रह्म प्राप्त हैं। यही ब्रह्मज्ञान है जो ज्ञान यज्ञ की संज्ञा को धारण करता है अतएव योगी जनों के ब्रह्म यज्ञ को तपस्या से प्राप्त अधियज्ञ कहा गया है। इस अधियज्ञ (ब्रह्मयज्ञ) का शीर्ष स्थान ब्रह्म है। बृहद् भाव (समष्टि भाव) इसका मेदरुदण्ड है वामगान (देवताओं के लिए गाया गया) इसका उत्तर भाव है छन्द। इसको गति देने में पक्ष है सत्याता (मुख) इस प्रकार योगीजन पूर्ण तपोनिष्ठ होकर तपस्या से इसको सम्पन्न करते हैं। कुम्भ पर्व का प्रयोजन आध्यात्मिक उन्नति करना है। इसीलिए कुम्भ का सीधा सम्बन्ध संन्यासी ब्रह्मवेत्ता, परिव्राजक, तपस्वी से है क्योंकि तपस्वी अपनी साधना से मानव कल्याण की कामना करते हैं। अतः सामान्य मानव भी परमार्थ की दृष्टि से तपस्वियों के दर्शनार्थ कुम्भ में आकर कुम्भ पर्व का अधिकारी हो जाता है। अथर्ववेद में पूर्ण कुम्भ का अर्थ कालचक्र रूपी पूर्ण कुम्भ से हैं। १२ मास के द्वारा यह काल चक्र पूर्ण हो जाता है। इस, प्रकार एक वर्ष में १२ राशियों का संक्रमित रूप १२ वर्ष में अपने स्थान पर पहुँच जाता है। इसको आधार मानकर १२ वर्षीय कुम्भ का विचार किया गया है जो काल गणना पर आधारित है। यह ब्रह्म ज्ञान अर्थात् ज्ञान द्वारा ब्रह्म प्राप्ति में सहायक है। (इस कालचक्र को आधार मानकर देश के महामनीषियों ने भौगोलिक नदियों को सांस्कृतिक धरोहर मानकर १२ वर्षीय महाकुम्भ या पूर्ण कुम्भ का पर्व निश्चित किया किन्तु इसका आधार मानव की कल्पना नहीं है; अपितु यह पूर्ण वेद ज्ञान जो परमात्म प्रदत्त है उसके आधार पर है। वेद का स्वाध्याय करने पर कुम्भ शब्द के साथ कुम्भी शब्द का प्रयोग संप्राप्त है। जैसे अथर्ववेद तथा यजुर्वेद के मन्त्र निम्न प्रकार प्रस्तुत किये जाते है–

**कुम्भोवनिष्ठुर्जनिता शचीभिर्यस्मिन्नग्रे, योऽन्यां गर्भोऽन्तः।**
**प्लाशिर्व्यक्तः शतधारऽउत्सो दुहे न, कुम्भी स्वदां पितृभ्यः।।**

यजु० १९,८७

**जनत्रीव प्रतिहर्यासि सुनुं सं त्वा दधामि, पृथिवीं पृथिव्याः।**
**उरवा कुम्भी वेद्या व्यथिष्ठाः, यज्ञायुधैराज्येनाषिक्ताः।।**

अथर्व० १२, ३, २३

इन वेद के मन्त्रों में स्पष्टतः कुम्भ तथा कुम्भी शब्द का प्रयोग हुआ है। ये पूर्ण कुम्भ १२ वर्ष में कालचक्र के अनुसार प्रवर्तित होता है। उसी प्रकार कालचक्र के अनुसार ही पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोक का परिगणन करके कुम्भी पर्व का अनुष्ठानात्मक प्रयोग अभिहित है। कुम्भ तथा कुम्भी पर्व का अभिप्राय उन सांस्कृतिक प्राक्तन नदियों तथा नदियों के सङ्गम से है जहाँ जल की अविरल धारा प्रवाहित होती है। उसी अविरल धारा में स्नान करता हुआ व्यक्ति संन्यासियों की ज्ञान धारा में स्नान करके पवित्र होकर स्वयं को धन्य मानता हुआ हर्ष का अनुभव करता है। ये देवनदियों की धाराएँ है जो पृथिवी पर वनस्पतियों में दिव्यन्तरिक्ष में तथा समस्त दिशाओं में सुख की वर्षा करती हैं।

**पयः पृथिव्यांपयऽओषधीषु पयो दिव्यन्तरिक्षे पयोधाः।।**
**पयस्वतीः प्रदिशुः सन्तु मह्यम्।।**

वैदिक सनातन परम्परा के साथ पुराण साहित्य में कुम्भ तथा कुम्भी पर्व को अपनी अवधारणा के साथ परिपुष्ट करते हुए महत्व बताया है। जो वेदों में विद्वानों ने कुम्भ को आध्यात्मिक दृष्टि से देखकर आधिदैविक तथा आधिभौतिक अर्थ से देखा है उसी प्रकार पुराण साहित्य में भी आध्यात्मिक दृष्टि तथा भौगोलिक तथा आधिदैविक दृष्टि से कुम्भ तथा कुम्भी पर्व का चित्रण किया है।

वर्तमान में कुम्भ पर्व का इतिहास मुख्यरूप से स्कन्द पुराण में प्राप्त होता है। पुराणों के अनुसार दैत्यराजा बलि ने अपने पराक्रम से देव समूह को पारभूत कर दिया था। ब्रह्म जी के विचारानुसार देवता तथा दैत्य समूह में सन्धि हो गई तथा दोनों ने मिलकर विश्व कल्याण की भावना से समुद्र मन्थन किया। समुद्र मन्थन किया। समुद्र मन्थन में १४ रत्न निकले जिसमें प्रथम विष निकला जिसको देवताओं की प्रार्थना पर भगवान् शंकर ने पी लिया। उसके बाद कामधेनु आदि अनेक रत्न निकले। अन्त में अमृत कलश निकला, अमृत कलश निकलते ही मन्थन कार्य देवता-दानव समूह ने बन्द कर दिया। अमृत प्राप्ति के लिए दोनों में संघर्ष प्रारम्भ हो गया। देवगुरु बृहस्पति के संकेत पर इन्द्र पुत्र जयन्त अमृत कलश लेकर भागा तथा उसका पीछा दैत्य गुरु शुक्राचार्य के संकेत पर दैत्यों ने किया। अमृत कलश प्राप्ति के लिए दैव-दैत्यों में १२ दिन तक निरन्तर युद्ध होता रहा। इस युद्ध में यह अमृत कलश १२ स्थानों पर रखा गया। इन बारह स्थानों में आठ स्थान स्वर्ग में तथा चार स्थान पृथिवी पर हैं। पृथिवी के ये चार स्थान हरिद्वार, प्रयाग, उज्जैन तथा नासिक हैं। दैव-दैत्यों का युद्ध शान्त करने के लिए विष्णु ने मोहिनी रूप धारण करके दोनों को यथोचित अमृत बांट दिया। युद्ध शान्त हो गया। इस अमृत कलश कुम्भ की रक्षा का भार चार देवों पर था। चन्द्रमा ने गिरने से रक्षा की, सूर्य ने फूटने से, देवों के गुरु बृहस्पति ने दैत्यों के अपहरण से

और शनि ने इन्द्र के भय से घट की रक्षा की। अतः इन ग्रहों के संयोग से कुम्भ पर्व की तिथियाँ निश्चित की जाती हैं–

**सूर्येन्दुगुरुसंयोगस्तद्राशौ यत्र वासरे।**
**सुधा कुम्भप्लवे भूमौ भवति नान्यथा।।**

स्कन्दपुराण

अर्थात् जिस वर्ष अमृत कलश गिरने की राशि पर सूर्य, चन्द्रमा और बृहस्पति का संयोग होता है। उस समय पृथिवी पर कुम्भ होता है। पृथिवी पर कुम्भ पर्व जिन चार स्थानों पर मनाया जाता है उनके नाम स्कन्द पुराण वर्णित हैं–

**पृथिव्यां कुम्भयोगस्य चतुर्धा भेद उच्यते।**
**विष्णु द्वारे तीर्थ राजेऽवन्त्यां गोदावरी तटे।।**
**सुधा बिन्दु विनिक्षेपात् कुम्भ र्ण्वेति विश्रुतम्।।**

स्कन्द

## कुम्भ पर्व का प्रवर्त्तन काल

कुम्भ पर्व कब से प्रचलित हुआ इस विषय में कोई निश्चित मत न होने पर भी वेद मन्त्रों के साक्ष्य में यह मानव जाति का सनातन पर्व है तथापि पुराणों में इसका विशद वर्णन प्राप्त है। जगद्गुरु आदि शंकराचार्य को इसका श्रेय इसलिए जाता है कि उन्होंने आर्य (हिन्दू) संगठन को सुदृढ़ करने के लिए देश के चार भागों में चार पीठ की स्थापना करके आर्य (हिन्दू) संगठन सुदृढ़ किया। वेदाङ्ग ज्योतिष के अनुसार वेदों में परिगणित काल क्रमानुसार हरिद्वार, प्रयाग, उज्जैन, नासिक को कुम्भ पर्व से जोड़कर आर्य संस्कृति को संजीवित करके महान कार्य किया। कुम्भ पर्व के प्रवर्त्तन में जगद्गुरु आदि शंकराचार्य के नाम से यह तो नितान्त मान्य है कि यह धर्माचार्यों, संन्यासियों, तपस्वियों, योगियों का पर्व है तथा वे इस पर्व में आकर मानव समाज को अध्यात्म, धर्म तथा जीवन दर्शन का संदेश प्रदान करते हैं।

## वेदाङ्ग ज्योतिष के काल चक्रानुसार कुम्भ पर्व के स्थान तथा समय

कुम्भ का यह पर्व हरिद्वार, प्रयाग, उज्जैन, नासिक में मनाया जाता है। इन चारों स्थानों पर १२ वर्ष के अन्तराल से व्यवस्था की जाती है–

**गङ्गा द्वारे प्रयागे च धारा-गोदावरी तटे।**
**कुम्भारव्येयस्तु योगोऽयं प्रोच्यते शङ्करादिभिः।।**

अर्थात् गङ्गाद्वार (हरिद्वार), प्रयाग (इलाहाबाद), धारानगरी (उज्जैन) और गोदावरी (नासिक) को शङ्करादि देवगण ने कुम्भ योग कहा जाता है।

## हरिद्वार

जिस समय बृहस्पति कुम्भ राशि पर स्थितहो और सूर्य मेष राशि पर रहे उस समय हरिद्वार (गङ्गाद्वार) में कुम्भ पर्व का योग होता है।

**पद्मिनी नायके मेषे कुम्भराशि गते गुरौ।**
**गङ्गाद्वारे भवेद्योगः कुम्भनामा तदोत्तमः।।**

स्कन्द

हरिद्वार में कुम्भ के तीन स्नान मुख्य हैं– प्रथम– शिवरात्रि, द्वितीय- चैत्र अमावस्या, तृतीय एवं मुख्य स्थान चैत्र के अन्त में अथवा वैशाख के प्रथम दिन। जिस दिन बृहस्पति कुम्भ राशि पर तथा सूर्य मेष राशि पर होता है। हरिद्वार के कुम्भ पर्व का महत्त्व दर्शाने में अनेक पुराणों के स्थल आर्य (हिन्दू) जगत को आध्यात्मिक सामाजिक स्वर्ग कामना तथा मुक्ति की ओर आकृष्ट करते हैं।

## प्रयाग

**मेष राशिं गते जीवे मकरे चन्द्रभास्करो।**
**अमावस्या तदा योगः कुम्भाख्यस्तीर्थनायके।**

स्कन्द

अर्थात् जिस समय बृहस्पति मेष राशि पर स्थित हो तथा चन्द्रमा और सूर्य मकर राशि पर हों उस समय तीर्थराज प्रयाग में कुम्भ योग होता है।

प्रयाग में भी कुम्भ के तीन स्नान होते हैं– प्रथम स्नान मकर सक्रान्ति को (मेष राशि पर बृहस्पति का संयोग होने पर) द्वितीय एवं मुख्य स्नान-माघ कृष्ण मौनी अमावस्या पर, तृतीय स्नान-माघ शुक्ला वसन्तपञ्चमी।

## उज्जैनः धारानगरी अवन्तिका

**मेष राशिं गते सूर्ये सिंह राशौ बृहस्पतौ।**
**उज्जयिन्यां भवेत कुम्भः सदा मुक्तिप्रदायकः।।**

स्कन्द

अर्थात् जिस समय सूर्य मेष राशि पर हो तथा बृहस्पति सिंह राशि हो तो उस समय उज्जैन में कुम्भ पर्व का योग माना जाता है। उज्जैन के प्राक्कालिका नामों में अवन्तिका अवन्ति तथा धारा आदि प्रचलित हैं। विशाला नाम से भी उज्जयिनी का बोध होता है। उज्जैन में केवल एक दिन का स्नान होता है।

## नासिकः गोदावरी

**मेष राशिं गतें सूर्ये सिंह राशौबृहस्पतौ।**
**गोदावर्यां भवेत् कुम्भो जायेत खलु मुक्तिद।।**

अर्थात् जिस समय सूर्य मेष राशि पर हो और बृहस्पति सिंह राशि पर हो तो उस समय नासिक (गोदावरी) में मुक्तिप्रद कुम्भ पर्व का योग होता है।

## कुम्भ और कुम्भी

हरिद्वार तथा प्रयाग में पूर्ण कुम्भ तथा कुम्भी ये दो पर्व होते हैं। किन्तु उज्जैन तथा नासिक में पूर्ण कुम्भ का पर्व होता है। इन दो स्थानों पर अर्ध कुम्भ यानि कुम्भी का पर्व नहीं होता है। हरिद्वार, प्रयाग, उज्जैन तथा नासिक इन चारों स्थानों पर बारह वर्ष के अन्तराल से कुम्भ योग होता होता है। चारों स्थानों के कुम्भ पर्व का निर्धारण राशि स्थिति के अनुसार वेदाङ्गज्योतिषीय आलोक में किया गया है अतएव चारों स्थानों में से प्रत्येक तीन वर्ष के बाद कहीं न कहीं इन चारों स्थानों पर जहाँ कुम्भ और कुम्भी दोनों होते हैं तथा केवल कुम्भ होते हैं। वहाँ के स्नान का महत्त्व पर्याप्त रूप से स्कन्द पुराण में तथा अन्यत्र भी वर्णित हैं।

## उज्जयिनी कुम्भ का महत्व

यद्यपि सभी कुम्भों का अपना-अपना महत्त्व हैं सभी कुम्भ धार्मिक तथा आध्यात्मिक एवं ब्रह्मविदों के दर्शन कराने वाले तथा शांतिप्रद हैं। ऐसे अवसर प्राप्त करके व्यक्ति अलौकिक सुख शांति का अनुभव करता है जो मुक्ति का परिचायक है। तथापि वेदाङ्ग ज्योतिष के अनुसार सब स्थानों का कुम्भ पर्व राशि के क्रम में कुछ-कुछ भिन्नता लिए हुए है इसके कारण चारों कुम्भ स्थानों का महत्त्व दर्शाया गया है– उज्जैन में कुम्भ स्नान के फल को दर्शाते हुए मोक्षप्रद कहा गया है–

**कुश स्थली महाक्षेत्रं योगिनां स्थान दुर्लभम्।**
**माधवेधवले पक्षे सिंहे जीवे अजे खौ।।**
**तुलाराशौ निशानाथे पूर्णायां पूर्णिमा तिथौ**
**व्यतीपाते तु सञ्जाते चन्द्रवासर संयुते।**
**उज्जयिन्यां महायोगे स्नाने मोक्षमवाप्नुयात।।**

स्कन्द

इस बात को इस पंक्ति में कहा गया है–

**धारायां च तदा कुम्भो जायते खलु मुक्तिदः।।**

नासिक कुम्भ पर गोदावरी में स्नान के महत्त्व दर्शाते हुए कहा कि गोदावरी में कुम्भ स्नान हजारों वर्षों तक भागीरथी में स्नान से बढ़कर है।

**षष्ठिवर्ष सहस्राणि भागीरथ्यवगाहनम्।**
**सकृद् गोदावरी स्नानं सिंहस्थे च बृहस्पतौ।।**

ब्रह्मवैवर्त पुराण में गोदावरी में कुम्भ स्नान के पुण्य को अश्वमेध और एक लाख

गोदान के पुण्य के बराबर कहा गया है–

**अश्वमेध फलं चैव लक्ष गोदानजं फलम्।**
**प्राप्नोति स्नानमात्रेण गोदायां सिंहे गुरौ।।**

ब्रह्मवैवर्त

### हरिद्वार का महत्त्व

हरिद्वार में कुम्भ पर्व पर स्नान को मोक्षदायक बताया गया है–

**कुम्भराशि गते जीवे तथा मेषे गते रवौ।**
**हरिद्वारे कृतं स्नानं पुनरावृत्ति वर्जनम्।**

हरिद्वार क्योंकि योगियों की मुनियों ब्रह्मविदों की तपः सूत्र संन्यासियों की दिवस्पुत्रों की धर्माचार्यों की अनुष्ठान विशेष की भूमि रही है। अतएव इस स्थान का महत्त्व पद्मपुराण में विपुलता के साथ वर्णित हैं–

**निराहाराश्चकेऽप्यत्र केचित् पर्णाशिनै रताः।**
**कन्दमूल फलाहारा केचिन्मौनव्रतास्थिताः।।**
**हरिद्वारं महापुण्यं श्रृणु देवर्षि सत्तम।**
**यत्रगङ्गां बहत्येव तत्रोक्तं तीर्थमुत्तमम्।**
**यत्र देवा बसन्तीह ऋषयो मनवस्था।**
**यत्रदेवः स्वयं साक्षात् केशवों नित्यमाश्रितः।।**
**गङ्गा तीर्थं महत्वपुण्यं सर्व पाप प्रर्णाशनम्।**
**लोकाः सर्वे वदन्त्येवं एतत् तीर्थोत्तमोत्तम्।**
**अलकनन्दा तदा नाम गङ्गायाः प्रथमं स्मृतम्।**
**हरिद्वारे यदाऽयाता विष्णु पादोदको तदा।।**
**तदैव तीर्थं प्रवरं देवानामापि दुर्लभम्।।**

पद्मपुराण

### प्रयाग कुम्भ पर्व का महत्त्व

प्रयाग तीर्थराज के कुम्भ पर्व के स्नान को सबसे श्रेष्ठ बताया गया है–

**सहस्त्रं कार्तिके स्नान माघे स्नान शतानि च।**
**वैशाखे नर्मदा कोटिः कुम्भ स्नानेन तत्फलम्।।**

स्कन्द

अर्थात् कार्तिक मास के गङ्गा के सौ स्नान जो फल देते हैं तथा माघ के सौ स्नानजो फल देते हैं तथा वैशाख में नर्मदा में एक कोटि स्नान जो फल देते हैं वह प्रयाग के कुम्भ में सकृद् स्नान से प्राप्त होता है। विष्णु पुराण में भी इसका महत्त्व

वर्णित है–

**अश्वमेध सहस्राणि वाजपेय शतानि च।**
**लक्षं प्रदक्षिणा भूमेः कुम्भ स्नाने न तत्फलम्।।**

महाकवि कालिदास ने कुम्भ की सनातन परम्परा को ध्यान में रखते हुए प्रयाग में सङ्गम पर स्नान का महत्त्व बताया है–

**समुद्रपत्योर्जलसन्निपति पूतात्मनामत्र किलाभिषेकात्।**
**तत्त्वावबोधेन विनापि भूयस्तनुत्मजां नास्ति शरीरबन्धः।।**

अर्थात् गङ्गा यमुना में सङ्गम स्थल प्रयाग राज में कुम्भ पर्व पर विशेष रुचि लेकर जो श्रद्धा से स्नान करते हैं वे तत्त्वावबोध के बिना भी मुक्त हो जाते हैं।

ऋग्वेद परिशिष्ट में एक मन्त्र दृष्टिगत् होता है जिसमें गङ्गा यमुना के सङ्गम पर स्नान करने पर परिमुक्त होने का संकेत मिलता है–

**सितासिते सरिते यत्र सङ्गते, तत्राप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति।**
**ये वै तन्यं विसृजन्ति धीरास्ते, तनासोऽमृतत्वं भजन्ते।।**

ऋग्वेद परि०

अर्थात् सितासित गङ्गा यमुना के सङ्गम पर अवगाहन मे द्युलोक की प्राप्ति तथा देह त्याग होने पर अमरपद की प्राप्ति होती है।

## उपसंहार

वैदिक तथा पौराणिक परम्परा में यद्यपि ऐक्य है तथापि यह तो स्वीकार करना ही होगा कि वेद अपौरुषेय हैं तथा पुराण साहित्य पौरुषेय हैं। वैदिक परम्परा का अनुपालन करना पुराण साहित्य का दायित्व है। अतएव वैदिक आख्यानों को अपने ढ़ंग से मानव कल्याण के लिए पुराणों में अभिहित किया गया है। कुम्भ पर्व की परम्परा जो वेद में है उसका मनीषियों ने त्रिविध अर्थ (आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक प्रक्रिया में) किया है जिसको पुराण साहित्य में त्रिविध अर्थ को आलंकारिक रूप देकर प्रस्तुत किया है। जिसका प्रयोजन मानव को सामान्य जीवन से दिव्य जीवन प्रदान करना है जिसमें भौतिक, सामाजिक, पारमार्थिक तथा दैवी प्रवृत्तियों को प्रबुद्ध करने पर चिन्तन किया गया है। कुम्भ पर्वों पर स्नान के साथ-साथ यज्ञानुष्ठान जप, तप, सत्सङ्ग, ब्रह्मविद्या पर तथा महात्माओं के उपदेशामृत का पान करने पर विशेष बल दिया गया है।

भारत की पावन भूमि तथा वहाँ भी पर्वतों के उपगह्वर तथा नदियों के सङ्गम स्थल ऋषियों, मुनियों ब्रह्मविदों की तपस्थली, उपदेश स्थली, साधना स्थली तथा यज्ञानुष्ठान स्थली रही हैं। यज्ञानुष्ठान में यज्ञवेदी के चारों दिशाओं के कोणों पर जलपूरित कलश स्थापना का विधान यह संकेत देता है कि यह समग्र भूमि यज्ञवेदी है।

इसके चारोंदिक् कोण अमृत कलश से भरपूर हैं तथा यज्ञ समग्र भुवन का नाभि स्थल है। इस बात को वेद में इस प्रकार कहा गया है–

**पृच्छामित्वा परमन्तं पृथिव्याः पृच्छामियत्रभुवनस्य नाभिः।**
**पृच्छामित्वा बृष्णोऽश्वस्यरेतः पृच्छामिवाचः परंव्योम।।**

यजु० २३,१६,

**इमं वेदिः परोऽन्तः पृथिव्याऽयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।**
**अयं सोमोवृष्णोऽश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परं व्योम।।**

यजु० २३,६२,

अर्थात् पृथिवी कहाँ तक है? भुवन का नाभि स्थल कौन है? धर्म का रेतस् क्या है? वाणी की परम स्थिति क्या है? उत्तर समग्र भूमि का अन्त यज्ञ वेदी में अर्थात् यज्ञानुष्ठान है। समग्र भुवन का नाभि केन्द्र यज्ञ है तथा धर्म का रेतस सोम रस है, जिसको पीकर देव अमर रहते हैं। वाणी की परम सत्ता ब्रह्मरूपा है जिसको योगीजन प्राप्त करते हैं।

वेद में कहा गया है कि–

**उपगह्वरे गिरीणां सङ्गमें च नदीनाम्।**
**धिया विप्रोऽअजायत।।**

यजु० २६, १५

अर्थात् पर्वतों के गह्वरो में तथा नदियों के सङ्गम पर उपासना करके विप्र (ऋषि) बनते हैं जो ब्रह्मविद्या से अमृत रस का पान करते हैं और तप से पाप का नाश करते हैं। इसका अर्थ है नदियों के सङ्गम में होने वाले कुम्भ पर्व का विशेष महत्त्व है। अतः जो मनुष्य यज्ञ में, धर्म में, सत्सङ्ग में, ब्रह्मविद्या में, देवत्व में, ऋषित्व में, सुख विशेष में, साधु संन्यासियों के दर्शन में, समदर्शिता में तथा अमरता की प्राप्ति में, देश की अखण्डता में, सांस्कृति धरोहर को सँजोने में, विश्व बन्धुत्व की भावना में, पापवृत्ति से रहित होने में हृदय से जुड़ते हैं, उनके लिए कुम्भ पर्व का अनिर्वचनीय महत्त्व है।

●

# प्रयाग-कुम्भ का सामाजिक सांस्कृतिक महत्त्व

प्रो. रामकिशोर शर्मा *

भारत में चार स्थानों पर कुम्भ का आयोजन किया जाता है, प्रयाग, उज्जैन, नासिक और हरिद्वार। पुराणों में इस सम्बन्ध में जो उल्लेख मिलता है उसके अनुसार समुद्र मंथन के समय सबसे अन्त में धन्वन्तरि अमृत कलश को हाथ में लिए हुए प्रस्तुत हुए। इसके पहले विष भी निकल चुका था जिसका पान शंकरजी ने कर लिया था। वेद मंत्र है– 'मृत्योर्माऽमृतंगमय' मृत्यु की ओर नहीं अमृत की ओर जाइए। अत: देव और दानव दोनों ही अमृत पान के लिए युद्धरत हो गए। इसी बीच जयंत अमृत कलश लेकर आकाश मार्ग से उड़ गया। दानवों ने उसका पीछा किया। बारह दिनों तक संघर्ष होता रहा। इन बारह दिनों में जयन्त ने बारह स्थानों पर कलश रख दिया था जिसमें आठ स्थान स्वर्ग में थे चार स्थान पृथ्वी पर। इन्हीं चारों स्थानों पर कुम्भ लगता है। कुम्भ की रक्षा का कार्य सूर्य, चन्द्र, गुरु और शनि ने किया था। अत: कुम्भ के आयोजन में इनके योग की भूमिका मानी गई है। चैत्र महीने में सूर्य के मेष राशि और बृहस्पति के कुम्भ राशि से होने पर हरिद्वार में कुम्भ शुरू होता है। जब बैसाख मास में गुरु और सूर्य तुला राशि में होते हैं तथा सूर्य मेष राशि और बृहस्पति सिंह राशि में तो उज्जैन में कुम्भ होता है। जब भाद्रमास में सूर्य और बृहस्पति सिंह राशि में होता है तो नासिक में कुम्भ होता है। यद्यपि सभी स्थानों के कुम्भ पर्वों का अपना-अपना माहात्म्य है किन्तु तीर्थराज प्रयाग में होने वाले कुम्भ का कतिपय कारणों से विशेष आकर्षण है। पहाड़ी क्षेत्रों में पाँच प्रयाग हैं विष्णुप्रयाग, नन्दप्रयाग, कर्णप्रयाग, रुद्रप्रयाग, देवप्रयाग। किन्तु मैदान में एक ही प्रयाग है। जहाँ दो नहीं तीन नदियों का संगम हुआ है– गंगा, यमुना और सरस्वती। तीन धाराओं के कारण इसे त्रिवेणी संज्ञा से विभूषित किया गया है। पुराणों में वर्णित है कि ब्रह्मा ने आहुति के लिए तीन बेदियों का निर्माण किया था– कुरुक्षेत्र, प्रयाग और गया। प्रयाग इस तरह मध्य बेदी के रूप में मान्य है। ब्रह्मा के द्वारा प्रकृष्ट यज्ञ किए जाने के कारण इस क्षेत्र को 'प्रयाग' कहा गया।

महाभारत के अनुशासन पर्व में प्रयाग का माहात्म्य बढ़-चढ़कर बताया गया है। माघ मास में तीन करोड़ दस हजार तीर्थ प्रयाग में इकट्ठे होते हैं। इतनी बड़ी संख्या

* प्रो. हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

में शायद ही दुनिया का कोई तीर्थ हो। प्राचीन काल में अश्वमेध यज्ञ का फल सर्वाधिक माना जाता था। पद्म पुराण के अनुसार माघ मास में प्रयाग की संगम स्थली में स्नान का फल सहस्र अश्वमेध यज्ञ के बराबर बताया गया है–

**प्रयागे माघ मासे तु त्रहं स्नानस्य चत्फलम् ।**
**नाश्वमेध सहस्रेण तत्फलं लभते भुवि ।।**

मत्स्यपुराण में कई श्लोकों में प्रयाग की महिमा गाई गयी है। पुराणकार का मानना है कि एक कल्प व्यतीत हो जाने के पश्चात् जब रुद्र के द्वारा प्रलय किया जाता है, उस समय भी प्रयाग नष्ट नहीं होता है। उस समय प्रयाग में ब्रह्मा, बेणीमाधव के रूप में विष्णु तथा वटवृक्ष के रूप में शिव निवास करते हैं। यही नहीं ऋषि, मुनि गंधर्वादि पाप शक्तियों से प्रयाग की रक्षा में रत रहते हैं। संस्कृत के महाकवि कालिदास प्रयाग के सुरम्य सौन्दर्य के प्रति आकृष्ट हुए थे। उन्होंने गंगा-यमुना के मिलन स्थल को भस्म से पुते हुए शिव के रूप में देखा था। उनकी परिकल्पना में गंगा-यमुना समुद्र की दो पत्नियाँ हैं जिसमें स्नान करने से अतत्वज्ञ अर्थात् श्रद्धालु शरीर बन्धन से मुक्त हो जाता है। कविवर तुलसीदास ने तीर्थराज के राजसी वैभव का रूपात्मक चित्र प्रस्तुत किया है। तीर्थराज की पत्नी श्रद्धा है, मंत्री सत्य है, वेणीमाधव जैसे हितकारी मित्र हैं, उसके यहाँ धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारो पदार्थों का भंडार है, पुण्यमय पात्र ही उसका सुन्दर देश है। प्रयाग क्षेत्र स्वयं दुर्गम गढ़ की तरह है जहाँ पाप रूपी प्रतिपक्ष स्वप्न में भी प्रवेश नहीं पाता है। सभी तीर्थ उसके वीर सैनिक हैं जो पाप की सेना को कुचल डालने में समर्थ हैं। संगम ही उसका सिंहासन है, अक्षयवट छत्र है जो मुनियों के मन को मोहित कर लेता है। गंगा-यमुना की तरंगे दुख और दरिद्रता को नष्ट कर देती हैं। अन्त में राम स्वयं कहते हैं–

**सेवहि सुकृती साधु सुचि पावहिं सब मनकाम ।**
**बदी वेद पुरान गन कहहि विमल गुन ग्राम ।।**

गंगा यमुना और सरस्वती तीन नदियों के संगमवाली प्रयाग की प्राकृतिक छटा अनुपम रही है। यहाँ दर्शनीय बाग-बगीचे थे जहाँ अब शहरीकरण के कारण बड़े-बड़े भवन विराजित हैं। मुहल्लों के नाम से ही स्पष्ट है कि वहाँ पहले बाग थे जैसे– अलोपी बाग, सोहवतियाँ बाग, तुलाराम बाग आदि। गंगा मात्र जल की धारा नहीं है बल्कि स्वर्गारोहण की सीढ़ी है। वह स्वर्ग की दिव्यता लेकर धरती पर अवतरित हुई है। गंगा भौतिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। उसके तट की जमीन अतिशय उपजाऊ है, इसलिए बिना विशेष श्रम के वह अन्न से किसानों का भंडार भर देती है। गंगा ने स्वच्छ जल तथा यातायात के साधनों को प्रदान किया है। यही महिमा यमुना की तथा लुप्त सरस्वती की भी रही है। महात्मा तुलसीदास ने प्राचीनकाल का एक परिदृश्य प्रस्तुत

करते हुए कहा है कि भरद्वाज मुनि प्रयाग में निवास करते थे। जब सूर्य माघ मास में मकर राशि पर जाता है तो देव, दनुज, किंन्नर, मनुष्य आदि सभी श्रेणी के व्यक्ति प्रयाग त्रिवेणी स्नान के लिए आते थे। ऋषियों, मुनियों का समाज भरद्वाज के आश्रम में जुटता था। वे उत्साह पूर्वक भगवान् के गुणों की कथाएँ कहते थे। तुलसीदास ने अपने समय में प्रयाग का जो दृश्य देखा था, तथा अपने ज्ञान एवं कल्पना के आधार पर उपर्युक्त प्राचीन परम्परा का निर्देश किया है। अर्ध कुम्भ, कुम्भ आदि पर्वों का उन्होंने उल्लेख नहीं किया है। लेकिन उनका भक्त एवं कविमानस प्रयाग की महिमा से इतना अभिभूत रहा है कि वह अन्ततः कहते हैं कि 'को कहि सकइ प्रयाग प्रभाऊ' अर्थात् प्रयाग की महिमा अकथनीय है। प्रयाग में सम्पन्न होने वाले कुम्भ की महिमा तो और श्लाघनीय है।

ऋषि-मुनि तो यायावर होते थे। भ्रमण करते हुए उनका प्रयाग पहुँचना अपेक्षाकृत आसान था लेकिन दूर-दराज के श्रद्धालु पूर्वकाल में उतनी तादाद में संभवतः पहुँच नहीं पाते थे। अतः छह वर्ष के अन्तराल में सुदूरवर्ती सन्तों महात्माओं का आगमन तथा समागम होता था। श्रद्धालु भी वार्षिक आयोजन की अपेक्षा विभिन्न क्षेत्रों से आते थे। इन्हें ही अर्ध कुम्भ या कुम्भ कहा जाता था। सन्तों के उपदेश का मुख्य विषय था–

**ब्रह्म निरूपण धरम विधि बरनहि तत्त्व विभाग।**
**कहहि भगति भगवंत कै संजुत ग्यान-विराग।।**

तुलसीदास ने त्रिवेणी स्नान के लिए पधारने वाले लोगों में देव, दनुज, किन्नर तक नर की सभी श्रेणियों को समाहित किया है। इसका तात्पर्य यह है कि कुम्भ के आयोजन में बिना किसी भेद-भाव के सभी क्षेत्रों, जातियों, वर्णों समुदायों के लोग शामिल होते थे। कुम्भ में वही परम्परा आज भी चली आ रही है। त्रिवेणी में आनेवाले स्नानार्थियों में साधु-सन्तों, महन्थों तथा प्रशासन के द्वारा किसी तरह का भेदभाव नहीं किया जाता है। सामाजिक सौमनस्य एवं समरसता का अनूठा दृष्टांत है कुम्भ।

मानवीय सभ्यता के विकास तथा काल परिवर्तन का प्रभाव मनुष्य के प्रत्येक क्रिया-कलापों पर अवश्य पड़ता है। आधुनिक युग विज्ञान एवं प्रविधि का युग है। सूचना क्रान्ति के जरिए पूरे विश्व की घटनाओं की सूचना क्षणमात्र में प्रसारित-प्रचारित हो जाती है। यातायात के त्वरित साधनों के द्वारा मनुष्य का आवागमन पहले की तुलना में बहुत बढ़ गया है। सम्पूर्ण विश्व एक बृहद् गाँव के रूप में परिणत हो रहा है। अतः जहाँ पहले कुम्भ केवल सम्पूर्ण भारत के लोगों को आकर्षित करता था अब उसका आकर्षण वैश्विक हो गया है। प्रयाग के कुम्भ में अनेक विदेशी पर्यटक तथा श्रद्धालु पधारते हैं और यहाँ के अनोखे दृश्य का आनंद लेते हैं। प्रयाग का कुम्भ अपने क्षेत्र विस्तार एवं श्रद्धालुओं के आगमन की दृष्टि से न केवल भारत में सर्वोपरि है; बल्कि

विश्व में सर्वश्रेष्ठ है। संसार में शायद ही कहीं इस रूप में इतना विस्तृत एवं इतनी लम्बी कालावधि का धर्म केन्द्रित आयोजन होता हो। बिना किसी औपचारिक निमंत्रण के इतनी बड़ी संख्या में कुम्भ में त्रिवेणी स्नान की आकांक्षा एवं पुण्य लाभ की लालसा से श्रद्दालुओं की उपस्थिति आश्चर्य चकित करने वाली है। लाखो आदमियों की भीड़ को नियंत्रित करने तथा लाखों कल्पवासियों के लिए कम से कम एक महीने तक सुव्यवस्थित आवास, विद्युत, सड़क आदि की व्यवस्था करना सरल कार्य नहीं है। इसीलिए एक वर्ष पहले से ही कुम्भ मेला की तैयारियाँ शुरू कर दी जाती हैं। संगम की रेती में बहुत बड़े क्षेत्र में लम्बी-चौड़ी सड़कों तथा तीव्र प्रकाशवाले बल्वों की चकाचौंध में तम्बुओं का एक नगर ही बसा दिया जाता है। साधु-संतों तथा मठाधीशों के अलग-अलग विस्तृत पंडाल सजे रहते हैं। एक माह से अधिक समय तक उनके प्रवचन तथा कथा-वाचन का सिलसिला चलता है। सन्तों तथा प्रवचनकर्त्ताओं में श्रद्धालुओं को आकर्षित करने की होड़ लगी रहती है। आध्यात्मिक ज्ञान के गूढ़ तत्वों को समझाने की चेष्टा कम, मनोरंजन की प्रवृत्ति प्रधान रहती है। कुछ उच्च श्रेणी के संत इसके अपवाद हैं जो ज्ञान की गरिमा की रक्षा से कभी चूकते नहीं है।

वर्तमान युग विज्ञापन का है साथ ही प्रदर्शन की प्रवृत्ति भी अधिक हो गयी है। प्रत्येक कुम्भ में भूमि आवंटन तथा वांछित सुविधाओंकी कमी को लेकर संतों तथा प्रशासन में रस्सा-कसी हो जाती है। जहाँ मानव है वहाँ उसकी कुछ दुर्बलताएँ तो रहेंगी ही। किसी समय त्रिवेणी तट पर कल्पवास करना जीवन-मुक्त होने का अभ्यास हुआ करता था। माघ की हाड़ कंपाने वाली सर्दी में एक महीने तक गंगा तट पर निवास करते हुए केवल दिन में एक बार भोजन करके सन्तों-महात्माओं के सान्निध्य में जीवन के वास्तविक रहस्य को समझने तथा तदनुकूल जीवन-यापन करने का संकल्प कल्पवास का मुख्य उद्देश्य था। इसे एक तरह से गृहस्थों की कठोर साधना मानना चाहिए। यह साधना लगातार बारह वर्ष तक चलती है। बारहवें वर्ष व्यापक अनुष्ठान दान आदि के द्वारा उसका समापन होता है। सम्प्रति कुम्भ क्षेत्र में इतनी सुख-सुविधाओं के साधन उपलब्ध रहते हैं कि कल्पवास आनन्द एवं उल्लास में परिणत हो जाता है। त्रिवेणी तट पर निवास करते हुए प्रतिदिन गंगा स्नान का सुख और समस्त पापों से मुक्त हो जाने का भाव तृप्ति कारक होता है। मेले में पधारने वाले अधिकांश श्रद्धालु कृषिकार्य से जुड़े होते हैं। धान की उपज उनके घर पर आ गयी होती है। गेहूँ, मटर, जौ सरसों आदि फसलों की बुवाई समाप्त हो चुकी होती है। मकर-संक्रान्ति का पर्व नई उपज का उत्सव के साथ सेवन का पर्व है। इसके बाद सूर्य उत्तरायण होने लगता है। मौसम का मिजाज बदलने लगता है। गंगा के पावन सान्निध्य में इस पर्व को मनाने में विशेष आनन्द होता है। अन्य तीर्थों की यात्रा करके यात्री मकर के आसपास त्रिवेणी

स्नान के लिए आ जाते हैं। वर्ष भर एक तरह का जीवन-यापन मनुष्य के अन्दर ऊब एवं एकरसता पैदा करता है। जीवन प्रणाली में बदलाव जीवनरस में नया आस्वाद उत्पन्न करता है। कुम्भ भौतिकता से अलग आध्यत्मिक सोच का समूहिक उपक्रम है। भारत की सामासिक संस्कृति यहाँ इतनी प्रगाढ़ रहती है कि उसका वैविध्य बड़ी कठिनाई से दृष्टिगोचर होता है। यद्यपि विभिन्न सम्प्रदायों, क्षेत्रों एवं प्रदेशों के साधु-संत एवं श्रद्धालुओं का यहाँ महामिलन होता है लेकिन सम्पूर्ण वातावरण में आध्यात्मिक एवं परमार्थ भाव की ही त्रिवेणी प्रवाहित होती रहती है। छोटे-छोटे शिविरों के अन्दर प्रवेश करके यदि सूक्ष्मता से देखा जाए तो लोक संस्कृतियों का भेद समझ में आता है। सम्पूर्ण मेला क्षेत्र में संस्कृत, हिन्दी के साथ-लोक भाषा के गीतों, भजनों का स्वर गूँजता रहता है।

प्रयाग के कुम्भ में विभिन्न प्रदेशों की लोक कलाओं के प्रदर्शन के लिए उत्तर-मध्य सांस्कृतिक केन्द्र की भूमिका भी उल्लेखनीय है। 'चलो मन गंगा जमुना तीर' उनका मनमोहक आमंत्रण का स्वर है। भारत के सुप्रसिद्ध कलाकारों की प्रस्तुति का नि:शुल्क अवलोकन का अवसर यात्रियों, श्रद्धालुओं को उपलब्ध कराया जाता है। अनेक पंडालों में रामलीला, रासलीला नित्य सम्पन्न होती है। भगवान् की लीला का दर्शन एक ओर मन को रंजित करता है, दूसरी ओर उसके द्वारा जीवन जीने की कला एवं उद्देश्य का सहज ज्ञान हो जाता है। लीला में लोक जीवन का भी स्पष्ट प्रतिबिम्ब रहता है।

लीलाओं का आध्यात्मिक तथा शैक्षणिक दोनों दृष्टियों से महत्त्व है। शास्त्र के गूढ़ ज्ञान को समझने की सामर्थ्य सामान्य जन में नहीं होती है। किन्तु लीलाओं के द्वारा आध्यात्मिक ज्ञान की अनुभूति सहज ही संभव हो जाती है।रामायण एवं महाभारत दो ऐसे भारतीय आदि ग्रंथ है जिनका प्रभाव सम्पूर्ण भारतीय भाषाओं के साहित्य पर है। श्रीमदभागवत, पुराण भी हिन्दू समाज के प्रिय ग्रंथ हैं। तुलसादीस, सूरदास आदि भक्त कवियों द्वारा यदि हिन्दी प्रदेश में राम तथा कृष्ण के चरित्र का लोकभाषाओं में प्रचार-प्रसार हुआ है तो विद्यापति, चंडीदास, चैतन्य महाप्रभु, शंकर देव आदि द्वारा सम्पूर्ण उत्तरी भारत में उसका विस्तार किया गया है। दक्षिण भारत में भी इन चरित्रों से सम्बन्धित अनेक कृतियाँ हैं। अत: राम और कृष्ण के चरित्र का प्रत्यक्ष दर्शन श्रद्धालुओं के लिए न केवल मनोरंजक होता है बल्कि उनकी अनेक समस्याओं का निदान भी करता है। स्वामी रामानन्दाचार्य ने सर्वसमाज के लिए जिस भक्ति आन्दोलन को उत्तरी भारत में लोकप्रिय बनाया था उनका प्रभाव धार्मिक एवं सामाजिक संस्थानों पर स्पष्ट दिखाई देने लगा है। वर्ण व्यवस्था अत्यन्त शिथिल हुई है। यही नहीं २०१३ के कुम्भ मेले में ऐसे शंकराचार्यों के आगमन की सूचना प्रचारित हुई है जो ब्राह्मणेतर

वर्ग से हैं। उनमें क्षत्रिय, पिछड़ा वर्ण तथा दलित वर्ग के प्रतिनिधि सम्मिलित हैं। भारतीय संविधान लागू होने के बाद जातीय जागरण की जो मुहिम चली है उसके परिणाम स्वरूप राजनीति, प्रशासन आदि की तरह धर्म के क्षेत्र में भी उपेक्षित जातियों के नेतृत्व का आरंभ हो गया है। अतः भारतीय सनातन धर्म एक नए युग में प्रवेश करता दिखाई दे रहा है।

कुम्भ का मुख्य लक्ष्य धर्म केंद्रित भले ही हो किन्तु कला, शिल्प, व्यवसाय आदि दृष्टियों से भी इसका महत्त्व है। इस बड़े आयोजन में भारत के कोने-कोने से कपड़े, साड़ियाँ खादी की विविध वस्तुएँ, लकड़ी की हस्त निर्मित कलाकृतियाँ मेले में प्रदर्शित की जाती हैं। अनेक प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित धार्मिक पुस्तकें भी उपलब्ध रहती हैं। बच्चों के मनोरंजनार्थ तरह-तरह की प्रदर्शिनियों का आयोजन होता है। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि कुम्भ सांस्कृतिक-सामाजिक चेतना के विकास का एक महाआयोजन है जहाँ धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पुरुषार्थों की सिद्धि होती है।

●

# पूर्णकुम्भ : जनास्था का हिमालय

**डॉ. योगेन्द्र नाथ शर्मा 'अरुण' ***

विद्वानों के अनुसार 'अलिखा इतिहास' ही 'पुराण' होता है। तत्त्वत: जन-जन में युगों से व्याप्त और निरन्तर चली आ रही आस्था और जन-विश्वासों का आधार 'पुराण' ही है। भारतवर्ष की सहस्रों वर्ष पुरानी परम्पराएँ हमारे पुराण-साहित्य में निबद्ध हैं। विश्व भले ही, विज्ञान के रथ पर भौतिक उपलब्धियों के शिखर पर खड़ा हो, लेकिन आज भी जन-आस्था का ऐसा धरातल अवश्य है, जहाँ मानव-मात्र को आत्मिक शान्ति और सुख मिलते हैं।

अटूट जन-आस्था का महापर्व है 'कुम्भ पर्व', जिसमें पूरे भारत की धर्म- प्राण जनता अनादि काल से एकत्र होती आई है और पुण्य सलिला गंगा एवं अन्य जीवन दायिनी नदियों में स्नान करके स्वयं को उपकृत मानती रही है।

'महाकुम्भ पर्व वस्तुत: भारतीय ऐक्य-साधना के साथ ही विराट् समन्वय-चेतना का प्रतीक भी रहा है। प्रत्येक बारह वर्ष पश्चात् हरिद्वार, प्रयाग, उज्जैन और नासिक में संपन्न होने वाले 'महाकुम्भ-पर्व का जहाँ खगोल शास्त्र की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व है, वहीं व्यापक ऐक्य-भावना की दृष्टि से यह भारत की मूलभूत एकता का सूत्रधार बना है।

**प्राचीन उल्लेख–**

'महाकुम्भ-पर्व की महत्ता का उल्लेख हमें विश्व के प्राचीनतम माने-जाने वाले 'ऋग्वेद' में मिल जाता है–

**जघान वृत्तं स्वधितिर्वनेवरुरोजपुरो अरदन्न-सिन्धन!।**
**विभेवगिरि नवभिन्न कुम्भभागा इन्द्रो अकृतगता स्वयुग्मिः।।**

अर्थात्– ''कुम्भ पर्व में जाने वाला मनुष्य स्वकृत कर्मफल स्वरूप होने वाले स्नान, दान तथा होम आदि कर्मों से काष्ठ को काटने वाले कुठार की ही तरह अपने पापों को काट देता है।''

'ऋग्वेद' के इस उल्लेख से स्पष्ट है कि 'महाकुम्भ' का पर्व हमारी अनादिकाल से चली आ रही आस्था का महापर्व है।

महर्षियों, पुराणवेत्ताओं, धर्माधिकारियों, दार्शनिकों, सन्तों, महन्तों आदि से लेकर भारतीय समाज के निरक्षर व्यक्ति तक 'महाकुम्भ' की परम्परा ''आस्था के पंखों

* साहित्य-सांस्कृतिकर्मी, रुड़की, उत्तरांचल।

पर उड़कर'' स्वत: पहुँचती रही है और हरिद्वार, प्रयाग, उज्जयिनी और नासिक के कुम्भ-पर्व पर लाखों लोग आस्था और विश्वास की डोर में बँधकर आते रहे हैं।

महाकुम्भ-पर्व के स्नान का विशेष माहात्म्य रहा है—

**''अश्वमेघ सहस्राणि वाजपेयशतानि च,**

**लक्षं प्रदक्षिणा भूमैः कुम्भ स्नानेहि तत्फलम्''।**

अर्थात्– ''केवल कुम्भ-स्नान कर लेने से ही व्यक्ति को वह पुण्य फल मिल जाता है, जो हजार अश्वमेध यज्ञ करने से, सौ वाजपेय-यज्ञ करने से और एक लाख बार पृथ्वी की परिक्रमा करने से प्राप्त होता है।''

सहस्रों वर्षों से चली आ रही 'महाकुम्भ-पर्वं' की इस अनवरत जन-आस्था के पीछे भारतीय संस्कृति की अजेय चिन्तनधारा रही है, जिसका दृढ़तम एवं सुपुष्ट आधार हमारा पुराण साहित्य रहा है।

आज भौतिक समृद्धि के झूले में झूलता हुआ पाश्चात्य जगत् भारतीय दर्शन, धर्म एवं संस्कृति से निकली इस अटूट जन-आस्था को देखकर अचंभे में डूब जाता है, चूँकि वहाँ ऐसी विराट् ऐक्य-भावना कहीं दूर-दूर तक भी नज़र नहीं आती। यह सर्वमान्य सत्य बन चुका है कि संपूर्ण विश्व-इतिहास में कहीं भी भारतीय संस्कृति एवं समाज में निरन्तर हजारों वर्षों से चली आ रही 'महाकुम्भ-पर्व' जैसी अटूट ऐक्य-साधना और विराट् समन्वय-चेतना देखने को नहीं मिल पाती! अजेय जन-विश्वास का यह 'महाकुम्भ' निश्चय ही हमारी जीवनी-शक्ति का परिचायक पर्व है।

## महाकुम्भ की खगोलीय महत्ता

निश्चय ही, महाकुम्भ-पर्व ऐसी परम्परा नहीं है, जिसे कोई 'अंधविश्वास' या 'अंधश्रद्धा' कहकर झूठला सके, बल्कि यह तो खगोलशास्त्र से जुड़ा हुआ भारतवर्ष का महान पौराणिक पर्व है। हर बारहवें वर्ष, विशेष ग्रह-नक्षत्रों के संयोग से होने वाले महाकुम्भ-पर्व की खगोलीय महत्ता का उल्लेख करते हुए 'उज्जयिनी का सांस्कृतिक इतिहास' नामक शोध-ग्रंथ की लेखिका डॉ॰ शोभा कानूनगो ने लिखा है– ''इस कथा की धार्मिक पवित्रता के साथ ही, इस पर्व में खगोलिक महत्त्व का भी समन्वय है। ग्रहों और नक्षत्रों की विशिष्ट गतिविधियों के कारण कुम्भ-पर्व का होना कहा जाता है। ये विशिष्ट ग्रह-योग कुम्भ पर्व के लिए ख्यात स्थलों पर प्रत्येक के लिए पृथक्-पृथक् हैं।'' (पृष्ठ-४२)

'स्कन्द पुराण' में भी महाकुम्भ पर्व के खगोलशास्त्रीय विधान का उल्लेख मिलता है। देवभूमि उत्तराखण्ड के प्रसिद्ध हिमालयी गंगा-तीर्थ 'हरिद्वार' में होने वाले कुम्भपर्व के विषय में 'स्कन्द पुराण' का साक्ष्य है–

**"पद्मिनी नायके मेषे कुम्भराशि गते गुरौ।**
**गंगा द्वारे भवेद् योगः कुम्भनाम्ना तदोत्तमः।।"**

अर्थात्– "जब 'गुरु' कुम्भ राशि में हो और 'सूर्य' मेष राशि में आए, तब गंगा द्वार (हरिद्वार) में 'कुम्भ' नामक उत्तम योग होता है।"

इसी प्रकार गंगा, यमुना और सरस्वती के संगम-स्थल तीर्थराज 'प्रयाग' में होने वाले कुम्भ पर्व के लिए खगोलशास्त्र के अनुसार 'सूर्य' मकर राशि में, 'गुरु' वृष राशि में होने के साथ ही 'माघ' मास का होना भी अत्यावश्यक माना गया है।

उज्जयिनी के कुम्भ पर्व को तो खगोल शास्त्र के अनुसार हरिद्वार, प्रयाग एवं नासिक के कुम्भ पर्व की तुलना में 'विशेष' महत्ता प्राप्त है। 'गुरु' की स्थिति 'सिंह राशि' में होनी उज्जयिनी के कुम्भ पर्व के लिए अपरिहार्य है, इसी से इसे 'सिंहस्थ पर्व' भी कहा जाता है।

उज्जयिनी के 'सिंहस्थ कुम्भ पर्व में सर्वाधिक दस योगों का होना आवश्यक माना गया है। ये दस खगोलीय योग हैं, बैसाख मास, शुक्ल पक्ष, पूर्णिमा तिथि, मेष राशि पर 'सूर्य', सिंह राशि पर 'गुरु', तुला राशि पर 'चन्द्र', स्वाति नक्षत्र, व्यतीपात योग, सोमवार तथा उज्जयिनी का क्षिप्रा-तट! इन दस योगों में से यदि एक योग 'सिंह राशि पर गुरु ग्रह' न हो, तो शेष योगों के बाद भी उज्जैन का 'महाकुम्भ' पर्व नहीं मनाया जाता; इसी खगोलीय विशेषता के कारण इसे 'सिंहस्थ पर्व' कहा जाता है। स्मरणीय है कि संवत् २०१२ में नौ योग होने पर भी 'सिंह राशि के गुरु' नहीं होने के कारण उज्जयिनी में कुम्भ पर्व नहीं हुआ था। नासिक में कुम्भ पर्व के समय 'गुरु' और 'सूर्य' एक साथ 'सिंह राशि' पर होते हैं, पूर्णिमा तिथि और दिन गुरुवार होता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतवर्ष में सहस्त्रों वर्षों से अनवरत चली आ रही 'महाकुम्भ-पर्व' की इस सनातन परम्परा का सुस्पष्ट और सुदृढ़ खगोलीय आधार रहा है और आज के नक्षत्र विज्ञान वेत्ता जब चाहें, भारतीय ज्योतिर्विदों की गणितीय गणणाओं को विज्ञान की कसौटी पर परख सकते हैं; वे पूर्णतः खरी सिद्ध होंगी।

वस्तुतः विज्ञान सम्मत खगोल शास्त्रीय गणनाओं पर आधारित, जन-आस्था के इस महान पौराणिक पर्व 'महाकुम्भ' को हमारे दूरद्रष्टा मनीषियों ने अपनी प्रज्ञा की कसौटी पर परख कर ही, विराट् समन्वय-चेतना तथा सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और दार्शनिक आधार देकर अमृत पर्व बना दिया है। निर्विवाद रूप से 'महाकुम्भ' भारतीय संस्कृति की विशद जन-चेतना के साथ-साथ ही ऐक्य-साधना का महापर्व भी है।

## महाकुम्भ : पौराणिक सन्दर्भ

महाकुम्भ-पर्व का आरंभ कब से हुआ? इस प्रश्न का उत्तर दे पाना संभव नहीं है। 'श्रीमद्भागवत पुराण' के अनुसार जब देवगण राजा बलि से हार गए और बलि के बढ़ते अत्याचारों से देवताओं की शान्ति भंग हो गई, तो वे भगवान् विष्णु के पास रक्षा हेतु पहुँचे। भगवान् विष्णु ने तब देवताओं से कहा कि दैत्यों के साथ 'समुद्र-मंथन' करो। इसी समुद्र-मंथन से अन्ततः 'अमृत' मिलेगा, जिसे पीकर देवगण अमर हो जाएँगे।

समुद्र-मंथन किया गया, तो सर्वप्रथम 'विष' मिला, जिसे आशुतोष महादेव शिव ने पी लिया और वे 'नील-कण्ठ' हो गए। समुद्र-मंथन चलता रहा और दूसरा रत्न 'कामधेनु', तीसरा 'उच्चश्रवा अश्व', चौथा 'ऐरावत', पाँचवाँ 'कौस्तुभमणि', छठा 'पारिजात-वृक्ष', सातवाँ 'अप्सरा रंभा, आठवाँ 'लक्ष्मी', नौवाँ 'वारुणि', दसवाँ 'चन्द्रमा' और ग्यारहवाँ रत्न 'शंख इस समुद्र-मंथन से मिला! यह क्रम चलता ही रहा और अन्ततः 'अमृत-कुम्भ' सागर-तल से बाहर निकाला गया।

यही अन्तिम रत्न था, अतः समुद्र-मंथन बन्द हो गया। यह पुराण-कथा निश्चय ही प्रतीकात्मक है। देवों और असुरों द्वारा किए गए 'समुद्र-मंथन' से सर्वप्रथम मिला 'विष', जिसे महादेव शिव ने सृष्टि के कल्याण की कामना से सहर्ष पी लिया और 'मृत्युंजय' कहलाए। 'शिव' का अर्थ ही 'जन-कल्याण' हो गया। इसके बाद जब अन्तिम रत्न के रूप में 'अमृत-कुम्भ' आया, तो देवों तथा दानवों में होड़ मच गई कि कौन पहले अमृत पान करके 'अमर' बने! दोनों ही अमरत्व के लिए 'अमृत–पान' करना चाहते थे।

इस पुराण-कथा के अनुसार देवगुरु 'बृहस्पति' के संकेत पर देवराज इन्द्र का पुत्र जयन्त इस 'अमृत–कुम्भ' को लेकर भाग निकला, तो दैत्यों ने उसका पीछा किया।

'अमृत-कुम्भ' हथियाने के लिए देवों और दैत्यों के बीच युद्ध हुआ, जो 'बारह' दिन चला। इसी युद्ध के दौरान अमृत-कुम्भ से 'अमृत' छलका और अमृत की बूँदें 'बारह स्थानों' पर गिरीं। इनमें से आठ स्थान 'देवलोक' में और चार स्थान पृथ्वी लोक में हैं। पृथ्वी लोक के चार स्थान हैं हरिद्वार प्रयाग, उज्जयिनी और नासिक, जहाँ बारह वर्ष बाद इसी 'अमृत' के लिए 'कुम्भ-पर्व होता है।

भारतीय प्रज्ञा ने 'पुराण कथा' में खगोल शास्त्र का अनूठा समन्वय करके इसे जन-आस्था में प्रतिष्ठित करा दिया है। देव-दानव-युद्ध के समय 'अमृत कुम्भ' की रक्षा 'चन्द्रमा' ने गिरने से की थी, 'सूर्य' ने गिरकर फूटने से की थी, 'गुरु' ने दैत्यों से अमृत-कुम्भ बचाया था और 'शनि' ने लोभी जयन्त से इसे बचाया था, इसी कारण 'कुम्भ-पर्व में इन चारों ग्रहों का योग, किसी-न-किसी रूप में अवश्य ही होता है।

वस्तुतः 'महाकुम्भ' की यह अवधारणा भारतीय दर्शन एवं धर्म की महान चिन्तन-धारा की परिचायक है, जहाँ 'पर हित' को जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य माना गया है। वस्तुतः 'विष' और 'अमृत जीवन की नकारात्मक और दूसरी सकारात्मक चिन्तन-धारा के शाश्वत प्रतीक बन गये हैं। महादेव शिव के द्वारा देवताओं के हित में विष-घट पीना 'परहित' के लिए 'स्वहित' को न्यौछावर कर देने की हमारी सनातन भावना का स्मरण कराता है।

निःसन्देह, यह पुराण-प्रसिद्ध 'महाकुम्भ-पर्व' इसी 'अमृत-पान' करने की सहज मानव-आकांक्षा का परिचायक है और भारतीय संस्कृति की सकारात्मक-चेतना वास्तव में 'अमृत-कुम्भ' की रक्षा करते रहने की हमारी अजेय एवं अनवरत जिजीविषा का प्रतीक बन गई है।

## महाकुम्भ : विराट् ऐक्य-साधना

शताब्दियों से अनवरत चली आ रही 'महाकुम्भ-पर्व' की सनातन परम्परा मूलतः भारतीय संस्कृति की विराट् ऐक्य-साधना की ही प्रतीक है। सभी धर्मों के मतानुयायी साधु-संन्यासी, सभी दर्शनों के अध्येता, महन्त-पीठाधीश और जनता के प्रत्येक वर्ग के छोटे-बड़े, धनी-निर्धन इस महाकुम्भ के महापर्व पर तीर्थराज प्रयाग एवं अन्य तीर्थों में उत्तर-दक्षिण, पूरब-पश्चिम से एकत्र होते हैं। इस पर्व पर न तो भाषा के झगड़े उठते हैं और न ही प्रादेशिकता कहीं आड़े आती है। सच यह है कि महाकुम्भ में आस्था की कोर से बँध कर आने वाला न पंजाबी होता है, न गुजराती, न बंगाली होता है, न मराठी और न तमिल या तेलुगु या कन्नड़ या मलयालम भाषी होता है; बल्कि सब के सब 'एक प्राण' भारतीय बनकर गंगा-यमुना और सरस्वती के पावन संगम-स्थल पर 'अमृत-पान' के लिए आते हैं।

वस्तुतः हरिद्वार उत्तर दिशा, प्रयाग मध्य दिशा, उज्जयिनी पश्चिम दिशा और नासिक दक्षिण दिशा में होने के कारण 'कुम्भ-पर्व' हमारी भौगोलिक एकता का महापर्व भी बन गया है।

महान परम्पराओं के ध्वजवाहक दशनामी साधु, उदासीन साधु,, निर्मल सन्त, दादू-पंथी, कबीर-पंथी, शैवमत के अनुयायी, वैष्णव, अद्वैत वादी एवं रामानन्द के अनुयायी आदि सभी महाकुम्भ-पर्व पर एकत्र होते हैं और भारतीय ऐक्य-साधना की भावना को उत्तरोत्तर सुदृढ़ बनाते हैं।

यह सर्वमान्य सत्य है कि महाकुम्भ के इस पर्व पर सर्वत्र अनूठा समता और पवित्रता का जो वातावरण व्याप्त रहता है, वह समस्त भारतवासियों को प्राण शक्ति के साथ-साथ अदम्य जिजीविषा और एकता का अनूठा अमृत दे देता है।

महाकुम्भ के इस महापर्व के समय आस्थावान जिज्ञासुओं को आलवार सन्तों की द्वादश शाखाओं, विष्णु स्वामी, श्रीमद् रामानुजाचार्य, माधवाचार्य, वल्लभाचार्य, निम्बार्क एवं महाप्रभु चैतन्य द्वारा प्रचारित मतों को मानने वाले दार्शनिकों, चिन्तकों, आचार्यों एवं विद्वानों के रसपूर्ण प्रवचनों से जो आत्मज्ञान प्राप्त होता है, वही तो वस्तुतः जीवन का 'अमृत' होता है।

युगों से चली आ रही 'महाकुम्भ' की यह सनातन परम्परा निश्चय ही हमारी अमृत-धरोहर है। समुद्र-मंथन से जो 'अमृत' मिला था, वह मूलतः 'सत्त्व' ही था, जिसे नष्ट होने से बचाने का विराट् प्रयास देवताओं के प्रतिनिधि इन्द्र-पुत्र जयन्त ने किया था। आज हमें भी, अपने 'राष्ट्र-सत्त्व' अर्थात् 'राष्ट्रीय एकता' एवं 'समन्वय-चेतना' की रक्षा करनी है। सहस्रों वर्षों की हमारी अटूट अजेय आस्था, अदम्य जिजीविषा एवं विराट् जन-विश्वास का प्रतीक 'महाकुम्भ-पर्व' हमारी शाश्वत ऐक्य-साधना का अमृत-कुम्भ ही है, जिसकी रक्षा हमें सतत करनी है।

गंगा, यमुना और सरस्वती के संगम-स्थल तीर्थराज प्रयाग में अमृत रूपी 'राष्ट्र-सत्त्व' की खोज में पुनः भारत के जन अजेय आस्था को लेकर एकत्र हों, तो टूटते-बिखरते मानव-मूल्यों की रक्षा का संकल्प सबको लेना ही होगा।

●

# कुम्भ की मैली होती मौलिकता

**उदयप्रताप सिंह**

भारतीय मनीषा की विशेषता उसकी सार्वभौमिकता में तथा लोकपक्ष का निदर्शन उसकी सर्वस्पर्शिता में निहित है। व्रत, लोकोत्सव, त्यौहार, पर्व, तीर्थ-स्नान, मंदिर, देवस्थान, नदी, पर्वत, देवता, संत, ऋषि-मुनि, साधक, योगी, फकीर, धर्म, सम्प्रदाय, धार्मिक एवं आध्यात्मिक पुराख्यान आर्ष ग्रन्थ उसके उपस्कारक हैं। भारतीय संस्कृति की वर्द्धमानता और ताजगी उसके सनातन प्रवाह में है। यही कारण है कि भारत भूमि का प्रत्येक कण देवत्व से प्रतिष्ठित है। पत्थर जैसा नीरस और कर्कश उपकरण भगवान् और भगवती का आश्रय स्थल बन जाता है। नदियाँ कल्मष हारिणी, नवजीवन दायिनी हैं। सूर्य चंद्र, तारे सबमें एक अलौकिकता (देवत्व) का संसार बसता है, नवस्पंदन होता है। पूर्वज, संत-साधक, इतिहास सभी प्रेरणा देते हैं। जब हम भौतिक जीवन से थक चुके होते हैं, थक कर चूर-चूर हो जाते हैं, मन से तन से परिश्रांत हो जाते हैं, अपकर्मों से गिर जाते हैं, नैतिकता से च्युत हो जाते हैं, समाज से ठुकरा दिए जाते हैं, और परिवार से त्याज्य हो जाते हैं- तब भी हमें उठने का, उठकर सँभलने का, सँभलकर चलने का, निराशा के तमिस्त्र को चीर कर नवजीवन को स्पंदित करने का एक अवसर बचा ही रहता है उसे ही हम पर्व कहते हैं ऐसे पर्वों का समूह ही धर्म बनता है। धर्मों का समुच्चय ही कुम्भ का रूप धरता है। यह धर्म आध्यात्मिक परिवार का सर्वश्रेष्ठ सदस्य है। संतों, मुनियों, ऋषियों का आजमाया नुस्खा है। पूर्वजों का हमजोली है। प्रेम, सौहार्द और समरसता का सगा भाई है। देश, संस्कृति तथा प्रकृति से उद्भूत मनुष्यता का आधार है। वह अशरीरी होते हुए भी मनुष्य के मन पर जबर्दस्त प्रभाव डालता है। उसकी भीनी गंध आत्मा की चिरसंगिनी बन जाती है।

भारत संतों की भूमि है। यहाँ पर्वों पर मेले लगते हैं। कहा गया है कि सात वार तेरह त्यौहार। होली, दीवाली दशहरा, मकरसंक्रांति, बिहू, पोंगल, गुड़पड़वा, वर्ष प्रतिपदा, बैसाखी, एकादशी, पूर्णिमा, पंचमी न जाने कितनी लोक से जुड़ी तिथियाँ और ना मालूम कितने लोक में प्रचलित त्यौहार। इसी बीच महाकुम्भ का धमाका तो 'सौ सुनार की न एक लुहार की' जैसा हो गया। कुम्भ क्षेत्र में कहीं शक्ति, कहीं भक्ति,

कहीं शिव तो कहीं वैष्णव का साम्राज्य है, कहीं सीता, कहीं सावित्री तो कहीं पार्वती की लोकपगी ध्वनि। कहीं संन्यासी, कहीं संत, कहीं योगी, कहीं रसभोगी तो कहीं वैरागियों की जमात की जमात। सबको एक ही जगह एक ही नजर में देखना है तो कुम्भ को देखें।

गंगा, यमुना और अदृश्य सरस्वती की गम-गम बहती धारा में न जाने कौन सी मादकता है कि सगुण-निर्गुण, शैव-शाक्त, वैष्णव, सम्प्रदायों के साधु, संन्यासियों के तेरह अखाड़े, वैष्णवों के बावन द्वारे, चतु:सम्प्रदाय के 700 खालसे सब संगम तट पर ही धुनी रमाते दिख जाते हैं, कुम्भ की धर्मसम्मत शुरुआत, अखाड़ों के अपने-अपने ध्वजोत्तोलन से होती है। पचासों फीट के पेड़ दण्ड के रूप में और पच्चीसों मीटर कपड़े ध्वज के रूप में। वैरागियों में दिगम्बरी, अनी और निर्वाणी के ध्वज जब खड़े होते हैं तो एक कुम्भ से दूसरे कुम्भ की गारण्टी देते नजर आते हैं। ये सब प्राय: अयोध्या के वैरागी हैं। देह-धजा-डील-डौल आकर्षक है। सभी पहलवान हैं, सभी हनुमत् भक्त भी हैं पर विशाल पेड़ का दण्ड शिव की धनुष की तरह टस से मस नहीं हो रहा है। क्रेन से ध्वजोत्तोलन होता है। उस अवसर पर भारतीय अखाड़ा परिषद के शीर्ष लोग भी उपस्थित रहते हैं पर न उनके मुख से जैकारा सुनाई पड़ता है न धर्म की वाणी ही फूटती है। निकलती है तो कर्कश वाणी, विदेशी पर्यटक पूछते हैं 'क्या बोला'– कौन बताए, बताने लायक हो तब तो बताए पर साम्प्रदायिक साधु हैं या कि श्रीमहंत उनके शब्दों पर रीझते हैं, दौड़ते हैं और झल्लाते भी हैं।

प्रयाग कुम्भ में गंगा यमुना भले ही सूखती नजर आएँ पर बहुरंगी सम्प्रदायों की बाढ़ सी आ गयी है। पोस्टरों की प्रतिस्पर्द्धा है और व्यक्तिगत तथा सरकारी धन खर्च होने की विवशता भी। कुम्भ में केवल पोस्टर युद्ध का खर्च निकाला जाय तो अरब रुपये की संख्या छोटी पड़ जायेगी। कुम्भ का कण-कण प्रचार में डूबा है। प्रकृति और संस्कृति गायब हैं। प्रकृति की हरियाली के नाम पर गंगा यमुना की क्षीण रेखा भर दिख पाती हैं। विज्ञापन का आक्रमण साधुता के ज्ञापन को घायल कर रहा हैं पोस्टरों में कहीं साध्वी, कहीं पुण्य-त्रिपुण्ड धारी सम्प्रदायों के संन्यासी-साधु और श्रीमहंत हैं। मठों के कुटिल चेले कुशल प्रबंधक बन बैठे हैं। अमलातंत्र का तामझाम है। अखाड़ा परिषद् के अध्यक्ष और मेलाधिकारी की हनक है। पंथों के तम्बू, शिविर, कनात, गाड़ी, घोड़ा, ऊँट, मानस मर्मज्ञ, कथा वाचक, बापू, श्रीमहंत, साधु-संसार के जाने अजाने कितने पंथ हैं। मण्डलेश्वर, महामण्डलेश्वर, निवृत्त और प्रवृत्त शंकराचार्य, यति, गिरि, साधक और ब्रह्माण्डधारी तक मेले में सहजत: मिल जाते हैं। पर सभी प्रचार युद्ध में एक दूसरे को पराभूत करने के लिए उतावले हैं। कुम्भ के अंदर क्या हो रहा है? क्या

यही कुम्भ की परम्परा है? उसका रूप बदल रहा है। परम्परा पीछे, प्रदर्शन आगे है, कुम्भ में बाजारवाद घुस रहा है। रुपया अपने वैभव पर इठला रहा है। वह धर्म, पंथ और साधु-साधक को अपने वैभव से ढँकने का पुरजोर प्रयास कर रहा है। अभी-अभी हम कहते फिर रहे थे कि कुम्भ संसार का सबसे बड़ा मेला है, सबसे बड़ी आस्था है, सबसे बड़ा पर्व है, बिना विज्ञापन की भीड़ है। पारम्परिक विश्वास की अतल गहराई है पर अब तो विज्ञापन के बाजारवाद ने उस गर्वोक्ति को भी मसल दिया है। यह धर्म का कौन पक्ष सा है? इसके पीछे न लोक नजर आता है न शास्त्र ही। पंथों को, श्रीमहंतों को, साधु-संतों को इसपर सोचना होगा। धर्म सभा के लिए कुम्भ से अधिक अनुकूल मंच कहाँ मिलेगा? कुम्भ से अधिक पंच और सरपंच कहाँ मिलेंगे?

कुम्भ में साधु-संतों का विशाल संसार है। उसे देखने पर लगता है कि गृहस्थाश्रम बेकार है। कबीर की पंक्ति याद आती है, 'साधु न चलै जमात'। माया से दूर रहने के लिए जिन्होंने घर-बार एक ही झटके में छोड़ दिया वे कुम्भ में माया के पीछे उसी तरह भाग रहे हैं जैसे राजा दिलीप संतान के लिए गाय के पीछे दौड़ रहे थे। पैदल चलने वाले साधुओं की संख्या उँगलीपर गिनी जा सकती है। बड़ी-बड़ी लक्जरी गाड़ियाँ, भस्माच्छादित संतों को बैठाने में ना-नुकुर करती है पर संत हैं कि मानते नहीं। सबके पास महँगे मोबाइल हैं, लकदक कपड़े हैं, दूर से ही गमकते सेंटेड शरीर है। नागाओं का हुजूम तो हर कुम्भ की रौनक ही बढ़ाता है पर उनका शाही स्नान, शाही शान-शौकत मुगलकालीन नवाबों को मात दे रहा है। लौकिकता के जाल में उलझा गृहस्थ भी यही कर रहा है। साधु और गृहस्थ के बीच एक रेखा तो होनी चाहिए जो दोनों को अलग दिखा सके। जैसे प्रयाग के संगम में गंगा-यमुना दिखती हैं। नागाओं के पास घोड़े-गाड़ी, रथ, चांदी के छत्र, और चँवर सब कुछ है पर नागाओं की घटती संख्या से श्रीमहंतों के माथे पर वक्र रेखा दिखायी पड़ रही है। यद्यपि नागाओं, वैरागियों को गढ़-गढ़ कर बनाने के प्रायोजक और प्रयोजन दोनों हैं। स्वतः उपजे वैराग्य का कहीं पता नहीं है। साधुता की वृत्ति से समाज सेवा का जज्बा और हृदय की भक्ति अब एक धुँधली रेखा जैसी लगने लगी है। जैसे पर्वतों की घाटी में बस्ती दिखती हो। नकली साधु-संत हाईलाइट हैं, स्वयंभू शंकराचार्य और जबर्दस्ती बने जगतगुरु साधु-समाज को कलंकित कर रहे हैं। उन्हीं में से कुछ बड़े शहर पकड़कर योगी का ढोंग रच सिनेमाई अंदाज में थिरक सम्मोहन पैदा कर रहे हैं। ये साधुओं की जमात पर बदनुमा दाग हैं। धर्म के नाम पर ऐसे कालनेमि स्वदेश-विदेश में लीला मगन हैं। प्रयाग कुम्भ के मंच पर क्या ऐसे 'साधु-संतों' की खोज-खबर ली जायेगी?

कुम्भ सनातनता का आकाशधर्मी मंच है, धार्मिक लफड़ों का सुप्रीम कोर्ट है, तप का तपस्या का, ज्ञान-विज्ञान और परिज्ञान का, रहस्य और भगवान् का, साधक और किसान का ज्योति पुंज है। फिर प्रदर्शन कैसा, आडम्बर कैसा, कई एक विज्ञापनों को देखकर पढ़कर लगता है कि यह धर्म का नहीं व्यक्ति विशेष का प्रचार है, यह संत समाज नहीं व्यक्ति का अहंकार है। कुम्भ में तेजोद्दीप्त महात्मा हैं, वैराग्य से भरे संत हैं, और साधना के हिमालय पर चढ़े श्रीमहंत भी हैं पर इनकी दशा कुम्भ में दाँतों के बीच जीभ जैसी लगती है। सन् 2013 का प्रयाग कुम्भ इसपर भी विचार कर सके तो अच्छा ही होता।

कुम्भ हमारी संस्कृति का धरोहर है। यह हमें जीवन देता है, नवजीवन का स्पंदन करता है। जीवन जीने का सलीका बताता है। लोक-वेद का समन्वय करता है और मनुष्य समरस बने इसका प्रति बारह वर्ष पर एक अवसर देता है। हमें सोचना है कि हम इसका कितना अंश प्राप्त कर सके हैं? प्रयाग केवल उत्तर प्रदेश का नहीं तमिल और तेलगु भाषियों का भी है, बांग्ला और मलयालम के गीतों में इसकी सैकड़ों धारायें फूटती हैं। गंगा यमुना और सरस्वती पूरे देश की है, 'जिस देश में गंगा बहती है।' कुम्भ हमें यह भी सिखाता है कि हम सब की माता पृथ्वी है, सबके पिता परमेश्वर हैं, हम अमृतपुत्र हैं, हमारे एक दूसरे से बंधने की डोर यही कुम्भ और संगम है। हम बँटे हो सकते हैं पर गंगा यमुना सरस्वती और कुम्भ हमें बटने नहीं देंगे।

कुम्भ स्नान से गृहस्थों का कल्मष ही नहीं धुलता, साधु का अंतस भी निर्मल होता है। यह पर्व प्रकृति की अनोखी घटना ही नहीं, धर्म क्षेत्र की साधनात्मक प्रक्रिया भी है। कुम्भ में प्रवाहित तप-तपस्या और साधना की त्रिवेणी से समाजरूपी फसल लहलहा उठती है। कुम्भ में उमड़ता जन-सैलाब प्रवृत्ति के साथ निवृत्ति का बोधक भी है। यह ज्ञापन की तपोभूमि है। विज्ञापन का चित्रपट नहीं। यह विरक्ति का संगम है। शाही गतिवधियों का मंचन नहीं। यह भारत के चिरंतन प्रवाह की अमृतमयी प्राणधारा है।

कुम्भ में आज प्रदर्शन है साधु-संत और धर्म का दर्शन नहीं। कुम्भ स्नान के लिए निकलने वाला शाही रथ कहीं भी कुम्भ की मूल प्रकृति से नहीं जुड़ता है। वह जुलूस संत नहीं सामंत का आभास कराता है। आम जन साँसत में पड़ते हैं। प्रतिवर्ष कई लोग कालकवलित होते हैं। कुम्भ में दानदक्षिणा गायब है। धन दोहन का दौर चल रहा है। अब साधुता, तप और वैदुष्य संत, श्रीमहंत, मंडलेश्वर, जगतगुरु, शंकराचार्य बनने का आधार नहीं। अखाड़ों को पटा लेने से सभी उपाधियाँ सहज उपलब्ध हैं। धन-दौलत की मारामारी है। धर्म प्राण आम जन का दिया धन अब महंतों की महत्त्वाकांक्षा

में खर्च हो रहे हैं। यह उसी तरह का करतब है मानो मादक पदार्थ की आय से कोई मंदिर बना ले।

प्रयाग कुम्भ में शताब्दियों पूर्व सम्राट हर्षवर्द्धन अपने राज्य की आय का अधिकांश दान कर देता था। बहन राजश्री की दी हुई राशि से अपने राज्य में वापस आता था। उस प्रकार की दानवीरता अब कुम्भ में कहाँ है? उसकी त्यागवृत्ति की समानता क्या किसी शंकराचार्य के पास है? ज्ञान-ध्यान, तपश्चर्या शास्त्र-लोक, धर्म की उलझी गुत्थियाँ जो कहीं भी हल नहीं होती थीं उन पर कुम्भ में विमर्श होता था। पर आज पांडाल किस सम्प्रदाय का सबसे बड़ा है इसी की चर्चा होती है। सब मिलाकर कहा जा सकता है कि कुम्भ अपनी मौलिकता से च्युत हो गया है।

●

# जगद्गुरु रामानन्दाचार्य प्राकट्यधाम

**श्रीकृष्ण चौधरी ***

चैतन्य महाप्रभु के महान् शिष्य श्री गोपाल भट्ट थे जिनकी प्रेमाभक्ति के फलस्वरूप श्री वृन्दावन धाम में भगवान् साक्षात् नारायण शालिग्राम शिला से श्री राधारमण देव जी स्वयं प्रकट हुये थे। हमारे परिवार के पुरोधा चौधरी द्वारकादास श्री राधारमण जी के अनन्य भक्त एवं महान् धर्मात्मा थे।

चौ. द्वारकादास ने वृंदावन धाम में सन् १८०२ में यमुना तट पर केसी घाट पर स्थित खाली भूमि को वहाँ के तीर्थपुरोहितों से क्रय किया एवं यमुना पर पक्का घाट बनवाकर ऊपर भव्य मन्दिर का निर्माण कराया और वहाँ ललित किशोर जी की (अष्टधातु की मूर्ति) प्राण-प्रतिष्ठा कर स्थापना की।

तीर्थराज प्रयाग के सम्बन्ध में चौ. द्वारकादास को सन् १८०३ में गंगा तट पर यह ज्ञात हुआ कि यहाँ रामानन्द जी का जन्म हुआ था। यहाँ पर समर्थ गुरु रामदास जी ने अपने प्रयाग प्रवास के समय साधना की थी एवं इसके निकट उत्तर दिशा में दक्षिण मुख हनुमान जी की मूर्ति प्राण-प्रतिष्ठा कर स्थापना की, जो वर्तमान समय में संकटमोचन छोटे हनुमान जी के नाम से बहुत प्रसिद्ध हैं। यहाँ पर रामानन्दी संत रहते थे।

चौधरी द्वारकादास ने जब इस स्थल को क्रय करने का प्रस्ताव संतों से किया तो संतों ने यह कहा कि यह तीर्थराज प्रयाग की सबसे पवित्र भूमि रामानन्द जी की जन्मस्थली है। समर्थ गुरु रामदास जी ने भी यहाँ तपस्या की थी। इस कारण से यह स्थल विक्रय योग्य नहीं है। किन्तु आपकी भक्तिभावना को देखते हुए आप चाहें तो धार्मिक कृत्यों व साधु-संतों की सेवा हेतु धर्मशाला-निर्माण का संकल्प करें तो आपको यह स्थल दिया जा सकता है, जिसे द्वारकादास ने स्वीकार कर लिया।

---

१. जगद्गुरु रामानन्दाचार्य का प्राकट्य स्थल रामावत सम्प्रदाय के लिए एक संजीवनी सदृश है। इस शोधपूर्ण दस्तावेज में सात सौ वर्षों उपरांत प्राकट्य धाम का ज्ञात होना सत्य की विजय ही है। यह रामावत सम्प्रदाय का एक तीर्थ है जो काल की कुहेलिका से शताब्दियों बाद प्रगट हुआ है। काशीवासी धर्म प्राण श्रीकृष्ण चौथरी (अग्रवाल) का सभी रामभक्त और रामानन्द समर्थक चिरऋणी हैं।

* मन्दिर ठाकुर हरित माधव जी महाराज एवं जगद्गुरु रामानन्दाचार्य प्राकट्य धाम भवन सं. ४५/४२, मोरी, दारागंज, प्रयाग, इलाहाबाद के ऐतिहासिक तथ्य —सम्पादक

इस प्रकार रामानन्दी संतों के निर्देश पर जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है सन् १८०३ में धर्मशाला एवं ठा. हरित माधव मन्दिर का निर्माण हुआ जो कालान्तर में धर्मशाला चौधराइन साहिबा के नाम से विख्यात हुआ। चौधरी द्वारकादास के बाद उनके पुत्र उग्रसेन इस स्थल की देखरेख व रख-रखाव करते रहे। चौधरी उग्रसेन के बाद उनके पुत्र चौधरी जगन्नाथ प्रसाद ने इसकी देखरेख की और आगे विकास कार्य कराया किन्तु छोटी आयु में ही इनका निधन हो गया। इनके बाद उनकी पत्नी हरदोई बीवी ने अपने पति के अधूरे कार्य को पूरा किया व धार्मिक क्रियाओं व मर्यादाओं का काफी उत्थान किया। हरदोई बीवी वृन्दावन, काशी व प्रयाग में साधु-संतों व गरीबों को बहुत दान करती थीं व सामाजिक सेवा करती थीं तथा समय-समय पर जन कल्याण हेतु बड़े-बड़े धार्मिक आयोजन कराती रहती थीं। एक धार्मिक रईस खानदान की प्रतिष्ठित महिला चौधराइन के नाम से देश और समाज में उनकी पहचान थी।

श्रीमती हरदोई बीवी के एकमात्र दत्तक पुत्र चौधरी रामप्रसाद अपनी माता जी के निर्देशानुसार धर्मशाले व ठा. हरित माधव मन्दिर (श्याम माधव) की देखभाल करते रहे तथा उनके कार्यकाल में इस स्थान का बहुत वैभव था। ठा. हरित माधव जी के नाम एक बड़ी जमींदारी थी, हाथी, घोड़े, रथ, नौकर, चाकर आदि थे। साधु-सेवा, अतिथि-सेवा के साथ-साथ यहाँ नित्य सदावर्त दान की परम्परा थी। पंच क्रियाओं के साथ धर्मध्वजा यहाँ हमेशा लहराती रहती है।

कालान्तर में चौ. रामप्रसाद ने अपनी वृद्धावस्था के समय धार्मिक स्थान के मंगलमय भविष्य की कल्पना की और दिनांक २९.०४.१९३३ के एक वक्फ (ट्रस्ट) बनाकर प्रयाग व वृन्दावन के धार्मिक स्थल को ठा. हरित माधव जी के नाम कर दिया और यह लिख दिया गया कि इसे कोई रेहन व क्रय नहीं कर सकता एवं भविष्य में इस धार्मिक सम्पत्ति की देख-रेख की व्यवस्था हेतु अपने पुत्र चौ. भगवानदास व पौत्र राधारमण चौधरी पुत्र गोपाल दास चौधरी को नियुक्त किया एवं निर्देशित किया कि वे अपने जीवन काल तक इसकी व्यवस्था का कार्यभार देखेंगे और अपने पश्चात् श्री राधारमण सेवा समिति काशी, नारायण पार्क, शिवपुर, काशी को इसकी व्यवस्था हेतु हस्तान्तरित कर देंगे। श्री राम प्रसाद चौधरी समिति के फाउन्डर सदस्य थे।

चौधरी भगवानदास जी का सन् १९४७ में स्वर्गवास हो गया और उनके पश्चात् श्रीमती रामकली देवी पत्नी स्व. चौधरी लाल किशोरी लाल झूँसी शूगर मिल वाले, अपने जीवन पर्यन्त सन् १९६० तक इस स्थल पर रहकर सदावर्त बँटवाती थीं तथा समय-समय पर पारिवारिक परम्परा के अनुसार धार्मिक आयोजन व अनुष्ठान आदि करवाती थीं। प्रतिवर्ष माघ मास में नित्य दान करती थीं। चौधरी राधारमण जी का देहान्त सन् १९६४ में हो गया।

श्री राधारमण जी के मृत्युपरान्त उनकी पत्नी श्रीमती जगदम्बा देवी ठा. हरित माधव जी की सेवा के निमित्त धन देती रहती थीं। वह बहुत धार्मिक प्रवृत्ति की थीं, प्रतिवर्ष अपने पुत्रवधू शरद देवी पत्नी श्रीकृष्ण चौधरी के साथ माघ मास में कल्पवास करती थीं तथा अन्नदान व ऊनी वस्त्र दान करती थीं।

चौ. राधारमण पुत्र चौ. गोपालदास ने अपने जीवन काल में एक वसीयतनामा दिनांक ३०.११.१९६३ के द्वारा अपने बाद श्री राधारमण सेवा समिति, काशी को इस स्थान की व्यवस्था हेतु वसीयत सौंप दी। इस प्रकार इनके निधन के बाद श्री राधारमण सेवा समिति काशी इस स्थान की व्यवस्था वसीयतनामा के अनुसार देखने लगी।

श्री राधारमण सेवा समिति, काशी के पास अत्यधिक कार्य होने के कारण प्रयाग एवं वृन्दावन की व्यवस्था उपेक्षित रही, जिसके कुप्रभाव से वृन्दावन में राधारमणी संकर्षण गोस्वामी ने सन् १९७९ में नन्हेंलाल गोस्वामी (पुजारी) के मृत्यु के बाद इस सम्पत्ति पर कब्जा कर लिया और अपना अधिकार मालिकाना बताने लगे। श्री राधारमण सेवा समिति के तत्कालीन मंत्री स्व. बलदेवदास अग्रवाल ने सिविल जज, मथुरा के अदालत में मुकदमा नं. १६० सन् १९८१ में ठा. हरित माधव जी बनाम संकर्षण गोस्वामी बेदखली के लिए मुकदमा दायर किया, जिसका निर्णय ठा. हरित माधव जी के पक्ष में दिनांक ०२.११.१९८९ को हो गया।

विपक्षी संकर्षण गोस्वामी ने मुकदमा हारने के पश्चात् माननीय उच्च न्यायालय में प्रथम सिविल अपील सं. ९५ सन् १९९० में दाखिल किया। उसके पश्चात् उन्होंने अपने क्लेम को एक रजिस्टर्ड सरेण्डर डीड दिनांक १७.०२.१९९५ द्वारा विवादित सम्पत्ति पर से अपना क्लेम व अधिकार वापस ले लिया। उक्त सम्पत्ति चौधराइन जी के कुन्ज के नाम से जानी जाती थी। मुकदमा सं. १६० सन् १९७९ के दरमियान राधारमण चौधरी के वसीयत दिनांक ३०.११.१९६३ के सम्बन्ध में उनके चार पुत्रगण (हरेकृष्ण चौधरी, रामकृष्ण चौधरी, श्रीकृष्ण चौधरी व जयकृष्ण चौधरी) ने अपनी सहमति वसीयत के पक्ष में अपने-अपने लिखित हस्ताक्षर से शामिल रूप में दी थी।

संकर्षण गोस्वामी ने उच्च न्यायालय में अपने प्रथम सिविल अपील सं. ९५ सन् १९९० में एक दर्खास्त दिनांक २३.०२.१९९५ को अपने हस्ताक्षर से दाखिल किया कि वे मुकदमा लड़ना नहीं चाहते हैं। इस प्रकार संकर्षण गोस्वामी द्वारा दाखिल प्रथम माननीय अपील उच्च न्यायालय द्वारा खारिज कर दी गयी।

दिनांक ३०.०३.१९९५ को समिति के सभापति श्री गौरकृष्ण गोस्वामी सभापति एवं श्री हिरण्यगर्भ शाह मंत्री ने वहाँ के असामाजिक तत्वों से सम्पत्ति को

बचाने के लिए श्री प्रभुपाद भक्ति सिद्धान्त वर्ल्ड मिशन के प्रेसिडेन्ट त्रिडण्डी स्वामी भक्ति विबुद्ध बोधायन शिष्य त्रिडण्डी स्वामी भक्त प्रमोद जी महाराज (आयु ९१ वर्ष) श्रीलप्रभुपाद भक्ति सिद्धान्त सरस्वती ठाकुर जी के शिष्य थे, जो गोपीनाथ गौड़ीय मठ, इशेद्यान्त मायापुर, जिला नदिया वेस्ट बंगाल के थे, को लीज पर दे दिया एवं प्रयाग में स्थिति यहाँ तक आ गयी कि स्थान के रख-रखाव हेतु कोई आर्थिक स्रोत नहीं रह गया, ठा. हरित माधव जी की पूजा-अर्चना की सामग्री व राजभोग इत्यादि के लिए भी कोई स्रोत नहीं था, स्थान भी धीरे-धीरे खण्डहर होने के करीब आ गया एवं कुछ लोग यहाँ आकर अवैध तरीके से रहने लगे, किन्तु स्थान का संस्कार प्रबल था, इसलिए ठा. हरित माधव जी की कृपा से यहाँ पर नियुक्त पुजारी श्री राधेश्याम मिश्र पुत्र स्व. रामदास मिश्र के द्वारा ठा. जी की सेवा, पूजा देख-रेख व सुरक्षा तन-मन-धन से की गयी एवं धर्मशाला के दक्षिण पूर्व भाग की खाली जमीन व शिवाला की सुरक्षा हेतु न्यायालय में वाद दाखिल किया गया, जो मुकदमा सं. ७३७/९५ ठा. हरित माधव बनाम विमलानन्द अस्थायी निषेधाज्ञा के साथ चालू हुआ। समिति के लगातार उपेक्षा के कारण स्थान के अंधकारमय भविष्य को देखते हुए समिति के अधिवेशन में समिति के सहायक मंत्री एवं संस्थापक परिवार के सदस्य श्रीकृष्ण चौधरी ने प्रस्ताव रखा कि समिति यदि तीर्थराज प्रयाग स्थित ठा. हरित माधव मन्दिर भवन सं. ४५/४२ मोरी, दारागंज की सुचारु व्यवस्था नहीं कर सकती तो वह उसे किसी सम्पन्न ईमानदार व प्रतिष्ठित धार्मिक संस्था या किसी योग्य धर्माचार्य को व्यवस्था सौंप दे, जिसका समर्थन सर्वसम्मति से हुआ तथा योग्य संस्था अथवा योग्य धर्माचार्य के चयन हेतु सहायक मंत्री श्रीकृष्ण चौधरी को अधिकृत किया गया व निर्देशित किया गया कि वे समिति के अगले साधारण अधिवेशन में चयनित संस्था या धर्माचार्य का नाम प्रधान प्रबन्धक के लिए प्रस्तावित करें।

समिति के अगले साधारण अधिवेशन दिनांक ३०.१०.१९९४ की बैठक में प्रस्ताव सं. ७ में समिति के सहायक मंत्री श्रीकृष्ण चौधरी ने जगद्गुरु रामानन्दाचार्य स्वामी श्री रामनरेशाचार्य जी, श्रीमठ, पंचगंगा, काशी (वाराणसी) का नाम प्रस्तावित किया, जिसे सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया गया। अधिवेशन दिनांक ३०.१०.१९९४ की बैठक में स्व. हरेकृष्ण चौधरी, स्व. रामकृष्ण चौधरी, श्री जयकृष्ण चौधरी पुत्रगण स्व. राधारमण चौधरी भी उपस्थित थे और उन लोगों ने भी स्वीकृति प्रदान की।

पश्चात् श्री राधारमण सेवा समिति के द्वारा वैधानिक तरीके से व्यवस्था हस्तान्तरित करने का अधिकार सभापति एवं सचिव को दे दिया गया। जो दिनांक २७.११.१९९९ को सम्पन्न हुआ। जिसमें प्रधान प्रबन्धक जगद्गुरु रामानन्दाचार्य

स्वामी श्री रामनरेशाचार्य के साथ-साथ निम्नलिखित लोगों को ट्रस्ट का सदस्य बनाया गया–

१. श्री देवेन्द्र कुमार साह पुत्र श्री श्याम कुमार साह मंत्री श्री राधारमण सेवा समिति, काशी।
२. श्री कृष्ण चौधरी पुत्र स्व. राधारमण चौधरी सदस्य संस्थापक परिवार काशी।
३. श्री अरुण जगदीश मनोहर पुत्र स्व. राजेश्वर मुरली मनोहर पौत्र चौ. भगवानदास, सदस्य संस्थापक परिवार, कोलकाता।
४. पं. काशीनाथ त्रिपाठी वरिष्ठतम अधिवक्ता प्रयाग, इलाहाबाद।
५. श्री आनन्द प्रकाश श्रीवास्तव, अधिवक्ता, उच्च न्यायालय, इलाहाबाद।
६. श्री विनयकृष्ण अग्रवाल पुत्र श्री विजय कुमार अग्रवाल, इलाहाबाद।
७. श्री फौजदार राय, अधिवक्ता, उच्च न्यायालय, इलहाबाद।
८. श्री विष्णु शुक्ला (बड़े भइया) इन्दौर, मध्यप्रदेश।
९. श्री विष्णु विन्दल, इन्दौर, मध्यप्रदेश।
१०. श्री दयासिन्धु शर्मा, काशी, वाराणसी।
११. श्री धरासिंह, प्रयाग, इलाहाबाद।

तदोपरान्त दिनांक ०६.११.२००० को नगर निगम, इलाहाबाद में इस स्थान के प्रधान प्रबन्धक के रूप में जगद्गुरु रामानन्दाचार्य स्वामी श्री रामनरेशाचार्य जी, श्रीमठ, पंचगंगा, काशी (वाराणसी) का नाम दर्ज किया गया।

आदि जगद्गुरु रामानन्द की कृपा व प्रेरणा से वर्तमान में इस स्थान की व्यवस्था जगद्गुरु रामानन्दाचार्य श्रीरामनरेशाचार्य जी, श्रीमठ,पंचगंगा काशी (वाराणसी) के द्वारा सुचारु रूप से देखी जा रही है। इस स्थान पर हरितमाधव जी का मन्दिर, दो शिवाले, धर्मशाला चौधराइन साहिबा व तीन कुआँ मौजूद हैं। मन्दिर व धर्मशाले का जीर्णोद्धार किया जा रहा है एवम् रामानन्द जी की जन्मस्थली को रामानन्द प्राकट्य धाम के रूप में विकसित किया जा रहा है, जो एक ऐतिहासिक पुनीत कार्य है। यहाँ धार्मिक अनुष्ठान, संत सेवा, अतिथि सेवा, अन्न दान इत्यादि धार्मिक कृत्य हो रहे हैं तथा धीरे-धीरे यह प्रचीनतम स्थल अपने पुराने धार्मिक वैभव की ओर अग्रसर हो रहा है।

इस पुनीत कार्य में संस्थापक परिवार के सदस्य श्रीकृष्ण चौधरी, अरुण जगदीश मनोहर एवं स्व. हिरण्यगर्भ शाह, पूर्व मंत्री श्री राधारमण सेवा समिति काशी का विशेष योगदान है। पं. स्व. काशीनाथ त्रिपाठी, आनन्द प्रकाश श्रीवास्तव, आर. एन. सिंह, एवं प्रयाग के अन्य संभ्रान्त लोगों का सहयोग प्राप्त हो रहा है। फलस्वरूप स्थान का भविष्य बहुत ही मंगलमय और उज्ज्वल है। आशा है कि भविष्य में यह स्थल देश

की ऐतिहासिक धरोहर के रूप में ख्याति पायेगा।

चौ. परिवार के धार्मिक प्रवृत्तियों के तथा रामानन्द जी के पुण्य के फलस्वरूप यह स्थान पुनः रामानन्दी महात्मा जगद्गुरु रामानन्दाचार्य स्वामी श्री रामनरेशाचार्य जी के हाथों में आया और उनके प्रयास से इसका भविष्य उज्ज्वल हो रहा है तथा रामानन्द जी की कीर्तिपताका लहराती रहेगी।

परमप्रभु श्रीरामजी की असीम अनुकम्पा से जगद्गुरु रामानन्दाचार्य जी का प्राकट्य धाम प्रकट हो रहा है, जो शताब्दियों से इतिहास के पृष्ठों में संतों एवं भक्तों के मानसमन्दिर में अतीव क्षीणप्रकाश होकर, मेघाच्छादित सूर्य के समान लुप्त हो रहा था। वह भी तीर्थराज प्रयाग में जहाँ पूर्णकुम्भ-अर्द्धकुम्भ एवं माघ मेला समायोजित होते हैं। जहाँ आज भी रामानन्द सम्प्रदाय के पचासों आश्रम समृद्धि के साथ विराजमान हैं। जहाँ राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक गतिविधियों की भरमार है। तीर्थराज प्रयाग में तीर्थत्व एवं राजत्व सर्वशक्तिमान परमेश्वर की शक्ति से ही प्रकट, संरक्षित एवं कार्यकारी होते हैं। वही परमशक्ति तो रामानन्दाचार्य के रूप में ७१४ वर्ष पूर्व प्रकट हुयी थी जिसे अगस्तसंहितादि के महावाक्य (रामानन्दः स्वयं रामः प्रादुर्भूतो महीतले) प्रमाणित करते हैं। राजा के महल में राजा के प्राकट्य का विस्मरण सर्वाधिक अशुभ है– चिन्ता का विषय है। सनातन धर्म की परम शिथिलता का द्योतक एवं अस्तित्वविघातक है। इसके बिना तीर्थराज प्रयाग की सभी धार्मिक एवं आध्यात्मिक प्रवृत्तियाँ– स्नान-दान-मेला-शाही जुलूस-यज्ञ-सत्संगादि तीर्थराजत्व को अक्षुण्ण रखने में तथा भारतभूमि को पुनः विश्वगुरुत्व दिलाने में सक्षम नहीं है। भारतीय संस्कृति अपने अतीत को अविच्छिन्न रूप से परमसम्मान के साथ सम्बद्ध कर चलाती है तभी तो वह सनातन है। विश्व को अनुपम प्रेरणा एवं शक्ति देने वाली रही है। गौरवमय अतीत को भुलाकर केवल वर्तमान में जीने वाला आसुरी साम्राज्य की ओर ही बढ़ता है। रामराज का कहीं संस्थापक नहीं बनता है।

शताब्दियों से अश्रद्धा, अविवेक, असमर्पण तथा प्रमाद आदि दुर्भावों के कुहासे से आवृत जगद्गुरु रामानन्दाचार्य प्राकट्यधाम परमेश्वर की असीम-अहैतुकी अनुकम्पा-प्रेरणा एवं शक्ति से तथा सनातन धर्म के प्रबलतम सौभाग्य से प्रकट हुआ है। यह २००७ ई. के अर्धकुम्भ की सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। इस से सनातनधर्म का सौन्दर्य-गरिमा एवं शक्ति का विस्तार होता है।

प्राकट्य धाम अनायास ही प्रयागवासियों-कल्पवासियों तथा अभ्यागत साधु-संतों एवं कल्याणकामीजनों को अपनी ओर खींच रहा है– गौरव प्रदान कर रहा है। एक अनुपम संतृप्ति से जोड़ रहा है। लोग पुनः-पुनः कहते हुए सुने जा रहे हैं कि आजतक यह कहाँ था। किसने छिपा रखा था, यह कैसे प्रकट हो गया, किसने प्रकट किया, यह

तो तीर्थराज के मस्तक रूप में प्रकट हो गया इत्यादि। यही तो आचार्य रामानन्द की दिव्यता का, तीर्थराज एवं सनातन धर्म की अनुपम भावना का परम प्रकाशक है।

प्राकट्य धाम में एक मन्दिर माँ की गोद में विराजित बालस्वरूप भगवान् रामानन्दाचार्य जी का है तथा दूसरा मन्दिर विराट् स्वरूपधारी जगद्गुरु रामानन्दाचार्य जी का है। दोनों ही मन्दिर राजस्थानी प्रस्तरीय चित्रकारी से मण्डित अनुपम चित्ताकर्षक तथा दिव्यभावसर्जक है। मन्दिरों में विराजित श्रीविग्रह अपूर्व है, परम शान्तिदायक-शक्तिदायक तथा स्वामी रामानन्द के समान परमोदार के सर्जक हैं।

आचार्य प्रवर का चित्रमयी जीवन दोनों मन्दिरों के मध्य में अवरित होकर विराट् जीवन के दिव्य तथा परम लोकसंग्रही व्यक्तित्व को प्रकट कर रहा है, जिसका इतिहास साक्षी तथा सम्पूर्ण मानवता ऋणी है।

धाम में एक विश्वस्तरीय साहित्य का पुस्तकालय भी प्राकट्य के समीप है। आधुनिक प्रतिस्पर्धाओं (आई.ए.एस., पी.सी.एस.) के निर्धन छात्रों का निःशुल्क आवासीय तथा भोजनादि प्रबन्ध, छात्रावास, धाम की लोकसंग्रही गरिमा को संवर्धित करेंगे। संत-महन्त-अभ्यागत जनों की भरपूर सेवा का प्राकट्य स्वरूप यह धाम है, जो आचार्य प्रवर की मूलभूत शक्ति रहा है।

धाम में रामभक्ति परम्परा को सम्पूर्ण रूप से याद दिलाने वाला एक 'कीर्तिस्तम्भ' भी शीघ्रातिशीघ्र प्रकट होगा। सनातनधर्म-रामभक्ति परम्परा एवं रामानन्द सम्प्रदाय के गौरव बढ़ाने वाली अनेकानेक प्रवृत्तियाँ यहाँ सम्पादित हो रहीं हैं।

धाम प्राकट्य के परम पावन यज्ञ में परमप्रभु श्रीरामजी ने, तीर्थराज प्रयाग ने तथा आचार्य प्रवर स्वामी रामानन्दजी ने जिन महानुभावों को मुख्य निमित्त बनाया, वे हैं, श्रीकृष्ण चौधरी जी, श्री दयासिन्धु शर्मा जी, श्री आर. एन. सिंह जी एवं भरत शर्मा जी। ये सभी परमेश्वर के श्रेष्ठ अनुग्रही तथा परम सौभाग्यशाली हैं तभी तो इन्हें इस घनघोर कलियुग में यह सेवा प्राप्त हुई।

श्री कृष्ण चौधरी ने वंश की परम-उदारता-समर्पण-अटूट निष्ठा-अनुपम सेवा भावना को अतुलनीय रूप से प्रकट किया, अपनी उस अवस्था में जहाँ सब कुछ जर्जर है– असहयोग है तथा सर्वतोभावेन निराशा एवं केवल-आरोप-प्रत्यारोप ही हैं। निश्चित रूप से भगवान् उन्हें परमपार्षद मण्डली में प्रमुख स्थान देंगे। ये तो समाज के सेवाभावियों के लिए अगाध प्रेरणा-पुंज के रूप में पूर्ण अर्ह हैं।

श्री आर.एन. सिंह जी आई.पी.एस. सनातन धर्म किंवा मानवता वरदपुत्र हैं। धर्म संस्कृति एवं अन्यान्य श्रेष्ठ मूल्यों के लिए जैसी धारणा-समर्पण एवं तत्परता उन्हें रोम-रोम में प्राप्त है वह अनुपम है। अपने प्रभागीय (इलाहाबाद) प्रशासनिक सेवाकाल में त्रिवेणी संगम में जिस वातावरण को उन्होंने सृजित किया, संगम भक्तों के लिए

अन्नक्षेत्र, शीतलजल, पूर्णतः स्वच्छता, अराजक वातावरण का समूल नाश, तीर्थराज को गरिमा प्रदान करने वाले अनेकानेक सुकर्म (पार्क आदि निर्माण) वे सभी वन्द्य तथा अनुकरणीय हैं। ऐसा कौन दूसरा उच्चाधिकारी होगा जो प्रतिदिन परिवार तथा इष्टमित्रों के साथ घण्टों पूर्णतः समर्पित भावना एवं निष्ठा से संगम की सफाई करता हो।

इसी क्रम में सिंह साहब ने प्राकट्य धाम के आच्छादक कूड़ा कचरा की सफाई में भी अपने पद एवं धर्म की सीमा में पूर्णतः योगदान किया जो स्तुत्य है एवं परम कल्याणकारक है।

भरत अग्रवाल (जयपुर) अपने नाम के अनुरूप ही माता-पिता एवं गुरु के सेवक हैं। जिस निष्ठा एवं तत्परता से संसारी जीव अपनी एवं परिवार की सेवा करता है वैसी ही भावना से ये परमार्थ सेवी हैं, जो बेजोड़ है। प्राकट्यधाम को प्रकट करने में इन्होंने जयपुर से दक्ष कारीगरों के दल को, मजदूरों कें दल को, पत्थर से निर्मित धाम को आकार देने वाली समस्त सामग्री को, जिस तत्परता से संप्रेषित किया वह कल्पनातीत है, इनके धार्मिक एवं आध्यात्मिक व्यक्तित्व को विराट् स्वरूप प्रदान करने वाला है।

दयालजी (जयपुर) भरतजी से संप्रेरित होकर ही प्रयाग आये तथा अपनी दक्षता एवं समर्पण से प्राकट्य धाम के परम सेवक बन गये। इनको तथा इनके साथ जयपुर के भगीरथ कारीगरों एवं मजदूरों को सभी लोगों ने एक स्वर से सराहा-आशीर्वाद दिया तथा सनातन धर्म को उनका ऋणी बतलाया।

एक बार पुनः उन सभी लोगों को जिन्होंने किसी न किसी रूप से प्राकट्य धाम के प्राकट्य यज्ञ में सेवा प्रदान किया है मैं मंगल करता हूँ। वे सभी रामजी, आचार्य प्रवर तथा तीर्थराज प्रयाग के कृपापात्र हैं।

●

# प्रयागराज में आचार्यराज

डॉ. उदयप्रताप सिंह *

माघ का महीना था। शिशिर ऋतु अपनी युवावस्था में मदोन्मत्त थी। संसार के समस्त जीव-जन्तु अपने अस्तित्व की रक्षा में प्रकृति से संघर्ष कर रहे थे। देश के कोने-कोने से पहुँचा जनसंकुल प्रयाग में सम्पूर्ण पुण्यों को एक ही साथ प्राप्त करने को उत्कण्ठित था। प्रकृति की प्रतिकूलता और धर्मनिष्ठों की जिजीविषा के बीच तुमुल संघर्ष चल रहा था। शीत की अतिशयता रक्तसंचार को अवरुद्ध करने की सीमा तक पहुँच गयी थी। रेत पर निवास और खुला आकाश कल्पवासियों की अग्नि परीक्षा ले रहा था। दोनों की वक्र दृष्टि शनि की तरह कल्पवासियों पर बार-बार पड़ रही थी। रह-रहकर उनके संकल्प डिग रहे थे। शीतमिश्रित हिमांधियाँ हड्डियों तक को कंपायमान बना रही थीं। एक पर एक वात्या चक्र के झोंके कल्पवासियों की हिम्मत पस्त कर रहे थे। अकस्मात् आकाश काले बादलों से घिर गया। मूसलाधार बारिश ने भगवान् भास्कर की किरणों को निस्तेज बना दिया था। काले बादलों के बीच की चकाचौंध किसी बड़ी घटना का संकेत कर रही थी। प्रकृति का प्रलयंकारी रूप, तड़ित चालन की तीव्र धार बड़े-बड़े रणबाँकुरे के छक्के छुड़ा रही थीं। कोमल विहगों का समूह शीतमिश्रित वर्षा से स्वतः मृत्यु का संवरण कर रहा था। कल्पवासियों की दशा पूछने लायक नहीं थी। कोई घुटने को छाती में छिपाये शीतकाल को ललकार रहा था तो कोई घासफूस से बने पर्णकुटियों में स्वयं को छिपा रखा था। मानो महामाया अपने महापट में ईश्वर को अदृश्य किये हो। कोई अपने वज्रसरीखे संकल्प के समक्ष प्रकृति के उत्पात को पुण्य समझकर स्वागत के गीत गा रहा था। कोई मन ही मन यह सोच रहा था कि धर्म के उत्ताप में यह ठंडक क्या कर सकती है?

कल्पवासियों के आगमन से देश का कोई भी कोना अछूता नहीं था। धार्मिक जगत् का कोई भी सम्प्रदाय वहाँ गैरहाजिर नहीं था। संकल्पित कल्पवासी संगम की सिकता पर अपना एक मासीय संसार बसा चुके थे। धर्म पर्व के इस लोकोत्सव में दूरागत कल्पवासियों का साथ स्थानीय प्रयाग के निवासी भी निभा रहे थे। संगम की रेती पर बहुत दूर घास-फूस से बनी एक छोटी सी कुटिया अचानक दैवी प्रकाश से जगमगा उठी। लोगों की भीड़ उधर ही दौड़ने लगी। उस अलौकिक आभा से सम्पूर्ण प्रयाग भूमि आलोकित हो उठी। उसी की चर्चा सम्पूर्ण मेला क्षेत्र में विद्युत तरंगों की

* प्रस्तुत ग्रंथ के सम्पादक, सारनाथ, वाराणसी।

तरह फैल गयी। कुछ ही क्षणों में मेघाच्छन्न आकाश निर्मल हो गया। विद्युत की चकाचौंध विलुप्त हो गयी। सम्पूर्ण प्रयाग भूमि में प्रसन्नता की लहर दौड़ गयी। प्रेम के बादल ने ऐसी रसवर्षा किया कि सौमनस्य और सौहार्द के संसार की सृष्टि हो गयी। सम्प्रदायों की कटुता माधुर्य में और समाज का वैमनस्य मित्रता में बदल गया। नवजात की किलकारी ने 'भये प्रकट कृपाला दीनदयाला' का वातावरण बना दिया। सूर्य की किरणें बिहँसने लगी। हर्षातिरेक में जनसमुदाय निमग्न हो गया। पिता पुण्य सदन शर्मा का मुखमंडल जहाँ अपत्यस्नेह से आलोकित हो उठा वहीं जननी सुशीला देवी की गोद में प्रसन्नता का पारावार उमड़ उठा। कुछ मनीषियों ने इस अलौकिक प्रकाश को रामावतार कहा तो कुछ ने इसे ब्रह्म का साक्षात् अंश। इस सम्पूर्ण लीला की स्थली बनी प्रयाग की पुण्य भूमि। इसे ही आज "रामानंद प्राकट्य धाम-हरित माधव मंदिर' (दारागंज) के नाम से जाना जाता है।

अकस्मात् एक दिन गर्मी की तपती लू में आठ वर्षीय ब्रह्मचारी वेशधारी बालक गंगा की रेती पर परिभ्रमण करता हुआ दिखायी पड़ा। उसके सामने ही पंचगंगा घाट पर धर्म का साक्षात् विग्रह एक-आचार्य (राघवानन्द) संध्याकालीन वंदन में निमग्न था। अचानक आँखें खुलते ही एक बालक उनके समक्ष आ खड़ा हुआ। गुरु ने उसे पुकारते हुए कहा ब्रह्मचारी कहाँ जा रहे हो? बाल सुलभ सहजता में वह नकारात्मक ढंग से सिर हिला देता है। मानो वह कह रहा हो कि कहीं नहीं... बस यहीं...। आचार्य पुन: उसका नाम लेकर पुकारते हुए पूछता है कहाँ जा रहे हो। इस बार रामानन्द शब्द की अनंत प्रतिध्वनियाँ बालक के मस्तिष्क में हलचल उत्पन्न करने लगीं। बालक तत्काल गुरु चरणों में प्रमाण अर्पित करते हुए आचार्य की प्रभामण्डल से चमत्कृत हो उठा। उसका अंतस गुरु की उजास से भर उठा। कालान्तर में वही जगद्गुरु रामानन्द के रूप में धर्म का सम्राट् बनता है। दक्षिण से उठी भक्ति की लहर को वह पूर्णतः आत्मसात कर लोकोद्धार में निकल पड़ता है। भारत का कोई कोण नहीं जहाँ उसका जन सम्पर्क न हुआ हो। आचार्य राघवानंद उसे चिद् अचिद् और दोनों से विशिष्ट सिद्धांत की लौ पकड़ा देते हैं। यही बालक धर्म के भारतीय आकाश में अपनी उदारता और समरसता के कारण आज तक देदीप्यमान है। यही धर्म का सेतु बनता है। मानव मात्र के लिए ईश्वर प्रपत्ति का मार्ग प्रशस्त करता है। इन सम्पूर्ण-लोकमंगलपरक कार्यों के लिए वह काशी-वाराणसी को मुख्यालय बनाता है और पंचगंगा घाट उसका कार्यालय।

देवालयों की दुर्दशा और संस्कृति की दुरवस्था से आचार्य रामानन्द सदैव खिन्न रहते थे। काशी में साधना करते उन्होंने इनकी दशा को समुज्ज्वल बनाने में भगीरथ प्रयास किया था। काशी अर्थात् वाराणसी एक नदी का उत्तरमुखी गंगातीर्थ है। वरुणा नदी और अस्सी नाला इसे अपनी सीमाओं में आबद्ध करते हुए पंचनद पंचगंगा की स्थापना करते हैं। गंगा को गंगातीर्थ बनाने के लिए पुष्कर, वापी, कूप, गड़हा और

मत्स्योदरी झील जैसी जल संस्थाएँ इसे तीर्थ पूर्ण तीर्थ और परमतीर्थ बनाती हैं। काशी तीर्थ का यह माहात्म्य स्वामी रामानंद को ज्ञात था। वह यह भी बखूबी जानते थे कि यहाँ की मृत्यु मोक्ष है। यहाँ का जीना चना चबैना और गंगजल पर निर्भर है। उन्हें यह ज्ञात था कि यहाँ की आँखें पढ़ने के लिये खुलती हैं। यहाँ की जिह्वा और होठ मंत्र बोलते हैं। हर छोटा बड़ा आदमी बनारस की मिट्टी पर पावँ रखते ही ऋषि हो जाता है। इस परमतीर्थ का आदमी आसमान में चलता है और ऋतुओं की हवा में नहाता है। मंदिरों के शिखरों पर पग प्रणाम रोपता है। यहाँ कोई आना चाहे, न चाहे आने पर जाना नहीं चाहता। बनारस की मस्ती में ऐसा फक्कड़पन है कि भौतिकता और सत्ता की चकाचौंध उसे सुहाती ही नहीं। आध्यात्मिकता का ऐसा प्रकाश है कि कोई भी बिना आलोकित हुए नहीं रह सकता।

धर्म की ऐसी नगरी में साधनाशील आचार्य रामानंद प्रेम और भक्ति के चबूतरे पर बैठकर हर आदमी को आदमी समझते हैं। न किसी की जाति पूछते हैं न धर्म और न किसी का स्थान। प्यार पर उनका अखण्ड विश्वास है। वह प्यार बाँटते हैं और प्यार बाँटने की सलाह देते हैं। भजन करते हैं और भजन करने की बात करते हैं। बहुत सीधी-सपाट भाषा में अपनी वाणियों का संधान करते हैं। जहाँ भी जाते हैं भक्तों, साधकों और अनुगामियों का मेला लग जाता है। जो अत्यन्त कट्टर हैं रामानन्द उन्हें अच्छे नहीं लगते उनकी उदारता से लोग उनके मुरीद बन जाते हैं। उनकी साधना की ऊँचाई अनेक आकाशों से बड़ी ठहरती है। उनकी भक्ति की गहराई अनेक सागरों से गहरी लगती है। प्रगतिशीलता उनके चिंतन में ही नहीं कार्यव्यापार में भी उतरती दिखायी पड़ती है। उदारता उनके मानस की प्रकृति बन गयी है। आचार्यत्व उनके अधीत ज्ञान का मानदण्ड है। निर्गुण और सगुण भक्ति धाराएँ उनकी इंगला-पिंगला नाड़ियाँ हैं। समन्वयशीलता उनकी कार्यशैली है। पंथों, सम्प्रदायों में वह प्रेम ही तलाशते हैं। वह रमता योगी हैं– सबको जगाते हैं। रामनाम रूपी मणि को धारण करते हैं। सीतारूपी पारस को हृदय में रखते हैं। हनुमान उनके आराध्य तो हैं पर राम सर्वस्व हैं। वह भक्त, संन्यासी, योगी, यती, वैरागी, वैष्णव, साक्त, शैव सबको जगाते हैं। न शास्त्र के विरोधी हैं और न लोकमत के प्रतिवादी। अद्भुत है उनकी लोकचेतना। विचित्र है उनका भागवत मन।

प्रयाग में त्रिवेणी के सन्निकट स्वामी रामानंद का प्रादुर्भाव हुआ था। फलतः उनकी भक्ति में प्रेम, योग और ज्ञान की त्रिधारा बहती है। दक्षिण की भक्ति भावित धारा को उत्तर में प्रवाहित करने का श्रेय स्वामी रामानंद को दिया जाता है। आर्य और द्रविड़ को भक्ति के सूत्र में वही पिरोते हैं। विष्णु और राम-कृष्ण को एक कहते हैं। श्री और सीता में अभेद बताते हैं। दलित और ब्राह्मण को एक ही प्रभापुञ्ज से उत्पन्न मानते हैं। जाति-पाँति को व्यर्थ कहते हैं। उत्तर-दक्षिण के सेतु बनते हैं। द्वादश शिष्यों में प्रत्येक

जाति को प्रतिनिधि बनाते हैं। नारी का सम्मान करते हुए पद्मावती और सुरसुती को दीक्षा प्रदान करते हैं। कबीर जैसे जुलाहे और रैदास जैसे दलित को अनंतानंद से कम नहीं आँकते। पीपा को सेनाचार्य से बड़ी गद्दी नहीं देते। रैदास को शिष्य बनाते समय सम्पूर्ण भारतीय संतों को निमंत्रित करना उनकी सामाजिक और धार्मिक दृष्टि की उदात्तता का ही परिचायक है। तपोरत रहते हुए आशीर्वाद देना उनकी प्रकृति थी। चमत्कार उन्हें निरभिमानी बनाता है। उनकी सिद्धि लोकमंगल की विधायिका है। साधकों में सर्वश्रेष्ठ स्वामी रामानंद बुद्ध और गोरखनाथ के अनंतर सबसे बड़े व्यक्तित्व दिखायी पड़ते हैं। आत्मोद्धार से अधिक लोकोद्धार उनका श्रेय है। भक्ति के माध्यम से शक्ति का सृजन उनका लक्ष्य है। बावन में छत्तीस ठाकुरद्वारों की स्थापना उनके धर्म-विकास का प्रथम आयाम है। वैरागियों का भारतीय संगठन बनाना उनके राष्ट्र और संस्कृति प्रेम का परिचायक है। लोकभाषा हिन्दी में रचनाएँ उनके लोक हिमायती रूप का आइना है। संस्कृत, पैशाची प्राकृत और हिन्दी उनके सम्वाद की भाषाएँ हैं। साधक, मौलवी उनके प्रशंसक हैं। जैन-बौद्ध उनकी भक्ति साधना के कायल हैं। उनकी शंखध्वनि से लोकमंगल का निनाद होता है। चेतावनी भरी शंखध्वनि से बड़े-बड़े बादशाहों की सत्ता हिल जाती है। गयासुद्दीन तुगलक इसका ज्वलंत प्रमाण है। उनके शंखनाद से हिन्दुओं पर किये जा रहे अत्याचार और घंटा-घड़ियाल पर प्रतिबंध स्वयं समाप्त हो जाते थे। वह तो सबकी खैर मनाने वाले महातपस्वी थे।

आचार्य रामानंद जगद्‌गुरु की महोपाधि से विभूषित थे। इस्लामी शासन काल में सम्पूर्ण हिन्दू समाज का उन्होंने मार्ग-दर्शन किया था। धर्म के सच्चे स्वरूप को पहचानने की प्रविधि बतायी थी। लोकचेतना को समृद्ध करने के साथ धर्मचेतना में एक विशेष प्रकार का दैवी प्रकाश भरा था। उनका हृदय शुद्ध प्रबुद्ध और निर्मल था। उनके कार्य लोकोपकारी और समरसता से सर्जक थे। मध्यकाल जैसे अंधकारपूर्ण समय में रामरूपी महत् प्रकाश से धर्म और समाज को एक ही साथ प्रकाशित करने वाले महात्मा रामानंद ही थे। उन्हें लोक की चिंता परलोक से कम नहीं थी। उनके मन में संस्कृत से कम आदर लोकभाषाओं के प्रति नहीं था। शास्त्रसम्मत परम्परा का सम्मान उनका स्वभाव था पर लोकसम्मत परम्परा में उनका मन बसता था। वह परम्परा में भी नवीन प्रवाह के प्रयोक्ता थे। वह रामभक्ति धारा के पुरोधा थे। उनके द्वारा अभिमंत्रित द्वादश शिष्यों ने उन्हीं की भावना का विस्तार सप्त द्वीप नवखण्डों में किया था। आचार्य रामानंद तो एक महाप्रकाश थे। उस महाप्रकाश की आभा आज सात सौ वर्षों से भारतीय नभोमण्डल पर छायी हुई है। इस महाप्रकाश में प्रत्येक भारतीय को शास्त्र, लोक, परम्परा, धर्म, संस्कृति, पुराण, इतिहास, दर्शन और सभ्यता साफ-साफ दिखायी पड़ती है।

•

# पंचगंगा और रामानंदाचार्य

प्रो. युगेश्वर *

हरितश्याममाधवमंदिर प्रयाग में गंगातट पर है। आचार्य रामानंदजी इसी मंदिर में प्रगट हुए थे। उन्होंने कृष्ण के इस स्थान को छोड़कर काशी में स्थान बनाया। यहाँ उन्होंने आचार्य राघवानंद को अपना गुरु बनाया। आचार्य राघवानंद द्वारा रामानंद जी दक्षिण से जुड़े। राम से जुड़े। हरित श्यम माधव को प्रयाग में ही रहने दिया। राघवानंद जी के शिषयत्व में काशी आकर रामजी से जुड़े। रामानंद कहलाये। बचपन के नाम का कुछ भी पता नहीं। कभी पंचगंगा पर राघवानंदजी का यशगान होता था। काल ने राघवानंदजी को इतिहास सर्ग में डालकर आचार्य रामानंद जी को प्रमुख बना दिया। 'रामानंद रामरस माते'। ये राम के अवतार माने जाने लगे। श्रेष्ठता ही अवतार है। अवतार तो सब है। किन्तु अवतार जन्म है। विशिष्ट जन्म, दिव्य जन्म, कर्म अवतार है। अवतारों में दिव्यता की प्रधानता है। आचार्य रामानंद जी में वैसी ही दिव्यता रही होगी। वाराणसी गंगा में अनेक घाट हैं। सिंधिया, अहिल्याबाई, दरभंगा आदि। कुछ घाट देवों के नाम पर है। पंचगंगा में पाँचगंगा की कल्पना है। पंचगंगा साधना, उपासना का अद्‌भुत केन्द्र है। भक्ति की पाठशाला है। यहाँ बना था आचार्य रामानंद का 'वैष्णवमताब्जभास्कर'। वैष्णमतकमल को खिलाने वाला सूर्यरूपी सारे देश की भक्ति का मुख्य केन्द्र है। यहाँ की भक्ति सूर्य की किरण संपूर्ण देश के अज्ञान को दूर कर रही है।

पंचगंगा क्यों? गंगा तो एक है। प्रवाहों में भिन्नता संभव है। बात वाराणसी की है। प्रयाग में त्रिवेणी है तो काशी में पंचगंगा। पंच देवों की उपासना है पंचगंगा। वेदांत की पाँच धाराओं का संगम है पंचगंगा। द्वैत, अद्वैत, द्वैताद्वैत विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत। ये सभी विचार दक्षिण में, दक्षिण आचार्यों के द्वारा विकसित हैं। अचिंत्य भेदाभेद वाद का मुख्य केन्द्र, गौड़ प्रदेश है। यह निम्बार्क के द्वैताद्वैत जैसा ही है। इसलिए यह पंचगंगा में ही अंतर्भुक्त है।

भक्ति की संपूर्ण चेतना समन्वयवादी है। सबकी उपासना। सबका आदर। फिर लक्ष्य एक का। अद्वैत का अद्वैत है। किन्तु इस अद्वैत के अनेक प्रकार हैं। गीता में केवल कृष्ण हैं। किन्तु कृष्ण का किसी देवता से विरोध नहीं है। वे सबको सभी देवों

---

* हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध कथाकार और विचारक, वाराणसी।

की उपासना की छूट देते हैं। किसी भी देवता की उपासना करो। मिलेगा सब मुझको, कृष्ण को।[1] भगवान ही सभी यक्षों के भोक्ता और प्रभु हैं। देवता भगवान् के विशिष्ट सेवक हैं। राजकर्मचारी का दिया गया धन राजा को मिलता है। वैसे ही देवता की पूजा भी भगवान् की पूजा है। देवता को देना, भगवान् को देना है। भगवान् ही देवता का भी स्वामी है। संसार में परस्परता है। अनन्य सम्बन्ध है। चक्र चलाता जहाँ से चला था, वहीं फिर पहुँचता। यहाँ, वहाँ जहाँ तहाँ का ऐक्य है। आकाश समुद्र से सूर्य के माध्यम से जल लेकर बरसाता है। फिर वही जल सागर में जाता है। भू सागर से आकाश सागर में। आकाश सागर से भू सागर में। यह चक्र संसार चला रहा है। आकाश से गिरा जल जैसे सागर को जाता है, वैसे ही सभी देवों को किया गया नमस्कार केशव को मिलता है।[2] पंचगंगा वही सागर है। यहाँ सभी प्रकार की साधनाएँ समाहित हैं। किसी के प्रति द्वेष भाव नहीं है।

सगुण का केन्द्र। निर्गुण का अधिष्ठान। यह समता भाव ही आचार्य रामानंदजी का दर्शन है। यहाँ कबीर हैं। रैदास हैं। इसी परंपरा में महान् संत रचनाकार तुलसीदास खड़े हैं जो सभी देवों को हाथ जोड़कर प्रणाम करते हैं। सबसे आशीर्वाद माँगते हैं।

प्रत्येक व्यक्ति को पाँच यज्ञ करना है। पंचगंगा इस योग का अधिष्ठाता है। ऋषि यज्ञ, देव यज्ञ, पितृ यज्ञ, भूत यज्ञ, मनुष्य यज्ञ, ये यज्ञ ही सामाजिकता और सांसारिकता के आधार हैं।

स्वामी रामानंद जी का व्यक्तित्व विराट था। इसी कारण उन्हें भक्ति को लाने का श्रेय दिया गया। वे स्वयं दक्षिण के नहीं थे। उन्होंने उक्त पाँच दर्शनों को दक्षिण से लाया था। यद्यपि ये दर्शन भी पूर्णतः दक्षिणी थे, यह कहना कठिन है। इन दर्शनों में सबसे पूर्ववर्ती आचार्य शंकर दक्षिण के अवश्य थे, किन्तु अद्वैत की स्थापना का श्रेय आचार्य शंकर के दादा गुरु गौड़पाद को है। जो दक्षिण के नहीं थे। शंकर के गुरु आचार्य गोविंद पाद भी दक्षिण के थे। यह भी नहीं कहा जा सकता है। ऐसे तो संपूर्ण दक्षिणी साहित्य, जिनका मूल भक्ति साहित्य उसके मूल आचार्य अगस्त्य उत्तर के थे। राम, कृष्ण, शिव ही भक्ति के आधार थे, ये संपूर्ण देश के थे।

दक्षिण में वैष्णव भक्ति और शिव भक्ति दोनों की प्रबलता थी। फिर वैष्णव भक्ति ही क्यों आयी? शिवभक्ति भी तो आ सकती थी। यद्यपि आचार्य रामानंद जी के आने के पूर्व से विष्णु और शिव की भक्ति उत्तर में मिलती है। गीतगोविंद, चंडीदास, विद्यापति आदि की रचनाएँ शैव, वैष्णव द्वन्द्व रहित हैं। संभव है दक्षिण में कभी-कभी टकराहट रही हो।

स्वयं आचार्य शंकर के स्त्रोतों में एकांतता का अभाव है। आचार्य रामानंद जी के शिष्यों में प्रकारभेद के अतिरिक्त दर्शन भेद भी दिखता है। तुलसीदास जितने

रामोपासक हैं, उतने ही बहुदेववादी भी। कबीर बहुदेववाद के निंदक हैं– 'रही एक की हुई अनेक की विश्वा वहु भरतारी।'

रैदास भी रामानंद जी के शिष्य हैं। किन्तु उनमें कबीर जैसी कट्टरता नहीं है। रैदास की प्रकृति सरल है। किसी पर भी आक्रमण उनके स्वभाव में नहीं है।कबीर का बल विचार पर अधिक है, जबकि रैदास समर्पण और चंदन पानी का समन्वय करते हैं। सूरदास की गोपियाँ एक महत्वपूर्ण संकेत देती हैं। वे उद्धव से कहती हैं– 'जोग अंग साधत जे ऊधो ते सब बसत ईसपुर कासी'। अंग से मतलब अष्टांग योग से है। ईस का अर्थ भगवान् शंकर है। काशी तो स्पष्ट है इस कथन में कई बातें हैं– एक यह कि योग काशी का, काशी में है। दूसरा यह कि योग के देवता शिव हैं। जो काशी के हैं। ईसपुर काशी है। यहाँ योग साधना होती है। यह कबीर की ओर भी संकेत है। पुष्टि मार्ग में योग के लिए कोई स्थान नहीं है। उद्धव निर्गुणियाँ हैं। निर्गुण में योग का महत्वपूर्ण स्थान है। रामानंदजी के शिष्यों में योग साधक निर्गुणियाँ भी हैं। सहज भक्ति वाले रैदास भी हैं। रैदास रामभक्त हैं। किन्तु उनकी शिष्या मीरा कृष्णभक्तिन हैं। वे मोर मुकुट पीताम्बर वाले की उपासिका हैं। इससे पता लगता है, सगुण से भी उन्हें परहेज नहीं है। अंत में वे कृष्ण विग्रह में समा गयी थीं। इससे स्पष्ट होता है कि रामानंद सम्प्रदाय में वैर- विरोध एवं एकांतवाद के लिए स्थान न था। कबीर एकांतवादी दिखते हैं तो रैदास को एकांतवादी कहना कठिन है। कबीर की पुराणपरंपरा सभी निर्गुणियाँ भक्तों में गहरी और विस्तार वाली है। इससे उनके गंभीर अध्ययन का ज्ञान होता है। कबीर स्त्री को माया कहकर निंदा करते हैं। रैदास स्त्री को संन्यास की दीक्षा देते हैं। दक्षिण के सभी आचार्य द्विभाषी थे। किन्तु रचना वे संस्कृत में करते थे। भक्तों की रचनाएँ दक्षिणी भाषाओं में है। आचार्य वहाँ की भाषाएँ जानते हैं किन्तु लेखन में सार्वदेशिक भाषा संस्कृत का व्यवहार करते हैं। वे यात्राएँ भी करते हैं। रामानंद जी ने यात्रा का कार्य शिष्यों को सौंपा। उन्होंने संस्कृत के स्थान पर हिंदी को रचना का माध्यम बनाया। स्वयं हिन्दी में लिखा। उनकी शिष्य परंपरा ने तो लोक भाषाओं, विशेषकर हिंदी को सार्वदेशिक भाषा बना दिया। हिंदी साहित्य और भाषा के विकास में आचार्य रामानंद ने अविस्मरणीय योग दिया। काशी और आसपास कबीर, रैदास के बाद तुलसीदास ने आचार्य रामानंद की प्रेरणा से हिंदी को समृद्ध किया। समस्त पुराणों के मूल तत्व, तरह-तरह की राग-रागिनियाँ हिंदी में उतर आयीं। तुलसीदास ने राम, कृष्ण, शिव, भगवती आदि की पूजा प्रार्थना की। कबीर ने केवल भगवतीमाया को अस्वीकार किया। शिव, कृष्ण के बारे में मौन रहे। 'शिवनगरी घर मेरा' कहकर शिव की प्रशंसा भी की। कृष्ण कबीर से बहुत दूर पड़ते थे। स्वामी रामानंद जी ने पंचज्ञान गंगा की जो धारा बहाई उसने हताश उत्तर भारत को आत्मज्योति की प्रकाशिका शक्ति

से भर दिया। वे कहते हैं हनुमत् जयंती, पूजा, अर्चना के प्रसार का श्रेय भी स्वामी रामानंद जी को है।

भागवत की प्रस्तावना में भक्ति की द्रविड़ उत्पत्ति कहा है। साथ ही उसकी जीर्णता का भी उल्लेख है। भक्ति के दो पुत्र बीमार हैं। ये हैं ज्ञान और वैराग्य। वृंदावन आकर भक्ति को स्वास्थ्य मिलता है। भक्ति अपना दुखड़ा नारद से कहती है। नारद पुराण पुरुष थे। रामानंद इतिहास पुरुष थे। संतों, भक्तों और कवियों ने दक्षिण की भक्ति को रामानंद जी से वैसे ही जोड़ा जैसा भागवत की प्रस्तावना भक्ति को नारद से जोड़ती है। आचार्य रामानंद जी ने भक्ति को केवल उपासना या मुक्ति का मार्ग ही नहीं बताया। मुक्ति के साथ उसे सामाजिक आदर्शों से भी जोड़ा। तुलसीदास की सामाजिकता पर सबका ध्यान गया किन्तु निर्गुणियों में भी एक प्रकार की सामाजिकता है। यद्यपि निर्गुण का मूल स्वर समाज को असत्य या मिथ्या कहने का है। संसार भ्रम है तो कैसी सामाजिकता? फिर समाज है। सुख दुख, भूख प्यास है। इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर निर्गुणियों ने अपना धंधा नहीं छोड़ा। घर नहीं छोड़ा। घर में संन्यासी बने रहे। अपनी चिंता के बाद परिवार और साधु अतिथि की चिंता की।[३] परिवार की चिंता अपनी चिंता से अधिक स्वाभाविक एवं विकसित स्थिति में है। साधु की चिंता तो आदर्श स्थिति है। केवल मैं नहीं, मैं के साथ तुम और यह, वह भी। संतों की सामाजिकता संत बनाने के लिए होती है। न कि केवल पेट भरने के लिए। संत 'पेट समाता' ही लेता है। त्याग का उच्चतम आदर्श है। संत परिग्रह न कर अपरिग्रही होता है। संत गठरी नहीं बाँधता है। इसी से वह भीड़ में नहीं चलता है। यह कथन संत बनाने की प्रक्रिया भी है। संत वह है जो अपरिग्रही है।

भोग भी परिग्रह है। परिग्रही भोग, भाग छोड़ता है। वर्ण व्यवस्था में ब्राह्मण अपरिग्रही था। बौद्ध, जैन ने संन्यास को अपरिग्रही बनाया। भक्तों, सभी को अपरिग्रह का उपदेश किया। अपरिग्रह ही स्वतंत्र समाज की रचना करता है। भक्ति का अधिकार सभी को है। अपरिग्रह भी सबको करना चाहिए। इसलिये भी कि भक्ति में कोई खर्च नहीं है। यज्ञ, धन में परिग्रह चाहिए। यज्ञ करना राजा का कर्तव्य था। श्रेष्ठि, मठों का खर्च चलाते थे। भक्त अपना खर्च अपने श्रम से चलाता है। कम से कम खर्च में जीवन जीता है। उससे भी कम खर्च जितना कि वह अपने श्रम से पैदा करता है। भक्ति और भक्त समाज की रचना में आचार्य ज.गु.रामानंद की महत्वपूर्ण भूमिका है। कृष्ण भक्तों के यहाँ छप्पन भोग की कल्पना है। अष्टयाम में आठ सखियों का विस्तार है। मोर मुकुट और वनमाला का स्थान महँगे जेवरातों ने लिया। गोचारण की कल्पना अब कल्पना मात्र रह गयी। आचार्य रामानंद ने प्रभु विग्रह को सजावट के स्थान पर मुख्यतः आस्था का केन्द्र बनाया। विग्रह रहित निर्गुण साधना को भी समान स्थान मिला।

भगवान कृष्ण की हवेलियाँ सम्पन्नता के केन्द्र रूप में विकसित हुईं। इन हवेलियों में क्या नहीं था। संगीत, वाद्य, नृत्य, तरह-तरह के मिष्ठान्न। स्वयं भगवान् कृष्ण का माखन प्रेम भक्तों में भी आया। आचार्य रामानंद ने भक्ति को भव्यता की अपेक्षा दिव्यता प्रदान किया।

## संदर्भ

१. येऽप्यन्ये देवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेडियमामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ।। गीता १/२३

२. आकाशत् पतितं तोयं यथागच्छतिसागरम् ।
सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति ।।

३. साईं इतना दीजिए जामे कुटुम समाय ।
मैं भी भूखा ना रहूँ साधु न भूखा जाय ।। कबीर

●

# रामानंदाचार्य की सार्वभौम विचारधारा

प्रो. त्रिभुवननाथ शुक्ल *

रामानंदाचार्य का वैचारिक प्रवाह लोकानुग्रही, मनुष्यधर्मी, राष्ट्रपोषक, और समन्वयी था। यही कारण है कि तत्कालीन समाज का छोटा-से-छोटा और बड़ा-से-बड़ा व्यक्ति उनकी साधना के गोमुख में जाकर अपने आपको उनके सामने नत्शिर किया है। यह उनकी तपःपूतचर्या का और आध्यात्मिक आभा मंडल का प्रभाव था। जैसा कि डॉ. उदय प्रताप सिंह ने लिखा है– "उनकी साधना की ऊँचाई अनेक आकाशों से बड़ी ठहरती है। उनकी भक्ति की गहराई अनेक सागरों से गहरी लगती है। प्रगतिशीलता उनके चिंतन में ही नहीं कार्य व्यापार में भी उतरती दिखाई पड़ती है। उदारता उनके मानस की प्रकृति बन गई है। आचार्यत्व उनके अधीत ज्ञान का मानदंड है। निर्गुण और सगुण भक्ति धाराएँ उनकी इंगला पिंगला नाड़ियाँ हैं। समन्वयशीलता उनकी कार्यशैली है। पंथों, संप्रदायों में वह प्रेम ही तलाशते हैं। वह रमता योगी हैं– सबको जगाते हैं। रामनामरूपी मणि को धारण करते हैं। सीतारूपी पारस को हृदय में रखते हैं। हनुमान उनके आराध्य तो हैं। पर राम सर्वस्व हैं। वह भक्त संन्यासी, योगी, यती, वैरागी, वैष्णव, शाक्त, शैव सबको जगाते हैं। न शास्त्र के विरोधी हैं और न लोकमत के प्रतिवादी। अद्भुत है उनकी लोकचेतना। विचित्र है उनका भागवत मन।" (संतों के संत कवि रामानंद, पृ. १६)

उनके समय में जनमानस मुस्लिम शासकों के आतंक से त्रस्त था। न तो उसे अपने धर्माचरण की स्वतंत्रता थी और न ही जीवन जीने की। ऐसे समय में उन्होंने अपने तप के प्रभाव से ऐसे शासकों को हत्प्रभ किया है। इसी पीड़ा को ध्यान में रखते हुए 'वैरागियों का भारतीय संगठन' बनाया। जिस समय जनता लाचार थी, उसके सामने कोई उपाय नहीं था, ऐसे निरुपाय स्थिति में उसे गहरे अवसाद से मुक्ति दिलाने के लिए उन्होंने अपनी तपोसाधना का उपयोग भी किया।

वैरागियों का भारतीय संगठन बनाने के पीछे कदाचित उनका उद्देश्य इस देश को सांस्कृतिक दृष्टि से अविच्छन्न बनाए रखने का था। एक संत जब इस प्रकार का भाव लेकर आगे बढ़ता है तो सहस्रों लोग उसमें जुड़ कर अपना योग देते हैं।

वे जगद्गुरु की उपाधि से मंडित थे। जगद्गुरु का अर्थ है– मानवीय संस्कृति का

---

* निदेशक, साहित्य अकादमी, भोपाल, मध्य प्रदेश।

रक्षक, पथ द्रष्टा और लोकभावी व्यक्तित्व। ऐसे व्यक्तित्व अपने बड़े-बड़े कार्यों से अधिक अपने-अपने छोटे आचरणों से जनजीवन को अधिक प्रभावित करते थे। उनका उठना, बैठना, सोना जागना, चलना, फिरना प्रेरक होता था।

उन्होंने सत्य को ही आदिशक्ति, गुरु, सकल संताप हारी, त्रिगुणातीत और सर्वस्व स्वीकार किया। उनकी सत्य को केंद्र में रखकर चलने वाली एक रचना (रामरक्षा) है– (पृष्ठ-१३) इस रचना के कुल चौबीस चरण हैं। ये चौबीस चरण सांख्य-दर्शन के चौबीस तत्त्व हैं। यदि इन चरणों पर सम्यक् विचार किया जाए, तो मात्र उनकी यही एक रचना उन्हें हिंदी संत काव्य परंपरा में शिखर पर अधिकृत करती है–

**ॐ सत्य अनादि पुरस सत्य सत्य गुरु**
**संध्या तारणी सर्व दुःख विदारणी।**
**संध्या उच्चरे विघ्न टरे।**
**पिंड प्राण की रक्षा श्री नाथ निरंतर करे।।१।।**

**ज्ञान धूप मन पुष्प इंद्रिय पंच हुताशनम्।**
**क्षमा जाप समाधि पूजा नमो देव निरंजनम्।।२।।**

**ॐ अखंड मंडलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्।**
**तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः।।३।।**

**परम गुरवे नमः परात्पर गुरवे नमः**
**परमात्म गुरवे नमः, आत्मा गुरवे नमः**
**आदि गुरदेव अनादि गुरवे नमः**
**अनंत गुरदेव के चरणारविंद को नमो नमस्कारम्।।४।।**

**हरत सकल संताप दुःष दालिद्र रोग पीड़ा कलह कल्पना**
**सकल विघ्न खंड खंड तस्मै श्रीरामरक्षा निराकार वाणी**
**अनभै तत्त निर्भै मुक्ति जानी।।५।।**

**बाँधिया मूल देखिया अस्थूल,**
**गगन गरजंत ध्रुनि ध्यान लागा।**
**त्रिगुण रहित सील संतोष मैं,**
**श्रीरामरक्षा लिए, ओंकार जागा।।६।।**

पंच तत्त पंचभूत पचीस प्रकृति,
पंच भू आत्मा पंच बाई।
सम दिष्टि सम घर आंणी प्राण अपान
उदान व्यान मिलि अनहद सब्द की षवर पाई।।७।।

उलटिया सूर गगन भेदन किया,
नव ग्रह डंक छेदन किया
पोषिया चंद जहाँ कला सारी
अगनि परगट भई जुरा वेदन जरी
डंकनी संकनी घेरि मारी।।८।।

धरनि अकास बिचि पंथ चलता किया
अगम निगम महारस अमृत पिया
भूत प्रेत दैत्य दानव संघारा किया
वज्र की कोठरी वज्र का डंड ले,
वज्र का खठ ले काल मारा।।९।।

गरुड़ पंषी उड्या नाग नागनि उस्या,
विष की लहरिसूँ निद्र न झाँपै।
पिंड निरमल हुआ पिंजरे पड़ो सुआ,
रोग पीड़ा बिथा नहिं देह व्यापै।।१०।।

रूम रूम ररंकार उच्चरंत बानी
श्रवण सुनता रहै समदृष्टि मुष्टि मेला।
झिलमिला ज्योति रुणकार झलकता रहै
नाद बिंद मिल भया रंग रेला।।११।।

सुंनि कै नेहरौ सुंनि सीझत रहै,
आपुसूँ आपु मिलि आपु जाग्या
सरीर सों सरीर मिलि सरीर निरषता रहै,
जीव सौं जीव मिलि ब्रह्म जाग्या।।१२।।
नैन सौं नैन मिलि नैन निरषत रहै,
मुष सों मुष मिलि बोल बोल्या।
स्रवन सों स्रवन मिलि नाद सीझत रहै,
सब्द सों सब्द मिलि सब्द षोल्या।।१३।

निरति सों निरति मिलि निरति लागी रहै
सुरति सूँ सुरति मिलि सुरति आवै।
ध्यांन सों ध्यांन मिलि ध्यांन सूझत रहै,
रंग सों रंग मिलि रंग पावै।।१४।।

ग्यांन सों ग्यांन मिलि ध्यांन सों ध्यांन मिलि,
जाप अजपा जपै सोइ दम लाइ लेषै।
चित्त सों चित्त मिलि चित्त चेतन भया,
जनमुनी दिष्टि सों भाव देषै।।१५।।

द्वार सों द्वार मिलि सीस सों सीस मिलि,
जीव सों जीव मिलि देह विदेह मिल भेद भेद्या।।
मिट गया घोर अंध्यार तिहुँ लोक मैं,
स्वेत फटिक मणि हीर वेध्या।।१६।।

उघरंत नैन उचरंत बैन चंद अरु सूर दोउ राषिया धीरं।
हणवंत हुंकार मचती रहै पकड़िया सोषिया बावन वीरं।।१७।।

गंग उलटी चलै भानु पच्छिम मिलै, निकसिया बिंब परकास कीया।
आत्मा माहि दीदार दरसता रहै यूँ अजरावर होय आपु जीया।।१८।।

कुणीकुणी रुणरुणी झुणझुणी नाद नादं, सुषमना काछ के साज साजा।
चाचरी भूचरी षेचरी अगोचरी उन्मुनी पाँचमुद्रा साधते सिद्ध राजा।।१९।।

डरे डूँगरे जले और थले बाट औ घाट औघट, निरंजन निराकार रक्षा करै।
बाघ बाघिन का करूँ मुष काला चौसठ्ठ योगिनी काटि कुटका करूँ।
षेचरा भूचरा षेत्रपाला नौ ग्रह दूत पाषंड टारूँ।।२०।।

आखिल ब्रह्मांड तिहुँ लोक मैं दोहाई फिरबौ करै।
अखिल पुरुष निरंजन निराकार की चक्र फिरै बाढ़ बाढ्या।।
दृष्टि अरु मुष्टि छलछिद्र मैं वीर बेताल नवग्रह अवधू होत पाषंड वाषा।।२१।।

पंथ में घोर में सोर में चोर में देस परदेस में राज के तेज में।
अग्नि के झाल में साँकड़े पैसता बैठते उठते श्रीराम रक्षा करैं।
जागतां सोवतां खेलतां मालतां संत के सीस पै हाथ धारे रहैं।।२२।।

**चक्र लीयां राम आप रक्षा करैं गुप्त का जाप ले गुप्त सेवै।**
**चंद सूर दोइ एक घर रहेबो करैं जीतिया संग्राम देवाधिदेवा।।२३।।**

**फेरि सीधा किया उलटिया अमृत पिया विषवाद सब दूरि भागा।**
**कमल दल कमल जोति ज्वाला जगे भ्रमर गुंजार आकास जागा।।२४।।**

पहले चरण में सत्य का निर्वचन किया गया है। हमारे यहाँ कहा गया है– 'ऋतं च सत्यं च' अर्थात दो प्रकार के सत्य (लौकिक सत्य और प्राकृतिक सत्य) की बात कही गई है। उसी परंपरा का अन्वाख्यान इस चरण में किया गया है। 'सत्य' ही अनादि पुरुष है। वह इसी लिए गुरुस्थानीय है। यही सर्वदुख विनाशक है। जहाँ सत्य है। सत्य की प्रतिष्ठा है, वहाँ दुःख ही नहीं है। इसीलिए वह ब्रह्म है। ब्रह्म से तात्पर्य जो विरज है, अज है, व्यापक, अनीह, और अभेद है।

दूसरे चरण में ज्ञान की मीमांसा की गई है। पंचेन्द्रियों को उपमित किया गया है। जप, तप, क्षमा के त्रैगुण्य की बात कही गई है और निर्गुण-निराकार ब्रह्म को शिरसा नमन कहा गया है। परंपरा कहती है कि 'ज्ञानेन सदृशं नहि पवित्रमिहि लोके' अर्थात् इस लोक में ज्ञान के समान कुछ भी पवित्र नहीं है। इसलिए इसे मन की संज्ञा भी दी गई है। कारण कि सब कुछ मन से संचालित है। यह मन वेगवान है। यही हमारे बंधन और मोक्ष का कारण है। 'मनः एव मनुष्याणां कारण बंधन मोक्षयो' अर्थात् मन ही मनुष्य के बंधन और मोक्ष का कारण है। इस दृष्टि से ज्ञान इसका नियंत्रक है। परंतु उस परम तत्त्व को ज्ञान से अधिक हृदय से जाना जा सकता है। हृदय अर्थात् भक्ति से ज्ञान अर्थात् बुद्धि से। हृदय में भाव है बुद्धि में तर्क है। और परब्रह्म तर्कातीत है। अतः उसे हृदय तत्त्व= (भक्ति भाव) से ही अधिक जाना जा सकता है। इसीलिए भगवान ने अपने दो पुत्रों भक्त और ज्ञानी में से भक्त को ही श्रेष्ठ माना है। वह ब्रह्मतत्त्व कृपालु है, दयालु है, क्षमाशील है। अतः वह हृदय तत्त्व के अधिक निकट है और बुद्धि से परे है।

तीसरे चरण में सद्‌गुरु (ब्रह्म) को बार-बार प्रणाम किया गया है। जो आचरण में व्याप्त है। यह अखंड है। मंडलाकार है। इसका स्वरूप परिचय उस गुरु के माध्यम से प्राप्त होता है। आगे चलकर रामानंद की शिष्य परंपरा के कबीर ने भी 'बलिहारी गुरु आपणे' कहा।

चौथे चरण में गुरु की व्याप्ति के प्रति ब्रह्मभाव निवेदित है। वह प्रणम्य है। वही परात्पर ब्रह्म है। वही आत्मस्वरूप है। वही है– जो हमारा मार्गदर्शन करता है। वही है जो हमें तिमिरांध से उबारता है। गुरु की महत्ता की भारतीय परंपरा बड़ी विलक्षण है। यही श्रद्धाभाव के जागरण का स्रोत है।

पाँचवें चरण में वाणी की वंदना की गई है। यह वाणी। दुःख, दारिद्रय, और रोग का शयन करने वाली है। यही वाक् है। यही ब्रह्म है। इसकी बड़ी विरासत परंपरा है। यही वाक् गो, धारा है, धरा है, इला है, पृथिवी है। वेदों में इसकी ५७ विभूतियाँ हैं।

छठे चरण में ब्रह्मदर्शन के उपाय पर विचार किया गया है। इसके दर्शन के उपाय हैं– मूलचक्र का अधिष्ठान। और फिर उससे सूक्ष्मातिसूक्ष्म, ब्रह्म का दर्शन। इसके माध्यम से साधक ब्रह्मरंध्र में पहुँचकर गगन रूपी गुफा में प्रवेश कर विभिन्न प्रकार की ध्वनि उच्चरित करता है। फिर वह ओंकार ध्वनि जाग्रत करता है।

सातवें चरण में पंचतत्त्वों की मीमांसा की गई है। इसकी व्याख्या है– पञ्चानां क्षित्यादिभूतानां भावः इति 'पञ्चतत्त्वम्'। शस्त्र कहते हैं–

**पञ्चधा सम्मृतः कायो यदि पञ्चतत्त्वमाजतः।**
**पञ्चभिः स्वशरीशेत्थैस्तत्र परिदेवता।**
**मृत्यावपानं सोत्सर्गतं पञ्चत्वे ह्यजोहवीत्।**

(भागवत १/१५/४१)

इसमें पाँचों प्रकार, पच्चीस प्रकृति स्वरूप सृष्टि, पाँचों प्रकार की पृथिवी स्वरूप आत्मा, अनहदनाद की मीमांसा की गई है।

आठवें चरण के अंतर्गत साधक की स्थिति को विवेचित किया गया है। जब वह साध्यावस्था को प्राप्त कर लेता है तो उसकी सांसारिक बाधाएँ स्वयमेव भस्म हो जाती हैं। साधक ब्रह्मरन्ध में वायु को ऊर्ध्वमुखी गगन (अध्यात्मिक लोक) में प्रविष्ट करता है, इसी में चंद्रमा की सारी कलाएँ सिमट जाती हैं।

नवें चरण में साधक की कालजयी भूमिका की चर्चा की गई है। आगमिक एवं निगमिक तत्त्वों का आलोक समस्त भौतिक बाधाओं पर विजय प्राप्त कर लेता है।

दसवें चरण में शरीर निर्मल स्थिति का विवेचन किया गया है। साधक अपनी यौगिक (श्वास-प्रश्वास साधन) क्रिया से गरुण पक्षी की भाँति भाविक कार्यों को समाप्त कर देता है। विषय-विकारों को नष्ट कर देता है। विमल (=विगतामलं यस्य सः विमलम्) हो जाता है। शारीरिक व्याधियों से मुक्त हो जाता है। यही मुक्तकाम स्थिति उसकी साधना की चरम परिणिति है।

ग्यारहवें चरण में उसके ओंकारमय हो जाने की स्थिति है। इसके वह 'जानत तुमहि तुमहि होइ जाई' की स्थिति प्राप्त कर लेता है। वह आभा मंडित हो जाता है। नाद बिंदु का सम्मिलन हो जाता है। इस स्थिति में उसे परम तत्त्व का आभास होने लगता है।

बारहवें में उस साधनावस्था का वर्णन है जिसमें पहुँचकर उसे पिण्ड और ब्रह्माण्ड के दर्शन होने लगते हैं। यह साधना की चरम स्थिति है। इस स्थिति में वह मन, प्राण और शरीर से मिलकर ब्रह्म जैसे लगने लगता है।

तेरहवें और चौदहवें में उसकी साधना की उच्चावस्था का वर्णन किया गया है। इस अवस्था में साधक के पिंड (शरीर) स्थित समस्त अवयव ब्रह्मांडमय बन जाते हैं। उसकी 'यत्पिण्डे तद्ब्रह्माण्डे' की स्थिति हो जाती है।

पंद्रहवें चरण में साधक की अजपा जाप की स्थिति का विवेचन किया गया है। यह ऐसी महाक्रिया में निमग्न होकर परमात्म तत्व के प्रति समुत्सुक हो उठता है।

सोलहवें चरण में जीव और ब्रह्म की अभेद स्थिति का वर्णन किया गया है। ऐसी स्थिति में स्फटिक मणिरूपी ब्रह्म का वह दीदार हो जाता है।

सत्रहवें में साधक की दशा का वर्णन है। साधनावस्था में पहुँच कर उसका नेत्रोन्मीलन हो जाता है। कण्ठ से वाणी का प्रस्फुरण हो उठता है। उसके अंतस में निरंकार ध्वनि का गर्जन होने लगता है।

अठारहवें में साधक की उन्मनी अवस्था का विवेचन किया गया है। ऐसी स्थिति में उसे परम तत्त्व के दर्शन होने लगते हैं। वह अमरता की स्थिति प्राप्त कर लेता है।

उन्नीसवें चरण में साधको की प्रसन्नावस्था का विवेचन है। उसकी इंगला, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियाँ, अत्यंत प्रसन्न हो उठती हैं। चाचरी भूचरी, खेचरी, अगोचरी और उन्मुनी मुद्राएँ जगकर उसे परम तत्त्वमय कर देती हैं।

बीसवें चरण में परम आस्था का विवेचन किया गया है। स्वामी रामानंद जी कहते हैं– जब उसके बाहर, विभिन्न स्थलों पर वह निरंजन राम रक्षा करेगा। विभिन्न प्रकार की माया स्वरूपिणी बाघ-बाघिनी उसका नाम लेते ही भयभीत हो जाते हैं।

इक्कीसवें चरण में परमतत्त्व की व्याप्ति का विवेचन है। वह निरंजन रूप राम संपूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। वह नवग्रहों का विजयी निराकार स्वरूप राम है।

बाइसवें चरण में सर्वस्थिति में व्याप्त रहने का उल्लेख है। वह निरंजन स्वरूप राम देश, परदेश, अग्नि, ध्वनि, पंथ सर्वत्र रक्षा करता है। जागते, सोते, खाते, पीते, खेलते सब समय में संत का रक्षक नहीं है।

तेईसवें में रामकृपा से प्राप्त स्थितियों का विवेचन किया है। रामकृपा से इंगला-पिंगला चंद्र-सूर्य (नाड़ियाँ), देव-राक्षस सभी पराभूत हो जाते हैं। योगरूपी अमृत का पान करने से विषय रूपी सभी बंधन कट जाते हैं। अमृत के इस पान से सहस्त्रदल कमल पूर्ण विकसित हो गया और ज्ञान रूपी भ्रमर गुंजायमान होने लगा।

स्वामी रामानंद ने जिस समय यह रचना की थी, वह हिंदी की एकदम प्रारंभिक स्थिति थी। न केवल विषय, ज्ञान, दृष्टि, दर्शन, साधना और मानव के कल्याण की दृष्टि से अपितु हिंदी के विकास में इस रचना के माध्यम से उनका अमूल्य योगदान है। उनकी ऐसी अनेक रचनाएँ हिंदी की अमूल्य मणि हैं।

●

# वैदिक परम्परा के आलोक में ज.गु. रामानंद की राष्ट्रीय चेतना

**प्रो. रमाकांत आंगिरस ***

आधुनिक ज्ञान-विज्ञान सम्पूर्ण रूप से ऐन्द्रिक प्रत्यक्षवाद पर ही निर्भर होकर रह गया है। आर्ष प्रत्यक्ष एवम् योगज प्रत्यक्ष आज के सन्दर्भ में साधारण जनमानस की पकड़ से दूर होते चले जा रहे हैं। यही कारण है कि मध्यकालीन मानवता की उपलब्धियों को अर्ध-विकसित और प्राचीनकाल की संपदा को पूर्ण अविकसित मानकर यह निर्णय कर लिया जाता है कि आज का दिन सबसे श्रेष्ठ और कल जो चला गया वह निरर्थक और जो आएगा वह नितान्त सार्थक होगा। काल की इस प्रकार की श्रृंखलाबद्ध संकल्पना ने मानवमन को ऐसे जकड़ लिया है कि वह लोक-जीवन की सारी समस्याओं का समाधान इसी संकल्पना के अधीन होकर करना चाहता है। परिणामस्वरूप भय, संशय और भ्रम में जीने के कारण एक अर्थहीन संघर्ष और द्वन्द्व मानवमात्र की नियति बन जाते हैं। विभिन्न दर्शन पद्धतियाँ इस परिस्थिति से निकलने का मार्ग सुझाती हैं किन्तु एकांगी होने के कारण कोई निश्चित समाधान नहीं दे पातीं।

प्राचीन भारत में जिन विभिन्न दार्शनिक सरणियों का विकास हुआ वे अपने अपने क्षेत्र में लोकहित का काम कर रही थीं, किन्तु उनमें शत्रु-मित्र भाव पैदा होते-होते वैमनस्य बढ़ता जा रहा था। जो विधाएँ उपनिषदों के हृदय से सन्तति सूत्र लेकर पैदा हुईं थीं, संगत होकर चल रही थीं वे पारस्परिक विरोध को मुखरित करते हुए स्वपक्ष साधन और परपक्ष उत्सादन में व्यस्त हो गईं। फलतः जनसामान्य हृदय की संस्कृति से अपरिचित होने के कारण अपने मूल से ही कटने लगा। यदि मानवमन के इतिहास को देखा जाए तो वह सदैव किसी ऐसे केन्द्र की तलाश में रहता है जहाँ से वह बल प्राप्त कर स्वस्थ होकर जिए। योगविधाएँ प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि की शिक्षा देकर अन्तर्मुखता या व्यापारिक जीवन जीने की ओर प्रेरित करने में व्यस्त हो गयी थीं। परमार्थ के बल पर लोक-जीवन को भयमुक्त और संघर्षशील चेतना के साथ जोड़ने वाला एक भी दर्शन या चिन्तन दृष्टि में नहीं आता।

भारतीय लोकजीवन के विघटन का सबसे बड़ा कारण गुप्त साम्राज्य की टूटन

---

* संस्कृत वाङ्मय के प्रकांड पंडित चण्डीगढ़, पंजाब।

के साथ विदेशी आक्रान्ताओं के निरन्तर प्रहार अनेक प्रकार की मानसिक, सामाजिक, राजनीतिक दुर्बलताओं को जन्म देते चले जा रहे थे। आठवीं शती के बाद आचार्य शंकर के महनीय प्रयासों से और श्रीरामानुज के भक्तिदर्शन से जो सांकृतिक या आध्यात्मिक राष्ट्रवाद पैदा हुआ उसमें परमार्थ एवम् बैकुण्ठ के प्रति ही अधिकाधिक प्रतिबद्धता थी। इहलोक को पूर्ण विकसित राष्ट्र के रूप में देखने का कोई नायक ही नहीं मिल रहा था, जो लौकिक अनेकता के मांसल शरीर में पारमार्थिक एकता की अभेद्य अस्थियों का सन्निवेश करके ऐसे राष्ट्र की कल्पना दे सके जो मानव समाज की विकृत विसंगतियों को कुचल कर भयमुक्त समतामूलक समाज की सर्जना कर सके जिसमें बच्चे, बूढ़े, स्त्रियाँ और किसी भी प्रकार का आर्त्त जीव स्वयम् को असहाय एवम् असमर्थ की तरह न समझे। ऐसे ही जीवन जीने की लोगों की सामर्थ्य को वैदिक संस्कृति में राष्ट्र कहा गया था, 'श्रीर्विराष्ट्रम्' (शतपथ ब्रा.) अथवा जाग्रत चेतना के लोगों का जीवन ही राष्ट्र था– 'वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः।''

वैदिक चेतना के इस राष्ट्रवाद को महर्षि वाल्मीकि ने आदिकाव्य रामायण की रामकथा में सन्निहित कर दिया था। वाल्मीकि रामायण के बारे में यह सदुक्ति इस रहस्य का प्रत्यक्ष प्रकाशन करती है। पहली तो बालकाण्ड के इस श्लोक पर अधारित है–

**'वेदोप्बृंहणार्थाय तावग्राहयत्प्रभुः।**
**वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।**
**वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना।।'**

अर्थात् वेद के ही उपबृंहण या जीवन्त रूप के दिखाने के लिए वाल्मीकि ने लव-कुश को रामायण सिखाई। इस पद्य में वेदों का परम, जब दशरथ पुत्र के रूप में प्रकट होता है तो अनेक ऋषियों द्वारा साक्षात्कार किया गया अनेक रूप वेद एक महर्षि के माध्यम से एक महाकाव्य रामायण के रूप में आविर्भूत हुआ। भारतीय लोकजीवन में ज्ञानों के नानात्व में तत्त्वज्ञान के मानदण्ड के रूप में वाल्मीकि और अनन्त असंख्य गुणों और बलों के नानात्व के बीच धुरी कें रूप में श्रीराम सीतासहित आविर्भूत हुए–

**नहि तद्भविता राष्ट्रं यत्र रामो न भूपतिः।**
**तद्वनं भविता राष्ट्रं यत्र रामो निवत्स्यति।।**

(वा. रा. २-३७-२९)

इस पद्य में राम और राष्ट्र एकरूप हो गए हैं जो नितान्त यूरोप की नस्लवादी या भाषावादी राष्ट्रीयता से उसे पूर्णतः पृथक् कर देते हैं। रामायण का राष्ट्रवाद स्पष्ट घोषणा करता है कि जहाँ राम रहेंगे वहाँ वन भी राष्ट्र बन जायेगा और जहाँ राम ही नहीं वहाँ राष्ट्र कैसा? केवल जनसमूह मात्र तो राष्ट्र नहीं होता। इसी कारण वैरागी वैष्णवों को लोगों के बीच जब यह गाकर प्रचार करते देखा कि–

**राम राजा ही प्रजा राम साहूकार हैं**
**बसे नगरी जिए दाता धर्म पर-उपकार हैं।**

तो मुझे लगा कि स्वामी रामानन्दाचार्य ने मध्यकाल में जिस लोकचेतना का उत्सर्जन किया वह किन अर्थों में शंकर और रामानुज के तत्त्वदर्शन की अनुवर्तिनी होने के बावजूद नितान्त मौलिक है। स्वामी रामानन्दाचार्य ने रामायण के उस तत्त्वदर्शन को राम-दर्शन की आधारभूमि बनाया जिसमें राम परब्रह्म प्रकाशरूप भी हैं और विमर्शरूप शक्ति भी हैं। जिसकी लालिमा में वेदान्त की माया लीला में रंजित होकर अनिर्वचनीय नहीं रह जाती, रामलीला में या अभिनय कौशल में बदल जाती है।

सम्पूर्ण भारतीय या विश्व इतिहास में राम एकमात्र अपराजेय हैं। क्योंकि उनका पराक्रम सत्य पर आधारित है। विश्वामित्र ने इसकी घोषणा दशरथ की भरी सभा में बहुत पहले कर दी थी। दशरथ के पास बड़े दावे से कहा कि मैं तथा वशिष्ठ एवम् ये सभासद् इस तथ्य को पूर्णतः जानते हैं–

**''अहं वेत्तिमहात्मानं रामं सत्य पराक्रम्**
**वसिष्ठोऽपि महातेजा ये चेमे सदसि स्थिताः।।''**

राम का पराक्रम इसलिए सत्य है क्योंकि उसमें कहीं भी कुटिलता की दुर्नीति नहीं। उसका अपना स्वार्थ जैसा कुछ भी नहीं, जो कुछ है वह लोक को समर्पित है। इसका प्रमाण वहाँ मिलता है जहाँ राम कहते हैं कि ''मैं अपना जीवन, फिर सीता और फिर लक्ष्मण, जो मुझे सर्वाधिक प्रिय हो सकते हैं, उन सभी को मैं लोक-मंगल के लिए तितांजलि दे सकता हूँ किन्तु लोक के प्रति अपने दायित्व और प्रतिज्ञा को बीच में नहीं छोड़ सकता।'' क्योंकि लोक चाहे चर जीव हों चाहे अचर परिवेश, दोनों ही राम के ही तो प्रकाश हैं। सूर्य अपने प्रकाश को कैसे छोड़ सकता है। इसलिए वे गति की दुनिया में रघुवंशी हैं जिनकी मर्यादा का कोई उल्लंघन नहीं कर सकता। कालिदास कहते हैं कि राम के परदादा का नाम पिता ने इसलिए रघु रखा था जिससे वह बालक श्रुति और शास्त्रीय परम्परा की सिढ़ियों पर चढ़ता हुआ अनुभव या निदिध्यासन के परले पार को छू जाए तथा युद्धों में शस्त्रविद्या के सोपानों को लाँघता हुआ अनाचारी या अत्याचारी शत्रुओं का पूर्ण दमन करने की प्रक्रिया में कहीं भी रुके नहीं। इसलिए संस्कृत व्याकरण में प्रयुक्त होने वाली 'रघि तथा लघि' धातुओं का लंघन अर्थ समझकर ही उस बालक का नाम 'रघु' रखा गया।

राम ने स्वयं को, हमने राम को, रघुवंशी कहने में सदैव अत्यधिक गौरव अनुभव किया। कहीं पर उन्हें रघुपति, तो कहीं पर उन्हें राघव कह कर सम्बोधन किया। वास्तव में श्रौत परम्परा में राजा का राजनीति पद से तो बाद में मेल हुआ, पहले तो वह अध्यात्म के क्षेत्र में प्राण-पुरुष के रूप में ही प्रकट होता है। वृहदारण्यक उपनिषद्

में जिस प्राण-पुरुष या यज्ञपुरुष की विश्वात्मकता की कहानी मिलती है, मुझे लगता है उस उपेक्षित गाथा को सर्वप्रथम वाल्मीकि ने तथा दूसरी बार स्वामी रामानन्दाचार्य ने लोक के सार-रूप में ग्रहण किया। इसीलिए उन्हें बैकुण्ठ या परलोक की चिन्ता की अपेक्षा इहलोक की अधिक चिन्ता है। स्वामी रामनन्दाचार्य और उनके तत्त्वदर्शन को मैं भारतवर्ष की प्रखर दार्शनिक प्रज्ञा के अग्रदूत आचार्य शंकर की दार्शनिक मेधा और आचार्य रामानुज की हृदयहारिणी भक्तिमार्गी दार्शनिकता के समन्वय सूत्र के रूप में देखता हूँ। वे निश्चित रूप से उपनिषदों के उस तत्त्वदर्शन के पास गए जहाँ उनके दोनों पूर्वाचार्य सांप्रदायिक पूर्वाग्रहों से मुक्त हो जाते हैं। कारण यह है कि उपनिषदों का आत्मसाक्षात्कार का सिद्धान्त-प्रतिपादन इतना केन्द्रीय दर्शन है कि उसमें आकर सभी दृष्टियाँ समन्वित हुए बगैर रह नहीं सकती। क्योंकि वहाँ यज्ञ-संस्कृति के विभिन्न आयामों का विस्तार से प्रतिपादन करते हुए ब्रह्म चेतना के व्यावहारिक स्वरूप पर खुलकर विमर्श हुआ। ब्रह्म निराकार भी है साकार भी, सगुण भी, निर्गुण भी। वह क्या नहीं है। वहाँ सम्भावनाओं का भण्डार है। इस प्रकार की जागरूक मानसिकता ने भारत की धर्मनीति, समाजनीति और राजनीति को भी बहुत दूर तक प्रभावित किया। संभवत: इसी कारण से उपनिषदों में लोक जीवन का प्रशासन चलाने के लिए ब्रह्मविद्या और अग्निविद्या का आश्रय लेने वाले जनक, अश्वपति, प्रवाहणि और अजातशत्रु जैसे राजाओं का अपना वर्चस्व स्थापित रहा। वे योगी भी हैं, राजर्षि भी हैं और ब्रह्मवेत्ता भी हैं। वाल्मीकि के राम वेदोत्तर काल में इसी परम्परा को लेकर भारतीय लोकजीवन में अवतरित होते हैं। भारतीय राजनीति का सारा आकार-प्रकार ही सदा सर्वदा के लिए रूपान्तरित हो जाता है। वह लोक में अप्रशस्त कर्मों का त्याग कर प्रशस्त एवम् श्रेष्ठम् आर्य मर्यादाओं एरम् मूल्यों की स्थापना के लिए समर्पित हो जाते हैं। उपभोग-प्रधान लूटमार की राजनीति को वाल्मीकि के राम यह कर कर अस्वीकार कर देते हैं–

**नाहमर्थपरो देवि लोकभावस्तुमुत्सहे।**
**विद्धि मामृषिभिस्तुल्यं केवलं धर्ममास्थितम्।।**

हे कैकेयि देवि! चिन्ता मत करो, मैं किसी अर्थलोलुप बनिए की तरह इस लोक में जीने का साहस ही नहीं कर सकता। मैं तो केवल धर्म में स्थित रह कर ऋषियों के तुल्य जीवन जीने का पक्षधर हूँ। भारतीय चिन्तनधारा से प्रसूत यह धर्म पुरुषार्थ विशुद्ध सेक्युलर अथवा इस लोक के प्रति उन्मुख जीवनपद्धति है जिसमें मानवमात्र का सुख और सौन्दर्य निहित है। इस पृथ्वी के लोगों की सुख-समृद्धि के लिए यदि दूसरे लोकों का समर्थन लेना पड़े तो कोई संकोच नहीं। देश में यदि सूखे की मार पड़ रही हो तो राम को वृष्टि के लिए यज्ञ द्वारा वर्षा का आह्वान करने में भी संकोच नहीं हो सकता। आखिर वृष्टियज्ञ द्वारा उस सौर ऊर्जा या रश्मिप्रवाह का उपयोग क्यों न किया जाए जो

ऊर्जा या रश्मियाँ पृथ्वी के थोड़े से जल का शोषण करके बदले में सहस्रगुना जल बरसा देने वाले मेघों को सन्तप्त धरती के शिखरों पर अमृत बरसने को उत्तेजित करती हैं। वाल्मीकि की परम्परा के अनुवर्ती कालिदास अपने रघुवंश महाकाव्य में रघुवंशी परम्परा के जीने के इसी अन्दाज को अपनी लोक-जीवन की संस्कृति का प्राण मानते थे। वे प्रजा से कर उगाहने के समय इसी सूर्य के आदर्श को अपनाते थे। थोड़ा-सा कर लेकर सहस्रगुणा अधिक लोकहित की संरचना करते थे-

**सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः।।**

अब थोड़ा इस बात पर भी विचार कर लेना चाहिए कि क्या वाल्मीकि की प्रतिभा ने इस प्रकार की जीवनदृष्टि को अकस्मात् रामायण के पात्रों के चरित्र में से अधिगृहीत कर लिया या उसकी समीपवर्ती यज्ञपरम्परा और प्राचीन उपनिषदों की दार्शनिक प्रणाली से उसको लोकसंग्रही व्यावहारिक जीवनदर्शन मिला। वैदिक काल में इस ब्रह्माण्डी लोक संरचना में आदिपुरुष अथवा यज्ञपुरुष ने अपना योगदान करने के लिए स्वयं की ही बलि देकर समाज की संचना का जो काम किया उसकी परिधि विराट् पर्यन्त होने से वह पुरुषमेध यज्ञ कहलाया। इसी प्रक्रिया को जब कोई नर-जीवन आत्मदान द्वारा विधिकृत करने का साहस विवेक पूर्वक करता है तो नरमेध बन जाता है। उसमें अविवेकपूर्ण तरीके से की जानेवाली जीवों की हिंसा मूल यज्ञभावना का विकृत रूप है।

वैदिक संस्कृति का यही यज्ञपुरुष नारायण उपनिषद् में प्राण-पुरुष के रूप में प्रकट हुआ। इसका चरित्र लोकालोक या दिव्यादिव्य प्रकृति का था। वह एक साथ ही मनुष्य भी था और ब्रह्म भी। वाल्मीकि रामायण में जब राम को "त्वमप्रमेयश्च दुरासदश्च" संबोधित करके कहा जाता है तो वे अप्रेमय अनन्त ब्रह्म हो जाते हैं, जो इसलिए दुष्प्राप्य हो जाते हैं क्योकिं बड़े-बड़े ज्ञानी और भक्त भी उन्हें न पाकर व्याकुल हो जाते हैं। किन्तु इसी श्लोक की अगली आधी पंक्ति में वाल्मीकि राम को "जितेन्द्रियश्चोत्तमधार्मिकश्च" कह कर एक उदात्त चरित्र मनुष्य की तरह अंकित कर दिया। अगले दो पदों में उन्हें 'अक्षय्यकीर्तिश्च क्षितिक्षमावान् क्षतजोपमाक्ष' कह कर उनको रक्तनयन अक्षयकीर्तिवाले, प्रज्ञावान् और पृथ्वी के समान क्षमावान् कहते हुए मानवीय गुण-कर्म से सज्जित भी कर दिया। राम उसी तरह अपराजेय हैं जैसे वृहदारण्यक उपनिषद् के प्रथमाध्याय के तीसरे ब्राह्मण में निरुपित मुख्य प्राण-पुरुष।

प्रसंग-प्राप्त उपाख्यान में निरन्तर चलते रहने वाले देवासुर संग्राम का वर्णन, असुर संख्या में अधिक हैं और देवगणन कम। देवता बराबंर हारते रहने से खिन्न होकर वाग् देवता से अनुरोध करते हैं कि वाणी ही देवताओं के लिए उद्‌गान करे जिससे सभी देवता उस सामगान से ऐसी ऊर्जा ओजबल प्राप्त करें जो असुरों से पराजित न

हो सके। वाक् ने जब उद्गान शुरू किया तो वह उद्गान के विशिष्ट फल को अपने लिए सुरक्षित करके सामान्य फल अन्य देवताओं के लिए अर्पित करने लगी। असुरों ने अवसर पाकर वाक् को पाप से विद्ध कर दिया जिसके कारण वह आज भी सत्य बोलते-बोलते झूठ बी बोलने लगती है। देवताओं ने सम्मिलित स्वर से सभी इन्द्रियों और मन के अधिष्ठाता देवताओं को बारी-बारी इस उद्गान के लिए आग्रह किया किन्तु सभी अपने-अपने स्वार्थ के लिए विशेष फल को अपने लिए और सामान्य फल को दूसरों के लिए सुरक्षित करने के प्रयास के कारण असुरों के द्वारा पाप के भागी बनकर पराजित हुए। तब सबने मिलकर चराचर सृष्टि के आधारभूत प्राण-पुरुष का आह्वान किया। उसका अपना कोई स्वार्थ नहीं था, कोई भोग्य विषय नहीं था। अतः उसकी निस्संग क्रियाशीलता टकराकर असुर ऐसे ही परास्त हुए जैसे मिट्टी का बड़ा-सा ढेला लोहे की कठोरता से टकरा कर चकनाचूर हो जाता है। वाल्मीकि ने इसी प्राण-पुरुष को श्रीराम के रूप में देखा था। पूर्ण, निःस्वार्थ, निस्संग, लोक के प्रति अर्पित होने के कारण, सबके हित में अपने हित को देखने वाला यज्ञपुरुष जो ब्रह्मभाव से अवतरित होकर मूर्त लोकजीवन और अमूर्त दिव्यता के बीचोबीच सेतु बनकर खड़ा था।

भारतीय इतिहास के सन्धिकाल या मध्यकाल में जगद्गरु स्वामी रामानन्दाचार्य वाल्मीकि की आर्ष दृष्टि को आत्मसात् करके जब अवतीर्ण होते हैं तो उनकी प्रेरणा एक ओर कबीर, रविदास, गुरुनानक आदि सन्तों की वाणी में राम को अप्रमेय पुरुष के रूप में आरोहण करते दिखती है तो दूसरी ओर संस्कृत में पारंगत होने पर भी तुलसीदास अवधी जैसी लोकभाषा में ऐसी रामकथा को उतारते हैं जो कथा उत्पीड़न से टूटते-बिखरते भारतीय समाज को फिर से राष्ट्र के रूप में जोड़कर स्वातन्त्र्य-आंदोलन के चरम शिखर तक पहुँचा देती है।

●

# स्वामी रामानंद की राष्ट्रीय चेतना : वर्तमान परिप्रेक्ष्य

डॉ. शत्रुघ्नप्रसाद *

पश्चिमी दृष्टि के भारतीय चिन्तक मानते हैं कि यूरोप में राष्ट्रवाद के विकास के प्रभाव में भारत ईसा की उन्नीसवीं सदी में राष्ट्रीयता के विचार से अनुप्राणित हुआ।

आधुनिक युग का आरंभ राष्ट्रीय चेतना के स्फुरण के साथ हुआ। हिन्दी में भारतेन्दु युग प्रमाण है। बीसवीं सदी में भारत इसी विचार से आन्दोलित हो सका। स्वाधीनता के लिए संघर्ष आरंभ हो गया और देश स्वतंत्र हुआ। परन्तु सत्य यह है कि अथर्ववेद के भूमिसूक्त से राष्ट्रीयता का विकास होता है। इसी सूक्त में ध्वनित हुआ– 'माताभूमिः पुत्रोऽहंपृथिव्याः।' भूमि और भूमि पर निवास करने वाले जन में माता एवं संतान का रागात्मक भाव जगाना राष्ट्रीयता की दृष्टि से विश्व वाङ्मय में सर्वथा विशिष्ट अभिव्यक्ति है। यह यूरोप की दृष्टि से नितान्त भिन्न है। यूरोप के राष्ट्रवाद से हजारों वर्ष पहले का महत्वपूर्ण प्रसंग है। विष्णु पुराण ने तो इस राष्ट्र के भूगोल को स्पष्ट कर दिया है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र ने आसेतु हिमाचल क्षेत्र को चक्रवर्ती क्षेत्र माना है।

तुर्कों-अरबों-मुगलों के आक्रमण, विजय एवं राजत्वकाल में चन्दबरदाई आचार्य श्रीरामानन्द, आचार्य वल्लभ, गुरु नानकदेव, तुलसीदास, भूषण आदि ने भारत की पराधीनता की पीड़ा और संघर्ष के तेज को व्यक्त किया है। शिवाजी ने तो 'हिन्दवी स्वराज' के लिए संघर्ष का उद्घोष किया है। सन् १८५७ का संग्राम अंग्रेजों के विरुद्ध स्वातंत्र्य संग्राम ही था।

यह अवश्य है कि यूरोप एवं अमेरिका के राष्ट्रवाद के प्रभाव से भारत का प्राचीन राष्ट्रवाद प्रखर हुआ। रेल, डाक, तार तथा प्रेस के कारण यह अखिल भारतीय स्तर पर प्रकट होने लगा।

प्रश्न है कि चौदहवीं सदी के आचार्य श्रीरामानन्द के धार्मिक-सांस्कृतिक अभियान में राष्ट्रीयता को स्थान मिला था? वर्तमान परिप्रेक्ष्य में आचार्य श्री का राष्ट्रीयता के उत्थान में क्या योगदान रहा है? आज क्या प्रासंगिकता है?

प्रथम प्रश्न पर विचार करते समय ध्यान में आता है कि एक ओर आद्य शंकराचार्य 'ब्रह्मसूत्र' के आधार पर अद्वैतवाद का प्रतिपादन कर बौद्ध शून्यवाद एवं निरीश्वरवाद को ब्रह्मराज में परिणत कर रहे थे। दूसरे शब्दों में वैदिक दर्शन तथा बौद्ध

* प्रसिद्ध कथाकार, समीक्षक पटना, बिहार।

दर्शन का द्वन्द्व चल रहा था। तांत्रिक साधना भी प्रबल थी। शैव और नागपंथी भी प्रभावशाली थे। उधर अरब में तौहीद चिंतन का एकेश्वरवाद प्रतिष्ठित हो चुका था। तौहीद के आधार पर नया मजहब जोशो जनून के साथ पश्चिम एशिया पर विजय प्राप्त कर सिन्ध में पहुँच गया था। शैव और बौद्ध दोनों उनकी तलवार के आगे झुक रहे थे। दसवीं सदी में बौद्ध एवं शैव धर्मों की साधना में मग्न अफगानिस्तान पर नये मजहब की फौज ने भीषण युद्ध कर कब्जा कर लिया था। ग्यारहवीं सदी के महमूद गजनवीं के फौजी अभियान और आक्रमण के फलस्वरूप मुलतान और सोमनाथ के विध्वंस का रोमांचक वर्णन चतुरसेन शास्त्री के 'सोमनाथ' नामक उपन्यास में मिलता है। डॉ. शिव प्रसाद सिंह ने तेरहवीं सदी के जुझौती के भीषण संग्राम और भारतीय वीर सेनापति आनन्द बाशेक की पराजय की पीड़ा का वर्णन 'दिल्ली दूर है' में किया है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसी सदी से सम्बन्ध 'चारु चन्द्रलेख' में उज्जयिनी के संघर्ष तथा रानी चन्द्रलेखा के द्वन्द्व, तन्त्र-शक्ति याजन शक्ति को बड़े संयम से उभारा है। चौदहवीं सदी के कश्मीर की पराजय का त्रासद वर्णन शत्रुघ्न प्रसाद रचित 'कश्मीर की बेटी' में विद्यमान है। अमृत लाल नागर ने पन्द्रहवीं सदी से सम्बंधित' 'खंजननयन' में सूरदास के माध्यम से उस युग के अनेक आयामी संघर्ष को चित्रित कर दिया है।

धर्म संस्कृति के क्षेत्र में भी वह युग द्वन्द्व ग्रस्त था। संघर्षशील था। एक ओर दक्षिण भारत के आलवार भक्तों में भक्तिभावना की एकान्त अभिव्यक्ति हो रही थी। दूसरी ओर अद्वैतवाद का नया चिंतन-विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत आदि भक्ति को सैद्धान्तिक मान्यता देकर भक्ति का प्रसार कर रहे थे। सगुण और निर्गुण दोनों प्रकार से भक्ति भावना प्रबल हो रही थी। उसी समय अरब से तौहीद दर्शन के साथ मजहबी सियासत का सैनिक अभियान पश्चिम एशिया पर फतह पाकर भारतीय भूमि सिन्ध में भी पहुँच गया और तेरहवीं सदी में वे दिल्ली पर कब्जा कर हुकूमत करने लगे। राजनैतिक स्वतंत्रता के साथ धार्मिक स्वाधीनता पर भी संकट आ गया। इस प्रकार विदेश से आगत तौहीद और भारतीय दर्शन के द्वन्द्व के साथ उपासना एवं भक्ति का भी संघर्ष आरंभ हो गया। परन्तु राम और कृष्ण की भक्ति मंदिरों के ध्वंश के बाद भी संपूर्ण भारत में गूँजने लगी। यह भारतीय आस्था एवं अध्यात्म का नव जागरण सिद्ध हुआ।

इस द्वन्द्वग्रस्त तथा संघर्षरत भक्त के परिवेश में आचार्य श्री रामानन्द जी भारतीय आस्था एवं अध्यात्म के आधार बन गये। रामभक्ति, सगुण एवं निर्गुण दोनों की मान्यता, संस्कृत के साथ हिन्दी को स्थान देना और वर्णव्यवस्था की स्वीकृति के साथ सब को भक्ति का अधिकार देकर शिष्यत्व प्रदान करना स्वामी रामानन्दाचार्य का युगधर्म था। यह युगधर्म भारत की राष्ट्रीयता का सांस्कृतिक पक्ष है। इसका प्रभाव आज तक दिखायी पड़ रहा है। जिसे जार्ज ग्रियर्सन ने भी स्वीकार किया है। वह चकित तथा

चमत्कृत रहा है।

भारत की राष्ट्रीयता के अनेक पक्ष हैं। प्रथम पक्ष उपर्युक्त सांस्कृति पक्ष है। दूसरा सामाजिक, तीसरा आर्थिक और राजनीतिक पक्ष चौथा है। राष्ट्रीयता केवल अतीत के गौरवगान वर्तमान अधोगति पर रोना और भविष्य के लिए आवाहन मात्र नहीं है। जैसे इसमें सभी पक्ष समाहित हो सकते हैं। दर्शन, जीवन दृष्टि, भाषा, साहित्य, कला, विज्ञान, प्रकृति, पर्यावरण, जनजीवन, राज्यव्यवस्था, अर्थव्यवस्था, शिक्षा, सुरक्षा आदि सब राष्ट्रीय चिंतन के अन्तर्गत अन्तर्भूत हैं। आचार्यश्री दर्शन, उपासना, भक्ति, साहित्य, कला, रामचरित और संगठन को लेकर राष्ट्रीयता के सांस्कृतिक पक्ष को प्रबल कर नवजागरण के प्रवर्तन में अग्रसर हुए थे। इसका अमिट प्रभाव तो आज तक है, पर सत्रहवीं सदी तक विशेष रहा। अद्वैत के नये विवेचन के साथ उन्नीसवीं सदी में इसका नव जागरण आया। परन्तु आचार्य श्रीरामानन्द के दर्शन, भक्ति तथा राम भक्ति का प्रभाव कबीर और तुलसी के द्वार आज तक विद्यमान है। तुलसी रचित 'रामचरितमानस' तथा उस पर आधारित रामलीला तो बीसवीं सदी तक जनजीवन को अनुप्राणित करते रहे हैं। इक्कीसवीं सदी ने भी इसका अभिनन्दन किया है। परन्तु पुनः पश्चिम से आयातित दर्शन, धर्म, भाषा तथा राजनीति ने अचानक द्वन्द्व उपस्थित कर दिया है। परन्तु स्वामी रामानंदाचार्य का योगदान अप्रतिम है, क्योंकि भारत की राष्ट्रीयता पर हो रहे प्रहारों को झेल कर राष्ट्रवाद आगे बढ़ने का प्रयत्न कर रहा है।

आचार्यश्री द्वारा प्रस्तुत रामचरित, रामकथा और रामभक्ति भारतीय राष्ट्रीयता की प्रमुख भावभूमि है। पराधीनता के कालखंड में धनुषधारी राम तथा लक्ष्मण के साथ सहायक गदाधारी हनुमान महावीर की तेजःपुंज छवि से दुःखी जनजीवन नयी शक्ति पाता रहा है। नया विश्वास जगा है।

बनवासी राम ने दक्षिण के जनजातीय समूहों के सहयोग से लंका के साम्राज्यवादी शासक को पराजित कर सीता को मुक्त किया साथ ही दक्षिण को भी उसके प्रभुत्व से बचा लिया। तुलसी के अनुसार विजय के बाद रामराज्य की स्थापना हुई। यह तत्कालीन मुगल हुकूमत के विकल्प के रूप में मान्य हुई। राम तथा रामराज्य आधुनिक स्वातंत्र्य संघर्ष में प्रेरक रहे हैं। हम गाँधीजी के रामराज्य का स्मरण करें। इस रूप में आचार्य श्री का योगदान उल्लेखनीय है।

आचार्य श्री ने हिन्दी को स्थान दिया। फलतः फारसी, बाद में अंग्रेजी के विकल्प के रूप में हिन्दी को ही सबने राष्ट्रभाषा के स्थानपर आसीन किया। दोनों स्वतंत्रता संग्राम हिन्दी के माध्यम से ही लड़े गये। आधुनिक हिन्दी काव्य में मैथिलीशरण गुप्त रचित साकेत आधुनिक युग का मानस है। इसमें सीता भारत लक्ष्मी हैं। रावण साम्राज्यवादी है। राम, भारत को स्वर्ग को समान समृद्ध एवं सुखी बनाने के लिए

अवतरित होते हैं। निराला प्रणीत 'राम की शक्तिपूजा' तथा 'तुलसीदास' नामक कविताओं में शक्ति साधना से विजय और पत्नी रत्ना को सरस्वती के रूप में मार्गदर्शिका प्रस्तुत किया गया है। नरेश मेहता के 'संशय की एक रात' में राम के युद्धपूर्व द्वन्द्व का वर्णन है। बरेली के राधेश्याम कथा वाचक ने खड़ी हिन्दी में 'राधेश्याम रामायण' लिखकर सरल-सहज रूप में रामकथा के द्वारा जन-जन को अनुप्राणित किया था।

स्पष्ट है कि आधुनिक हिन्दी काव्य आचार्य श्री की रामचेतना से प्रेरित है। यह दूसरी बात है कि वामपंथी तथा सेकुलर राम के अस्तित्व, राम की अस्मिता और सेतुबन्ध पर प्रहार करके राष्ट्रपुरुष राम के प्रति अनास्था उत्पन्न करने का षड्यंत्र कर रहे हैं। आज पुनः राम तथा रामविरोध का द्वन्द्व विदेशी मतवादों के प्रभाव से चल रहा है। आज की विषम स्थिति में आचार्य श्री की रामचेतना राष्ट्रचेतना की पोषक बन रही है।

आज पुनः विदेशी षड्यंत्र से संस्कृत तथा हिन्दी दोनों पर संकट मड़राने लगा है। वैश्वीकरण और उपभोक्ता संस्कृति के बढ़ते प्रभाव से अंग्रजों का वर्चस्व दिखाई पड़ने लगा है। भारत तथा भारतीयता की अभिव्यक्ति की माध्यम संस्कृत और हिन्दी को चुनौती मिलने लगी है। मीडिया का सहयोग भारत विरोधी को मिल रहा है। यह चिंत्य है। आचार्य श्री ने संस्कृत तथा हिन्दी दोनों को आगे बढ़ाया था। आज हम पुनः उनसे प्रेरणा ग्रहण करेंगे। भाषा तो राष्ट्रीयता की वाटिका है।

पन्द्रहवीं सदी में तौहीद एकेश्वरवादी चिंतन भारतीय दर्शन के सामने खड़ा हो गया था। आज भारतीय दर्शन के सामने एक ओर तौहीद तो है ही, साथ ही द्वन्द्वात्मक भौतिकता और उसके पूरक पूँजीवाद का भौतिक योगदान दूसरी ओर है। यह सब भारतीय दर्शन पर ही चोट कर रहे हैं। ऐसा लग रहा है कि अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैतवाद आदि सभी विदेशी चिंतन के सामने निष्प्रभ प्रतीत हो रहे हैं।

पश्चिमी भोगवाद वस्तुवादी और यौनवादी ही हैं और यह मीडिया के जरिये हमारे मस्तिष्क पर छाने लगा है। उधर मजहबी सियासत आतंक का सहारा लेकर विध्वंस लीला कर रही है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी आतंक को क्रांति का माध्यम मानता है। इस विषम स्थिति से भारतीय दर्शन को जूझना है। अपने को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करना है। अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत इन सबको संघर्ष करना है। विदेशी तत्वज्ञान को पराजित कर भारतीय मनीषा की देन भारतीय दर्शन को विजयी होकर भारतीय राष्ट्रवाद को बल प्रदान करना है। इस संक्रांतिकाल में आचार्य श्री का स्मरण आना स्वाभाविक है। कारण स्पष्ट है कि उन्होंने दर्शन के साथ रामचरित के द्वारा भारत को जागृत किया था। ज. गु. रामानन्द ने भारत भ्रमण कर तीर्थयात्रा के द्वारा भारत के चिन्तकों तथा

साधकों से मिल कर देश की सांस्कृतिक समस्या पर गहन विमर्श किया था। इससे सांस्कृतिक एकता को सुदृढ़ किया था। साथ ही सांस्कृतिक राष्ट्रीयता पुष्ट हुई थी। आज भी भारत के चिन्तक तथा साधक एक साथ बैठ रहे हैं। भारत की सांस्कृतिक समस्याओं पर विचार कर रहे हैं। जन-जन में आस्था जगा रहे हैं। इन सबमें आचार्य श्री की प्रेरणा सक्रिय है। अतः लग रहा है कि नये युग का भारत अपने दर्शन, अपनी भाषा और अपने साहित्य से दूर नहीं जा सकेगा। वह धर्म संस्कृति तथा राष्ट्रीयता के जीवंत प्रतिमान राम को भूल नहीं सकेगा। अयोध्या से हट नहीं सकेगा। सेतुबंध का विध्वंस नहीं करने देगा। यदि राम और उनकी भक्ति की स्थिति है तो भारत स्वामी रामानंद का विस्मरण नहीं कर सकेगा।

यह आचार्य श्री के अवदान की प्रासंगिकता है। उस युग में आचार्य श्री के शंखनाद और फिर उनके तर्कों से सभी विरोधी नतमस्तक होते रहे हैं। आज भी भारत उस दाय के आधार पर नयी ऊर्जा के साथ विदेशी षड्यन्त्रों को विफल करेगा- ऐसा पूरा विश्वास है।

आचार्य श्री ने अपने युग की धड़कन को समझा था। युग के द्वन्द्व के साथ समाज की पीड़ा की गहरी अनुभूति की थी। समाज के निम्नवर्ग के असन्तोष और मतान्तरण की स्थिति को देखा था। आने वाले युग की आहट को सुन लिया था। विदेशी मजहब ने असन्तुष्ट तथा दुःखी जनों को अपनी ओर आकृष्ट किया था। शेष को भयभीत किया था। इन दोनों के बल पर उनका मतान्तरण चल रहा था। परन्तु राम ने निषाद को गले लगाया था। भीलनी शबरी के बेर खाये थे। दक्षिण की जन जातियों से स्नेहमय सम्बंध जोड़ा था। सुग्रीव को संबल दिया था। वे राजभवन के नहीं, ग्राम-ग्राम एवं वन पर्वत के जन-जन के राम बन गये थे। वे वर्ण, वर्ग और जनपद तक सीमित नहीं थे। वे संपूर्ण भारत के थे। वे नारी की अस्मिता की रक्षा के लिए युद्धपथ बढ़ गये थे। अतः आचार्य श्री ने युगीन परिस्थितियों पर गंभीर चिंतन करते हुए दर्शन और भक्ति के लिए सबका द्वार खोल दिया। अपने गुरुदेव से असहमत होकर युगधर्म के अनुसार वर्णमर्यादा से उत्पन्न भेदभाव का परित्याग कर सबको अपनाया। सबको भक्ति की दीक्षा दी। सांस्कृतिक राष्ट्रीयता के पोषण के लिए उनका क्रान्तिकारी पग सिद्ध हुआ। जुलाहा कबीर, रैदास चर्मकार, सेननाई, धन्ना जाट यानी शूद्रों के साथ अनन्तानंद, सुखानंद, भावानन्द, ब्राह्मण, पीपा-क्षत्रिय को शिषयत्व प्रदान किया। इनके साथ स्त्रियों को भी दीक्षा दी।

समता मूलक समरस समाज की रचना करने और विदेशी षड्यन्त्र को विफल करने के लिए आचार्य श्री का उपर्युक्त क्रान्तिकारी अनुष्ठान आज भी प्रासंगिक है। भारतीय संविधान ने अस्पृश्यता के निवारण और सबको समान अवसर देने का विधान

किया है। पर राष्ट्रीय समाज के विखंडन के लिए विदेशी शक्तियाँ आज भी कार्यरत हैं। समता-समरसता का आन्दोलन, शिक्षा, आरक्षण की सुविधा तथा राजनैतिक अधिकार के बाद भी समाज को तोड़ने और निर्बल करने का षड्यन्त्र चल रहा है। पर समाज में अपेक्षित परिर्वतन तथा स्वस्थ समाज जीवन की रचना के लिए आज भी आचार्य श्री का योगदान स्मरण किया जा रहा है। जाति-पाँति पूछै ना कोई, हरि को भजै सो हरि का होई– यह स्वर संघोषित होकर आचार्य श्री के क्रांतिकारी चिंतन एवं संवेदनशील हृदय का परिचय दे रहा है। तभी तो उन्नीसवीं सदी से लेकर आज तक स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द, महात्मा गाँधी आदि महापुरुषों को यह स्वर अनुप्राणित करता रहा है। संभवतः विद्रोही दलित चिंतक तथा लेखक इस सत्य को समझना चाहेंगे तो समाज भेदभाव से मुक्त होकर स्वस्थ एवं बलवान हो सकेगा। राष्ट्रीय जीवन तेजस्वी हो सकेगा। आचार्य श्री के दोनों प्रमुख शिष्य कबीर और रैदास लाखों करोड़ों में आस्था मध्यकाल एवं भेदभावमुक्त समाज के भाव को जगा रहे हैं। उनकी परम्परा के शिष्य महाकवि तुलसीदास का राममहाकाव्य विश्व काव्य बन चुका है। राम का चरित्र उत्तम पुरुष उदात्त मानव के चरित्र का आधार सिद्ध हो चुका है। राम की पारिवारिक संस्कृति विश्व संस्कृति की नयी रचना कर सकेगी इस विखरती मानवीय संस्कृति के युग में। राम राष्ट्र पुरुष के प्रतीक बनकर आज की राष्ट्रीयता का पोषण कर रहे हैं। तभी तो नरेन्द्र कोहली रामकथा उपन्यास शृंखला के माध्यम से हिन्दी उपन्यास साहित्य को समृद्ध करते हुए राम के भारत की रचना में सहयोग दे रहे हैं। यह आचार्य श्री के राम के धीरोदात्त जीवन का चमत्कार है। अतः यह कहा जा सकता है कि वर्तमान परिप्रेक्ष्य में राष्ट्रीयता के पोषण हेतु आचार्य श्री का योगदान महत्वपूर्ण है।

•

# हिन्दी नवजागरण के स्रोत और स्वामीरामानन्द

कृष्णदत्त पालीवाल *

भारतीय भक्ति आन्दोलन के अनेक वरदानों में से एक महत्वपूर्ण वरदान स्वामी रामानन्द कहे जा सकते हैं। एक बहुत व्यापक अर्थ में वे इस भक्ति-चिन्तन के मेरुदंड हैं। मैं तो उन्हें भक्ति-चिंतन का एक ऐसा बहुलार्थक 'पाठ' या टेक्स्ट मानता हूँ जिसे ठीक से पढ़ा जाना चाहिए। क्योंकि उन्हें ठीक सन्दर्भों में पढ़ा-समझा नहीं गया है। रामानन्द का पूरा चिन्तन एक भाव-ज्ञान-भक्ति का यज्ञ है जिसके आज अनेक भाष्य हैं। इस चिन्तन का पूरा विमर्श (डिस्कोर्स) भारतीय सांस्कृतिक नवजागरण के न जाने कितने स्रोतों से नाभिचाल सम्बन्ध के साथ जुड़ा है और इस बहुजातीय, बहुसांस्कृतिक, बहुधर्मीय बहुलतावादी, बहुभाषा-भाषी इस देश में रामानन्द का चिन्तन आत्म-चैतन्य, आत्म उत्खनन और जातीय अस्मिता का प्रकाश है। इस चिन्तन में आलवारों-नायनारों, रामानुजाचार्यों की परम्परा का एक ऐसा अप्रतिहत प्रवाह रहा है कि पूरा देश उस प्रवाह की आन्तरिक लय में अपनी निमग्नता को जीवन छन्द का सौन्दर्य मानता रहा है। न जाने कितने सन्तों महात्माओं गृहस्थों, फकीरों को इस चिन्तन ने जीवन को जीने की कला सिखायी है और निर्गुण-सगुण दोनों रूपों में लीलावतारी राम को गाकर एक ऐसा पावनता जनिक विवेक की मनुष्य में निष्पत्ति की है कि लीला ब्रह्म सतचित् आनन्द का लीला के मेल बनकर खिलखिलाया है। नतीजा यह हुआ कि अनेक विदेशी-प्रहारों, आक्रमणों संघर्षों को झेलते यह देश अपने तेज में मलिन नहीं पड़ने पाया है। अनेक प्रहारों से 'घायल सभ्यता' ने इस समाज को न तो आस्था विहीन होने दिया न श्रद्धाविहीन। 'आत्म' और 'अन्य' के भेद को हमने अविद्या का लक्षण माना, सत्य का नहीं। यदि हर भावना एक घटना है तो भक्ति एक चिरन्तन घटना है– हर पीढ़ी की आत्मा में नए सिरे से घटती हुई।

भारतीय भक्ति आन्दोलन जैसा लोक कल्याणकारी आन्दोलन संसार में कोई दूसरा नहीं है। अपनी अपूर्वता में अद्‌भुत और अपनी व्याख्या में अनन्त। इसलिए इसे इतिहास-भूगोल की छड़ी से नहीं नापा जा सकता। क्योंकि अन्ततः वह एक स्मृति हैं ऐसी स्मृति जिसमें हमारी संत परम्पराएँ निवास कर रही हैं। नर्मदा की सहस्र धाराओं की तरह यह स्मृति ही एक विपुल विराट् रूप धारण करती रही है। रामानन्द इसी

* सुख्यात समीक्षक, वाग्मी और निबंधकार पूर्व प्रो. दिल्ली विश्वविद्याल, दिल्ली।

स्मृति का नया भाष्य करते हैं और जाति-बन्धनों को तोड़ते हुए उसे पुनर्नवारूप देते हैं। यह रूप इतना अमितार्थी है कि इसका निहितार्थ (इण्टर प्रटेशन) किसी अर्थ मीमांसा या तत्त्वमीमांसा से गहा नहीं जा सकता है। तुलसीदास इसी सत्य का उद्घाटन करते हुए कहते हैं– 'गहि न जाय अस अद्भुत बानी'। यह वाणी ही कभी रामानुजाचार्य बनी है– कभी रामानन्द भी, कभी कबीर बनी है, कभी तुलसीदास। कभी कविवर निराला बनी है, कभी मैथिली शरणगुप्त और अज्ञेय। यह वाग्देवी शताब्दियों से हमारी चिरन्तर परम्परा में हमें 'हम' बनाती हुई निरन्तर वर्तमान रही हैं। इस वर्तमान में अतीत निचुड़कर-निथुरकर आ गया है। इसलिए रामानन्द और मैथिलीशरण गुप्त में इसका सातत्य खोजने-समझने की जरूरत है। सन्त-ज्ञानी कहते हैं कि रामानन्द के भाष्य में 'भक्ति' की भज धातु भजन, भजना, रंजन, प्रेम, लगाव, अलग होने में रस-भाव लेकर सामने आई है। खूब सोच-समझ कर रमता नारद ने कहा कि भक्ति 'परमप्रेम रूपा' और 'अमृतस्वरूपा' है– जिसे प्राप्त कर मनुष्य सिद्ध अमर और तृप्त हो जाता है। वह न मोक्ष चाहता है न निर्वाण। भक्त बनकर भगवान की भक्ति चाहता है वह प्रार्थना करता है 'हमें भक्ति दो हे अमिताभ'। अमिताभ-विष्णु में परम अनुरक्ति ही भक्ति है। शांडिल्य भक्तिसूत्र के अनुसार–'सा परानुरक्तिरीश्वरे भक्ति'। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसे व्याख्यायित करने के लिए श्रद्धा-भक्ति पर निबन्ध लिखा और विश्लेषण के बाद विश्लेषक निष्कर्ष दिया कि श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है। गुणों की महत्त्वपूर्ण स्वीकृति– आनन्दपूर्ण स्वीकृति का नाम श्रद्धा है और भक्ति का केन्द्रीय-तत्व है प्रेम। प्रेम में घनत्व अधिक होता है। श्रद्धा में विस्तार और जागरण। आज की पीढ़ियाँ स्वामी रामानन्द में श्रद्धा-भक्ति रखती हैं तो उसके पीछे उनके क्रान्तिकारी चिंतन की स्वीकृति है, प्रदेय के प्रति कृतघ्नता का भाव। यह भाव ही भक्ति की सामाजिकता का अमृत रस है और इसके समाजीकरण में न कोई छोटा है न कोई बड़ा– सभी अपने समान हैं और अपने ही 'आत्मा के विस्तार है।' यही भाव 'भक्ति रसामृत सिंधु' बना रूप-गोस्वामी जीव गोस्वामी में। यही भक्ति रस-कबीर-तुलसीदास, सूर, मीरा-रसखान में। इसी में सब डूबे-रूप पार तिरे। रूप-गोस्वामी ने भाष्य करते हुए सूत्र रूप में ग्रंथ का नामकरण किया 'हरिभक्ति रसामृत सिंधु'। हरि है तो समाज को हरा-भरा करने की वह चिन्ता स्वयं करेगा। हमें तो उसकी शरण में जाकर उसे ही अपने को सौंप देना चाहिए। अपने दम्भ को उलीचकर बाहर कर देना होगा ताकि हरि-रस-वैष्णाव रस, राम-रस उसमें भर सके। आचार्यों ने भक्ति रस का शास्त्रीय ढंग से 'विमर्श-विवेचन' किया ताकि हम उसका आस्वादन कर सकें।

'श्वेताश्वेतर' उपनिषद् अचानक हमारी नींद तोड़कर जागरण का गान गाता है और भाव का हलकता सोमरस भागवत धर्म बन जाता है। भक्ति के साधक उसे

'भागवत-सम्प्रदाय' नाम से सम्बोधित करते हैं और उपनिषद् युग निर्गुण ब्रह्म की अनुभूति के लिए अनेक सगुण प्रतीकों का साकारत्व सामने रखने लगता है। भक्ति की उपासना में साधक और पास आ जाता है। प्रार्थना प्रवचन में हृदयालोक के उद्वेलन में ध्वन्यालोक पाने लगता है। भक्ति के ग्रन्थों की अन्तर्यात्रा का अमृतत्व श्रीमद्भगवद्गीता बन जाता है। कृष्ण बछड़ा बनकर उपनिषद् रूपी गायों का सभी दूध पी लेते हैं और उसी की शक्ति से कहीं 'महाभारत का 'शान्तिपर्व' जाग पड़ता है कहीं पांचरात्र संहिता।' 'सात्वतसंहिता, भागवत पुराण, हरिवंश पुराण, विष्णु पुराण, नारद भक्ति सूत्र, नारदपांचरात्र', और रामानुजाचार्य के तमाम भाष्य ग्रंथ। दक्षिण भारत में भक्ति की कावेरी उमड़ रही है एक अद्भुत-प्रवाह। भारतीय संस्कृति के धमनियों में धर्म-दर्शन-अध्यात्म का रस प्रवाहित हो रहा है और हर तरह का बासीपन झड़ रहा है। स्वयं श्री को श्रीसम्प्रदाय में लाकर लक्ष्मी नारायण का अवतार हो रहा है। गीता का नाद ब्रह्म, ज्ञान-ब्रह्म, रस-ब्रह्म, लीलाबद्ध कह रहा है 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' क्या समय-गति है कि वैदिक भक्ति परम्परा के समानान्तर दक्षिण भारत में द्रविड़-संस्कृति का रस-रूप-सौन्दर्य तत्व उच्छलित होकर भक्ति प्रवाह का पावन रस बन रहा है। कितना बड़ा संयोग बना है कि वह परम्परा कई शताब्दियों तक अखण्ड रही और उसकी अखण्डता को उत्तरी भारत में रामानन्द ने फिर एक नया प्रवाह दिया। यही है वह प्रवाहद्धर्मी, लोकधर्मी परम्परा जिसे आकाश धर्मा, युगनायक रामानन्द प्रवाहित कर रहे हैं। आलवार सन्तों ने 'नाम संकीर्तन भक्तिधारा से दक्षिण भारत को रसाप्लावित किया था। ये सभी वैष्णव प्रपत्तिवाद में निमग्न राम-कृष्ण भक्त थे। इन्हीं की पावन-विवेक परम्परा ने वयस्क होकर रामानुजाचार्य के रूप में शरीर धारण किया। रामानुजाचार्य की इसी नवजागरण, लोक जागरण, भाव जागरण की परम्परा में लम्बे तप के बाद स्वामी रामानन्द प्रकट हुए। लोक ध्वनि फूट पड़ी 'भक्ति द्राविड़ ऊपजी लाये रामानन्द। परगट किया कबीर ने सात द्वीप नवखण्ड।' रामानन्द की अरे यायावर रहेगा याद वृत्ति ने आलवार (वैष्णव भक्त) नाडियार (शैव भक्त) वनकर द्विज अछूत, राजा-रंक सभी को सम्मान से अपने अंक में भर लिया। आज भी भारतीय भक्ति के नाटक का यह अंकावतार भुलाने के योग्य नहीं है। उत्तर आधुनिकतावाद के व्यक्तिवाद-उपभोक्तावाद-जादुई यथार्थवाद, मायावी यथार्थवाद के युग में 'सबाल्टर्न' राजनीति के पूँजीवाद, वृद्धपूँजीवाद के युग में तो और भी नहीं। परिचय में ईश्वर और इतिहास का अंतवाद घोषित किया गया है लेकिन भारत की भक्ति परम्पराओं में यह अंतवाद नहीं है एक प्रकरण है जिसे हम जी रहे हैं। हमी थे न जिन्होंने शंकराचार्य के अद्वैतवाद के खिलाफ तर्कों की पताकाओं को रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य, निम्बार्काचार्य बनकर फहराया। शंकर के मत को अस्वीकृति करते हुए लोक के लिए

नए चिन्तन का प्रवहन किया। निर्गुणिओं को साकार-सगुण लीला ब्रह्म का लीलागायन करना पड़ा। कहा गया 'सब विधि अगम विचारै तातें सूर सगुण लीला पद गावै।' अवतारवाद की थियरी के साथ बाल ब्रह्म की उपासना चल पड़ी। प्रलयपिनाक के स्थान पर बाँसुरी का स्वर गूँजने लगा। लोक कह उठा– 'छबीले मुरली नेकु बजाउ'। कहा गया कि यह संसार मिथ्या नहीं है यह कर्म लोक की सौन्दर्य भूमि है– ज्ञानयोग, भावयोग, कर्मयोग का अर्थ भक्तिवाद में हजार-हजार तर्कों से समझाया गया। अद्वैत को हमने मिटाया नहीं उसे परिष्कृत किया और विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैतवाद, द्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद नाम देकर अपना लिया। इस तरह कावेरी-नर्मदा गंगा का जल मिल गया। इस जल से हम भारतीयों ने नया जीवन सौन्दर्य पाया।

उत्तर भारत में भक्ति के महत्त्व एवं महिमा को प्रतिष्ठित करने वाले आचार्यों में स्वामी रामानन्द का नाम अग्रगण्य है। महिमा में वे चैतन्य से आगे हैं और जाति-वर्ण-धर्म की दीवारों को ढहाने में महान युग प्रवर्तक। बंगाल में जन्मे चैतन्य में लीला गायन की पराकाष्ठा तो रामानन्द में समाज को जगाने का अपार श्रम, साहस-उत्साह। ग्रियर्सन को भक्ति आन्दोलन बिजली की चमक की तरह यों ही नहीं दिखाई दिया उसके पीछे आत्मान्वेषण का प्रकाश था। 'आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने ठीक ध्यान दिलाया है कि इसके लिए सैकड़ों वर्षों से मेघखण्ड एकत्र हो रहे थे।' अतः भक्ति आन्दोलन ने सामाजिक प्रगति के लिए जो तेज धारण किया वह वास्तव में शोषण, उत्पीड़न-अन्याय-यातना- पीड़ा के विरुद्ध प्रतिरोध था। इस महान भक्ति आंदोलन ने विभिन्न भाषाओं, विभिन्न धर्मों, जनसमुदायों, पददलित जातियों में एकता के साथ सामन्तवादी उत्पीड़न-दमन को रोकने में बहुत बड़ी भूमिका अदा की। यह तो भक्ति आन्दोलन में रामानुजाचार्य, यामुनाचार्य, रामानन्द जैसे चिन्तकों का ही प्रदेय था कि इस सांस्कृतिक सामाजिक लोकजागरण या जनजागरण ने पहली बार शूद्रों और दलित-पीड़ित वर्गों ने अपने सन्त पैदा किए। इन सन्तों ने मानव धर्म को नया सामाजिक नैतिक परिप्रेक्ष्य दिया और कहा कि प्रेम ही सबसे बड़ा पुरुषार्थ है। एक खास अर्थ में भारत का मुक्ति-आन्दोलन आधुनिक काल में इन संतों का कम ऋणी नहीं है।

देश को सिद्धों-नाथों-कापालिकों-तान्त्रिकों-हठयोगियों ने अपने भोग का रमण क्षेत्र बना लिया था जिसे रामानन्द की भक्ति चेतना ने नयी दिशा एवं दृष्टि दी। कर्म, ज्ञान, भक्ति का एक ऐसा त्रिधारा रूप मिलाकर रामानन्द ने सन्तों की आँखों पर पड़े पर्दे को हटाकर नए भाव-बोध के दर्शन कराये। उन्होंने यह सिद्ध करके दिखाया कि भक्ति ही धर्म की रसात्मक अनुभूति है। इसी अनुभूति से मानव मनों को माँजकर कल्याण मार्ग की ओर प्रवृत्त किया। यह जो तुलसीदास कह रहे थे– 'गोरखजगायो जोग, भगति भगायो लोग' का भावार्थ– ध्वन्यार्थ तो हमें पकड़ना ही होगा कि बाबा

ऐसी आवाज क्यों उठा रहे थे। क्यों उन्हें लग रहा था कि भक्तिविहीन होकर समाज चौपट-चमत्कारवाद से भर गया है? पूरी स्थिति-परिस्थिति के भीतरी तनावों द्वन्द्वों-विषमताओं-विसंगतियों को समझते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' के भक्तिकाल : प्रकरण सामान्य परिचय में बड़ा मूल्यवान निष्कर्ष प्रस्तुत किया है कि "कालदर्शी भक्त कवि जनता के हृदय को सँभालने और लीन रखने के लिए दबी हुई भक्ति को जगाने लगे। क्रमशः भक्ति का प्रवाह ऐसा विस्तृत और प्रबल होता गया कि उसकी लपेट में केवल हिन्दू जनता ही नहीं, देश में बसने वाले सहृदय मुसलमानों में से भी न जाने कितने आ गए। प्रेमस्वरूप ईश्वर को सामने लाकर भक्त कवियों ने हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों को मनुष्य के सामान्य रूप में दिखाया और भेदभाव के हृदयों को हटाकर पीछे कर दिया।"

पूरे माहौल को भक्तिवाद ने भीतरी परिवर्तन की हवा बहाकर बदला और परम्परा को जगाकर नया अर्थ। "पंडितों के शास्त्रार्थ होते थे। दार्शनिक खण्डन-मण्डन के ग्रन्थ भी लिखे जाते थे। विशेष चर्चा वेदान्त की थी। ब्रह्मसूत्रों पर उपनिषदों पर, गीता पर भाष्यों की परम्परा विद्वन्मंडली के भीतर चली आ रही थी जिससे परम्परागत भक्तिमार्ग के सिद्धान्त पक्ष का कई रूपों में नूतन विकास हुआ। दरअसल, हुआ यह कि भक्ति का जो सोता दक्षिण की ओर से धीरे-धीरे उत्तर भारत की ओर पहले से ही आ रहा था उसे राजनीतिक परिवर्तन के कारण शून्य पड़ते हुए जनता के हृदय क्षेत्र में फैलने के लिए पूरा स्थान मिला। 'रामानुजाचार्य (संवत १०७३) ने शास्त्रीय दृष्टि से जिस सगुण भक्ति का निरूपण किया था उसकी ओर जनता आकर्षित होती चली आ रही थी।' इस तरह भक्तिवाद पूरी ताकत से तन्त्रवाद-मन्त्रवाद कापालिकवाद को पराजित कर रहा था। निगाह डालते ही हम पाते हैं कि गुजरात में स्वामी मध्वाचार्य जी (संवत् १२५४-१३३३) ने अपना द्वैतवादी वैष्णव सम्प्रदाय चलाया जिसकी ओर बहुत से लोग झुके। देश के पूर्वी भाग में जयदेव जी के कृष्ण प्रेम संगीत की गूँज चली आ रही थी जिसके सुर में मिथिला के कोकिल (विद्यापति) ने अपना सुर मिलाया। उत्तर या मध्य भारत में एक ओर तो ईसा की १५वीं शताब्दी में रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा में स्वामी रामानन्द हुए जिन्होंने विष्णु के अवतार राम की उपासना पर जोर दिया और एक बड़ा भारी सम्प्रदाय खड़ा किया; दूसरी ओर वल्लभाचार्य ने प्रेम मूर्ति कृष्ण को लेकर जनता को रसमग्न किया। इस प्रकार रामोपासक और कृष्णोपासक भक्तों की परम्पराएँ चलीं जिनमें आगे चलकर हिन्दी काव्य को प्रौढ़ता पर पहुँचाने वाले जगमगाते रत्नों का विकास हुआ। इन भक्तों ने ब्रह्म के 'सत्' और 'आनन्द' स्वरूप का साक्षात्कार राम और कृष्ण के रूप में इस बाह्य जगत् के व्यक्त क्षेत्र में किया।' हिन्दू-मुसलमानों के बीच सहयोग सम्पर्क बढ़ने पर बड़ा कार्य यह हुआ कि भक्ति के एक

सामान्य मार्ग का विकास होने लगा।

भक्ति-शास्त्र और भक्तिकाव्य के समाज शास्त्र में यह तथ्य कई कोणों से उठाया जाता रहा है कि वज्रयान के ज्यादातर अनुयायी निचली-दलित जातियों के लोग थे 'अत: जाति पाँति की व्यवस्था से उनका असन्तोष स्वाभाविक था? नाथपंथ में भी शास्त्रज्ञ विद्वान् नहीं आते थे। "इस सम्प्रदाय के कनफटे रमते योगी घट के भीतर चक्रों, सहस्त्रदल कमल, इड़ा पिंगला नाड़ियों इत्यादि की ओर संकेत करने वाली रहस्यमयी बानियाँ सुनाकर और करामात दिखा कर अपनी सिद्धि की धाक सामान्य जनता पर जमाये हुए थे। वे लोगों को ऐसी-ऐसी बातें सुनाते आ रहे थे कि वेदशास्त्र पढ़ने से क्या होता है, बाहरी पूजा अर्चा की विधियाँ व्यर्थ हैं। ईश्वर तो प्रत्येक घट के भीतर है, अन्तर्मुख साधना से ही वह प्राप्त हो सकता है।" हर ओर आवाज आ रही थी कि जाति-पाँति के भेद व्यर्थ हैं। इनसे मनुष्यों में भेदभाव बढ़ता है। इस परिवेश में भक्ति आन्दोलन के साथ होकर स्वामी रामानन्द ने हिन्दू मुसलमान दोनों के लिए एक सामान्य भक्तिमार्ग का विकास किया। बलहीन, साधनहीन जनता में रामभक्त हनुमान की महत्त्व प्रतिष्ठा की। स्वामी रामानन्द ने हनुमान जी की आरती का सृजन गायन किया– 'आरति श्री हनुमान लला की'। यहाँ हनुमान दुष्ट दलन तथा दोनों अनाथों, वंचकों, उपेक्षितों के रक्षक हैं। स्वामी रामानन्द ने अपने भजन-कीर्तन-प्रताप से घर-घर हनुमान-भाव की पूजा को पहुँचाया। भक्ति क्षेत्र में उनके द्वारा यह बहुत बड़ा काम हुआ। भारतीय स्वाधीनता संग्राम के दिनों में अवध किसान आन्दोलन के नेता बाबा रामचन्द्र ने रामानन्द की प्रेरणा-मूर्ति हनुमान को जनता में रमाया– 'मोहि अब भा भरोस हनुमन्त। बिनु हरिकृपा मिलहिं नहि सन्त।' यहाँ सन्त और हनुमन्त दोनों मिल गए तो शक्ति का ठिकाना नहीं रहा।

रामानन्द के सिद्धान्त-निरूपण का नवजागरण द्वार-भागवत धर्म में खुलता है। यह कैसे भूल सकते हैं कि वैष्णव-धर्म, वैष्णव सम्प्रदाय का प्राचीन नाम पांचरात्र मत या भागवत धर्म रहा है। वासुदेव इस सम्प्रदाय के उपास्य देव हैं जिन्हें ज्ञान, शक्ति, बल, वीर्य, ऐश्वर्य और इन छह गुणों का समुच्च्य होने के कारण भगवान या भगवत् कहकर सम्बोधित किया जाता है। संयोग वश दक्षिण के प्राचीन तमिल साहित्य में कृष्ण के अनेक सन्दर्भ वासुदेव, संकर्षण के रूप में मिलते हैं। कहते हैं इस सम्प्रदाय को क्षत्रियों ने अब्राह्मण उपासना मार्ग के रूप में खड़ा किया। लेकिन जैन-बौद्ध धर्मों की धमाचौकड़ी से घबराकर इसे ब्राह्मणों ने अपना लिया एवं नारायणीय धर्म कहकर आगे बढ़ाया। यज्ञ प्रधान होने के कारण इस धर्म को वैष्णव यज्ञ धर्म भी कहते हैं– वैष्णव-यज्ञ में पशुबलि का निषेध करते हुए अहिंसा तप, सत्य एवं इन्द्रिय निग्रह पर बल दिया गया। महाभारत युग में वैदिक देवता विष्णु से वासुदेव को अभिन्नता प्राप्त

हो गयी। तदनन्तर ब्राह्मण ग्रन्थों में विष्णु के अवतारों का बहुत प्रचलन बढ़ गया। लेकिन इस अवतारवादी सिद्धान्त चिन्तन ने तप और अहिंसा के सूत्रों को इस आत्मीयता से आत्मस्थ किया कि 'आत्म' का बहुत व्यापक अर्थ होता गया। इतना व्यापक कि इसकी व्यापकता को रामानन्द और गांधी दोनों ने ग्रहण किया और तप, व्रत से लोक में फैलाया। रामानन्द ने मन्त्र निर्मित किया– 'ओइम् रामाय नमः।' इस मन्त्र को सर्वाधिक सिद्ध मन्त्र माना गया। रामानुजाचार्य द्वारा स्थापित भक्ति धर्म को श्री वैष्णव कहा जाता है। विश्वास किया जाता है कि इसका प्रवर्तन स्वयं लक्ष्मी ने, नारायण ने किया। लक्ष्मी नारायण मन्दिर दक्षिण भारत में न जाने कितने बने। दक्षिण भारत की तुलना में उत्तरी भारत में इन मन्दिरों की संख्या बहुत कम है। भागवत धर्म ने श्रीमद्भागवत पुराण को आधार बनाकर जनता में स्थान बनाया और यही ग्रन्थ भागवत-धर्म का अक्षय-अनन्त स्रोत, बन गया। भगवान् के प्रेमस्वरूप ने नवधा-भक्ति को पाठ-उपपाठ, अन्तःपाठ बनाया। सिद्धान्त कुछ भी हो व्यवहार में नौ प्रकार की भक्ति नवधा भक्ति कहलाई। श्रीमद्भागवत में कहा गया है 'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पाद सेवनम्। अर्चनं वदनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।।

भक्ति के बीज भाव वेदों में हैं। मोहेनजोदड़ों की सभ्यता संस्कृति, ऋग्वेद के बाद की है। इसलिए भक्ति नव जागरण को आर्येतर या बाहरी प्रभाव मानना एकदम अतार्किक है। यह अलग बात है कि भारत में दक्षिण भारत हो या उत्तर भारत भक्ति का विकास मुसलमानों के आने के बाद हुआ। भागवत पुराण में आता है कि 'उत्पन्ना द्राविड़े चाहं कर्णाटे बृद्धिमागता। स्थिता किंचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णातां गता।' अर्थात् भक्ति स्वयं कहती है कि मैं द्रविड़ देश में उत्पन्न हुई। कर्नाटक में विकास को प्राप्त हुई, कुछ काल मैंने महाराष्ट्र में व्यतीत किया और गुजरात में पहुँच कर वृद्धावस्था का वरण किया। प्रश्न उठता है कि भक्ति को वृद्धावस्था से मुक्त कर पुनः यौवन का पुनर्नवा रूप किसने दिया? इसका उत्तर भारतीय नवजागरण की परम्परा देती है कि रामानुजाचार्य की परम्परा के परमतेजस्वी नायक स्वामीरामानन्द ने। भक्ति में वैष्णव-तत्वों और सगुण रामोपासना का लोक मंगलकारी रूप स्वामी रामानंद ने कराया। 'मंगल भवन अमंगल हारी। द्रवहु सो दशरथ अजिर बिहारी' का वही लोक-भाष्य है। यही भक्तिवाद में लोकमंगल की साधनावस्था है। चाहे भागवत पुराण की रचना नवीं शताब्दी में हुई हो या दशवीं शताब्दी में उसके उद्धारकर्त्ता के रूप में रामानुजाचार्य ही मिले हैं। विष्णु पुराण, देवी पुराण, शिव पुराण में की लोक कथाएँ हँसी में उड़ा देने की वस्तु नहीं हैं– उनमें हमारी 'जातीय स्मृति' रेशियलमेमोरी' के 'आदिक-अवचेतन' मिथ प्रतीक बिंब का स्थायी निवास मिलता है। इन पुरा कथाओं मिथकों से ही आज के सामान्य भारतीय के मानस का निर्माण हुआ है। वेदों का पाठ और यज्ञ- प्रश्न

पूछता रहा है– 'कस्मै देवाय हविषा विधेय'? यह प्रश्नाकुल भारतीय मानस केवल बहुदेव वाद नहीं है उससे आगे की प्रश्नाकुलता है– बेचैनी है। यही बेचैनी हमारी परम्परा में रामानन्द के 'आनन्दभाष्य' की मूल अन्तर्वस्तु है।

भागवत पुराण के समय ऋचाओं का पाठ उन का भाष्य-विमर्श टीका और हवन-यज्ञ अपनी लघु ससीम सत्ता को किसी असीम सत्ता में मिला देने की भीतरी तैयारी नहीं तो क्या है? क्या भाव-चेतना है जो रस-ब्रह्म बनकर प्रपत्तिवाद और शरणागति के सिद्धान्त में जीवित हो उठती है। यही प्रपत्तिवाद अपनी पयोनिधिर विराटता में रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य, बल्लभाचार्य, चैतन्य महाप्रभु, स्वामी हरिदास, विष्णु स्वामी में उपदेश बनकर नवधा भक्ति बन जाती है। यह भक्ति का कायान्तरण, भावान्तरण और रूपान्तरण तीनों है– जिसमें भक्त-योगी हर भाव का अतिक्रमण कर शून्य समाधि लगाता है, त्रिकुटी महल में बैठकर मीरा की तरह उसकी झाँकी पाता है गिरधर को चित्त में धारण करने में सक्षम हो जाता है और कबीर में चीटी नौ मन तेल का बोझ उठाकर पहाड़ पर चढ़ जाती है। हमें ज्ञात है कि साथी (सेमेटिक रिलीजन्स) धर्मों में प्रपत्तिवाद, शरणागतिवाद की 'थियरी' की महिमा रही है। इसी 'थियरी' के भवँरजाल में फँसकर प्रोफेसर हुमायूँ कबीर, डॉ. तारानन्द आदि। विद्वानों ने भक्ति आन्दोलन के प्रपत्तिवाद को इस्लाम से जोड़ने की तुक्केबाजी की। यह सब भारतीय प्राचीन सांस्कृतिक नवजागरण, लोकजागरण की परम्पराओं के विस्मरण के कारण हुआ। दुःख इस बात का है कि इन विद्वानों ने अपने इतिहास बोध के साथ धूर्ततापूर्ण दगा किया। यह प्रपत्तिवाद की चर्चा में पता नहीं 'गीता' को कैसे भूल गए जहाँ 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' की निर्मान्त ध्वनि मौजूद है।

अब विद्वानों ने भारतीय प्राचीन ग्रन्थों से प्रमाण देकर सिद्ध कर दिया है कि आर्य बाहर से नहीं आये थे। वे इसी भूमि के मूलनिवासी थे और प्राचीन नदी सरस्वती का जल पीकर हवन यज्ञ उपासना पूजा अर्चना करते थे। अदिति और उषा के चरणों में सिर नवाते थे। यह भक्ति तत्व जन-जन में व्याप्त भाव था जिसे बाद में पंडितों, आचार्यों, कवियों, सन्तों ने अपने कब्जे में ले लिया। भक्ति में बौद्ध शून्यवाद के विरुद्ध विद्रोह का भाव यह सिद्ध करता है कि धर्मों में विवाद कम प्रबल नहीं था। ऐसा लगता है पंडितवाद ने जब पुरोहितवाद का रूप धारण किया तब पूजा अर्चना के सत्ता-शक्ति केन्द्रों की धुरियों में परिवर्तन हुआ। पांचरात्र आगम में गोपाल कृष्ण और वासुदेव का एकाकार हो जाना एक भारी समझौता-सामञ्जस्यवाद की भाव व्यंजना है। छान्दोग्य-उपनिषद् इस सत्य का सपना नहीं है प्रत्यक्ष साक्षात्कार है। यह साक्षात्कार इस सत्य को ध्वनित करता है कि प्राचीन भारत में प्रकृति पूजा ने भक्ति तत्त्व के अनेक बीज भावों की निष्पत्ति की। फलतः भारतीय संस्कृति का लोक महाकाव्य भक्तिवाद के

रूप में कवियों, सामान्य जनों, लोक गायकों ने रच डाला। एक ऐसी लोक संवेदना से ओत-प्रोत टटकी सर्जनात्मकता का विस्फोट हुआ कि काव्यात्मकता रस से लबालब भर गई। 'हरिभक्ति रसात्मक सिन्धु' इसी वाचिक परम्परा का परवर्ती काल में रचित भाव शिखर है। यही वह हिमालय की कंचनजंघा है जहाँ से अध्यात्म मात्र का स्वर्ण कलश दर्शन देता है। इसी शिव शक्ति सम्पन्न हिमालय को कालिदास की आँखें हेर रही हैं और तृप्त नहीं हो रही हैं– यह वह रमणीयता है जो क्षण-क्षण देखने पर नई लगती है। यही हमारे जीवन की कालिदासीय लय है जो 'रघुवंश' में व्याप्त है भवभूति के 'उत्तररामचरितम् में व्याप्त है और भास के नाटकों की वक्रोक्ति विदग्धता है। इसी वक्रोक्ति विदग्धता को रामानन्द ने अपनी यायावरी वृत्ति से कमाया है और लोक के राम को इसी में पाया है– यहाँ कोई उद्धव नहीं है हनुमान ही हनुमान हर जगह मौजूद हैं। रामोपासना में हजार अनास्थाओं को समाप्त करने का आस्था मन्त्र रामानन्द के राम में है और राम के रामानन्द इसे ही हनुमान की आरती बनाकर लोक हृदय, लोक-मानस,लोक चित्त, लोक धर्म में निवास करा रहे हैं यह कहकर कि 'रामकथा की मिति जग नाहीं' अमित कथा है सागर कथा है। क्या अद्भुत कार्य है कि राम नाम का दीपक रामानन्द लोक चित्त की देहरी पर जला गए हैं। यह दीपक आज भी जल रहा है। यह बहुत बड़ी लोक गाथा है।

दरअस्ल, भक्ति लोकानुभूति में बीज रूप में मौजूद प्राग्वैदिक धारा है। हाँ, आन्दोलन रूप में वह बौद्ध धर्म जितनी ही प्राचीन है। इसे बहुदेववाद, एकेश्वरवाद, ईसाई रहस्यवाद, सर्वेश्वरवाद, अनेकवाद के आधार पर समझाने का झमेला रामानन्द ने ही समाप्त किया। उन्होंने अर्चना पद्धति को राम की एकाग्र निष्ठा में या 'सीयराममय सब जगजानी' में बदल दिया। पूरी प्रकृति राममय है, ब्रह्ममय है, मिथ्या यह जगत् नहीं है– कर्ममय और सच्चा है। आगमों ने शिव शक्ति, विष्णु से जन्य पाया और आगमों में आर्य, आर्येतर प्राग्वैदिक तीनों परम्पराओं के मिथक एक मिलकर भारत का एक नया मिथकशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र समाजशास्त्र रचते मिलते हैं। भक्ति के बीज भावों की समस्त कहानियाँ आगमों के इस मिथक शास्त्र में ही मौजूद है। यहाँ रामकथा, कृष्णकथा, शिवकथा न अतीत हैं न व्यतीत हैं निरन्तर वर्तमान हैं। अतीत की वर्तमानता और वर्तमान की अतीतता– यह परम्परा है जिसमें अतीत और वर्तमान का निरन्तर संवाद है। यह संवाद आज तक जारी है। तभी तो ज्ञानीगण गीता को 'उपनिषद-निगम' कहते रहे हैं और भागवत पुराण को आगम। भागवत सम्प्रदाय ने इसी आगम-परम्परा में प्रेम के देवता को वाँसुरी का स्वर दिया और नाद ब्रह्म को साकार। भागवत में निगम आगम का रासायनिक मिश्रण (फ्यूजन) तैयार होता है। यह बहुवचनात्मक बहुतार्थक भाव लोक का अनन्त-अनन्त विस्तार है। गीता से जुड़कर

रामानुजाचार्य ने उसका भाष्य किया। उसी गीता का भाष्य रामानन्द ने किया और उसी के भाष्य के भाष्य से कबीर और तुलसीदास की दो महान परम्पराओं ने भारतीय काल, कला, दर्शन, इतिहास में नया रूपाकार पाया। कबीर ने भक्ति में इस्लाम और सूफ़ी तत्त्वों को घोलकर उत्तर युग का प्रवर्तन किया। इसीलिए रामानन्द के कबीर बड़े क्रान्तिकारी हैं। वे सही समय पर इस समाज को भटक जाने से बचाते हैं और निचली-दलित-शोषित जातियों में आत्म सम्मान का भाव भर देते हैं। लेकिन राहों का अन्वेषी बनकर यह गहराई से और दूर तक समझना होगा कि भक्ति आन्दोलन इस्लाम के प्रभाव की देन नहीं है। अद्वैतवाद की पीठ पर भी भक्ति को लाद देना गलत है। भारत में इस्लाम सातवीं शताब्दी, अद्वैतवाद आठवीं शताब्दी में आया जबकि आलवार सन्तों ने दक्षिण में तीसरी चौथी,पाँचवीं छठीं शताब्दियों में 'दिव्य प्रबन्धम' के गीतों का गायन किया। आलवारों की इस भावधारा का प्रवाह आठवीं-नवीं शताब्दी तक सक्रिय रहा। कृष्ण स्वामी आयंगार ने 'अर्ली हिस्ट्री ऑफ वैष्णविज्म इन साउथ इंडिया' में सप्रमाण सिद्ध किया है कि भक्ति धारा तीसरी शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक निरन्तर प्राणवान रही है। उधर शंकराचार्य पर इस्लाम का नहीं, उपनिषद धारा, बौद्धों के शून्यवाद का प्रभाव पड़ा।

आलवार सन्तों ने निम्न जातियों में जन्म लेकर अपने दलित आक्रोश को सर्जनात्मक अभिव्यक्ति दी। यह सब दक्षिण के पुराने वैष्णव सन्त-भक्त हैं। इनमें नम्मालवार या शठकोप, पेरियालवार, कुलशेखर, पेरुमल, आंदाल आदि प्रमुख हैं। इन सन्त कवियों की मूर्तियाँ तमिलनाडु के मन्दिरों में देवताओं की तरह पूजी जाती हैं। इनके गीतों-वचनों का संग्रह– 'आलवार दिव्य प्रबन्धम' है जिसमें भक्तिधारा का सहज प्रवाह है। इन आलवार भक्तों की कल्पना शक्ति इतनी प्रबल है कि ये हंसों, बत्तखों को अपना सन्देशवाहक बनाते हैं। विष्णु का वाहन गरुड़ अपनी गति में उड़ान भर रहा है कावेरी का तट है प्रकृति गा रही है। यह रस-प्लावित 'नामसंकीर्तन भक्तिधारा है। इसी धारा के भीतर से रामानुजाचार्य का अवतरण हुआ। रामानुजाचार्य ने ब्राह्मणों तथा तान्त्रिकों के लिए भक्ति मार्ग को खोल दिया। यही भक्तिमार्ग रामानन्द को परम्परा से मिला और वे दक्षिण से उत्तर में भक्तिधारा लाये जिससे चिन्तन का नया सबेरा हुआ। बारह आलवार सन्तों का भक्ति जल रामानन्द ने उत्तरी भारत को पिलाया और इसी भक्ति जल से शरणागति सिद्धान्त, प्रपत्तिवाद के सिद्धान्त को नया पोषण मिला। दक्षिण के वैष्णवाचार्यों ने विशिष्टाद्वैतवाद (९१६-१०४० ई.) का सिद्धान्त निरूपण किया। इस निरूपण में यामुनाचार्य आगे आये। इन्हींके पुत्र नाथमुनि ने 'दिव्य प्रबन्धम्' का संग्रह सम्पादित किया नाम था– रघुनाथाचार्य। उसके बाद विशिष्टाद्वैतवाद की परम्परा को श्री रामानुजाचार्य (१०२७-११३७) ने नया भाष्य दिया। भाष्य का आधार

रहा 'दिव्य प्रबन्धम्'। यही परम्परा प्रवाह स्वामी रामानन्द में कबीर बना है– रैदास बन गया है तुलसीदास बन गया है। इसे हम आज विनिर्मित 'डी कान्स्ट्रक्ट' कहते हैं तो भक्ति के अर्थ सन्दर्भों की नयी अर्थापत्ति होती है। रामानन्द को विशिष्टाद्वैत की खोज क्यों प्रिय रही? क्यों वे उस खोज को अध्यात्मरामायण की रचना में समर्थित कर देते हैं। इन क्षेत्रों पर अभी चुप्पी है। रामानन्द के नवजागरण के स्रोतों पर विचार करते हुए हमें इस चुप्पी को तोड़ने की जरूरत है।क्योंकि इसी वैष्णव चिन्तन परम्परा में भारत का अन्तिम अवचेतन-मानस रचा बसा हुआ है। यह रचाव-लगाव इतना गहरा था कि हमारी दो सौ वर्षों की औपनिवेशिक गुलामी और पश्चिमवाद की आधुनिकता उसे उखाड़कर नष्ट नहीं कर सकी। हालांकि इस गुलामी ने उसे गहरे घाव दिए जिनपर मलहम पट्टी करने की आवश्यकता है। मैथिलीशरण गुप्त 'भारत-भारती'। (१९१२) में इसी औपनिवेशिक गुलामी से भारत को मुक्त करने की आवाज उठा रहे थे। उनका अरमान नए रामानन्द को लाने का इस देश में था जो उनके सामने कर्मवीर गांधी बनकर आया भी। हमारी परम्पराओं में जो सर्वोपम था गांधी उसकी श्रेष्ठ सृष्टि थे।

रामानुजाचार्य ने भक्ति को दर्शन और चिन्तन के स्रोतों से जोड़कर विशिष्टाद्वैतवाद को रूढ़िविरोधी, प्रगतिशील और लोक हितकारी रूप दिया। उनके ग्रन्थों में 'पदार्थ संग्रह', 'गीता' की टीका, वेदान्त सूत्र का 'श्रीभाष्य' ने शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित अद्वैत का खण्डन किया। श्रीभाष्य का नया दर्शन पर आधारित भाष्य क्या किया भक्तिचिन्तन में नया जीवन डाल दिया। उन्होंने वेदान्त के ब्रह्म में ईश्वरवाद का प्रवेश कराया। साथ ही यह सिद्ध किया कि 'प्रबन्धम्' से ही भक्ति की शिक्षा नहीं मिलती प्रस्थानत्रयी 'वेदान्तसूत्र-उपनिषद और गीता' ही उसका प्रधान प्रतिपादन क्षेत्र है। यह बड़ा क्रान्तिकारी कार्य रामानुज के हाथों हुआ। इस कार्य ने भारतीय दार्शनिक सांस्कृतिक-नवजागरण के क्षेत्र का पूरा समाजशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र ही बदल दिया। रामानुज ने तमिल– 'दिव्य प्रबंधम्' तथा 'श्रीमद्भगवतगीता' दोनों की परम्पराओं को एक दूसरे में ऐसा एकाकार किया कि सभी गाँठें खुल गईं। इस दृष्टि में जीव प्रकृति और ईश्वर एकाकार हो गए। ईश्वर से जीव और प्रकृति अभिन्न क्या हुए उसी से विशिष्टाद्वैत की पद्धति का मार्ग निर्मित हुआ। ईश्वर ही अनादि नहीं है जीव और प्रकृति भी अनादि है। रामानुज ने 'तत्त्वमसि' की अर्थ मीमांसा करते हुए उसका अर्थ किया तत् अर्थात् सृष्टि का कारण स्वरूप ईश्वर और 'त्वम' का अर्थ' किया जीव में छिपी आत्मा। शंकर के ब्रह्म में निर्विकारत्व के कारण भक्ति की जगह नहीं है लेकिन रामानुज के ईश्वरवाद में ब्रह्म और जीव-प्रकृति होने के कारण द्वैत में है– इस द्वैत में ही भक्ति को भरपूर स्पेस है। ईश्वर ज्ञानयोग से नहीं अनुभूति योग, भावयोग से पाया जा सकता है लेकिन जीव अर्थात आत्मा को प्रेम का पथ ग्रहण करना होगा। रामानुज ने मोक्ष के

स्थान पर प्रेमाभक्ति को रख दिया। अतः स्वर्ग की आकांक्षा जीव को नहीं रही इस लोक को स्वर्ग बनाने का भाव जागृत हुआ। मैथिली शरण गुप्त में यही रामानुज भाव है– 'इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।' रामानुज इस तरह धरती पर बैकुंठ उतार लाये और मनुष्य प्रेम से दिव्य उदात्त बैकुंठी हो सकता है– यह सम्भाव सम्भावना महत्व-प्रतिष्ठा पाने लगी। ज्ञान और कर्म और भक्ति में श्रेष्ठ है– भक्ति। क्योंकि यह सभी के लिए खुला सर्वसुगम मार्ग है। इसमें न वर्णाश्रम का विधि-निषेध है न जाति पाँति का बन्धन न किसी तरह का कोई द्विजवाद या कुलीनतावाद। रामानुजाचार्य ने बाहों को फैलाकर द्विजों, अन्त्यजों और स्त्रियों को इसमें ले लिया।

रामानुजाचार्य के जनप्रिय सर्वसुलभ भक्ति-मार्ग के साथ त्रासदी यह घटी कि रामानुज के शरीरान्त होने के बाद इनमें फूट पड़ गई। यह अलगाव बढ़ता ही गया। बहुत लम्बे समय के बाद इस अलग विवाद को समाप्त करने के लिए कई पीढ़ियों के बाद स्वामी रामानन्द का उदय हुआ।

हमारी परम्परा-संस्कृति का सौभाग्य यह हुआ कि रामानन्द का जन्म तीर्थराज प्रयाग में सन् १२९९ ई. में हुआ। श्री सम्प्रदाय की दीक्षा लेने वे भारत के सांस्कृतिक हृदय क्षेत्र काशी गए। वहाँ उन्होंने लोक-हितकारी सन्त स्वामी राघवानन्द से दीक्षा ली। श्री सम्प्रदाय का विश्वास लक्ष्मी और विष्णु में है यहाँ लक्ष्मी ही विष्णु की शक्ति हैं। लेकिन ध्यान देने वाला तथ्य यह है कि विष्णु की पूजा तो थी किन्तु रामोपासना नहीं थी। इस श्री सम्प्रदाय में रामोपासना का प्रवर्त्तन स्वामी रामानन्द ने किया। रामानन्द का यह सम्प्रदाय 'रामावत सम्प्रदाय' के नाम से भी प्रसिद्ध हुआ। यह विशिष्टाद्वैतवादी मत राम की उपासना करता है। स्वामी रामानन्द ने एक बड़ा कार्य यह भी किया कि रामोपासक वैरागियों का गठन एक स्वतंत्र सम्प्रदाय के रूप में किया और उसमें प्रवेश पाने का अधिकार मुसलमानों और शूद्रों दोनों को दिया। किसी के लिए भी कहीं से हरि-भजन-कीर्तन सेवा में कोई बाँधा नहीं रही। इस नए लोकजागरणवाद ने स्वामी रामानन्द को युग का सबसे बड़ा प्रवर्त्तनकारी संतनायक आचार्य बना दिया।

अपार श्रम साधना से स्वामी रामानन्द ने प्रस्थान त्रयी (वेदान्तसूत्र-उपनिषद् और गीता) पर टीकाएँ लिखीं। इन टीकाओं में पाठ के अध्ययन की वह पद्धति है जो ये टीका की अर्थ के विरचनावाद (डी-कान्स्ट्रक्शन) की तरह 'पाठ पर नए सिरे से विचार करती हैं। रामानन्द ने ब्रह्मसूत्र की टीका 'आनन्दभाष्य' नाम से की और अर्थ के कई नए पार्श्वों को खोल दिया। उन्होंने ब्रह्म को 'बह्मशब्दवाक्य श्रीराम' ठहराया है और उसे सगुण-निर्गुण दोनों अर्थों के बहुलतावाद में प्रयुक्त किया। वास्तव में रामानन्द का माथा धर्म समाज संस्कृति-परम्परा को लेकर निरन्तर गरम रहा है। समाज को एक रक्षक की आवश्यकता थी वह त्राणकारी उन्हें राम के रूप में मिला। फलतः राम की उपासना को

लेकर रामानन्द ने एक नए मार्ग का अन्वेषण किया। राम विष्णु के अवतार- (कालीदास में विष्णु के अवतार) बौद्धों में बोधिसत्व और जैनियों में आठवें बलदेव थे- और दक्षिण के आलवारों में रामोपासना का विधान भी मौजूद था। प्रमाण रूप में हम कह सकते हैं कि आलवार कुलशेखर दासरथी राम के भक्त थे उन्होंने रामचरित लिखा भी। तमिल में रामोपासना प्रचलन रामायण (रामचरितमानस) से पहले था- तमिल-रामायण पहले लिखी गई हिन्दी रामायण बाद में। कहते हैं कि तुलसीदास को राम कथा के बहुत से प्रसंग रामानन्द ने तमिल रामायण के आधार पर उनमें जागृत किए थे। यह बात मूल के विरुद्ध है कि रामानन्द की राम भक्ति पर दृढ़ श्रद्धा दक्षिण भारत में ही हुई जिसे वे उत्तर भारत में ले आये। इसीलिए हमारी परम्परा ने एक स्वर से भक्ति को दक्षिण से उत्तर भारत में लाने का श्रेय रामानन्द को दिया है। कवि नायक रामधारी सिंह दिनकर ने 'संस्कृति के चार अध्याय' में खोज-बीन से थककर आखिर कहा ही है कि जिस राम भक्ति का प्रचार दक्षिण और उत्तर दोनों ही भू भागों में हुआ, उसका आधार 'अध्यात्म रामायण' थी। किन्तु यह पता नहीं चलता कि 'अध्यात्मरामायण' की रचना दक्षिण में हुई थी' अथवा उत्तर में। कभी-कभी यह अनुमान लगाया जाता है कि यह रामायण स्वयं रामानन्द स्वामी ने लिखी होगी।' (पृ. ३७६)

रामानन्द के समय में सत्ता-सिंहासन मुगलों के हाथ में था। इन परिस्थितियों में भक्ति आन्दोलन पर इस्लाम का प्रभाव, सूफियों का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। संस्कृतियाँ प्रभाव ग्रहण करती हैं और टकराव में आदान-प्रदान तेज हो जाता है। वही हुआ खूब आपस में लेन-देन हुआ-तुलसीदास ने अपने को राम का गुलाम कहा तो कबीर ने अपने को राम की बहुरिया घोषित कर दिया। जगह-जगह सूफीसन्तों ने धूनी रमाई और भारत का समाज शास्त्र बदल कर दम लिया। रामानन्द ने इसपरिवेश (इस्लाम) में वैष्णव आगमों में तो कोई परिवर्तन नहीं किया लेकिन वर्ण आश्रम के कठोर नियन्त्रण को ढीला कर दिया। नतीजा यह हुआ सभी धर्मों के लोग उनके पास पहुँचे और उनके ऊँचे मुक्त चिन्तन की हृदय पर छाप लेकर लौटे। कबीरदास इसी ख्याति से प्रभावित होकर रामानन्द के शिष्य बनने गए और सीढ़ियों' पर लेटकर उन्होंने रामानन्द को विवश कर दिया कि वे कबीर को शिष्यता प्रदान करें'। यह उनका सविनय अवज्ञा आन्दोलन का सत्याग्रही रूप नहीं था तो क्या था? रामानन्द की आचार्य प्रतिभा से कबीर की तमाम जड़ताएँ दूर हो गईं। उन्होंने कहा भी 'कासी में हम प्रगट भये रामानन्द चेताए।' रामानन्द ने चेताया कैसे? यह बहुत बड़ा विषय है जिस पर आचार्य क्षितिमोहन सेन ने कबीर का चार भागों में संग्रह-सम्पादन-भाष्य किया। रवीन्द्रनाथ ने 'वन हंड्रेड पोयम्स ऑफ कबीर' का अनुवाद किया और अंडरहिल की भूमिका के साथ उसे प्रस्तुत किया। इसी

चिन्तन परम्परा की महान सर्जनात्मक निष्पत्ति आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की पुस्तक 'कबीर' में हुई। हजारीप्रसाद के कबीर बहुत कुछ को अस्वीकार करने का साहस लेकर जनमें थे। यह अलग बात है कि रामानन्द के शरीरान्त के बाद उनके अनुयायी दो धाराओं में बँट गए। एक धारा के प्रवर्त्तक बने निर्गुण उपासक कबीर दूसरी धारा के साधक रहे सगुणवादी तुलसीदास। दोनों अपने-अपने ढंग से वैष्णव चिन्तन और राम दोनों को ही बाँधे रहे। कबीर ने राम विषयक अवधारणाओं को बदला और कहा 'हमारे' राम दशरथ पुत्र राम नहीं हैं, न वे विष्णु के अवतार हैं न चतुर्भुज ब्रह्म।' वे अनाम अरूप-अजन्मा हैं।

यह खोज का विषय आज भी है कि रामानन्द ने कृष्णोपासना और उनके आचार्यों से कितना लेन-देन किया। लेन-देन तो किया। न किया होता तो रामभक्ति में रागानुगा भक्ति के प्रेम प्रवाह से यह ध्वनि न फूटी होती 'रामहि केवल प्रेम पियारा। जान लेहिं सो जानन हारा।' हमारी कथाओं में राम-सीता क्यों राधा-कृष्ण बनकर एक दूसरे को प्रेम सिखाना चाहते हैं। सूरदास की गोपियों को राम कथा का कम ज्ञान नहीं है और न जीवन जीने की चाह कम है। सूरदास का विरह क्षेत्र सघन प्रेम क्षेत्र है कारण विरह प्रेम की जागृति गति का नाम है। कबीर ने अपने को 'राम की बहुरिया' मान लिया तब सूफीमत 'तसव्वुफ' को क्या गर्व का अनुभव नहीं हुआ होगा। लेकिन वैष्णव-प्रेम दर्शन ने कबीर को कोरा इस्लामी नहीं रहने दिया 'हरि जननी मैं बालक तोरा' बनाया और समर्पण में 'कबिरा कूताराम का'। क्या रामानन्द की दीक्षा थी कि शेख तकी से इस्लामी पाठ पढ़कर भी कबीर रामानन्द के वैष्णव मन्त्र को कभी नहीं छोड़ सके। फलत: उनका एकेश्वरवाद प्रच्छन्न होता गया– उनकी धारा में रैदास, धर्मदास, मलूकदास, सुन्दरदास, नानक आदि संत विस्तार पाते रहे। लेकिन जैसा प्रसार रामोपासक तुलसीदास का हुआ वह अद्भुत है। तुलसीदास ने दशरथपुत्र राम को अवतार के रूप में अपनाया और कहा 'रामकथा जो सुनत अघाहीं। रस विशेष जाना तिन्ह नाही।' यह रस-विशेष राम रस है भक्ति रस है– उज्ज्वल रस है।

कबीर के भीतर जो सामाजिक बेचैनी का 'सफरिंग' का भाव है वह भाव तुलसीदास, सूरदास में नहीं है। तुलसीदास में पूरा देश अपनी सांस्कृतिक अस्मिता से अंगड़ाई ले रहा है। यह रामानन्दी नव जागरण की ही अक्षय अटूट शक्ति है जो तुलसी की साकारोपासना में सनातन परम्परा बनी है। गाँधी जी अपने चिन्तन में बार-बार तुलसी की रामायण (रामचरितमानस) का स्मरण वन्दन करते हैं। भक्ति मार्ग ने उदारता के जो मानव मूल्य बोए उसी दृष्टान्त से आगे चलकर बिट्ठलनाथ ने रसखान को प्रेम पंथ की दीक्षा दी और इसी रामानन्दी पाठ (टेक्स्ट) की 'रीडिंग' या पढ़त से चैतन्य महाप्रभु ने (१४८५-१५३३) मुसलमानों को निर्बाध भाव से शिष्य बनाया। असम में शंकरदेव ने जो महापुरुषीय सम्प्रदाय चलाया उसने रामानंद और चैतन्य के पाठ का

ही प्रेम भाष्य किया। शंकर देव के सम्प्रदाय में शूद्रगुरु भी ब्राह्मणों को शिक्षा देने में समर्थ हुए हैं। यह एक ऐसा बहुलार्थक रामानन्दी 'पाठ' 'रामार्चनपद्धति' से निकला है जिसके केन्द्रोपसारी अर्थ हमारी पूरी परम्परा को रच रहे हैं। रामानन्द की एक रचना 'रामरक्षास्तोत्र' को पढ़कर एक पूरी परम्परा मानसिक व्याधियों से मुक्ति पाती रही है। नाभादास का 'भक्तमाल' साक्षी है कि उत्तरी भारत के भक्ति आन्दोलन का नेतृत्व रामानन्द ही करते रहे हैं। 'श्री वैष्णवमताब्जभास्कर' तथा 'रामार्चनपद्धति' से रामानन्द ने 'हरि को भजै सो हरि का होई' की ध्वनि को पक्का-पोढ़ किया। रैदास, धन्नाजाट, सेननाई, पीपा क्षत्रिय ने रामानन्द का शिष्य बनकर उनकी चिन्तन परम्परा को प्रकाश दिया और साधिका पद्मावती ने उनकी शिष्या बनकर स्त्रियों का मान बढ़ाया।

सार संक्षेप, यह कि रामानन्द बल्लभाचार्य, मध्वाचार्य, चैतन्य महाप्रभु जैसे लोकनायकों और कबीर, जायसी, सूरदास, तुलसीदास, मीराबाई जैसे कवियों के कारण हमारे भारतीय साहित्य का मध्यकाल सच्चे अर्थों में लोकजागरण काल है। हमारे यहाँ पश्चिम जैसा अंधकार काल (डार्क ऐज) कभी रहा ही नहीं। क्योंकि रिलीजनवाद की रक्तरंजित राजनीति का हमने कभी सहारा नहीं लिया। हमारे आधुनिककाल का नवजागरण भी पश्चिम की देन नहीं है वह हमारी परम्परा के गतिमान तत्त्वों से फूट-फट पड़ा है। इस नवजागरण और स्वाधीनता आन्दोलन में रामानन्द जैसे आचार्यों व सन्तों की लय है जिसे तिलक, विवेकानन्द, गांधी धारण करते हैं। हमें इसी सन्दर्भ में स्वामी रामानन्द के लोकजागरण का स्मरण करना चाहिए।

●

# भारतीय राष्ट्रीय जागरण : ज.गु. रा. की देन

प्रो. पूर्णमासी राय *

मध्ययुगीन वैष्णवभक्ति आन्दोलन के प्रवर्तक स्वामी रामानन्द का जिस समय अविर्भाव हुआ उस समय दिल्ली के सिंहासन पर तुगलकवंश और लोदीवंश का शासन चल रहा था। हिन्दू जनता पर कट्टर मुसलमान शासकों के विविध अत्याचार हो रहे थे। बादशाह लोदी का पुत्र सिकन्दर लोदी उस समय गद्दी पर था। वह इस्लाम धर्म का बड़ा ही प्रभावशाली तथा क्रूर शासक था। उसकी धर्मान्धता से हिन्दुओं की सारी मान्यताएँ धूलिसात् हो गयीं। हिन्दुओं के तीर्थ स्थान और धार्मिक उत्सवों पर निषेधाज्ञा लागू थी। नये मन्दिरों के निर्माण और पुराने मन्दिरों की मरम्मत पर रोक लगा दी गयी थी। हिन्दुओं पर अत्याचार करने का आन्दोलन चलाया गया था। उच्च पदों पर केवल मुस्लिम ही नियुक्त किये जाते थे। हिन्दू कृषकों से जमीन भी छीन ली गयी थी। फलत: हिन्दू श्रमिकों की भाँति जीवन बिता रहे थे। इस प्रकार मध्ययुगीन भारत भूमि तुर्क आक्रान्ताओं के हिंसात्मक कारनामों, सामूहिक नरसंहारों, अपहरण, लूटमार एवं क्रूर अत्याचारों, पीड़ाओं के असह्य दर्द से चीख-पुकार कर उठी थी और धन-धान्य से फलते-फूलते भारत को खण्डहरों एवं निर्धन झोपड़ियों में बदल दिया था।

ऐसे काल में स्वामी रामानन्द का जन्म त्रिवेणी संगम के किनारे प्रयाग में स्वयं राम के रूप में माघ कृष्ण सप्तमी सं. १३५६ (सन् १२९९) में ब्राह्मण कुल में माता सुशीला देवी की कोख से हुआ। पिता का नाम पुण्यसदन था। काशी में ओंकारेश्वर से विद्याध्ययन कर १३ वर्ष की आयु में स्वामी रामानंद पारंगत हो गए थे। योग विद्या पारंगत राघवानंद स्वामी रामानन्द के गुरु रहे। डॉ. बड़थ्वाल का कथन है कि स्वामी जी किसी अद्वैती गुरु के शिष्य थे जिसमें रामानन्द को अल्पायु जानकर राघवानन्द की योगशक्ति के भरोसे इनकी शरण में छोड़ दिया था। राघवानंद में मारक योग के समय उसे समाधिस्थ कर मृत्यु से बचा लिया था।

स्वामी रामानंद की अंतरात्मा अपने युग के अत्याचारों से उद्विग्न हो उठी और उन्होंने भक्ति और धर्म के माध्यम से राष्ट्रीयता का बीज वपन किया। सचमुच युगान्तकारी वैष्णव सांस्कृतिक चेतना के महागुरु एवं युग-पुरुष स्वामी रामानन्द जी थे। इस युग की धारा में बज्रयानी, सहजयानी नाथपंथी, हठ साधनाएँ एवं सूफी

---

* प्राक्तन आचार्य हिन्दी, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया, बिहार।

प्रेमसाधनाएँ ऐसी घुलमिल गयीं कि इन्हें पृथक् खोज पाना असम्भव है।

वर्णाश्रम व्यवस्था के बन्धनों को ढीला कर स्वामी जी ने ऊँच-नीच सभी वर्गों से अपने शिष्यों को चुना। आश्रमवासी पाँच सौ शिष्यों में से कबीरदास, धन्नाजाट और सेन नाई आदि शिष्यों को प्रमुखता देकर वैष्णव भक्ति आन्दोलन को निम्न नारा दिया–

**जात-पाँत पूछे नहीं कोई। हरि को भजे सो हरि का होई।**

अपने इस अभियान को अग्रसर करने के लिए भारत के प्रमुख स्थानों पर अवधूत अखाड़ों एवं नागा साधुओं की आत्मबलिदानी 'दिगम्बर' आदि सेनाओं को संगठित किया गया। सुल्तानी आक्रमणों से भयभीत रजवाड़ों को प्रेरित कर प्रमुख नगरों में देव स्थानों की स्थापनाएँ कीं। इसी शृंखला में ओरछा के बुन्देलों ने वैष्णव आन्दोलन को मान्यता देकर चित्रकूट एवं अयोध्या में देव मन्दिरों का निर्माण किया। आमेर राज्य के गलता नगर में स्वामी जी ने वैष्णव धर्म का केन्द्र स्वयं स्थापित किया।

देखने पर स्पष्ट प्रतीत होगा कि १३वीं शताब्दी के तुगलकी अत्याचारों से बचने के लिए वैष्णव आचार्यों और उनके अनुयायी शिष्यों ने तप-त्याग का उत्कृष्टतम उदाहरण उपस्थित कर नैतिक मूल्यों के आधार पर राष्ट्र सेवा का एक मानदण्ड स्थापित किया था। राष्ट्र सेवी इन आचार्यों ने सनातन आर्य संस्कृति के रक्षार्थ सब वर्णों से अपने शिष्यों को संगठित कर भारतीय ग्रामीण मानव चेतना को रामभक्ति का आश्रय देकर राष्ट्र में सांस्कृतिक प्रचार-प्रसार का अभियान चलाया था। इस नव जागरण के अग्रणी नेता स्वामी रामानन्द थे। १३००-१६वीं शतियों के खंडहरों पर भारतीय संस्कृति का पुनर्निर्माण इन्हीं के द्वारा होता है। इस वैष्णव भक्ति आन्दोलन द्वारा प्राचीन भारतीय संस्कृति को विकसित किया गया और पराजित भारतीयों के मन में आशा-किरण की चमक पैदा हुई। स्वामी रामानन्द ऐसे क्रान्तिकारी युग-पुरुष थे जिन्होंने आतंक और अवसाद के गड्ढे में पड़ी भारतीय जनता के मनोबल को ढाढ़स देकर ऊपर उठाया। यह संस्कृति स्वामी रामानन्द से तुलसी तक आत्मनिष्ठ वैष्णव संत, साधुओं, कवियों, आचार्यों एवं कलाकारों की सामाजिक चेतना में जिस किसी भी रूप में व्याप्त रही है। गोस्वामी तुलसीदास के व्यक्तित्व एवं साहित्य में मध्ययुगीन वैष्णव संस्कृति की चरम परिणति है। इस युग में सुल्तानी शक्ति का आतंक, लोभ-लालच एवं पद-लोलुपता के आकर्षण में अपनी संस्कृति से लगाव रखना एक बड़े साहस और त्याग का काम था। अन्यथा विदेशी आक्रमणकारियों के संगठन ने भारत के सामाजिक क्षेत्र में जो विघटन पैदा किया था। उसका निराकरण एक बड़ा भारी कठिन काम था। स्वामी रामानंद ने समस्त भारत का भ्रमण कर इस विनाशकारी ताण्डव को अपनी आँखों से देखा था। अन्ततः काशी में पंचगंगा से इस समस्त अभियान का संचालन किया।

क्रान्तिकारी रामानंद ने रामभक्ति के माध्यम से राष्ट्र में एकता की स्थापना कर दी। उनकी उदार चेतना ने सारी संकीर्णताओं को दूरकर समरसता की स्थापना की। उन्होंने जाति, वर्ण, वर्ग, नर-नारी, ऊँच-नीच, धनी-गरीब, शिक्षित-अशिक्षित की परंपरित मान्यताओं को दूर कर समता के इस रज्जु से संपूर्ण समाज को एकसूत्र में बाँध दिया। 'जाति-पाँति पूछे नहिं कोई। हरि को भजे सो हरि का कोई।' यह सामान्य घोषणा नहीं है। तत्कालीन समाज के अन्तर्द्वन्द्व को देखते हुए इस घोषणा में आज की भाषा में कहें तो एक बहुत बड़ा प्रगतिशील कदम था। सांस्कृतिक समाजवाद की इस भक्ति पर रामानन्द ने जन-जीवन में आमूल परिवर्तन ला दिया। नवजागरण और सामाजिक पुनर्निर्माण की प्रक्रिया के अंतर्गत जनभाषा हिन्दी की प्रतिष्ठा, नारी-नवोत्कर्ष, अछूतोद्धार, समत्व समानाधिकार, उत्तरदायी मानवीयता, अत्याचार-अन्याय का प्रतिरोध आदि कार्य राष्ट्रीयता के चरम आदर्श उनके राष्ट्रव्यापी अभियान में देखे जा सकते हैं। सांस्कृतिक पुनर्जागरण के पुरोधा आचार्य रामानंद ने उस युग में जबकि यवनों की दमनकारी नीतियों में जबान हिलाना मुश्किल था, रामभक्ति की युगान्तकारी पद्धतियों से पूरे समाज में समता की स्थापना कर दी।

आश्चर्य यह देखकर होता है कि आज से लगभग सात सौ आठ वर्ष पूर्व जब हिन्दी अपनी अत्यन्त शैशवावस्था में थी, स्वामी रामानंद ने हिन्दी को अपनाया था, जबकि वे संस्कृति के उद्‌भट विद्वान् थे। वे लोक मंगल, लोकमत तथा लोकभाषा के अग्रदूत थे। उनके पूर्व प्रायः सभी आचार्य रामानुज, निम्बार्क, विष्णु स्वामी आदि संस्कृत में ही अपने सिद्धान्तों का निरूपण करते थे। स्वामी जी ने भी 'वैष्णवमताब्जभास्कर' तथा 'रामार्चन पद्धति' की रचना संस्कृत में की किन्तु उन्होंने अपनी अधिकांश रचनाएँ लोकभाषा हिन्दी में की जिसमें रामरक्षा, श्यामलीला, योग-चिंतामणि, पद और हनुमान की 'आरती' आदि का प्रकाशन नागरीप्रचारिणी सभा, काशी से हुआ है। संपादक डॉ. पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल हैं। रज्जबदास की 'सर्वाङ्गी' में उनका पद भी मिला है–

**हरि बिन जन्म बृथा खोये रे।**<br>
**कहा भयो अति मान-बड़ाई, धन मद अंध मति सोयो रे।**<br>
**अति उतंग तरु देषि सुहायो, सकैत कुसुम सुवा सेयो रे।**<br>
**सोई फल पुत्र कलत्र विषे सुध, अति सीस धुनिधुनि रोयो रे।**<br>
**सुमिरन भजन साध की संगति, अंतरि मन मैल न धोये रे**<br>
**रामानंद रतन जम त्रासैं श्रीमति पद काहे न जोयो रे।।**[१]

मानव जीवन की सार्थकता हरिभक्ति में है, यह कहकर स्वामी रामानन्द ने अपनी भक्तिभावना की अभिव्यक्ति कर दी। उन्होंने जिस प्रकार लोक मंगल के लिए जुलाहा,

चमार, नाई आदि को शिष्य बनाकर लोकनायक होने का परिचय दिया उसी प्रकार देववाणी संस्कृत का मोह त्याग कर लोकवाणी हिन्दी को अपनाया। जैसे भगवान् बुद्ध ने संस्कृत के बदले पालि में और भगवान महावीर ने प्राकृत में प्रवचन दिया। स्वामी दयानंद और गान्धी जी ने हिन्दी को अपनाकर राष्ट्रीयता का स्वर मुखरित किया, उसी प्रकार स्वामी रामानंद का हिन्दी अपनाना अपने में एक युगान्तकारी कदम है।

निष्कर्ष यह कि मध्यकालीन वैष्णव भक्ति के उदारचेता एवं क्रान्तिद्रष्टा स्वामी रामानंद ने रामभक्ति का सबके लिए द्वार खोलकर, नारी को उचित स्थान देकर और हिन्दी के व्यापक प्रचार-प्रसार से राष्ट्रीयता की एक सात्विक एवं अहिंसात्मक धारा को प्रवाहित कर दी। उस भयावह काल में इससे अधिक क्या हो सकता था?

### संदर्भ

१. रामानंद की हिन्दी रचनाएँ, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, पृ. ९

●

# स्वामीरामानंद का परिदान

**प्रो. सूर्यप्रसाद दीक्षित**

भक्ति आंदोलन के पुरोधा थे स्वामी रामानन्द साथ ही वे उत्तर भारत के सांस्कृतिक नवजागरण के उन्नायक भी थे। स्वामी जी का जीवन वृत्त और कर्तृत्व यद्यपि विवादग्रस्त है; फिर भी इतना सर्वस्वीकार्य है कि उनका स्थिति काल चौदहवीं शती का पूर्वार्द्ध है। प्राप्त प्रमाणों के अनुसार वे सिकन्दर लोदी के समकालीन थे। पहले के विद्वानों ने उन्हें दक्षिण भारत से आया हुआ संत घोषित किया है। इस मत की पोषक एक प्रचलित उक्ति है– 'भगती द्राविड़ ऊपजी लाये रामानन्द। परगट किया कबीर ने सात दीप नौखण्ड।' पर आज उनका जन्मस्थल प्रयाग सिद्ध हो चुका है।

अब तक यह मान्यता रही है कि भक्ति आन्दोलन का शुभारम्भ दक्षिण भारत से हुआ था। ज्ञातव्य है कि आचार्य शंकर के बाद रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्क, बल्लभाचार्य आदि अनेक दार्शनिक संत और सुधारक दक्षिण भारत से आकर अयोध्या, मथुरा, काशी, नाथद्वारा आदि प्रमुख तीर्थस्थानों में केन्द्रित हो गये थे। यहीं उन्होंने अद्वैत वेदान्त की नयी-नयी व्याख्यायें करते हुए द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि मत-मतान्तरों को एक विराट् आंदोलन का रूप दिया। स्वामी रामानन्द इन सम्प्रदाय प्रवर्त्तकों में अपेक्षाकृत विशिष्ट हैं। सम्प्रति काशी अयोध्या और देश के अन्य भागों में स्वामी रामानन्द की जो गद्दियाँ स्थापित हैं, उनके मठाधीश्वरों का यह मत है कि स्वामी जी का आविर्भाव प्रयागराज में हुआ था। कालक्रम में वे पंचगंगा घाट काशी में स्थान्तरित हो गये थे। आज भी उनके चरणपादुका की पूजा की जाती है। काशी में उनका **'श्रीमठ'** आज भी अनेक धार्मिक गतिविधियों का केन्द्र बना हुआ है। **'श्रीमठ पंचगंगा काशी'** के आदि पीठ पर विराजित ज.गु. रामानंदाचार्य पद प्रतिष्ठित श्रीरामनरेशाचार्य जी अन्यानेक धार्मिक एवं सामाजिक गतिविधियों को निरंतर संचालित करते हुए साधुता के प्रतिमान बने हुए हैं।

स्वामी जी के नाम से लगभग डेढ़ दर्जन संस्कृत हिन्दी ग्रन्थ इन मठों में सुरक्षित हैं, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि सब ग्रन्थ उनके द्वारा रचित हैं। शायद कुछ शिष्यों द्वारा भी लिखे गये हैं। 'श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर', 'रामार्चनपद्धति', 'आत्मबोध', 'हनुमान जी की आरती' आदि कृतियाँ अवश्य उनके द्वारा रचित बतायी

गयीं हैं। उनके नाम से 'रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ' नामक एक ग्रन्थ काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित हुआ। डॉ. पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने उनकी हिन्दी रचनाओं पर अनेक दृष्टियों से विचार किया है। वस्तुतः हिन्दी कवि के रूप में भी उनका एक ऐतिहासिक महत्त्व है।

स्वामी जी के लेखन के मुख्य विषय रहे हैं– तत्त्वमीमांसा, जाप्यमंत्र, इष्टदेव का स्वरूप-विवेचन, मुक्तिमार्ग, वैष्णवमत, श्रीराम की षोडशोपचार पूजा, विशिष्टाद्वैतवाद, निर्गुण-सगुण समन्वय आदि। उनके द्वारा रचित 'आत्मबोध' और 'ज्ञानतिलक' नामक कृतियाँ कबीर पंथियों में बहुत लोकप्रिय हुई हैं। यद्यपि डॉ. धर्मवीर उनका सम्बन्ध कबीर से नहीं मानते हैं, किन्तु यह तर्क तथ्याश्रित नहीं है। दूसरी ओर 'हनुमान जी की आरती' सगुणोपासकों के मध्य बहुत प्रचलित हुई है। निष्कर्ष यह है कि निर्गुण और सगुण, दोनों का बहुत संयत निरूपण स्वामी रामानन्द ने किया है।

भक्ति-आन्दोलन के इतिहास में स्वामी रामानन्द का महत्त्व निर्विवाद है। राम-भक्ति के सम्प्रदाय-प्रवर्तक और प्रथम रामोपासक कवि रामानन्द जी ही थे। उन्होंने विशिष्टाद्वैतवाद को स्वीकार किया है, इसीलिए गोस्वामी जी ने भी 'तुलसीदास परिहरै तीनि भ्रम' कह कर उसकी पुष्टि की है। गोस्वामी जी ने यह अनुभव किया था कि लीला-पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की उपासना से कहीं अधिक कृष्ण जी के श्री विग्रह को श्रीराम में रूपांतरित कर लिया था– 'तुलसी मस्तक तब नवै धनुष बान लियो हाथ।'

रामानन्द जी ने राम-तत्त्व की मीमांसा दो रूपों में की। एक है ऐश्वर्य रूप और दूसरा, लोकरक्षक रूप। उन्होंने श्रीराम के शक्तिशील, सौन्दर्य युक्त चरित्र को रेखांकित किया। वे केवल शेषशायी श्री नारायण ही नहीं हैं, अपितु गीध, शबरी, निषाद, व्याध आदि का मंगल करने वाले जन-जन के राम हैं। विशेषतः आरण्यक संस्कृति वाले धनुर्धारी श्रीराम हैं। विदेशी-विधर्मी आक्रमणों से संत्रस्त भारतीय जनमानस को वे इन्हीं राम का स्मरण कराते हैं और अभयदान देते दिखते हैं। लीलावतारी मानव राम के साथ-साथ वे राम की लोकोत्तर-शक्ति का संकेत देते चलते हैं। उनका 'राम-तारक मंत्र' और 'रामरक्षा स्तोत्र' भक्त जन को सभी आधि-व्याधियों से मुक्त कर देता है। इसी परम्परा में 'हनुमान बाहुक' तथा 'सर्वांग बाहुक' जैसे ग्रन्थों की रचना हुई है। यह स्मरणीय है कि सूफियों, फकीरों और दरवेशों ने झाड़ फूँक के कई उपक्रम समाज में प्रचारित कर रखे थे, जिनके बेहतर विकल्प रूप में स्वामी जी ने इस तारक मंत्र की स्थापना की थी। किसी भी सम्प्रदाय को लोकप्रिय बनाने के लिए उसके साथ चमत्कारों का समावेश करना समाज मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बहुत उपयोगी होता है। 'रामशलाका' के पीछे यही प्रमुख प्रयोजन रहा है। स्वामी रामानन्द ने बाह्योपचारों का भरसक निषेध

किया। उन्होंने नवधा के स्थान पर 'शतधा' भक्ति का प्रचलन किया। यह भक्ति है– 'सहजाभक्ति', सहज समाधि, अजपाजाप, अनाहत नाद आदि। संतों के मध्य यह उपासना प्रणाली आज भी लोकप्रिय है। यह विचित्र, किन्तु निर्विवाद सत्य है कि उनके एक पक्ष का प्रतिपादन कबीर ने किया है और दूसरे का तुलसीदास ने। वे इन दोनों के समन्वयक थे। बृहत् स्तर पर उन्होंने नाथों, सिद्धों, सन्तों और सगुणोपासक भक्तों के माध्यम से भक्ति मार्ग का समन्वय किया था।

स्वामी जी की साधना पद्धति केवल सैद्धान्तिक नहीं थी। वह जन साधारण के बीच एक सुधार आन्दोलन थी और सांस्कृतिक नवजागरण की निमित्त थी। उन्होंने अयोध्या, चित्रकूट, काशी और मथुरा में कई पीठ, मठ आदि स्थापित किये, साथ ही जगह-जगह पर कई अखाड़े बनवाये। मन्दिरों को उन्होंने विशिष्ट शक्ति केन्द्र बनाया। उनके साथ कईं मेले और समारोह जोड़ दिये। उनके निर्देशन में आराध्य की ऐसी झाँकियाँ सजायी गईं कि वर्ष पर्यन्त लाखों करोड़ों की संख्या में दर्शनार्थी भक्त जन वहाँ समवेत होने लगे। सत्ताधारी धर्मान्तरण पर तुले हुए थे, किन्तु स्वामी जी के प्रभाव से स्वधर्म के प्रति भक्तों की आस्था अडिग बनी रही। उन्होंने कई धर्मान्तरित क्षत्रिय नरेशों की पुनः शुद्धि की। इस प्रकार भक्तों की आस्था सुदृढ़ बनी रही। 'स्वधर्में निधनं श्रेयः, मामेकं शरणंब्रज' तथा 'राम काजछन भंग सरीरा' जन-जन के मूल मंत्र बन गये। सब अपनी संस्कृति और अपने देव मंदिर की रक्षा में एकजुट हो गये। आक्रमण निरन्तर होते रहे। भक्त जन अपने शीश कटवाते रहे। वर्षों तक अपनी अस्मिता का यह सत्याग्रह चलता रहा। फलस्वरूप हजार वर्षों के मुगल शासन काल के बावजूद इस देश का पूरा इस्लामीकरण नहीं हो पाया।

तात्पर्य यह कि रामानंदजी का मतवाद मध्ययुगीन भक्ति आंदोलन का मूलाधार है। विचारणीय यह है कि भक्ति का आविर्भाव न हताशा के कारण हुआ था और न सुव्यवस्था के कारण। न वह इस्लाम से उत्प्रेरित था, न ईसाइयत से। उत्तर भारत में भक्ति-आन्दोलन, डॉ. ग्रियर्सन के शब्दों में, बिजली की तरह कौंधा था और सर्वत्र फैल गया था। इसके पीछे थी स्वामीजी की दूर दृष्टि तथा भारतीयों के अस्तित्व-संघर्ष की प्रचण्ड ऊर्जा। स्वामी रामानन्द ने इसके लिए शास्त्र और शस्त्र दोनों का विधान किया। उन्होंने आश्वासन दिया कि श्रीराम 'धनुसायक' लिए हुए प्रणत जनों की रक्षा हेतु स्वयं सन्नद्ध रहते हैं। जिस प्रकार उन्होंने रावण जैसे प्रबल यातुधानों का नाश किया है, उसी प्रकार इन आक्रमणकारियों का भी वे गर्व-खर्व करेंगे। इसे गोस्वामीजी ने दुहराया था– 'आजु कि काल्हि परौं कि नरौं जरि जतइहैं दिवारी।' स्वामीजी ने हर मन्दिर के निकट हनुमान गढ़ी की स्थापना करके वहाँ मल्ल-भक्तों की नियुक्ति की थी।

फलतः 'या अली' की स्पर्धा में 'जय बजरंगबली' का महोच्चार होने लगा। ओरछा में इसी क्रम में 'राजाराम' का मन्दिर स्थापित हुआ, जो यों तो अयोध्या के कनक भवन मन्दिर का परिविस्तार था, किन्तु वहाँ शस्त्र प्रतिष्ठा का भी विधान किया गया। देखते-देखते ये मन्दिर छोटी-बड़ी छावनी में बदल गये। इनमें शौर्य को विशेष महत्व दिया गया। इस दृष्टि से नागा साधुओं का गठन किया गया। 'राम-बाण' और 'संकट मोचन' जन-परित्राण के इसीलिए मुहावरे बन गये। देखते-देखते भक्तों ने सैनिक रूप में श्रीराम के आयुधों की पूजा प्रथा आरम्भ कर दी; साथ ही रामलीला की झांकियों में शस्त्र प्रदर्शन की परंपरा भी। अयोध्या का राम जन्मभूमि मन्दिर इस अस्तित्व-संघर्ष का मूल मुद्दा बन गया।

निष्कर्ष यह कि स्वामीजी के द्वारा निर्दिष्ट भक्ति दैन्य जनित कातर क्रन्दन न होकर 'निर्बल के बलराम' रूप में सर्वस्व विसर्जन का अनुष्ठान बन गयी। मर्यादा भक्ति के साथ-साथ रामानंद सम्प्रदाय में श्रृंगारी भक्ति को भी मान्यता मिली। अस्तु, 'राम भक्ति में रसिक सम्प्रदाय' का उदय हुआ। वहाँ भक्त-भगवान में भार्या-भर्तृत्व का भाव जाग्रत हुआ। कहा जाता है कि कवि अग्रदास ने इसकी पहल की थी। वे स्वामी जी के शिष्य अनंतानन्द से दीक्षा प्राप्त थे। रामरसिकोपासना और कृष्ण की मधुरा भक्ति में एक अन्तर यह रखा गया कि रामानन्दी सम्प्रदाय ने स्वकीयाभाव को महत्व दिया, जबकि पुष्टिमार्गी भक्ति में परकीया भाव प्रधान था। इस प्रकार श्रृंगार के माध्यम से उन्होंने पहले जनसाधारण को आकृष्ट किया और फिर यथा समय उसका यथेष्ट उदात्तीकरण कर दिया।

स्वामी जी की सबसे बड़ी देन है भक्तों के बीच अभेद भाव अथवा जाति-धर्म निरपेक्षता की स्थापना। उनके बारह शिष्य बताये जाते हैं– जिनमें कबीर जुलाहा, रैदास आदि अनुसूचित वर्ग के हैं, पीपा क्षत्रिय, धन्ना जाट तथा सेन नाई है। पद्मावती स्त्री है। कुछ सवर्ण वैष्णव भी हैं। निष्कर्ष यह कि उनके साथ सभी वर्गों के प्रतिनिधि रहे हैं। सबमें एक लक्षण समान है। वह यह कि सभी वैरागी हैं। स्वामीजी के शिष्यों ने घूम-घूमकर यह नारा लगाया–

**पाँति पाँति पूछै नहिं कोय। हरि का भजै सो हरि का होय।।**

यहाँ जाति का निषेध है, साथ ही पाँति (पंगति या श्रेणी) अर्थात् सामाजिक स्तर-भेद का भी। उनके इस अति औदार्य की प्रतिकूल प्रतिक्रिया भी पहले वैष्णवों में हुई, किन्तु धीरे-धीरे सब स्वामी जी के सुधार-अभियान से अभिभूत हो गये। बहुजन समाज के सहयोग से वैष्णव-धर्म, जो अब तक बुद्धिवादी सवर्ण वर्ग तक सीमित था, वह बिजली की तरह कौंधा और सर्वजन सुलभ लोक-धर्म बन गया। स्वामी जी ने 'श्री

सम्प्रदाय' के माध्यम से लक्ष्मी नारायण की उपासना को सीता-राम की उपासना में परिणत कर दिया। उसे ही रामावत सम्प्रदाय कहा गया। रामानुजाचार्य जी ने राम का चरित-विन्यास बाल्मीकि के आधार पर किया था। रामानन्द जी ने बाल्मीकि रामायण और स्वरचित अध्यात्म रामायण के योग से रामचरित का परिकल्प बनाया, जो अनन्तर 'रामचरितमानस' का उपजीव्य सिद्ध हुआ। अपने जनान्दोलन के लिए उन्होंने उत्तर भारत की काव्य भाषा, ब्रजावधी का सहारा लिया। तत्व विमर्श उन्होंने संस्कृत में किया और रामचरित का गायन ब्रजावधी में। यही जनभाषा अवधी तुलसी के 'मानस' में प्रतिष्ठित हुई और इस प्रकार रामभक्ति जन-जन को ग्राह्य हो गई। निष्कर्ष यह है कि स्वामी रामानन्द के प्रदेय का ऐतिहासिक महत्त्व है। वह अद्यावधि प्रासंगिक है तथा सतत चिर स्मरणीय भी।

स्वामी रामानंद आदिकालीन रामकाव्य के प्रवर्त्तकों में से एक हैं। उन्होंने 'भगतिजोग' का विधान किया। उनका निर्देश था–

**द्वादस पवन भर पीया। उलट धर सीस को चढ़ना।**
**दो नैना कर बान। भौंह उलटा कस कमान।**
**तिरबेनी का असनान। तेरा मेट जाय आवाजान।** –योग चिन्तमणि

उनके अनुसार ५ मुद्राएँ हैं– चाचरी, भूचरी, खेचरी, अगोचरी और उन्मनी। (रामरक्षा) वे मानते हैं कि शरीर में सुरति, सुरति में आत्मा और आत्मा में परमात्मा है। इसकी प्रक्रिया है– 'गंग उलटी चलै भानु पच्छिम मिलै, निकसिया बिंब परकास कीया। ऊरम धूरम जोति उजाला। माया का भाग है ऊर्मि, भगवत्प्रेम का ताप है धूम। तल्लीनता से प्राप्त है ज्योति और ब्रह्मरूप से उजाला।

रामानंद का मूल सिद्धांत है– प्रपत्ति। वे भगवत्कृपा को अहैतुकी मानते हैं। उन्होंने माधुर्ययोग मिश्रित साधना शुरू की। उनका स्वतंत्र सम्प्रदाय है। अतः रामानुज के उपास्य हैं नारायण, रामानंद के हैं राम। रामानुज ने अष्टाक्षर मंत्र दिया, उन्होंने षडाक्षर। रामानुज शिव के प्रतिकूल थे ये अनुकूल रहे। रामानुजी भक्त संन्यासी होते हैं रामानंदी वैरागी। वहाँ गद्दीधर ही दीक्षा देता है। यहाँ प्रमुख आचार्य इसीलिए रामानंद ज्यादा लोकप्रिय हुए। महाराष्ट्र के नाथपंथी इनके साथ जुड़ गए और सवर्ण, अवर्ण, हिन्दू, मुस्लिम सभी भक्त बन गए। रामानंद ने भक्ति का सरलीकरण किया। राम से प्रेम भाव जोड़कर यह व्यवस्था दी कि यदि शरणागति का भाव कभी टूट जाए तो भक्ति भाव से उसका प्रायश्चित्त हो जाएगा। इस प्रकार आदिकाल के अंतिम चरण में और भक्तिकाल के प्रथम चरण में रामभक्ति को उन्होंने जन-जन में व्याप्त कर दिया।

●

# रामभक्ति परम्परा : रामावतसम्प्रदाय का प्रदेय

श्री अवनिकांत सिंह *

भारतीय लोकमानस में भक्ति भावना का पुष्ट बीजारोपण करनेवाली उपनिषदों ने निर्गुण-सगुण दोनों धाराओं को समान गति से प्रवाहित होने का अवसर प्रदान किया है। यद्यपि अधिसंख्य उपनिषदों ने निर्गुण धारा का ही मंडन किया है। फिर भी भारतीय लोकमानस में भक्ति की यह प्रस्थानरूपी लोल लहर सगुण-निर्गुण ब्रह्म की कल्पना कर आरूढ़ होकर अनंत काल से जनमानस का अभिसिंचन कर रही है।

स्मरणीय है कि भारतीय धर्म साधना में भक्ति मार्ग का सामाजिक-साहित्यिक तथा धार्मिक महत्त्व सहस्राब्दियों से अंकित है। यही वह मार्ग है जिसे सर्वप्रथम व्यापक जनसमर्थन का सबल पाथेय मिलता रहा है। भक्ति की इस लोक-समर्पित तथा शास्त्रानुमोदित भाव धारा में समाज का बृहदंश अनुस्यूत रहा है। इसलिए इस मार्ग पर अनंत काल तक भारतीय समाज निरंतर गतिमान भी रहा। इतना ही नहीं इसे धर्माधिकारियों, साहित्यिकों तथा समाजसेवी जनों ने समान रूप से समादृत भी किया है। भारतीय वाङ्मय में ईसापूर्व छठीं शताब्दी से ही भक्तिपरक साहित्य का निर्माण आरंभ हो चुका था। छठीं शताब्दी तक भारतीय वाङ्मय में भक्ति सम्बन्धी दार्शनिक तथा ललित साहित्य अपेक्षाकृत अधिक समृद्ध हो चुका था। कर्मकाण्डजन्य अतिवादिता तथा ज्ञानमार्गजन्य दुरूहता के समक्ष भक्तिमार्ग की रागात्मक सहजावस्था एवम् स्वाभाविकता को लोक स्वीकृति अधिक प्राप्त होने लगी। फलतः आगामी शताब्दियों में भी भक्ति भावित साहित्य की अभिवृद्धि हुई। संस्कृत साहित्य का बहुत बड़ा भाग भक्ति-दर्शन तथा भक्ति-भावना का प्रबल प्रमाण है। देशज भाषाओं पर भी इसका परोक्ष-प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा। छह सौ ईसापूर्व से ईसवी सन् की बीसवीं शती तक हिन्दी, बंगला, उड़िया, तमिल, कन्नड़, गुजराती असमी, पंजाबी आदि क्षेत्रीय भाषाओं में भक्ति साहित्य प्रभूत परिमाण में रचा गया। स्थानीय बोलियों में भी इस लोकप्रिय साधना मार्ग की अनेक कथाओं को लोकगीतों में बाँधा गया। आशय यह कि सम्पूर्ण भारतीय भाषा साहित्य तथा लोक साहित्य का बृहदंश भक्ति सम्बन्धी दर्शन ग्रंथों, महाकाव्यों, इतिहास-पुराणों, फुटकल-काव्यों, टीकाग्रंथों, अनुवादों तथा भावानुवादों,

---

* शोधछात्र, दिल्ली

स्फुट लेखों, मुक्तकों एवं गीतों से परिपूर्ण हो गया। साहित्य की भाँति समाज में भी अन्य साधना मार्गों की अपेक्षा भक्ति मार्ग को अधिक महत्त्व दिया गया।

आदिकवि वाल्मीकि के 'रामायण महाकाव्य' से ही रामावतार की कल्पना दृष्टिगत होती है। महाभारत के नारायणी पर्व में भी राम को अवतार रूप में चित्रित किया गया है। नासिक गुफा लेख दशरथ कथानम् (२०० ई. के बाद) अनामक जातक (३०० ई.) से यही ज्ञात होता है कि उस युग तक राम कथा का प्रसार सर्वत्र हो चुका था। यद्यपि उक्त कालखण्ड रामावत सम्प्रदाय का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता है तथापि रामावतार सम्बन्धी कल्पना की प्रचीनता असंदिग्ध है।

पौराणिक युग से रामोपासना का बढ़ता प्रभाव परिलक्षित होता है। इनमें भी हरिवंश, विष्णु, वायु, भागवत, कूर्म, अग्नि, स्कंद, नारद तथा पद्म-पुराणों में रामावतार विषयक प्रचुर सामग्री प्राप्त होती है। इनकी कोई निश्चित तिथि न दे सकने पर भी हम ईसा-पूर्ववर्ती खण्ड से ही रामोपसना का आरंभ स्वीकार कर सकते हैं। बुल्के महोदय ने अन्यान्य साक्ष्यों के आधार पर प्रथम शती ईसा पूर्व में रामावतार भावना का प्रचार सिद्ध किया है।[१] पाञ्चरात्र संहिताओं में भी राम को अवतार स्वीकार किया गया है। अहिर्बुधन्य संहिता में लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न को स्वयं भगवान् का ही अंश बताया गया है।[२] प्राचीन साहित्य में राम का जो चरित्र वर्णित है उस आधार पर हमें चिंतन करने की प्रेरणा मिलती है कि रामोपासना का सूत्रपात उनकी वीरपूजा से ही आरंभ होता है। वस्तुत: देखा जाय तो अधिसंख्य अवतारों का सम्बन्ध किसी न किसी रूप में वीरोचित कार्यों से जोड़ा गया है। अवतार का उद्देश्य ही कुछ ऐसा निर्धारित किया गया था कि स्वभावत: यह वीरता से सम्बद्ध हो जाता है। दाशरथि राम को इस दृष्टि से देखा जाय तो वाल्मीकि-रचित रामायण में ही हनुमान तथा विभीषण के ऐसे चरित्र हैं जिन उक्त दोनों भावों की प्रेरणा मध्ययुगीन आचार्यों को प्राप्त होती है। रामानुजाचार्य ने भी शरणागति गद्य में विभीषण का आधार लेकर आत्मनिवेदन किया है।[३] हनुमान के सम्बन्ध में वाल्मीकि रामायण में यह कथा आती है कि स्वर्गारोहण के समय भगवान् राम से हनुमान ने तीन वरदान माँगे थे। प्रथम चरणों में अनन्य भक्ति, दूसरे रामकथा के जगत् में प्रचलित रहने तक आयु की प्राप्ति तथा तीसरे अप्सराओं के मुख से रामकथा। भगवान राम ने उन्हें यह वरदान प्रदान भी किया था। (उत्तरकाण्ड ४/११४-२०) रामायण की यह कथा कितनी प्रचलित थी इसका प्रमाण हमें इसी से प्राप्त हो जाता है कि महाभारत वन पर्व (१४८/४९-२०) में हनुमान ने स्वयं इन वरदानों की उपलब्धि स्वीकारी है। भागवत में भी किं-पुरुष वर्ष नामक स्थान में हनुमान को अपने आराध्य देव के चरित्र गान एवं श्रवण में लीन दिखाया गया है।

इन समस्त साक्ष्यों से यह सिद्ध होता है कि वाल्मीकि रामायण से भागवत-युग तक हनुमान की रामभक्ति प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी थी। परवर्ती साहित्य में तो भगवान् के राम भक्तों में प्रथम उल्लेखनीय नाम हनुमान का ही आता है। विभीषण को भी रामायण में रामभक्ति की दृष्टि से पर्याप्त महत्त्व प्रदान किया गया है। वैष्णव भक्तों की एक प्रमुख साधना भूमि 'रंगधाम' में विभीषण द्वारा स्थापित (श्रीराम-प्रदत्त) रघुवंशी कुलदेव श्री रंगनाथ के विग्रह का उल्लेख भी रामायण में किया गया है। उसी युग से विभीषण भी परम रामभक्तों में परिगणित होने लगे। परवर्ती साहित्य उसका प्रमाण है।

रामोपासकों की सर्वाधिक संख्या भास तथा कालिदास के समय में दिखायी पड़ती है। उस समय तक अनेक राममंदिरों के निर्माण के साहित्यिक तथा पुरातात्त्विक प्रमाण मिलते हैं। इन समस्त साक्ष्यों के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि यद्यपि रामोपासना का प्रारंभ कतिपय क्षेत्रों में ई. सन् के पूर्व हो चुका था, किन्तु इसका व्यापक प्रचार गुप्तकाल से ही आरंभ हुआ। उस समय तक इसे कदाचित् साम्प्रदायिक रूप नहीं दिया जा सका था। जिस प्रकार अन्यान्य ब्राह्मण देवताओं के पूजक इतस्तत: अपने आराध्य की उपासना करते रहे उसी प्रकार कुछ वर्गों में राम की पूजा भी प्रचलित थी।

श्री वैष्णवों की गुरु-परम्परा का आरंभ हम ऐतिहासिक दृष्टि से शठकोप आलवार से स्वीकार करते हैं– कर सकते हैं। अत: स्वाभाविक रूप से शठकोप आलवार को रामभक्त अपना प्रथम आचार्य मानते हैं। पाँचवें आलवार शठकोप राम के परम भक्त थे जबकि पूर्व चार आलवार नारायण तथा विष्णु के उपासक थे। शठकोप ने 'सहस्र-गीति' की रचना करके रामभक्ति को सर्वप्रथम साम्प्रदायिक रूप प्रदान करने का महत्त्वपूर्ण प्रयास किया। बारह आलवारों में शठकोप का विशिष्ट स्थान था। अत: इनके द्वारा स्वीकृत मार्ग अधिक मान्यता प्राप्त कर सका। रामावत सम्प्रदाय वाले इन्हें राम की पादुका का अवतार मानते हैं और सदाशिव संहिता में इन्हें ही कलियुग में रामभक्ति के प्रचार का श्रेय दिया गया है। तिरुपति में इन्होंने भगवान राम की मूर्ति की स्थापना। रामभक्ति अपनाया था। सातवें आलवार कुलशेखर तो रामकथा में आत्मविभोर होकर सुध-बुध तक खो बैठते थे।

प्राचीन संस्कृत कवियों तथा उक्त आलवारों की रामोपासना ने कुछ वैष्णवाचार्यों को भी प्रभावित किया था किन्तु तब तक भगवत्भक्तों पर कृष्णोपासना का रंग, इतना गहरा चढ़ चुका था कि मात्र 'श्री' तथा 'ब्रह्म' सम्प्रदाय में ही आंशिक रूप से राम को महत्व दिया गया। अन्य वैष्णव सम्प्रदायों में भक्ति साधना कृष्ण तक ही व्यवहारिक रूप में सीमित रह जाती है। 'श्री' सम्प्रदाय के प्रथम आचार्य नाथ मुनि ने रामोपासना के प्रति रुचि दिखायी थी। 'रामावत' सम्प्रदाय के ग्रन्थों में नाथमुनि, पुण्डरीकाक्ष,

राममिश्र, यामुन मुनि आदि को न केवल रामभक्त बताया गया है प्रत्युत इनके द्वारा राम साहित्य की रचना का भी उल्लेख किया गया है। रामानुजाचार्य को सम्प्रदाय में (राम-अनुज) लक्ष्मण का अवतार स्वीकार किया जाता है। 'प्रपन्नामृत' तथा 'रामरहस्यत्रयार्थ' आदि साम्प्रदायिक ग्रन्थों ने यह दिखाने की चेष्टा की है कि 'श्री' सम्प्रदाय के लगभग सभी आचार्य रामोपासना में लीन थे और वे इनका प्रचार भ्रमण तथा साहित्य निर्माण द्वारा करते रहे। सब मिलाकर कहा जा सकता है कि 'श्री' सम्प्रदाय में रामोपासना को भी स्थान दिया गया था। दक्षिण भारत में रामोपासना का प्रचार निश्चित रूप से 'श्री' सम्प्रदाय के आचार्यों की देन है। श्री सम्प्रदाय की भाँति ब्रह्म सम्प्रदाय के भी आचार्यों ने रामोपासना को महत्व प्रदान करते हुए उसे आगे बढ़ाया था। मध्वाचार्य को हनुमान का अवतार भी स्वीकार किया गया है किन्तु ये सारे प्रयत्न अन्तर्निहित संकेतों से ही प्रकट होते हैं। वस्तुतः रामोपासना को साम्प्रदायिक रूप एवं स्थायित्व प्रदान करने का आरम्भिक श्रेय स्वामी रामानन्द के गुरु राघवानन्द तथा सर्वाधिक स्वयं रामानन्द को दिया जाना चाहिए।

स्वामी रामानन्द के गुरु आचार्य राघवानन्द को रामभक्ति परम्परा गुरु हर्यानन्द से मिली थीं। गुरु के आदेश से ही राघवानन्द उत्तरी भारत में रामभक्ति, का प्रसार करने आये थे और अयोध्या, काशी आदि प्रमुख धार्मिक केन्द्रों के भ्रमण के पश्चात् जब वे पुनः दक्षिण पहुँचे तो आचार्य हर्यानन्द का स्वर्गवास हो चुका था। गद्दी पर गुरुभाई बैठे हुए थे। 'रसिकप्रकाशभक्तमाल' से विदित होता है कि मन्दिर में जब पंगत का समय आया तो इन्हें इनकी आचार सम्बन्धी सहिष्णुता के कारण पृथक् बैठाया गया। इससे खिन्न होकर आचार्य राघवानन्द काशी आ जाते हैं और जीवन पर्यन्त पंचगंगा घाट पर रामोपासना में लीन रहते हुए रामभक्ति का प्रचार करते हैं। राघवानन्द की विचारधारा पर नाथ-पन्थ का प्रभाव भी दिखायी पड़ता है। जातीय भेदभाव को राघवानंद ने महत्वहीन बताया है। श्री सम्प्रदाय के रामोपासकों में प्रायः इसी प्रकार की सामाजिक सहिष्णुता मिलती है किन्तु इस विचारधारा को दक्षिण भारत में पनपने का अवसर ही नहीं मिला। यही कारण था कि राघवानन्द को उत्तर भारत में जहाँ सामाजिक सहिष्णुता का परिचय वे पहले ही प्राप्त कर चुके थे, प्रस्थान करना पड़ा। इन्हीं राघवानंद के शिष्य स्वामी रामानंद हैं।

स्वामी रामानन्द का जन्म प्रयाग के कान्यकुब्ज ब्राह्मण परिवार में हुआ था। भक्तिकाल में स्वामी रामानन्द की गुरु परम्परा इस प्रकार दी गयी है– रामानुज, देवाचार्य-हरियानन्द-राघवानन्द-रामानन्द। स्वामी रामानन्द का जन्म समय यद्यपि विवादास्पद है, परन्तु १२९९ ई. में जन्म तथा १४१० ई. में मृत्यु अधिकांश विद्वान् स्वीकार करते

हैं। भक्तमाल की उक्त गुरु परम्परा जिसका उल्लेख ग्रियर्सन महोदय ने भी किया है अपूर्ण प्रतीत होती है क्योंकि स्वयं स्वामी जी ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'रामार्चन-पद्धति' श्लोक ३-५ में जिसका उल्लेख पंडित बलदेव उपाध्याय ने भी किया है रामानुजाचार्य के आगे की गुरु परम्परा इस प्रकार दी है– रामानुज-करेश-माधवाचार्य-वोपदेवाचार्य-देवाधिप-पुरुषोत्तम-गंगाधर-रामेश्वर-द्वारानंद-देवानन्द-श्रीआनन्द-हरियानन्द-राघवानन्द-रामानन्द। इस प्रकार स्वामी रामानंद की परम्परा आचार्य रामानुज की पाँचवीं पीढ़ी में न होकर कुछ और आगे तक बढ़ती है जिसके आधार पर उन्हें १४वीं से १५वीं शती तक स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। स्वामी रामानन्द गुरु राघवानंद से दीक्षित होने के उपरान्त ही रामभाव प्रसार का संकल्प ग्रहण करते दिखायी पड़ते हैं। रामावत सम्प्रदाय की स्थापना में स्वामी रामानंद ने अथक परिश्रम किया। यह प्रयास उसी प्रकार का कहा जा सकता है जैसे अद्वैतवादी शंकर का विरोध करके द्वैतवादी वैष्णवाचार्यों ने विभिन्न वैष्णव सम्प्रदायों की स्थापना किया था। इतना तो कहा जा सकता है कि स्वामी रामानंद ने श्री सम्प्रदाय में रामोपासना की लहर अवश्य उत्पन्न कर दी थी; किन्तु अब भी वहाँ लक्ष्मीनारायण की प्रधानता थी। वहाँ रामावत सम्प्रदाय की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं दिखायी पड़ती। यह महत् कार्य सर्वप्रथम स्वामी रामानन्द ने सम्पन्न किया। इतना ही नहीं वैष्णव आचार के निर्वाह का प्रश्न भी उस समय जटिल हो गया था। फलतः स्वामी राघवानंद को आचार्य पीठ एवं मातृभूमि द्रविड़ देश त्याग कर उत्तर भारत को अपना कर्म क्षेत्र बनाना पड़ा। इस प्रकार स्वामी रामानन्द के समक्ष न केवल रामोपासना के व्यापक प्रचार-प्रसार की समस्या थी; अपितु इस सम्प्रदाय के सैद्धांतिक स्वरूप का भी कूट-प्रश्न उपस्थित था। स्वामी रामानन्द ने सभी आयामों से रामावत सम्प्रदाय को पुष्ट किया।

सैद्धांतिक स्तर पर स्वामी रामानंद ने रामानुजाचार्य से तद्वत् सम्बन्ध रखा। रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत स्वामी रामानंद ने भी अंगीकार किया। स्वामी जी ने तीनों पदार्थों चित्, अचित् तथा ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार किया है। चित् तथा अचित् से विशिष्ट होने के कारण ईश्वर ही चिद्चिद् विशिष्ट माना गया है। ईश्वर को वे जगत् का कारण तथा कार्य मानते हैं। कारण ईश्वर तथा कार्य ईश्वर क्रमशः स्थूल तथा सूक्ष्म रूप में विद्यमान हैं किन्तु दोनों दशाओं में वह एक ही रहता है। उसके स्वरूप का व्याघात नहीं होता। इस प्रकार स्वामी रामानंद ने विशिष्टाद्वैत को सम्पूर्ण स्वीकृति देते हुए रामावत सम्प्रदाय की सुव्यवस्थित एवं वैज्ञानिक स्थापना की। अंतर मात्र इतना ही दिखायी पड़ता है कि जहाँ वैष्णवमत में द्वादशाक्षर मंत्र की प्रधानता थी वहाँ स्वामी रामानंद ने षडाक्षर मंत्र 'श्री सं रामाय नमः' की व्यवस्था दी जो रामावत सम्प्रदाय का

मूल मंत्र बना। साथ ही द्वय मंत्र (पंचविंशत्यक्षरमंत्र)– श्रीमद्राचन्द्रचरणौशरणंप्रपद्ये' 'श्रीमते रामचन्द्रायनम:' तथा चरममंत्र 'सकृदेवप्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्व भूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम, की व्यवस्था करके उन्होंने श्री वैष्णवों से रामावत सम्प्रदाय की स्वतंत्र सत्ता स्थापित कर दिया। 'भागवत' में भगवान् कृष्ण के विमुग्धकारी शक्तिशाली, र्स्वव्यापी एवं सर्वोत्तम रूप के ध्यान पर बारम्बार बल दिया गया था। भागवत के अतिरिक्त अन्य वैष्णव पुराणों में भी कृष्ण के ध्यान को ही प्रधानता दी गयी थी। अत: रामानन्द ने रामोपासना की सुदृढ़ स्थापना के लिए सीता तथा लक्ष्मण से युक्त श्री रामचन्द्र के ध्यान का आदेश दिया। इसी त्रिमूर्ति को उपयुक्त तत्वमय का बाह्य विग्रह स्वीकार किया गया। सीता प्रकृति स्थानीय, लक्ष्मण जीवस्थानीय तथा भगवान राम ईश्वर तत्त्व माने गये। यही परम प्राप्य भी हैं। वे चेतनों के भी चेतन संसार के पालक, गुणों के सागर, शरण्य तथा प्रभु हैं। इनकी प्राप्ति से भी मुक्ति संभव है और प्राप्ति का एकमात्र साधन है भक्ति। भगवान् राम में नित्य निरंतर स्मरण पूर्वक परम अनुराग ही भक्ति है। भक्ति उत्पन्न होने के लिए विवेक, विमोक, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवसाद तथा अनुद्धर्ष आवश्यक हैं। स्वामी जी के इन सिद्धान्तों की विवृत्ति मात्र उनकी हिन्दी रचनाओं के आधार पर नहीं दी जा सकती अपितु सम्पूर्ण साम्प्रदायिक वाङ्मय का अध्ययन करने के उपरान्त ही यह साहस दिखाया जा सकता है।

आचार्य रामानन्द जी को उक्त सिद्धान्तों के आलोक में ही रामावत सम्प्रदाय का नया स्वरूप गढ़ना था। उन्हीं तत्वों को एक नये ढंग से भगवान् राम तक केन्द्रित कर देना था। आचार्य मीमांसा सम्बन्धी कुछ सर्वथा नवीन उद्भावनाएँ इन्हें अवश्य करनी पड़ीं जिसकी स्वीकृति इन्हें समसामयिक परिस्थितियों से प्राप्त थी। युग की प्रत्येक धड़कन को पहचानने में स्वामी रामानन्द से अधिक सफलता अब तक के किसी आचार्य को नहीं प्राप्त हुई थी। यही कारण है कि अधिसंख्य सम्प्रदायों में यहाँ तक की कुछ विरोधी सम्प्रदायों में भी स्वामी रामानंद को महत्त्व एवं मान्यता प्रदान की गयी। उनके व्यक्तित्व की व्यापकता का भी प्रभाव है कि अनेक परवर्ती सम्प्रदायों ने उन्हें अपने सम्प्रदाय का आदि गुरु या संस्थापक स्वीकार किया। तत्कालीन धार्मिक एवं सामाजिक परिस्थितियाँ इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करती हैं कि उस समय सगुण-निर्गुण शैव-शाक्त, वैष्णव-अवैष्णव ऊँच-नीच की ऐसी समस्या उपस्थित हो चुकी थी जिसका समाधान मात्र स्वामी रामानंद के पास ही था। स्वामी रामानंद ने रामावत सम्प्रदाय के व्यापक प्रचार के लिए जहाँ प्राचीन परम्परानुसार संस्कृत में 'वैष्णवमताब्जभास्कर' तथा 'रामार्चनपद्धति' की रचना की वहीं 'रामरक्षास्तोत्र'

'सिद्धान्तपटल', 'ज्ञानलीला', 'ज्ञानतिलक' तथा 'योगचिन्तामणि' आदि ग्रन्थों की रचना हिन्दी में की। हिन्दी रचनाओं में उन्होंने लोकप्रचलित आध्यात्मिक एवं सामाजिक मान्यताओं को भी स्थान केवल इसीलिए दिया था कि उनका दृष्टिकोण समन्वयशील था। साथ ही मतपंथ की व्यापकता के लिए आवश्यक भी। इसी प्रकार शैव तथा शाक्तों के तंत्र-मंत्र, कोल कवचादि की व्यवस्था भी रामोपासना में उक्त उद्देश्य की प्राप्ति के लिए ही की गयी थी। सिद्धान्तों के स्तर पर स्वामी रामानंद ने विशिष्टाद्वैत को मानते हुए भी इसे रामोन्मुख किया। यही कारण है कि रामानन्द ने हर प्रकार के समन्वयात्मक मार्ग का अनुसरण करते हुए धर्म का द्वार सभी ऊँच-नीच, धनी-निर्धन के लिए खोलते हुए रामोपासना का एक ऐसा राजपथ निर्मित कर दिया जिस पर बिना किसी भेदभाव के सब चल सकते हैं। कबीर का यथार्थबोध और तुलसी का आदर्शभावबोध उन्हीं के चिन्तन की फलश्रुति हैं।

सौभाग्यवशात् रामानन्द को कई प्रतिभाशाली शिष्य मिले जो अपने आचार्य के उद्देश्य की पूर्ति में पूर्णतः सफल हुए। उनके इन शिष्यों ने आचार्य श्री द्वारा नियोजित मार्ग को जिसमें हिन्दू और हिन्दू से इतर निर्गुण-सगुण सबको विकास की प्रेरणा प्राप्त हो सकती थी। लगभग उसी रूप में आगे बढ़ाया। भक्तमाल में स्वामी रामानंद के शिष्यों का नाम इस प्रकार उल्लिखित है– १. अनन्तानन्द २. सुखानन्द ३. सुरसुरानन्द ४. नरहर्यानन्द ५. भावानन्द ६. पीपा साहेब ७. कबीर साहेब ८. सेन ९. धन्ना १०. रैदास ११. पद्मावती १२. सुरसुरी। इन शिष्यों ने सगुण तथा निर्गुण भक्ति के माध्यम से स्वामी रामानन्द की कल्पना के अनुसार ही रामभक्ति का प्रचार-प्रसार सदियों तक अनवरत किया।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि स्वामी रामानन्द के शिष्यों ने अपने गुरु की योग साधना और भक्ति साधना की समन्वयी नीति को आगे अवश्य बढ़ाया था और रामानन्द की वैरागी परम्परा की शाखा में योग साधना के समावेश के फलस्वरूप ही तपसी शाखा का उदय हुआ था। 'गलता गद्दी के महन्तों ने तो सम्प्रदाय में और भी जाने कितने तत्त्व ला दिये थे जिनमें रसिकता का स्थान सर्वोच्च है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि स्वामी रामानन्द ने अपनी सांगठनिक क्षमता तथा प्रातिभ ज्ञान से रामभक्ति परम्परा का जो अद्भुत प्रचार-प्रसार किया उसमें उनके बारह शिष्यों ने और चमक-दमक पैदा की। रामोपासना को सम्भवतः वह महत्व न प्राप्त हो सका होता और कृष्णोपासना की भाँति रामोपासना में लाख रसिकता भर कर भी इसे वे जनप्रिय नहीं बना सके होते यदि रामानन्द के प्रशिष्य महात्मा तुलसीदास का आविर्भाव नहीं हुआ होता। रामानन्दी (रामावत) सम्प्रदाय के उत्तरवर्ती विकास परम्परा में गोस्वामी

तुलसीदास तथा महात्मा बनादास (१९वीं शती) दो महत्त्वपूर्ण स्तम्भ हैं। इन दोनों रामभक्त कवियों की भक्ति सम्बन्धिनी चिति का परिष्कार स्वामी रामानन्द द्वारा स्थापित सिद्धान्तों से सम्पन्न हुआ था। इनके अतिरिक्त अन्य द्वादश शिष्यों ने रामभक्ति परम्परा में सगुण-निर्गुण के माध्यम से भक्ति-भावित मंदाकिनी की ऐसी धारा प्रवहमान की जिसमें गत सात सौ चौदह वर्षों से अद्यावधि भारतीय समाज निरन्तर अवगाहन कर रहा है।

## सन्दर्भ


१. रामकथा पृ. १४५, कामिल बुल्के।
२. अहिर्बुधन्य संहिता द्वितीय (३६/६२-१६५)
३. शरणागतिगद्य : प्रो. भगवती प्रसाद सिंह द्वारा उद्धृत, पृ. ११-१२
४. वाल्मीकि रामायण, १८/३६


●

# जगद्गुरु रामानन्दाचार्य और हिन्दी

डॉ. विनोद पाण्डेय *

हिन्दी भाषा के विकास में संतों का महान योगदान है। यदि हम हिन्दी साहित्य से कबीर, सूरदास और गोस्वामी तुलसीदास की रचनाओं को निकाल दें तो उसका बहुत कुछ साहित्य समाप्त हो जायेगा। अकेले तुलसीदास कृत 'रामचरितमानस' ही सभी कृतियों पर भारी पड़ता है। किन्तु इस बात को  कम लोग जानते होंगे कि हिन्दी के विकास में कबीरदास के गुरु एवं पूरे उत्तर भारत में रामभक्ति धारा को बहाने वाले महान संत स्वामी रामानन्द का महत्वपूर्ण योगदान है।

स्वामी रामानन्द का अविर्भाव उस समय हुआ था जब भारत में चारों ओर अव्यवस्था फैली हुई थी और अत्याचारी शासकों के अत्याचार से लोगों का रहना दूभर हो गया था। चौदहवीं शताब्दी में बर्बर शासकों द्वारा बलपूर्वक धर्म परिवर्तन का नंगा नृत्य पूरे देश में हो रहा था और लोग त्राहि-त्राहि कर रहे थे। स्वामी रामानन्द ने उस विकट स्थिति में रामभक्ति की धारा प्रवाहित की और उसे जनभाषा हिन्दी के माध्यम से जन-जन तक पहुँचाया। इस प्रकार हिन्दी के प्रचार-प्रसार में भी उन्होंने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

आचार्य रामानन्द जी का जन्म कान्यकुब्ज ब्राह्मण कुल में माघ कृष्ण सप्तमी सन् १२९९ ई. में प्रयाग में हुआ था। उनके पिता का नाम श्री पुण्य सदन शर्मा तथा माता का नाम श्रीमती सुशीला देवी था। वे अत्यंत तीक्ष्ण बुद्धि के थे। बाल्यावस्था में ही उन्हें रामायण कंठस्थ हो गया था। आठवें वर्ष में उनका उपनयन संस्कार किया गया तथा वे काशी विद्याध्ययन के लिए चले गये। १२ वर्ष की अवस्था तक उन्होंने समस्त शास्त्रों का अध्ययन कर लिया। उनके बाद स्वामी राघवानन्द जी से दीक्षा लेकर पंचगंगा घाट, काशी में तप करना प्रारम्भ कर दिया। दिन प्रतिदिन उनकी प्रसिद्धि फैलती गयी और बड़े-बड़े साधु-संत तथा विद्वान् उनके दर्शनार्थ आश्रम में आने लगे।[१]

श्री रामानन्दाचार्य के रहने का स्थान पंचगंगा घाट काशी में था। वहाँ उनके अनुयायियों का एक मठ था किन्तु कुछ मुसलमान शासकों ने उसे नष्ट कर दिया। अब वहाँ पत्थर का एक चबूतरा है जिस पर श्री रामानन्दाचार्य के चरण चिह्न बने हुए हैं।

* गाँधी दर्शन के विद्वान्, अहमदाबाद, गुजरात।

बनारस में उनके शिष्यों के और भी मठ हैं।[२]

इतिहासकार वाई.डब्लू.जे. विल्किंस ने रामानन्दाचार्य के बारे में लिखा है– "श्री रामानन्दाचार्य मुख्य रूप से बनारस के पंचगंगा घाट पर रहते थे। ऐसा माना जाता है कि वहाँ उनका एक मठ था जो मुसलमान शासकों द्वारा तोड़वाए जाने तक विद्यमान था। अब वहाँ एक प्लेटफार्म है जिसके ऊपर उनके चरण चिह्न बने हुए हैं।"[३]

स्वामी रामानन्द अत्यंत उदार थे। उनकी उदारता को देखकर ही उनके गुरु राघवानन्द ने उन्हें पृथक् सम्प्रदाय चलाने की आज्ञा प्रदान कर दी। स्वामी जी की उदारता इसी से स्पष्ट हो जाती है कि उनके द्वादश शिष्यों में विभिन्न जातियों के लोगों का समावेश था। **जाति पाँति पूछे नहिं कोई। हरि को भजै सो हरि का होई।।** की उक्ति वहाँ चरितार्थ थी।

उनके शिष्यों में कबीर (जुलाहा), सेन (नाई), धना (जाट), पीपा (क्षत्रिय), रविदास (चमार) आदि थे। इसके साथ ही भक्ति में उन्होंने महिलाओं को भी समानता का दर्जा दिया। उनकी शिष्याओं में सुरसरी और पद्मावती भी शामिल थीं। उन्होंने श्री सम्प्रदाय (रामावत) की स्थापना की और सीता एवं राम को अपना आराध्य बनाया। रामानन्द जी के बारह शिष्यों का उल्लेख नाभादास ने इस प्रकार किया है—

**अनन्तानन्द, कबीर, सुखा, सुरसुरा, पद्मावती, नरहरि।**
**पीपा, भावानन्द, रविदास धना, सेन, सुरसरी की घरहरिं।।**[४]

स्वामी रामानन्द के भक्ति आंदोलन का हिन्दी साहित्य पर सीधा प्रभाव पड़ा क्योंकि संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित होते हुए भी स्वामी जी ने धर्म प्रचार का माध्यम हिन्दी को ही बनाया। उनके पूर्व के संत संस्कृत में ही धर्मकार्य करते थे। स्वामी जी एवं उनके शिष्यों की साहित्यिक रचनाओं के माध्यम से पूरे मध्य देश या हिन्दी प्रभावित विशाल भारत में सामाजिक नवनिर्माण का नया आंदोलन खड़ा हो गया जिसे पुनर्जागरण आंदोलन कहा गया। यद्यपि स्वामीरामानन्द ने 'वैष्णवमताब्जभास्कर' तथा 'श्रीरामार्चनपद्धति' की रचना संस्कृत में की किन्तु उनकी अधिकतर रचनाएँ हिन्दी में हैं। उनके नाम हैं– 'राम रक्षा स्तोत्र', 'सिद्धान्त पटल', 'ज्ञान लीला', 'ज्ञान तिलक' तथा 'योग चिन्तमणि'। डॉ. पिताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने 'रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ' नामक पुस्तक में इसका उल्लेख किया है।

डॉ. बड़थ्वाल के अनुसार 'सिद्धान्त पटल' में सत्य निरंतर तारक, विभूति पलटन, लंगोटी, आड़बंद, तुलसी, रामबीज आदि कई मंत्र हैं। इनमें से केवल यज्ञोपवीत का मंत्र ही संस्कृत में है, अन्य सभी सधुक्कड़ी हिन्दी में हैं।

स्वामी जी ने हनुमान की स्तुति भी हिन्दी में लिखी है तथा रज्जबदास के संग्रह ग्रंथ 'सरभंगी' में उनका निम्नलिखित पद पाया जाता है–

**हरि बिन जन्म वृथा खोयो रे।**
**कहा भयो अति मान बढ़ाई, धन मद अंध मति सोयो रे।।**
**अति उतंग तरु देखि सुहायो, सैवल कुसुम सुवा सेयो रे।**
**सोई फल पुत्र-कलत्र विषै सुख अंति सीस धुनि-धुनि रोयो रे।।**
**सुमिरन भजन साध की संगति, अंतरि मन मैल न धोयो रे।**
**रामानन्द रतन जम त्रासै, श्रीपति पद काहे न जोयो रे।।**

इस प्रकार स्वामी रामानन्द ने संस्कृत का मोह त्याग कर लोक की भाषा हिन्दी को अपनाया।

चौदहवीं शताब्दी में स्वामी रामानन्द द्वारा हिन्दी भाषा में अपनी बात कहने का परिणाम यह हुआ कि मध्यकालीन भक्ति आंदोलन लोकोन्मुखी हो गया। स्वामी जी की हिन्दी में निर्गुणवादी निम्न रचनाएँ गुरु ग्रंथ साहब में भी संग्रहीत हैं–[६]

१. **मैं हरि बिना फूणां रखवारो। चित्त दै सुमिरौ जिर जन हारौ।।**
**संकट ते हरि लेत उबारि। निसिदिन सुमिरौ नाम मुरारि।।**
**नाँव न केवल सबसे न्यारा। रटत अघट घट होइ उजारा।।**
**रामानन्द यूँ कहै समुझाई। हरि सुमरिला जम लोकना जाई।।**

२. **कहा जाईये हो धरि लाग्यो रंग। मेरौ चित्त चंचल मन भयो अपंग।।**
**जहाँ जाईये तहँ जलब पषान। पूरि रहे हरि सब समान।।**
**संत गुरु मैं बलीहारि तोर। सकल विकल भ्रम जारै मोर।।**
**रामानन्द रमै एक ब्रह्म। गुरु एक सबद काटै कोटि क्रम्म।।**

इस प्रकार हम देखते हैं कि चौदहवीं सदी में स्वामी रामानन्द की ये रचनाएँ हिन्दी की समृद्धि का ज्ञान कराती हैं।

स्वामी रामानन्द के महत्व के सम्बंध में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का यह कथन सर्वथा उचित है– "स्वामी रामानन्द संस्कृत के पण्डित, उच्च ब्राह्मण कुलोत्पन्न और एक प्रतिभाशाली सम्प्रदाय के भावी गुरु थे। उन्होंने देशी भाषा में कविता रची और ब्राह्मण से चांडाल तक को राम-नाम का उपदेश दिया। उनके हाथ से छूकर लोहा भी सोना हो गया।"

स्वामीजी की प्रेरणा पाकर उनके शिष्यों एवं रामानन्द संप्रदाय में दीक्षित संतों ने भी लोकभाषा हिन्दी को ही अपने धर्म प्रचार एवं धार्मिक ग्रंथों की रचना की भाषा के रूप में चुना एवं हिन्दी भाषा एवं साहित्य की महान सेवा की। स्वामी जी के द्वादश शिष्यों में से कबीर एवं रविदास ने तो हिन्दी के क्षेत्र में महान योगदान किया। उनके शिष्य कबीर ने अनेक रचनाएँ कीं जो आज भी लोक में प्रचलित हैं। उन्होंने अपनी रचनाएँ -भोजपुरी में कीं जो हिन्दी को समृद्ध करने में अत्यंत उपयोगी हुईं। हिन्दी को

समृद्ध करने में कबीर का योगदान भुलाया नहीं जा सकता किन्तु उसके मूल में हमें स्वामी रामानन्द को ही रखना होगा।

स्वामी रामानन्द के दूसरे प्रमुख शिष्य रविदास हुए। उन्होंने भी हिन्दी में अनेक पदों की रचनाएँ कीं। उनकी रचनाएँ 'रैदास वाणी' में संग्रहीत हैं। वे अनपढ़ होते हुए भी अत्यंत ज्ञानी थे। उनकी रचनाओं से इसकी पुष्टि होती है–

**ऐसी लाज तुम बिन कौनु करे।**
**गरीब निवासु गुसईयां मोरे, माथे छत्र धरे।**
**जाति छोत जगत के लागै, ता पै तू ही दूरे।**
**नीचहु ऊँच करे मेरा गोबिंदु, काहु ते न डरे।**
**नामदेव कबीर त्रिलोचन, सदना सेनु तरै।**
**कह रैदास सुनहु रे संतो, हरि जितु ते सथै सरै।**

(रैदास वाणी)

रैदास ने स्वयं ही अपने गुरु रामानन्द जी के बारे में कहा है कि पूर्वजन्म के सत्कर्मों से स्वामी रामानन्द जैसे पारस मणि रूप गुरु से भेंट हुई तो मेरी मन:स्थिति उन्मनि अवस्था में पहुँच गयी।[७] इस प्रकार हम देखते हैं कि रामानन्द जी से प्रेरित होकर रैदास ने भक्ति का प्रचार लोक भाषा में किया और इस प्रकार हिन्दी भाषा एवं साहित्य में अभिवृद्धि की।

स्वामी रामानन्द जी की चौथी पीढ़ी में गोस्वामी तुलसीदास जी का प्रादुर्भाव हुआ। तुलसीदास जी के गुरु स्वामी नरहर्यानंद थे। वे रामानन्दजी के प्रधान शिष्य अनन्तानन्द के शिष्य थे। इस प्रकार गोस्वामी तुलसीदास की दीक्षा रामानन्द संप्रदाय में ही हुई थी। उन्होंने स्वामी रामानन्द के आराध्य देव सीता-राम की महिमा का गान किया और अपने जीवन को धन्य किया। कहना न होगा कि गोस्वामी तुलसीदास की अमरकृति 'श्रीरामचरितमानस' ही ऐसा महाकाव्य है जिसकी तुलना करने की शक्ति किसी भी भाषा के किसी ग्रंथ में नहीं है। उन्होंने 'श्रीरामचरितमानस' के माध्यम से अवधी भाषा में भारतीय संस्कृति को देश ही नहीं बल्कि विदेशों तक पहुँचाया।

आचार्य रामानन्द तथा उनके अनेक शिष्यों ने भूलोक में लम्बे काल तक रहकर जिस विशाल साम्राज्य को धार्मिक क्षेत्र में स्थापित किया था, उसे गोस्वामी तुलसीदास ने आगे बढ़ाने में महान योगदान दिया।

तुलसीदास जी ने बाल्यकाल से ही अपने गुरु से भगवान श्रीराम की कथा का श्रवण किया था, उसे सर्वसुलभ कराने का उन्होंने संकल्प किया–

**मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकरखेत,**
**समुझी नहिं तसि बालपन तब अति रहेउँ अचेत।**

**श्रोता वकता ग्यानिधि कथा राम कै गूढ़।**
**किमि समुझौं मैं जीव जड़ कलि मल ग्रसित विमूढ़।**
**तदपि कही गुर बारहिं बारा, समुझि परी कछु मति अनुसारा,**
**भाषाबद्ध करब मैं सोई। मोरे मन प्रबोधि जेहिं होई।।**

(रामचरित मानस)

गोस्वामी तुलसीदास ने भी अपनी रचना का माध्यम हिन्दी को ही चुना। उस समय उन्हें काशी के पण्डितों से अपमान भी सहना पड़ा किन्तु उन्होंने रामचरितमानस सहित अपने सभी ग्रंथों की रचना हिन्दी में ही की। भारत की जनता तुलसीदास से बहुत प्रभावित है। हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में उन्हें बहुत सम्मान प्राप्त है। अकेले तुलसीदास एवं उनके ग्रंथों पर ही सैकड़ों शोध हुए हैं। उन्होंने 'रामचरितमानस' के अलावा कवितावली, दोहावली, रामललानहछू आदि अनेक ग्रंथों की रचना कर हिन्दी साहित्य की सेवा की। इस संदर्भ में 'तुलसीदासजी' को सदा याद किया जाता रहेगा।

आज से लगभग साढ़े चार सौ वर्ष पूर्व मीरा का आविर्भाव हुआ था। मीरा भी अप्रत्यक्षरूप से रामानन्द सम्प्रदाय से ही सम्बन्धित थीं क्योंकि वे संत रैदास से दीक्षित थीं। बाद में वे कृष्णभक्ति में लीन हो गयीं किन्तु उनके पदों में 'राम' का नाम भी आता है। हम जानते हैं कि हिन्दी साहित्य को मीरा का कितना योदान है। मीरा के पदों में 'राम' प्रेम का पता निम्नलिखित पद से प्राप्त होता है–

**हरि बिन कूण गति मेरी।**
**तुम मेरे प्रतिपाल कहिये, मैं रावरी चारी।**
**विरहिणि पिय की बाट जौवे, राखिल्यौ नेरी।**
**दासि मीरां राम रटत है, मैं सरण हूँ तेरी।**

मीरा की रचनाओं में काव्य और संगीत का अच्छा समन्वय है। इसीलिए मीरा की कविताएँ अधिक लोकप्रिय हुई। मीरा के गीतों में भक्ति की तन्मयता, पूर्णता एवं गहराई मिलती है जो भक्तों के हृदय पर छा जाती है–

**पायोजी मैंने राम रतन धन पायो।**
**वसतु अमोलक दी मेरे सतगुरु**
**कर किरपा अपणायो।**

स्वामी रामानन्द ने भक्ति धारा को जन-जन तक पहुँचाने के लिए लोक भाषा हिन्दी को अपनाया और अपने शिष्यों को भी लोक की भाषा में ही अपने विचार जनता तक पहुँचाने का आदेश दिया। उसका पालन सभी शिष्यों ने किया। उन्होंने लोक की भाषा में हिन्दी का रूप खड़ा किया और उसमें अपनी रचनाएँ भी कीं।[८] आज से सात सौ वर्ष पूर्व हिन्दी का स्वरूप अर्धविकसित था किन्तु उसके विकास का जो कार्य हुआ

उसमें रामानन्द जी का महान योगदान है। हिन्दी के क्षेत्र में साहित्य का जो रूप सर्वप्रथम लोगों के सामने आया, वह स्वामी रामानन्द की ही देन है। इसीलिए वे हिन्दी के भक्ति साहित्य जन्मदाता माने जायेंगे और हिन्दी विश्व इसके लिए स्वामी जी का ऋणी रहेगा।

## संदर्भ


१. शुक्ल अर्जुन प्रसाद, स्वामी रामानन्दाचार्य जी, श्रीमठ स्मारिका, श्रीमठ, पंचगंगा, वाराणसी, पृ. ३६, १८८९

२. Wilson H.H>, Religion of Hindus, Vol. 1, 1862, p. 48, Religion Section Book No. 230/17/1, Benaras Hindu University Library, Varanasi.

३. Wilkince W.J., Modern Hinduism, 1887, p.; 62, Religion Section Book No. 230/16. Benaras Hindu University, Varanasi.

४. कुमारी विनीता, हिन्दी संत साहित्य के स्रोत, पृ. ११, संजय प्रकाशन, नयी दिल्ली

५. सिंह वासुदेव, श्रीमठ स्मारिका, मध्यकालीन भक्ति आंदोलन के सूत्रधार स्वामी रामानन्द, पृ. ५३, स्वामी रामानन्दाचार्य अनुसंधान संस्थान, श्रीमठ, पंचगंगा घाट, वाराणसी, वर्ष १९८९ ई.

६. नारायण कुलदीप 'झड़प', युग प्रवर्तक रामानन्दाचार्य जी, श्रीमठ (रामानन्दाचार्य पीठ), स्मारिका, १९८९, पृ. ४६, स्वामी रामानन्दाचार्य अनुसंधान संस्थान, श्रीमठ, पंचगंगा घाट, वाराणसी

७. शर्मा वेणी प्रसाद, स्वामी रामानन्द – संत रैदास, श्रीमठ स्मारिका, पृ. ११४, स्वामी रामानन्दाचार्य अनुसंधान संस्थान, श्रीमठ, पंचगंगा घाट, वाराणसी

८. योगिराज स्वामी, रामानन्द संप्रदाय में स्वामी तुलसीदास, श्री मठ स्मारिका, पृ. १२१, स्वामी रामानन्दाचार्य अनुसंधान संस्थान, श्रीमठ, पंचगंगा घाट, वाराणसी, वर्ष १८८९


●

# रामानन्दसम्प्रदाय और राम की मधुरोपासना परम्परा

देवर्षि कलानाथ शास्त्री *

जगदगुरु रामानन्द ने जब से भक्ति की धारा को राम की उपासना से जोड़ा,रामभक्ति के अनेक नये आयाम विकसित हुए, जिनमें सीता-राम युगल सरकार की उपासना भी आ जुड़ी। भक्ति साहित्य के इतिहास में संस्कृत, हिन्दी आदि भारतीय भाषाओं की सृजानात्मक धारा ने राम की मधुर भक्ति का एक नया अध्याय जोड़ा था, यह एक आश्चर्यजनक तथ्य है जो अब सुविदित हो गया है।

राम मर्यादा पुरुषोत्तम कहे जाते हैं और कृष्ण लीला परुषोत्तम। राम की भक्ति सेव्य-सेवक भाव से की जाती है, भक्त अपने को सेवक और राम को स्वामी मानता है, मर्यादा की दीवार दोनों के बीच रहती है। कृष्ण भक्ति की धाराओं में इस दूरी को भी समाप्त कर प्रेमी की-सी तन्मयता के साथ आराध्य को प्रेम का आलम्बन बनाकर प्रेमात्मक भक्ति प्रतिष्ठित हुई। इस रागानुगा कृष्ण भक्ति धारा ने प्रेमा भक्ति की जो परम्परा चलाई उसमें भक्त, प्रेमी और भगवान् प्रेम पात्र बन गये। भक्त अपने को गोपी मानकर कृष्ण की प्रिय के रूप में आराधना करने लगा। इस भक्ति तो माधुर्य-लक्षणा भक्ति कहा जाता है। जिन दिनों इस धारा की धूम मची हुई थी, स्वामी रामानन्द ने इसे रामभक्ति की भागीरथी से जोड़ दिया। इसका यह परिणाम होना ही था कि राम भक्तों को भी लगने लगा कि पूर्णपुरुष राम केवल मर्यादा भक्ति के आलम्बन बन कर रह जायें, यह क्या उचित होगा? क्या उन्हें हम मधुर भक्ति के आलम्बन, रसिक भक्ति के नायक के रूप में प्रतिष्ठित नहीं कर सकते? इस भावना के फलस्वरूप राम-भक्तों में भी एक ऐसी धारा चली जिसमें राम को कृष्ण की तरह प्रेम के आलम्बन के रूप में देखा गया, उन्हें शृंगारी मधुर नायक के रूप में चित्रित किया गया, यहाँ तक कि कृष्ण और राधा आदि सखियों की रासलीला की तरह सीता तथा उनकी सखियों के साथ राम की रास-लीला का वर्णन भी गाया गया।

## राम की मधुर भक्तिः

राम भक्ति में रसिक सम्प्रदाय का प्रारम्भ जयपुर में रामानन्दी भक्ति सम्प्रदाय के अनुयायी गलता संस्थान तथा सीकर के निकटस्थ रैवासा धाम में हुआ, ऐसा माना

---

* संस्कृत व अंग्रेजी साहित्य के विख्यात पंडित जयपुर, राजस्थान।

जाता है। इस दृष्टि से इन दो स्थानों का महत्व भारत के सांस्कृतिक इतिहास में अनूठा ही है क्योंकि यहाँ से उद्भूत रामभक्ति का रसिक सम्प्रदाय सारे भारत में पिछली सदियों में फैला था। अयोध्या में यह बहुत फला-फूला। रामानन्द के शिष्य अनन्तानन्द द्वारा दीक्षित कृष्णदास पयहारी द्वारा स्थापित रामानन्दी सम्प्रदाय की गद्दी 'गलता' पूरे भारत में प्रसिद्ध है। रामानन्दी भक्ति सम्प्रदाय के अनुसार राम भक्ति की परम्परा राजस्थान में भी पिछली छह शताब्दियों से रही है। कृष्णदास पयहारी ने तो गलता में प्रतिष्ठित नाथपंथियों और कनफटे जोगियों के वर्चस्व को समाप्त कर वैष्णव भक्ति का प्रवर्तन किया और रामानन्दी परम्परा की स्थापना की थी। अग्रदास और कील्हदासजी ने नियमित रूप से रामानन्दी सम्प्रदाय की गद्दी गलता में और रैवासा (सीकर में) स्थापित की। महन्त परम्परा का प्रवर्तन किया। अग्रदासजी ने राम-भक्ति का रसिक सम्प्रदाय शुरू किया था, यह माना जाता है। १६ वीं शताब्दी में कृष्णदास जी पयहारी के शिष्य अग्रदासजी ने अपने अनेक ग्रन्थों द्वारा राम की मधुर लीलाओं का वर्णन किया। वे राम भक्ति शाखा के भारत प्रसिद्ध ब्रजभाषा-कवि थे, राम को प्रेमा भक्ति का आलम्बन मानकर उन्होंने जिन मधुर लीलापदों की रचना की उन्होंने एक नई शाखा को ही जन्म दे दिया। उनकी 'अष्टयाम', 'पदावली', 'रामभजनमंजरी' आदि रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। पं, रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास में इनकी हितोपदेश, उपासनाबावनी, ध्यानमंजरी, रामध्यानमंजरी और कुंडलियों का उल्लेख किया है। अन्य पुस्तकों में पदावली, अग्रसागर और रहस्यमंजरी को भी उनकी रचनाएँ माना गया है। इनके गुरुभाई कील्हदास की आज्ञा से स्थापित उनकी सीकर के पास रेवासा ग्राम में गद्दी बनी हुई हैं। ये संवत् १६३२ (सन् १५७५) के आसपास गलता में थे। इन्हें राम भक्ति के रसिक सम्प्रदाय का प्रवर्तक सभी ने माना है। वे स्वयं को जानकी की सखी मानकर 'अग्र अली' नाम से शृंगार के लीला पद लिखा करते थे, ऐसी भारत के रामभक्तों में प्रसिद्धि है। इन्हीं की प्रेरणा से गलता में राम की पूजा-विधि में भी प्रेमा भक्ति के अनुरूप सेवा-परम्पराएँ चल पड़ी थीं। इन्होंने आमेर नरेश राजा मानसिंह प्रथम को किस वैष्णव भक्ति के लिए प्रेरित किया, किस प्रकार मानसिंह ने वृन्दावन में अनेक मन्दिर बनाये, काशी में राम-मन्दिर बनाये, इसका भी विवरण शोध-विद्वानों ने दिया है। काशी में मान-मन्दिर और मानघाट, पंचगंगाघाट पर सीतारामजी का मन्दिर (जिसमें स्वामी रामानन्द की स्मृति सुरक्षित है) और बिन्दुमाधव मन्दिर भी मानसिंह ने ही बनवाया था।

कृष्णदास पयहारी वैष्णव भक्ति की परम्परा के संत थे और आमेर राज्य में महाराजा पृथ्वीराज के समय गलता आये थे। महाराज पृथ्वीराज पर उन दिनों प्रचलित नाथपंथी साधुओं के चमत्कारों का प्रभाव था जबकि उनकी रानी वैष्णव थी। इस प्रकार

कृष्णदास पयहारी ने नाथपंथियों के चमत्कारों को नीचा दिखाकर वैष्णव भक्ति की महत्ता स्थापित की, इसकी अनेक किंवदंतियाँ प्रचलित हैं। जिनमें एक नाथपंथी साधु योगी चतुरनाथ को गधा बना देने आदि की कथाएँ जुड़ी हुई हैं। हमें तो इनमें यही सार लगता है कि कृष्णदास पयहारी ने या तो रूपनाथ आदि नाथपंथी साधुओं के चमत्कारों का जबाब चमत्कारों से देकर या अपने ज्ञान से नतमस्तक कर राजा और जनता का ध्यान गम्भीर तथा पवित्र वैष्णव भक्ति की ओर मोड़ा और गलता में यह परम्परा प्रारम्भ की। उसके बाद तो वहाँ संतों की लम्बी शृंखला चल पड़ी जिनमें अग्रदासजी, कील्हदासजी, प्रियादासजी आदि अनेक संत हुए। भक्तमाल के प्रसिद्ध रचनाकार नाभादासजी अग्रदासजी के शिष्य थे जो हिन्दी साहित्य के इतिहास में भी प्रसिद्ध हैं। लगता है अग्रदासजी ने राम की मधुर उपासना की जो परम्परा चलाई उसमें नाभादासजी पूर्णत: दीक्षित हो गये थे। उनका अष्टयाम हिन्दी में बहुत प्रसिद्ध है जिसकी चर्चा सभी इतिहासों में आती हैं। इसमें राम और सीता की छवि के वर्णन के साथ-साथ अंत:पुर वर्णन, सखियों की सेवा, नृत्य-संगीत और शयन की झाँकी राम को सरस नायक के रूप में स्थापित करती है। मूल रामानुजी श्रीवैष्णव संप्रदाय में विष्णु, विष्वक्सेन आदि नामों से विष्णु की पूजा प्रमुख है, युगल पूजा नहीं हैं। रामानन्दी परम्परा ने उसी धारा में रामभक्ति को जोड़ा था और राम-सीता की उपासना को प्रमुखता दे दी थी।

रसिक सम्प्रदाय की यह परम्परा गलता और रैवासा से शुरू होकर अयोध्या, काशी जैसे नगरों में फैली और इस सम्प्रदाय की अनेक शाखाएँ भी हो गईं जो आज तक चली आ रही हैं। इन शाखाओं ने मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश के जिन प्रान्तों में लोगों को प्रभावित किया, वहाँ इनके केन्द्र भी स्थापित हो गये।

रामभक्ति की इस रसिक शाखा-परम्परा ने राम को रसिक नायक के रूप में कौन-कौन सी लीलाओं के साथ जोड़ा है इसका अध्ययन भी अपने आप में बहुत महत्त्वपूर्ण है। कृष्ण भक्ति की परम्परा जब देश में बहुत लोकप्रिय हो गई तो स्वभावत: राम भक्तों को यह प्रेरणा हुई कि कृष्ण के साथ जो-जो लीलाएँ जुड़ी हैं और जिनके कारण वे मधुर नायक तथा प्रेमा भक्ति के आलंबन बन गये उन्हें राम के साथ भी जोड़ा जाए। संभव है इसी कारण कुछ पौराणिक ग्रन्थों की रचना परवर्ती काल में, आख्यान हो जिसमें राम को कणों के समीप जिस लीला बिहारी चित्रित किया गया हैं। शुक संहिता की ऐसा ही पौराणिक आख्यान है जिसमें राम और सीता निर्मुल में बिहार करते हैं। और सीता निकुंज में विहार करती हैं और उसी प्रकार की झाकियाँ उनकी होती हैं जैसी राधा-कृष्ण की। वहीं उनका यह संवाद भी बताया गया है कि राम-सीता से कहते हैं कि तुम्हारी ही अंश है वृंदावनेश्वरी राधा और मेरे अंश है कृष्ण। राम-सीता के अपने

दिव्य वृंदावन का अवलोकन कराते हैं जहाँ नित्य यमुना और नित्य गोवर्धन हैं। इसी के साथ ऐसी घटनाएँ भी वर्णित हैं कि राधा और कृष्ण दोनों स्वरूप सीता और राम में समा जाते हैं। केवल युगल सरकार रह जाते हैं। फिर चित्रकूट में रास-विलास भी होता है। भक्तों की यह भावना है कि एक रहस्यात्मक दिव्य चित्रकूट है जहाँ राम-सीता का नित्य लीलाविहार होता रहता है। सारे ऋषि-मुनि जो रामायण काल में वर्णित हैं सखीभाव को प्राप्त हो जाते हैं। साकेत का अंश ही गोलोक बताया जाता है। सरयू, यमुना बन जाती है। कल्पवृक्ष, बंशीवट बन जाता है। दशरथ, नंद हो जाते हैं और कौशल्या, यशोदा हो जाती हैं। स्पष्ट है कि यह सब कृष्ण की माधुर्यलीला का राम के चरित्र में आरोपण है। ऐसे अनेक ग्रन्थ रामानन्दी सम्प्रदाय की प्रेरणा से लिखे गये होंगे जिनमें राम को मधुर नायक उसी प्रकार बताया गया है जिस प्रकार कृष्णभक्तों ने कृष्ण को बताया था। यद्यपि इन सबमें यह संकेत किया गया है कि पहले राम ने ऐसी मधुर लीलाएँ की थीं कृष्ण बाद में हुए किन्तु लगता यह है कि ये कृष्ण की मधुर भक्ति की प्रेरणा से राम भक्तों द्वारा उद्भावित ललित भावनाएँ ही हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि इन पौराणिक रचनाओं में से कौन-कौन सी गलता, कौन-सी रैवासा में रची गई और कौनसी रैवासा या गलता की प्रेरणा से अन्य नगरों में, किन्तु यह अवश्य माना जा सकता है कि अकबर काल से भी पूर्व राम की मधुरोपासना प्रारम्भ हो गई थी।

## राम की रासलीला

इस प्रकार गलता और रैवासा की रामानन्दी गद्दी द्वारा प्रवर्तित राम की मधुर भक्ति या राम भक्ति शाखा के रसिक सम्प्रदाय की प्रमुख देन है राम की रासलीला की अवधारणा का प्रवर्तन। कृष्ण की रासलीला तो प्रसिद्ध थी ही, राम की रासलीला का वर्णन करने की परम्परा भी कुछ पौरणिक ग्रन्थों में वर्णित राम की रासलीला के आधार पर इस शाखा की प्रेरणा से खूब पनपी। अपने आराध्य राम को मधुर भक्ति का आलम्बन बनाने के इच्छुक सवाई जयसिंह का भी योगदान इस दिशा में उल्लेखनीय है। इस सन्दर्भ में एक प्रसंग श्रुति परम्परा से अब तक चला आता है जिसका विवरण ग्रन्थों में भी मिलता है। कहते हैं सवाई जयसिंह ने एक बार अपने राजकवि श्रीकृष्ण भट्ट से पूछा कि जिस प्रकार कृष्ण की मधुर लीलाओं का वर्णन जयदेव के 'गीतगोविन्द' में मिलता है क्या उसी प्रकार राम की रासलीलाओं का वर्णन कहीं नहीं मिलता? श्रीकृष्ण भट्ट कवि-कलानिधि ने सहज में ही कह दिया "मुझे याद पड़ता है कि राम की रासलीला के वर्णन पर भी एक संस्कृत काव्य कहीं लिखा मिलता है।" इस पर राजा ने उन्हें उस काव्य को कहीं से भी खोज लाने को कहा। कविजी के खोजने पर भी ऐसा काव्य नहीं मिला तो राजा ने एक समयावधि नियत कर दी जिसके

पूर्व ऐसा काव्य उन्हें खोज लाना था। जब प्रयत्न करने पर भी ऐसा गीतिकाव्य उन्हें नहीं मिला तो दो-चार माह में उन्होंने स्वयं एक गीतिकाव्य की रचना कर डाली, जिसमें राम के सीता तथा उसकी सखियों के साथ सरयू तट पर विहार, रासलीला आदि का वर्णन जयदेव की ललितपदावली और मधुर शैली में निबद्ध किया। "राघवगीतम्" शीर्षक इस काव्य को देखते ही सवाई जयसिंह पहचान गये कि यह तो श्रीकृष्ण भट्ट की ही लेखनी है। इस पर अप्रसन्न होने के बजाय सवाई जयसिंह काव्य की उत्कृष्टता से बहुत प्रभावित हुये। प्रसन्न होकर राजा ने उन्हें "राम-रासाचार्य' की उपाधि दी, इसका उल्लेख जयपुर राज्य के प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। राजा ने अपने राजकवि संस्कृत, बृजभाषा, प्राकृत अपभ्रंश आदि के अप्रतिम विद्वान् और सरस कवि श्रीकृष्ण भट्ट को विपुल जागीर भी दी।

"राघवगीतम्" कुछ समय पूर्व तक अप्रकाशित था किन्तु यह रचना अर्वाचीन संस्कृत काव्य प्रेमियों में बहुचर्चित थी। इसकी पाण्डुलिपियाँ भारत के एक-दो प्राचीन संग्रहालयों में ही मिलती थीं। संस्कृत में राम की रासलीला का वर्णन सर्वप्रथम इसी ग्रन्थ में मिलता हो, ऐसी बात नहीं है। गीतिकाव्य के रूप में तो यह प्रथम रचना है किन्तु कुछ पुराणों में, जिनमें "हनुमत्संहिता" का नाम लिया जा सकता है, राम की रासलीला, सरयू तट पर सीता के साथ विहार आदि का वर्णन मिलता है। लगता है श्रीकृष्ण कवि कलानिधि ने इसी के आधार पर यह गीतकाव्य लिखा होगा। कुछ समय पूर्व इसे डॉ. गोविन्दराम चरौरा ने संपादित कर "रामगीतम्" नाम से १९९२ में प्रकाशित किया है।

वैसे राम भक्ति के रसिक सम्प्रदाय ने अपनी भक्ति परम्परा का आधार बताने हेतु ऐसी अनेक पौराणिक रचनाओं का सन्दर्भ दिया है जिनमें राम को मधुर नायक चित्रित किया गया है। इनमें से कुछ तो उपनिषद् नाम से उल्लिखित हैं- जैसे श्रीरामतापनीयोपनिषद्, विश्वंभरोपनिषद्, सीतोपनिषद्, मैथिलीमहोपनिषद् रामरहस्योपनिषद् आदि और कुछ संहिता नाम से जैसे शुकसंहिता, लोमशसंहिता, बृहद्ब्रह्मसंहिता, वाल्मीकिसंहिता, अगस्त्यसंहिता, महाशंभु संहिता आदि। स्पष्टतः हैं तो ये परवर्ती रचनाएँ किन्तु कब किसने बनाईं यह नहीं कहा जा सकता। इनमें राम की मधुर झाँकी, रसिक भक्ति के अनुरूप युगल सरकार की छवि आदि विस्तार से वर्णित मिलती है।

सवाई जयसिंह के राज्य काल के बाद तो गलता की रामानन्दी भक्ति परम्परा में राम की प्रेमा भक्ति के अनेक आयाम विकसित हुए। वहाँ राम को भी गौचारण करने वाले तथा मोरपंख धारण करके वन विहार करने वाले प्रिय सखा के रूप में चित्रित किया गया। १९वीं सदी में मेरे पूर्वज महाकवि द्वारकानाथ भट्ट ने गलता का वर्णन

करने हेतु लिखे अपने संस्कृत काव्य "गालवगीतम्' में लिखा है कि गलता में मोरपंखधारी, गोपवेश वाले राम की तथा धनुषबाणधारी कृष्ण की पूजा होती थी। लगता है कृष्ण भक्ति और रामभक्ति की धाराओं में समन्वय के प्रयत्न के रूप में राम को मोरपंखधारी और कृष्ण को धनुषधारी के रूप में पूजने का ऐसा उपक्रम यहाँ किया गया होगा। यहाँ रामगोपाल की मूर्ति में राम और कृष्ण का यह समन्वय एक जगह स्पष्ट हो जाता है। कुछ वर्षों पहले तक गलता की इस परम्परा के मोरपंखवाले तथा घुंघरुओं वाली कावड़ को कन्धे पर रखकर हनुमान के वेष में घर-घर घूमने वाले लाल वस्त्र धारण किये हुए 'कावड़ वाले साधु' जयपुर में दिखाई दे जाते थे, जो राम और कृष्ण के समन्वय के प्रतीक थे। गलता में राम भक्तों का जो रसिक संप्रदाय पनपा उसकी प्रेरणा से देश के विभिन्न भागों में राम की मधुर भक्ति लोकप्रिय होती गई।

इस दृष्टि से गलता में जो प्राचीन रामानन्दी सम्प्रदाय की गद्दी है तथा अग्रदासजी ने रैवासा में जो गद्दी स्थापित की है उसका ऐतिहासिक महत्व राम भक्ति के इतिहास में बहुत उल्लेखनीय हो गया है। जयपुर की संस्कृति पर तो उसका प्रभाव गहरा है ही, देश के अन्य भागों में इसका जो प्रभाव पड़ा उसका आकलन भी अब तक नहीं हुआ है।

राम भक्ति की इस मधुर शाखा ने देश के विभिन्न भागों में विभिन्न प्रकार की परम्पराओं को पैदा किया। गलता पीठ के आचार्यों ने भी इस परम्परा के अनेक काव्य, आख्यान, स्तोत्र आदि लिखे थे जिनमें मधुराचार्य और हर्याचार्य विशेष उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने 'जानकीगीतम्' लिखा और सनत्कुमार संहिता और रामस्तवराज पर विस्तृत भाष्य भी लिखा। राम के इस प्रेमपंथ पर लिखी गई रचनाओं का भण्डार भी बड़ा विस्तृत है किन्तु उसका विवरण बहुत समय ले लेगा। अन्त में संक्षेप में यह संकेत कर देना ही पर्याप्त होगा कि राजस्थान के बाहर इस मधुर भक्ति ने क्या-क्या प्रभाव डाला।

## रामक्ति की रसिक शाखाएँ

रामचरितमानस के प्रसिद्ध टीकाकार भक्त रामचरणदास ने जो १९वीं सदी में अयोध्या में बहुत लोकप्रिय थे, इसी सम्प्रदाय की एक अन्य शाखा का प्रवर्तन किया जिसे स्वसुखी शाखा कहा जाता है। इस शाखा के भक्त मानते थे कि राम ने लीला अवतार लेकर सीता एवं उनकी सखियों के साथ ९९ रासलीलाएँ की थीं। एक रासलीला जो बाकी रह गई थी उसे पूरा करने के लिए उन्हें कृष्ण अवतार लेना पड़ा। इस प्रकार इस शाखा ने तो राम को ही रासलीला का प्रवर्तक मान लिया। इस शाखा के भक्त पति-पत्नी भाव से सोलह श्रृंगार कर स्त्री वेश में राम की उपासना करते थे और सीता को सपत्नी मानते थे। श्रृंगारी भावना की यह परम्परा मध्यप्रदेश व उत्तर

प्रदेश में बहुत पनपी। इस सम्प्रदाय के आचार्य ललाट पर रामानुजी या रामानन्दी तिलक के नीचे एक बिन्दी और लगाते थे। रींवानरेश विश्वनाथसिंहजी भी इस शाखा से प्रभावित थे। इसी परम्परा में एक नया मोड़ तब आया जब जीवारामजी ने राम भक्ति में 'सखी सम्प्रदाय' चलाया। इसे तत्सुखी शाखा कहा जाता है। इसमें कृष्ण भक्ति के सखी सम्प्रदाय की तरह राम की भी सखी के रूप में भक्ति की जाती है। इस शाखा के प्रसिद्ध भक्त श्रीयुगलानन्यशरण (१९वीं सदी) थे जिनकी प्रेरणा से राम की मधुर लीलाओं का गान तथा उनकी रासलीलाओं का अभिनय होता था। रींवानरेश रघुराजसिंह जी सुप्रसिद्ध साहित्यकार थे, इस शाखा से बहुत प्रभावित थे। उन्होंने इस शाखा के पदों के गान, नृत्य और अभिनय के लिए चित्रकूट में 'प्रमोदवन' आदि अनेक स्थानों का निर्माण भी कराया था।

मधुर भक्ति की इस भागीरथी में राम भक्तों का यह योगदान भक्ति के इतिहास की एक उल्लेखनीय शाखा है। जयपुर की गलता गद्दी इस धारा की प्रमुख केन्द्र रही है।बाद में ज्यों-ज्यों कृष्ण भक्ति की माधुर्यपरक शाखाओं के सम्प्रदाय रीतिकालीन ब्रजभाषा काव्यों, रासलीलाओं आदि माध्यमों के कारण लोकप्रिय होते गये राम की मर्यादा भक्ति ही प्रमुख रह गई, प्रेमा भक्ति के प्रमुख आलम्बन कृष्ण ही बने रहे, यह बात अलग है किन्तु मधुर भक्ति के आलम्बन के रूप में श्रीराम को भी अनेक सदियों ने देखा है जिसके साक्षी के रूप में आज भी विपुल साहित्य संस्कृत और हिन्दी में उपलब्ध हैं।

राम भक्ति की यह रसिक शाखा राजस्थान के अनेक मठों में अपना प्रभाव फैला चुकी है। इसी का प्रभाव है कि राम-सीता की जोड़ी मंदिर में जहाँ स्थापित है वहाँ युगल सरकार की सेवा मधुर लीला पद गाकर, उत्कृष्ट नैवेद्य समर्पण कर माधुर्यलक्षणा भक्ति की परंपराओं के अनुसार पूजा, भोग आदि की व्यवस्थाएँ चलाकर की जाती है। अष्टयाम सेवा माधुर्यलक्षणा भक्ति का प्रमुख लक्षण है। यह न केवल वल्लभ, चैतन्य आदि प्रेमलक्षणा भक्ति के संप्रदायों में प्रचलित है बल्कि जहाँ भी माधुर्यपरक भक्ति का प्रभाव है वहाँ उस प्रकार की झाँकियों के विधान, कीर्तन के समयानुसार पद और राग नियत हैं और उन्हीं का अनुसरण किया जाता है।

स्वामी अग्रदासजी ने अष्टयाम, अग्रसागर आदि अनेक ग्रन्थों द्वारा इस प्रकार की परंपरा स्थापित करने का कार्य किया था। यह उस इतिहास के आकलन से स्पष्ट हो जाएगा। इस रसिक शाखा के अनुसार कथा-प्रवचन, भजन-गायन करने की भी एक सुदीर्घ परंपरा है जो न केवल राजस्थान में प्रचलित हैं, अपितु रीवाँनरेश आदि की रुचि के कारण मध्यप्रदेश, विन्ध्यप्रदेश, मध्य भारत आदि में भी प्रचलित है और अयोध्या में जहाँ-जहाँ सीताराम मन्दिर हैं वहाँ भी फैल गई है। कनक भवन में जो अयोध्या में

सुप्रतिष्ठित और भारत में सुविदित है और जहाँ ओरछा नरेशों का सदैव से मन्दिर प्रबंध रहता आया है, अग्रदासजी के मधुर लीलापद गाये जाते हैं। वहाँ मधुर भजनों का यह साहित्य न होता तो रसिक संप्रदायानुसार सुमधुर अष्टयाम सेवा कैसे संभव होती?

इस विवरण से यह स्पष्ट हो जाएगा कि रामाश्रयी सगुण भक्ति धारा में युगल सरकार की मधुर उपासना का एक सुदीर्घ एवं प्रोज्वल इतिहास है जिसने हिन्दी साहित्य को भी समृद्ध किया है और संस्कृत साहित्य को भी। इसकी प्रेरणा स्वामी रामानन्द ने दी और उसके बाद अेक अवधारणाएँ बद्धमूल हुईं जैसे कि इस संप्रदाय द्वारा सीता को प्रथम गुरु माना जाना, राम और सीता को सर्वात्मना उपास्य देवता मानकर दोनों को एक ही तत्त्व के दो पक्ष मानना आदि। राम और सीता को जब एक साथ उपास्य मान लिया जाता है तो प्रेमलक्षणा भक्ति उन्हें युगल सरकार कहकर प्रेमाधारित भक्ति का आलम्बन क्यों नहीं मानेगी?

इस भावना को ही आधार बनाकर रामानन्द संप्रदाय के अत्यन्त वरिष्ठ, आदरणीय एवं इतिहास प्रसिद्ध सन्त, साहित्यकार एवं नाभादास (भक्तमाल के रचयिता) के गुरु स्वामी अग्रदासजी ने एक ऐसी परंपरा को जन्म दिया जिसने साहित्य को भी समृद्ध किया और राजस्थान से लेकर उत्तर प्रदेश (अयोध्या आदि) तक राम भक्ति के माधुर्य की सरस धारा से रामभक्तों को आप्यायित कर दिया। इस इतिहास का समूचा आकलन आज भी हो रहा है तथा शोध की अनेक नई दिखाएँ खोल रहा है।

●

# श्रीरामानन्दसंप्रदाय : समरसता का आलोक

प्रो. देवव्रत चौबे *

समरस जीवन की जितनी गहरी नींव भारतीय धर्म ने डाली उतनी किसी अन्य धर्म ने नहीं। गीता का कथन है कि "जो पुरुष लोगों को उद्विग्न करने वाला कोई भी कर्म नहीं करता तथा जो लोगों के द्वारा उद्वेगयुक्त नहीं किया जाता, जिसके उद्देश्य से दूसरे लोग भी कोई उद्वेगकारक कर्म नहीं करते, क्योंकि सभी उसको अविरोधी समझते हैं, ऐसा पुरुष मुझे प्रिय है।"[१] यद्यपि यह भगवान् के लिए अपने प्रिय भक्त की कसौटी है, परन्तु मुझे ऐसा लगता है कि यह समरसता की ही कसौटी है। यह समरसता जीवन का सार है, सर्वस्व है। समरसता का मंत्र ऋग्वेद में भी मिलता है– 'तुम्हारी भावना समान हो, तुम्हारे हृदय समान हों, तुम्हारे चित्त समान हों।'[२] ऋग्वेद के आठवें मण्डल में 'विश्वमानुष:' शब्द आया है जिसका अर्थ है– हम विश्व के प्रतिनिधि हैं। इसका अभिप्राय यह है कि हमारी अनुभूति ऐसी होनी चाहिए कि पृथ्वी पर जो-जो मानव हैं वे मेरे ही रूप हैं, मैं उनका रूप हूँ।

प्रश्न यहाँ उठता है कि समरस समाज कैसे बनेगा? भारत के कुछ विचारकों का कहना है कि इसके लिए सार्वभौम धर्म की स्थापना करनी होगी। बिना सार्वभौम धर्म के सामाजिक समरसता संभव नहीं है। यहाँ यह भी विचारणीय है कि विभिन्न धर्मों से पृथक् क्या सार्वभौम धर्म संभव है? यदि यह संभव है तो इसका स्वरूप क्या होगा? सार्वभौम धर्म की संभावना को स्वीकार करने वाले चिंतकों का कहना है कि सभी प्रचलित धर्मों के कुछ सामान्य मूलतत्त्वों के आधार पर इसकी स्थापना संभव है। किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से इसमें कई कठिनाइयाँ हैं। सभी धर्मों में समान रूप से स्वीकृत विचार और मान्यताओं का निर्धारण करना सहज कार्य नहीं। सभी धर्मों के अनुयायी अपने-अपने समस्त सिद्धान्तों एवं विश्वासों को अनिवार्य मानते हैं। अत: ऐसी स्थिति में यह निर्णय करना कठिन है कि कौन से तत्त्व धर्म के आवश्यक मूल तत्त्व हैं।

कुछ धर्म-दार्शनिकों का यह कहना है कि संसार में प्रचलित धर्मों में से किसी एक धर्म को सार्वभौम धर्म के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से यह भी संभव नहीं है क्योंकि किसी भी धर्म का अनुयायी अपने धर्म का परित्याग करके किसी अन्य धर्म को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं होगा। प्रत्येक धर्म के विचारक दृढ़तापूर्वक यही कहते हैं कि केवल मेरे धर्म में ही सार्वभौम धर्म होने

---

* प्रो. दर्शन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

की क्षमता विद्यमान है। फरे, डब्ल्यू. ई. हाकिंग, फ्रेडिक हिलर एवं जार्ज गैलोवे आदि यही मानते हैं कि केवल ईसाई धर्म ही सार्वभौम धर्म हो सकता है। हिन्दू धर्म के अनेक विचारक अपने ही धर्म को सार्वभौम धर्म की श्रेणी में रखना चाहते हैं। डॉ. राधाकृष्णन् की दृष्टि में अद्वैत वेदान्त ही सार्वभौम धर्म होने की योग्यता रखता है क्योंकि वही निरपेक्ष रूप से सत्य है अन्य सभी धर्म सापेक्ष रूप से ही सत्य हैं।[३] इसी तरह के विचार अन्य धर्म के विचारक भी प्रस्तुत करते हैं। वास्तव में विश्व में प्रचलित वर्तमान धर्मों में से कोई भी धर्म व्यावहारिक दृष्टि से सार्वभौम धर्म नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति सार्वभौम धर्म की स्थापना के स्थान पर विभिन्न धर्मों में आपस में संघर्ष ही उत्पन्न करेगी।

कुछ विचारकों का यह मत है कि विभिन्न धर्म मानने वालों को धर्म-परिवर्तन कराकर किसी एक धर्म के लिए प्रेरित कर सार्वभौम धर्म की स्थापना की जा सकती है। लेकिन यह विचार भी तार्किक दृष्टि से समीचीन नहीं लगता।

सार्वभौम धर्म निर्माण करने का प्रयास भारत में बहुत पहले से ही चला आ रहा है। इस्लाम एवं हिन्दू धर्म के पारस्परिक संघर्ष को समाप्त करने के लिए अकबर ने 'दीन-ए-इलाही' नाम के धर्म की स्थापना की थी। परन्तु इस नए सार्वभौम धर्म को मुसलमानों एवं हिन्दुओं दोनों ने अस्वीकार कर दिया। अतः यहाँ यही कहना तर्कसंगत लगता है कि सार्वभौम धर्म की कोई संभावना न होने के कारण सामाजिक समरसता असंभव है।

अब विचारणीय बिन्दु यह है कि सार्वभौम धर्म के अतिरिक्त क्या किसी अन्य विधि या चिन्तन के द्वारा समरसता लायी जा सकती है? इसके उत्तर में यह बताना आवश्यक जान पड़ता है कि राजनीति के किसी भी विधि द्वारा यह संभव नहीं है। इसके लिए हमें किसी और चिन्तन की खोज करनी होगी। वह खोज हमें स्वामी रामानन्द एवं उनके सम्प्रदाय की ओर जाने के लिए विवश करती है क्योंकि उसी चिंतन में हमें समरसता की संभावना दिखती हैं।

सामाजिक समरसता भारत के निरक्षर संत साधकों के दर्शन को जीवन में उतारकर लायी जा सकती है। वे संत निरक्षर थे लेकिन तत्वज्ञान से परिपूर्ण थे। उन संतों के गुरु स्वामी रामानन्द[४] ने जाति पाँति विहीन सामाजिक सूत्र की साहसपूर्ण घोषणा करके समाज को एकसूत्र में बाँधने का काम किया। उन्होंने केवल संस्कृत को ही नहीं अपितु लोकभाषा को भी साधना का माध्यम बनाया। उनके सूत्र ने वेदान्त की वर्णव्यवस्थावादी धारा में सेंध लगा दी। वे विशिष्टाद्वैतवादी भी थे। लेकिन रामानुज की अपेक्षा वे अधिक उदारवादी थे। आचार्य रामानुज ने भक्ति के क्षेत्र में ही केवल वर्णभेद की शृंखला ढीली की, अन्य क्षेत्र में नहीं। किन्तु स्वामी रामानन्द ने अस्पृश्यता, खान-पान में छुआछूत तथा इसी प्रकार की अन्य सामाजिक विकृतियों पर भी प्रहार किया

और समानता के संदेश को लोकभाषा के माध्यम से जन-जन तक पहुँचाया। उनकी शिष्य परम्परा में कबीर के साथ तुलसी भी थे। इसके अतिरिक्त निम्न जातियों के तमाम संत जैसे चमार रैदास, दर्जी नामदेव, नाई सेन आदि भी थे। मुसलमान भी थे। भक्ति आन्दोलन में इन निम्न जाति के संतों का विशेष योगदान था। ये संत साधना के किसी एक धारा में अपने को बाँधकर नहीं रखे थे। लेकिन इनके चिन्तन के केन्द्र में लोकमंगल की भावना थी।

स्वामी रामानन्द के अनुसार बिना मानसिक साम्य प्राप्त किए सामाजिक समरसता संभव नहीं है। मानसिक साम्य नाम-स्मरण, भजन एवं सत्संगति से ही संभव है।[५] जो भजन करता है वह हरिजन है। भक्त की दृष्टि सर्वत्र सम देखने की होती है। आचार्य रामानन्द का कहना है कि किसी मानव को छोटा, नीच एवं अछूत बनाना परमात्मा के प्रति अन्याय है। मानवीय एकता मानना ही संस्कृति है। डॉ. गोविन्द चन्द्र पांडे का कहना है कि "भारतीय संस्कृति की मूल सामाजिक परम्परा आश्रमों, वर्णों और जातियों का ऐतिहासिक विस्तार नहीं है। वह मूल परम्परा निर्मल बुद्धि के द्वारा कर्म करते हुए आध्यात्मिक ज्ञान को प्राप्त करने की थी।"[६] इसी परम्परा के वाहक स्वामी रामानन्द एवं उनके संप्रदाय के संत थे। वे नाम-स्मरण और कर्म दोनों में समन्वय करके आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति में लगे रहते थे। कबीर भजन और बुनकरी दोनों करते थे; रैदास भजन और मोची का काम दोनों करते थे, सेन भी भजन और नाई का काम दोनों करते थे। सबके सब राम-भक्त थे। सबका मानना था कि रामभक्ति के द्वारा सहज ही में चारों पुरुषार्थों को प्राप्त किया जा सकता है। रामभक्ति लोक कल्याण तथा सामाजिक समरसता का अमोघ अस्त्र है। यहाँ पर डॉ. पांडे का यह उद्धरण विशेष रूप से उल्लेखनीय है– "अतीत से जो उत्तराधिकार हमें मिला है वह सोचने की एक विधि है, न कि एक नियम-संहिता। "श्रद्धामयोयम् पुरुषः यो यच्छ्रद्धः स एव सः"। यह सोचने की पद्धति या श्रद्धा बाहर से बताया हुआ कोई सूत्र नहीं है। वह एक शाश्वत संकेत है कि हमारे अन्दर ही विवेक शक्ति है। वही परम्परा वर्णित अर्थों का मर्म सजीव रूप में हमारे लिए प्रकट कर सकती है।[७]

भारतीय संतों एवं मनीषियों की यह स्पष्ट सोच है कि चित्त की मलिनता के कारण ही समाज में विषमता पैदा होती है। उसी चित्त के द्वारा समाज में समरसता पैदा की जा सकती है जिस चित्त में विकार का स्पर्श नहीं, संकुचित भाव नहीं। यह पहले ही बताया जा चुका है कि नाम-स्मरण, भजन एवं सत्संगति से ही चित्त को विकार रहित किया जा सकता है। महर्षि पतञ्जलि ने चित्त विकार दूर करने के लिए हमें कई साधन बताए हैं।[८] वे साधन कई संतों को मान्य हैं। आधुनिक संत आचार्य विनोबा कहते हैं कि– 'चित्त का साम्य परम साम्य है। आर्थिक, सामाजिक साम्य से मानसिक साम्य निःसंशय श्रेष्ठ है।"[९] मानसिक साम्य को आचार्य विनोबा साम्ययोग के नाम से

अभिहित करते हैं। वे सारे समाज को साम्ययोग की समाधि में ले जाना चाहते हैं। वे साम्ययोग की नींव पर समरस समाज बनाना चाहते हैं।

स्वामी रामानन्द जी कहते हैं कि राम-भक्ति ही सामाजिक समाधि है। इसका लक्ष्य समूह में समरसता लाना है। इसमें सब पंथों का विसर्जन हो जाता है। रामभक्त सबका हित देखता है इसलिए वह स्वयं 'सब' बन जाता है। भक्ति केवल समाधि के अनुभव की वस्तु नहीं है बल्कि सारे समाज में अनुभव करने की वस्तु है। भक्ति में होने वाले एकत्व का अनुभव सबको होना चाहिए। भावभरी भक्ति का अर्थ है समत्वयुक्त चित्त। कोरे ज्ञान से समाज में समरसता नहीं आ सकती। इसलिए संतों का दर्शन भक्ति प्रधान होने के कारण जीव मात्र के प्रति करुणा की दृष्टि देता है। वे संत कहते हैं कि भक्तिमूलक कथनी और करनी से ही चित्त में समता आती है। समत्वयुक्त चित्त के परिणामस्वरूप भक्त का सामाजिक जीवन मधुर एवं संघर्ष रहित हो जाता है।

तुलसीदास कहते हैं कि अनन्योपासना के बिना भगवान् अनुकूल नहीं होते। वे अनन्य को इन रूपों में परिभाषित करते हैं–

**सो अनंत जाके असि मति न टरइ हनुमंत।**
**मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत।।**

जो चर-अचर समस्त जगत् को भगवान् समझ लेना उसे इस संसार से पराङ्मुख होने में कोई कठिनाई नहीं होगी। "क्योंकि पराङ्मुख होने के बदले वह तो उसी ओर उन्मुख हो गया। अंतर इतना ही हुआ कि उसके प्रति जो ममता थी, अपनत्व था वह राम के प्रति हो गया।"[१०] सारे जगत् को सीयराममय मान लेने से भेददृष्टि नहीं रह जाती। समदृष्टि आ जाती है। इसलिए भक्त का प्रेम केवल विश्व के प्राणियों के साथ ही नहीं अपितु पेड़-पौधे आदि सबके प्रति हो जाता है। भक्तलोक सेवा में लग जाता है। इसके लिए लोकसेवा भगवान् की ही सेवा है।

रामानन्द सम्प्रदाय के कुछ संत अद्वैतवादी विचारधारा के थे इसलिए वे अपने को परमात्मतत्व की एकमात्र सत्ता के साथ अभिन्न मानते थे। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार– "उनकी समग्र साधनाओं का लक्ष्य इसी कारण, केवल उस मनोदशा को उपलब्ध कर लेना मात्र था जिसके निरन्तर एक समान बने रहने के फलस्वरूप उन्हें सदा अपनी उस एकता की अनुभूति होती रहे और उस तत्व के साथ तदाकारता ग्रहण करने की स्थिति में ही रहकर वे अपना जीवन भी व्यतीत कर सके। इसके लिए उन्हें सबसे उपयुक्त साधना 'सुरति शब्द योग' की जान पड़ती थी, किन्तु अपने उद्देश्य की पूर्ति में यत्किंचित् सहायता करने वाली किसी भी अन्य साधना को वे कभी हेय नहीं समझते थे।"[११] स्वामी रामानन्द जी स्वयं कहते हैं कि भगवान् राम के भक्त अन्य देवी-देवताओं से भी श्रद्धा रख सकते हैं।[१२]

संत रैदास मानव जीवन को एक हीरे की तरह मानते हैं।[१३] इसलिए विभिन्न

सामाजिक गुणों को जीवन में ग्रहण करने का उपदेश देते हैं। भौतिक सुखों के पीछे भागने को वे हेय दृष्टि से देखते हैं। यद्यपि वे अद्वैतवादी हैं फिर भी संसार को कर्मक्षेत्र मानते हैं। भक्ति को वे सामाजिक समरसता की कुंजी मानते हैं। उन्होंने कई स्थलों पर यह उल्लेख किया है कि भक्ति के माध्यम से मैं नीच जाति का होते हुए भी पूज्य बन गया हूँ।[१४] इस प्रकार हम देखते हैं कि रामानन्द संप्रदाय के सभी संतों का लक्ष्य आध्यात्मिक जीवन जीने का था। उनके लिए जगत् की सभी वस्तुएँ राममय थीं। उनकी यह स्वीकृति साम्यभाव को प्रतिष्ठित करती है।

आज हम वैश्वीकरण की ओर बढ़ रहे हैं। तकनीकी विज्ञान, भौतिक विज्ञान, संचार माध्यमों आदि ने हमें तेजी से उसकी ओर ढकेल दिया है। सायबर स्पेस तथा दूर संचार माध्यमों की क्रान्ति ने सारी दुनिया को एक गाँव के रूप में ला खड़ा किया है। धरती की दूरी को कम कर दिया है। परन्तु हृदय-हृदय की दूरी बढ़ती जा रही है। विषमता की खाई चौड़ी होती जा रही है। इस खाई को स्वामी रामानन्द एवं उनके संप्रदाय द्वारा प्रतिष्ठित साम्यभाव के द्वारा ही पाटा जा सकता है। क्योंकि महत्तर चेतना वाले संतों की दृष्टि में संपूर्ण जगत् ही एक परिवार है। इसलिए साम्यभाव का सम्बन्ध किसी विशेष धर्म से नहीं है। यह सब धर्मों का साथी है। यह निर्मल चित्त की एक अवस्था है जहाँ भेद दृष्टि नहीं है, अभेद दृष्टि है। विश्व और विश्व के समस्त प्राणी भगवान् के हैं। जिसकी दृष्टि में सर्वत्र भगवान् भरे पड़े हैं वहाँ विषमता कहाँ? वहाँ तो सभी अपने ही हैं।

यहाँ पर यह भी संकेत करना आवश्यक जान पड़ता है कि साम्यभाव एवं साम्यवाद दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं। साम्यवाद का आधार अर्थ है। साम्यवादियों का कहना है कि आर्थिक तत्वों के कारण ही समाज में विषमता पैदा होती है। अतः साम्यवाद सार्वजनिक स्वामित्व में विश्वास करता है। यह चाहता है कि उत्पादन, वितरण और उपभोग पर सबका अधिकार हो। पूँजीपति से यह संघर्ष के द्वारा अधिकारों को ले लेने का समर्थक है। परन्तु भक्ति द्वारा स्थापित साम्यभाव समरसता और पवित्रता को समाज में लाना चाहता है। यहाँ आर्थिक जीवन और आध्यात्मिक जीवन का समन्वय है। दूसरे का हित अपना ही हित बन जाता है। साम्यवाद संघर्ष की नींव पर समाज का बाह्य ढाँचा बदलना चाहता है। परन्तु साम्यभाव निर्मल चित्त की भूमि पर संपूर्ण जीवन को अखण्ड बनाना चाहता है।

अंत में यही कहना श्रेयस्कर प्रतीत होता है कि सामाजिक समरसता की आधार-भूमि स्वामी रामानन्द-संप्रदाय की रामभक्ति ही हो सकती है क्योंकि यह लोकमंगल की ओर प्रवृत्त करती है। लोकमंगल में ही सबका मंगल निहित है। इतना ही नहीं, रामभक्ति भोगविमुख भोग और कामविजयी काम का आस्वादन भी कराती है तथा सर्वभूत के लिए जीने की सार्थकता प्रदान करती है।

## संदर्भ-सूची

१. गीता, १२ : १५
२. विनोबा : वेदामृत, पृ. ५१-५२, परंधाम प्रकाशन, पवनार, वर्धा, २००० ई.
३. राधाकृष्णन् : दि हिन्दू व्यू ऑफ लाइफ, पृ. २३
४. स्वामी रामानन्द का उल्लेख नाभादास ने 'भक्तकाल' "जात-पाँत, ऊँच-नीच मेटि कै सार वस्तु गह" लेने वाले तत्वज्ञानी के रूप में किया है। इन लोगों ने यह भी बतलाया है कि उनके शिष्यों-प्रशिष्यों की लम्बी संख्या है।
५. रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ : (प्रधान संपादक) हजारी प्रसाद द्विवेदी, पद, ९, पृ. ७, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं. २०१२ वि.
६. भारतीय परम्परा के मूल स्वर, पृ. ८९-९०, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, १९८९ ई.
७. वही, पृ. ९०
८. देखें– योगसूत्र
९. विनोबा : साम्यसूत्र, पृ. ११, सर्वसेवा संघ-प्रकाशन, वाराणसी, २००० ई.
१०. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र : तुलसी की साधना, पृ. ९४, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, १९७८ ई.
११. परशुराम चतुर्वेदी : भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक रेखाएँ, पृ. २१७-२१८, साहित्य भवन,प्रा. लि., इलाहाबाद, १९६२ ई.
१२. श्रीरामानन्ददिग्विजय, १२ : ५
१३. 'हीरा जनम अमोल है कौड़ी बदले जाय।'
१४. पद, ६०

●

# स्वामीरामानंद के शिष्य : संत प्रवर सेन

डॉ. ब्रजेन्द्रकुमार सिंहल *

सिखों के परमपवित्र गुरुग्रंथ में संत सेन का एक पद[१] उपलब्ध है। वस्तुतः गुरुग्रंथ का यह पद, पद न होकर आरती है किन्तु आरती[२] भी पदों में ही वर्गीकृत होती है। अतः इसको पद कहना सर्वथा समीचीन है। गुरुग्रन्थ में इस आरती के उपलब्ध होने से आधुनिक शोधकों का ध्यान सन्त सेन की ओर भी आकृष्ट हुआ है किंतु इस महान् सन्त के बारे में अभी तक यथेष्ट जानकारी प्रकाश में नहीं आई है। यद्यपि नारायणदास 'नाभा' ने सन्त सेन के बारे में एक पूरा छप्पय[३] छंद लिखा है और टीकाकार ने विपुल छन्दों में टीका[४] की है तथापि आधुनिक-शोधक इन लेखकों के उल्लेखों को भक्ति-भावित मानकर विशेष वजन नहीं देते! शोधकर्ताओं के साथ संभवतः यह विडम्बना ही है कि वे इन तथ्यों को सिरे से नकारते हुए इधर-उधर भटकते हैं और कभी-कभी बेसिर-पैर की बातें लिख मारते हैं जिनका न कोई लिखित आधार होता है और न कोई मौखिक आधार ही। आगे के लेखक[५] पीछे वालों की बातों को दुहराते रहते हैं और धीरे-धीरे वही तथ्य-सत्य स्थापित हो जाता है। वस्तुतः शोधकर्ता का दायित्व होता है कि वह उपलब्ध समस्त सामग्री का गंभीर अनुशीलन कर उसमें छिपे अंतःसूत्रों को ढूँढ़ निकाले। फिर उनको तत्कालीन अन्य स्थापित तथ्यों के संदर्भ मेंजाँचे-परखे। जब प्रमाण व तर्क की कसौटी पर वे सूत्र स्थापित हो जाए तब उन्हें प्रकाशित करे। सन्त सेन के बारे में भी आचार्य परशुरामजी चतुर्वेदी ने एक ऐसा ही प्रवाद लिखा जिसको आज भी सन्त सेन पर लिखने वाले प्रायः दोहराते देखे जाते हैं।

आचार्य चतुर्वेदी ने लिखा कि सन्त सेन महाराष्ट्रीय-महान् संत ज्ञानदेव (वि.सं. १३३२ जन्म व समाधि वि. सं. १३५३) के समकालीन व उनकी मंडली के महत्त्वपूर्ण सदस्य थे। इन्होंने मराठी-भाषा में अभंग लिखे जिनमें से १५० के करीब आज भी उपलब्ध होते हैं। इन अभंगों में प्रतिपादित विषय के अनुसार ये वारकरीभक्त भी सिद्ध होते हैं। साथ ही साथ आचार्य चतुर्वेदी ने लिखा है कि बीदर के राजा की सेवा में ये नियुक्त थे और तैल-मर्दन की घटना बांधवगढ़ के बघेले राजा से सम्बद्ध

* अन्यानेक पुस्तकों के रचयिता, कई पत्रिकाओं के सम्पादक संत साहित्य के खोजी विद्वान् जयपुर, राजस्थान।

न होकर इसी बीदर के राजा से सम्बन्धित है।[६] उन्होंने न बीदर के राजा का नाम बताया और न उसका समय ही।

जब हम उक्त मत पर गंभीरतापूर्वक विचार करते हैं तब ज्ञात होता है कि बीदर-राज्य की भाषा मराठी न होकर कन्नड़ है। कन्नड़भाषी सेन ने मराठी-भाषा में अभंगोंकी रचना की होगी, संभव नहीं है। ये बीदर छोड़कर पण्ढरपुर आ गए हों और ज्ञानदेवादि के संसर्ग से इन्होंने मराठी-अभंगों की रचना की होगी, लिखना भी सर्वथा असंगत है क्योंकि गुरुग्रंथ में संग्रहीत आरती में इन्होंने प्रसिद्ध भक्तिभानु रामानन्दाचार्य का बड़ी श्रद्धा के साथ उल्लेख किया है जिसका तात्पर्य है कि राम की भक्ति का रहस्य रामानंद पूर्णरूपेण जानते हैं और पूर्ण परमानंद में निमग्न स्वामी रामानंद उस भक्ति का प्रामाणिकता के साथ वर्णन करते हैं।[७] इस पंक्ति का सीधा-सीधा तात्पर्य इतना ही है कि सन्त सेन या तो स्वामी रामानंद के समकालीन होने चाहिए अथवा आसन्न परवर्ती। उन्होंने स्वामी रामानंद की भक्ति-व्याख्या को या तो उनके श्रीमुख से सुना होगा अथवा उनके शिष्यादि के द्वारा सपन्नता के साथ प्रचारित-प्रासरित होते हुए देखा होगा। अंत:प्रमाण से बड़ा प्रमाण और कोई नहीं होता। अत: यह मानने में तनिक भी शंका नहीं होनी चाहिए कि संत सेन का न बीदर के राजा से कोई सम्बन्ध था और न उनका ज्ञानदेव व बारकरी सम्प्रदाय से कोई सम्म्बन्ध था। सन्त सेन जाति के[८] नाई थे और अपना पैतृक-धंधा बाल काटने का किया करते थे। इस तथ्य को सभी मानते हैं। मराठी परम्परा के साथ-साथ हिन्दी परम्परा भी इस तथ्य को यथारूप मानती है।

**समय**

सन्त सेन, स्वामी रामानंद के समकालीन थे। स्वामी रामानंद का समय वि.सं. १३५६ से १४६७ तक[९] का सुनिश्चित है। संत रैदास ने अपने एक पद[१०] में नामदेव, कबीर, त्रिलोचन, सधना और सेन को शरीर त्यागकर आत्मस्थ होना लिखा है। साथ ही जाट-जात्युत्पन्न सन्त धन्ना ने भी अपने राग आसा के पद[११] में सन्त सेन का स्मरण अपने पूर्ववर्ती के रूप में किया है। इस पद में नामदेव, कबीर, रैदास व सेन नामक भक्तों के भक्ति करने के कारण संसार मेंप्रकट होना-प्रकाश में आना लिखा है। भक्तमालकार के अनुसार रैदास, कबीर, धन्ना और सेन– सभी स्वामी रामानंद के शिष्य ठहरते हैं।[१२] अत: इन सभी का समय वि. की १५वीं शती के प्रारंभिक दशकों से लगाकर १६वीं शती के मध्य तक होना चाहिए।

जिन विद्वानों ने सेन के समय के सम्बन्ध में अपने मंतव्य व्यक्त किये हैं उनके विचार निम्नानुसार हैं–

१. प्रो. रानाडे ने सन्त सेन का निधन-समय वि.सं. १५०५ बताया है।[१३]

२. आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने सेन को रामानंद का समकालीन मानते हुए इनकी स्थिति विक्रम की १४वीं शती के उत्तरार्द्ध से पंद्रहवीं शती के पूर्वार्द्ध तक मानी है।[१४]

३. द सिख रिलीजन, लेखक एम.ए. मैकालिफ ने सेन का समय, क्रिश्चियन-युग की चौदहवीं शती के अंत तथा पंद्रहवीं शती के पूर्वार्द्ध तक माना है।[१५]

४. डॉ. महीपसिंह ने इनका समय १४४८ ई. माना है। यह समय जन्म का है अथवा मृत्यु का है, कुछ भी स्पष्ट नहीं किया है।[१६] वैसे डॉ. सिंह ने प्रो. रानाडे के मत को ही दुहरा दिया है।

५. भक्तमाल के टीकाकार सीतारामशरण भगवानप्रसाद रूपकला ने सेन का समय विक्रमी पंद्रहवीं शताब्दी माना है।[१७]

६. आदिग्रंथ के टीकाकार डॉ. मनमोहन सहगल ने सेन का समय ईस्वी १५वीं शती का पूर्वार्द्ध माना है।[१८]

७. रींवा नरेश रघुराजसिंहदेव ने सेन का समय अपने पूर्वज राजा रामसिंह के समय का बताया है।[१९] राजा रामसिंह बघेले का राजत्व-समय वि.सं. १६११ से १६४८ तक का इतिहासकारों ने निर्धारित किया है।[२०]

८.महाराजा रघुराजसिंहदेव ने 'रामरसिकावली' के अंत में अपने कुल का इतिहास लिखा है जिससे स्पष्ट होता है कि सर्वप्रथम वीरसिंह बघेले ने कबीर का शिष्यत्व ग्रहण किया। वीरसिंह अतीव पराक्रमी राजा था और इसी ने बांधौगढ़ को जीतकर अपनी राजधानी बनाई थी। सन्त कबीर ने वीरसिंह के पौत्र राजा रामसिंह को वरदान दिया था कि तेरी ४२ पीढ़ियों तक बघेलों का राज्य अविच्छिन्न चलता रहेगा[२१] तथा तेरी १०वीं पीढ़ी का राजा मेरे ग्रन्थ बीजक की टीका लिखेगा। उक्त राजा रामसिंह इस बीरसिंह की तीसरी पीढ़ी का राजा है। १. वीरसिंह २. वीरभानुसिंह ३. राजा रामसिंह। राजा रामसिंह भी कबीर का ही शिष्य था जिसको कबीर ने आशीर्वाद आदि दिये। राजा रामसिंह को ही भगवान् ने नापित बनकर तैलमर्दन किया था।[२२] राजा रामसिंह के पुत्र का नाम वीरभद्र और इनके पुत्र का नाम विक्रमादित्य था। विक्रमादित्य का पुत्र अमरसिंह हुआ जिसने रीवा को बघेलों की राजधानी बनाई।[२३] ऊपर बिंदु क्रमांक (७) में इतिहासकारों द्वारा उपलब्ध कराया गया राजा रामसिंह का समय बिल्कुल सही है। ऐसी स्थिति में संतप्रवर सेन व राजा रामसिंह बघेले का समकालीन होना सर्वथा असंभव है। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी का भी मंतव्य ऐसा ही है।[२४]

९. अनेक संतों व भक्तों की 'परचई'[२५] के रूप में जीवनी लिखने वाले संत अनन्तदास ने सेन की परची तो नहीं लिखी किन्तु रैदास की परची में सेन की उपस्थिति उस समय बताई है जब चित्तौड़ की झाली रानी रैदास से दीक्षा लेकर चित्तौड़

की ओर चल पड़ी। काशी से चित्तौड़ की ओर पाँच कोस पहुँचने पर पुरोहितों को मालूम हुआ कि झाली रैदास नामक चमार से दीक्षित होकर आई है। ब्राह्मणों, पुरोहितों ने झाली से कंठी-माला छीन लीं व कहा, या तो रैदास का मंत्र रैदास को लौटा दो अन्यथा हम मर जाएंगे। झाली डरकर वापस काशी आ गई। रैदास से आपबीती कही। रैदास कुछ भी निर्णय नहीं कर सके। अंततः वे और सेन परामर्श करने को कबीर के पास गए। उस समय कबीर के यहाँ बघेला राजा-रानी आये हुए थे। कबीर ने कहा, जिस प्रकार तुमने पहले ब्राह्मणों द्वारा विवाद करने पर निर्णय शालग्राम पर छोड़ दिया था। अबकी बार भी निर्णय शालग्राम पर छोड़ दो। रात्रि में सेन, रैदास कबीर के यहाँ ही रहे। रात्रि में सगुण भगवान् ने चतुर्भुज रूप में प्रत्यक्ष दर्शन दिये। प्रातःकाल होने पर कबीर ने सगुण भगवान् का खंडन तथा रैदास ने मंडन किया। इस गोष्ठी के साक्षी सेन भक्त थे। आगे चलकर सेन ने इस वाद-प्रतिवादात्मक चर्चा को 'कबीर-रैदास-गोष्ठी' के नाम से छंदबद्ध करके लिखित रूप दिया। अनन्तदास ने इस प्रसंग में बघेला राजा का नाम तो नहीं दिया किन्तु उसकी रानी का नाम 'मकनादे' लिखा है। यह मकनादे रानी वीरमदेव (१४६० से १४८५ वि.), नरहरिदेव (१४८५ से १५२७ वि.), भेदचंद्रदेव (१५२७ से १५५२ वि.) शालिवाहन देव (१५५२ से १५५७), वीरसिंह (जन्म १५२४ गद्दी १५५७ मृत्यु १५५७ वि.) की पत्नी थी अथवा रामसिंह (वि. १६२३ से १६४८ तक) की थी, निर्णायक बिन्दु है रैदास, कबीर, सेन आदि के समय का निर्धारण करने का[२६]। रघुराजसिंहदेवजी ने वीरसिंह की पत्नी का नाम मणिदे[२७] व रामसिंह की पत्नी का नाम सुवचन कुंवरि[२८] लिखा है। मकनादे व मणिद दोनों नाम एक ही रानी के हैं, कहना मुश्किल है। भेदचन्द्रदेव की एक पत्नी चित्तौड़ के राणा लाखा की पुत्री थी।यही पटरानी थी। इसका नाम 'रीवा राज्य का इतिहास' में लिखा नहीं मिला है किन्तु संभावना पूरी है कि यह रानी मकनादे रही होगी क्योंकि झाली रानी के प्रसंग में जहाँ मकनादे का नाम आया है, वहाँ मकनादे ही झाली के सहायतार्थ अपने पति के साथ गई थी। चूँकि झाली व उक्त मकनादे का सम्बन्ध चित्तौड़ से था। अतः मकनादे ने झाली की सहायता की। राणा लाखा का समय गद्दीनशीनी १४३९ व मृत्यु १४८५ से १४८७ के मध्य तक म.म. गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने उदयपुर राज्य का इतिहास भाग एक पृष्ठ २५९ से २७० तक में लिखा है। अतः इतिहास के साक्ष्य से प्रसंगस्थ बघेला राजा भेदचंद्र देव व रानी मकनादे ही होना चाहिए।

१०. कबीर की परचई से ज्ञात होता है कि काशी नगर में जब कबीर की प्रतिष्ठा अत्यधिक बढ़ गयी तब कबीर के भजन में जनता के अत्यधिक आवागमन के कारण बाधा पड़ने लगी। इस बाधा को हटाने के लिये कबीर ने एक वेश्या को अपने साथ

लेकर पूरे बाजार में फेरी लगा डाली। उस समय बघेला राजा वीरसिंह अपनी रानी के साथ काशी में आया हुआ था। वह कबीर का शिष्य था फिर भी कबीर के इस व्यवहार ने उसके मन में उथल-पुथल मचा दी। उसने कबीर को बैठने के लिए आसन तक नहीं दिया। इतनी ही देर में पुरी के जगन्नाथ-मंदिर का पंडा जल गया। कबीर ने काशी में ही जल का घड़ा जमीन पर फैलाया। देखकर जनता ने पूछा, यह क्या माजरा है। तब कबीर ने कहा, मेरे कहने से तुम्हें विश्वास नहीं होगा। जगन्नाथ-मंदिर के पंडे से जाकर पूछो। राजा ने दूत भेजा। पंडे ने जल से आग बुझाने की घटना को सत्य बताया और कहा काशी का कबीर भगवान् का सच्चा भक्त है। उसने ही मुझ जलते हुए के ऊपर जल डाला था जिससे मैं बच गया। दूत ने आकर राजा को सारे समाचार कहे। सुनकर राजा अवाक् रह गया। उसे अपनी गलती का अहसास हुआ। उसने सोचा, मैंने नाहक ही गुरु-महाराज पर शक किया। मुझे उनसे अपराध क्षमा कराना चाहिए।राजा-रानी ने लकड़ी के गट्ठर माथे पर रखे व दोनों दीन-हीन रूप में कबीर के आश्रम पर पहुँचे। कबीर ने कहा, मेरे मन में कोई राग-द्वेष नहीं है। तुम मेरे ही हो। यह घटना बघेला राजा वीरसिंह से सम्बद्ध है। अनन्तदास ने वीरसिंहदेव का नाम स्पष्ट रूप में उल्लिखित किया है।[२९]

वस्तुतः वीरसिंहदेव बहुत ही पराक्रमी व प्रतापी राजा था। इसने वि.सं. १५५२ में अपने दादा भेदचंद्रदेव के समय में ही सिकन्दर के आक्रमण का कठौली घाटी में सामना किया। भेदचंद्रदेव के समय बघेलों की राजधानी बांधवगढ़ में हीं थी। जिसको पुनः वीरसिंहदेव ने व्यवस्थित करके अपनी राजधानी बनाया था। चूँकि इसके दादा-दादी संत कबीर के शिष्य थे। अतः यह भी उनके प्रति गुरुभाव रखता था। साथ ही भेदचंद्रदेव की अपेक्षा यह अत्यंत प्रतापी राजा हुआ है। संभव है अनंतदास भूल से भेदचन्द्रदेव के स्थान पर वीरसिंहदेवका नाम लिख दिया।

अनंतदास संत था उसके पास संतों से सुने हुए विवरण थे। इसके विपरीत रघुराजसिंह देव पठित, विद्वान् बघेला राजा थे जिनको अपने यहाँ के सारे अभिलेख ग्रंथादि सुलभ थे फिर भी उन्होंने सेन का सम्बन्ध राजा रामचंद्रदेव से लिख दिया जो ऐतिहासिक, समसामयिक घटनाओं से पुष्ट नहीं होता। अतः लगता है कि अनंतदास की नाम सम्बन्धी यह सूचना पूर्णतः विश्वासयोग्य नहीं है।

११. उक्त परचियों की दोनों घटनाओं को एक ही समय की व एक ही राजा से सम्बद्ध मान लेने पर, सेन का सम्बन्ध रामसिंह बघेले से हटकर उसके किसी पूर्वज से जुड़ जाता है जिससे सेन का समय विक्रम की १६वीं शती के प्रथम दशक तक जाकर ठहर जाता है और यही समय सेन का उचित भी लगता है। प्रो. रानाडे, आचार्य चतुर्वेदी आदि का मंतव्य लगभग इसी कालखंड के समर्थन में है। अतः हमारा मत

उक्त ठोस प्रमाणों के आधार पर पक्का है कि सेन अधिक से अधिक १५५१ या १५२० विक्रमसम्वत् तक जीवित थे। इसके पश्चात् नहीं। यदि उन्होंने ९० वर्ष की भी उम्र पाई हो तो उनका जन्मसम्वत् १४२५ से १४३० तक जाता है। इस कालखंड को मान लेने से सेन और रामानंद का समय भी एक बैठ जाता है और सेन के उस कथन की संगति भी बैठ जाती है जिसमें उसने रामानंद को भगवद्भक्ति का असली रहस्य प्रकाशित करने वाला कहा है। रामानंद और सेन गुरु-शिष्य थे, वह गुत्थी भी स्वतः ही सुलझ जाती है। राजर्षि पीपा ने अपने एक पद[३०] में कबीर, रैदास आदि का स्मरण अत्यधिक श्रद्धा-भक्ति के साथ किया है। पीपा की चौथी पीढ़ी[३१] का खींची राजा अचलदास वि.सं. १४८०[३२] में होशंगशाह से युद्ध करता हुआ मारा गया। यह तथ्य इतिहास-पुष्ट है। अचलदास के समकालीन[३३] व दरबारीचारण कवि शिवदास गाड़ण ने 'अचलदास खींची री वचनिका' ग्रंथ वि।सं. १९९२ में बनाया।[३४] जिसमें उक्त युद्ध का पूर्ण व प्रामाणिक विवरण उपलब्ध है। ऐसी दशा में कबीर, रैदास, पीपा, सेन, धन्ना आदि के समयों को वि.सं. की १६वीं शताब्दी के अन्तिम तक खींचकर ले जाना सत्य तथ्यों से मुँह चुराना किंवा सत्य को ढँककर असत्य का झण्डा फहराना है। हमारा दृढ़ मन्तव्य है कि आचार्य रामानंद का समय वि.सं. १३५६ से १४६७ तक ही सत्य है। आगे खिसकाने की कोई जरूरत नहीं है। कुछ अनैतिहासिक लेखकों ने निरंजनी पीपा व गागरोन के राजर्षि पीपा को एक करके राजर्षि पीपा के समय को काफी पीछे धकेलने का दुष्प्रयत्न किया है जो ऐसे लेखकों के अज्ञान अथवा भ्रमित-ज्ञान का परिचायक है। निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि संत सेन का समय वि.सं. १४२५ से १५१५ के बीच का है जो प्रमाणों व ऐतिहासिक-सत्यों पर आधारित है।

## जीवन की विशिष्ट घटनाएँ

संत सेन जाति के नाई और बांधवगढ़के निवासी व वहीं के बघेले राजा के खवास[३५] थे। वे बाल काटने का काम तो करते ही थे[३६], आवश्यकता पड़ने पर तैल-मर्दन भी करते थे। बघेला राजा वायुरोग से पीड़ित था।[३७] अतः सेन को प्रतिदिन राजा की तैल-मालिश भी करनी पड़ती थी। सेन भगवद्भक्त थे, रामानन्दाचार्य के शिष्य थे।[३८] अतः प्रातःकाल जल्दी ही उठकर भगवान् का भजन ध्यान भी किया करते थे। एक दिन जब वह नित्यनियम से निवृत्त होकर राजा के महल की ओर जा रहे थे तब रास्ते में उसे कुछ संत, भगवद्भक्त मिल गए। सेन उन्हें घर ले आये। उनके बाल काटे। उनको स्नानादि कराया और उनको भोजन कराने के उपरान्त राजा की सेवा में उपस्थित हुए। जब सेन राजमहल में पहुँचा, तब तक दोपहर बीत चुकी थी। राजदण्ड के भय से सेन ने राजा के एक अन्य हजूरिये[३९] से आपबीती कही। वह हजूरिया और सेन

दोनों राजा की खिदमत में हाजिर हुए। सेन ने देरी से आने के लिए क्षमायाचना की तो बघेला राजा ने कहा, अभी-अभी तो तुम तैलमर्दन करके गये ही थे। क्या पुनः और पुरस्कार प्राप्त करने आये हो। वस्तुतः आज तुमने मेरी इतनी अच्छी तरह से तैल मालिश की कि मेरा वायुजनित रोग समाप्त हो गया और अब मुझे प्रतिदिन मालिश कराने की जरूरत भी नहीं रह गई है। तुम्हारी आज की विशिष्ट सेवा से मैं इतना अधिक प्रसन्न हुआ कि मैंने तुम्हें अनेक उपहार बख्सीश किये।[४०] लगता है, तुम्हारे मन में लोभ घुस आया जिसके वशवर्ती होकर तुम यहाँ पुनः आये हो।

राजा की बातें सुनकर सेन हक्का-बक्का रह गया। वह अनुनय-विनय करने लगा कि भगवन्! मैं तो आया ही अभी हूँ। मेरे घर में कुछ संत आ गए थे। उनके बाल काटने आदि में समय लग गया जिस कारण मैं देरी से आया हूँ। चाहें तो आप मेरे घर से व आपके इस हजूरिये से मेरी बात की पुष्टि करा लें। राजा ने सेन की बात की पुष्टि कराई। सही पाने पर राजा ने सेन को मान-सम्मान प्रदान किया और आगे से तैल-लगाने, बाल काटने आदि की सेवा से मुक्त कर दिया। सेन की इस भक्ति, भगवत्कृपा व राजा द्वारा दिये गये सम्मान की चर्चा घर-घर में होने लगी। सेन भगवद्भक्तों में परिगणित होने लगा।[४१] राजा सहित समस्त जनता उसे सम्मान की दृष्टि से देखने लगी। समय-समय पर सेन, राजा के साथ विशिष्ट हजूरिये के रूप में भी जाने लगा।

## रचनाएँ

भक्तप्रवर सेन की रचनाओं के नाम पर अभी तक विद्वानों का ध्यान मात्र उस पद की ओर गया जो सिखों के आदिगुरु ग्रंथसाहिब में दर्ज है। वस्तुतः इस पद का अभिधानात्मक आरती का संग्रह दादूपंथी-पंचवाणी-पुस्तकों में भी मिलता है। उक्त पंचवाणी-पुस्तकों में मात्र उक्त आरती ही नहीं मिलती, एक पद और मिलता है जो अभी तक अप्रकाशित है। यद्यपि इस पद को अप्रकाशित भी नहीं कह सकते क्योंकि इसका प्रकाशन दादूशिष्य रज्जब की 'सरबंगी'[४२] और दादू-पौत्र-शिष्य गोपालदास की 'सरबंगी-सरह-चिन्तामणि'[४३] में प्रकाशन हो चुका है किन्तु विद्वानों का ध्यान अभीतक इस पद की ओर आकर्षित नहीं हुआ है। हम दादूधाम, नरायना के ग्रंथांक ४९६, ४९७, ५६१, २ व ४ तथा राजस्थान-प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान, जयपुर के ग्रंथांक १२ व ७४ के आधार पर इस पद का पाठ नीचे दे रहे हैं। आरती का पाठ ग्रंथांक ४९७ के आधार पर दिया जा रहा है। साथ ही जिस 'कबीर-रैदास-गोष्ठी' की पूर्वपृष्ठों में चर्चा आई है और जिसके रचयिता सन्त सेन हैं का पाठ हमारे संग्रह की पुस्तक जो धार (म.प्र.) रामद्वारे में मानदास रामस्नेही द्वारा वि.सं. १८६९ में लिखित है से दे रहे हैं। यह गोष्ठी उक्त रा.प्रा. वि.प्र. के ग्रंथांक १२ में भी उपलब्ध है जिसका लेखनकाल वि.सं. १७४१ व १७४३ है।

१. राग गौड़ी, ग्रंथांक ४९६, पृष्ठ २४३

दास नहीं छाडिये हो, तेरौ जन जे अपराधी होइ ।।टेक।।
अमृत अनूप सरोदिका, संतति भीतरि बास।
एक बूंद प्रापति नहीं, जन क्यूँ पावै बिसवास ।।
हूँ तुझ कारनि बीनऊँ, निसदिन खरौ उदास।
उदिक तीर पसु बांधियो, बिन खसमहि मरै पियास ।।
और नहीं अवलम्बना, जन सेन कहै समझाइ। तु
म्ह ठाकुर मैं सेवगा, क्रिपा करौ रामराई ।।[४४]

(२) राग धनाश्री,ग्रंथांक ४९७, पृष्ठ ५५६-५५७

मंगला हरि मंगला। नित मंगल राजा रामराइ की ।।टेक।।
धूप दीप गृह साज आरती। बारणैंजाऊँ कँवलापती ।।
उतिम दिवला निरमल बाती। तूं हि निरंजन कँवलापती ।।
रामा भगति रामानंद जाणैं। पूरण परमानंद बखाणैं ।।
मंगल मूरति भौ तारि गोविंद। सेन भणैं भजि परमानंद।।[४५]

## संदर्भ

१. आदि गुरुग्रंथ-साहिब, सैंची-२, पृष्ठ ९३९, टीकाकार : डॉ. मनमोहन सहगल।
२. निर्गुण-निराकार-परमात्मा के भक्त संतों ने आरतियाँ बनाई जो चौपाई छंदों में हैं किंतु वे गाते उन्हें राग धनाश्री में है। अतः गुरुग्रंथ तथा दादूपंथी-वाणियों में आरतियाँ राग धनाश्री शीर्षक के अन्तर्गत ही मिलती हैं। रामस्नेही-सम्प्रदाय, शाहपुरा, मेवाड़ के संतों ने भी आरतियाँ तो चौपाई छंदों में ही बनाई हैं किन्तु उनकी वाणियों में वे इन्हें राग धनाश्री शीर्षक में वर्गीकृत नहीं करते। गाते समय इन्हें वे राग धनाश्री में गाते भी नहीं।
३. विधित बात जग जानिये हरि भये सहायक सेन के ।।
प्रभु दास के काज रूप नापित की कीनौं ।
छिप्र छुड़हरी गही पानि दरपन तहँ लीनौं ।।
तादृस ह्वै तिहिं काल भूप के तेल लगायौ ।
उलटि राव भयौ शिष्य प्रगट परचौ जब पायौ ।।
स्याम रहत सनमुख सदा ज्यौं बच्छा हित धेनु के ।
विदित बात जग जानिये हरि भये सहायक सेन के ।।६३।।
४. प्रियादास ने २ मनहर छन्दों में टीका लिखी है।
बालकराम रामस्नेही ने ४४ चौपाई व १ दोहा छंदों में टीका लिखी है। यह टीका प्रियादास की टीका से भी अधिक विस्तृत, प्रामाणिक व विद्वतापूर्ण है। इसका रचनाकाल वि.सं. १८३३ है। इसका प्रकाशन अभी हाल ही में भक्तमाली नारायणदासजी ने कराया है। रघुराजसिंहदेव ने रामरसिकावली में १७ १/२ चौपाई, ३ दोहा व १ सोरठा दिये हैं।
५. आदिग्रंथ में संग्रहित संत कवि, लेखक : डॉ. महीपसिंह, पृष्ठ ६५-६६।

६. उत्तरीभारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ २३०-२३१, प्रथम संस्करण
हिन्दी-साहित्य का वृहत् इतिहास, भाग ४, पृष्ठ १०६, द्वितीय संस्करण।
सन्त-काव्य,पृ. ९०, चौथा संस्करण।

७. "रामा भगति रामानंदु जानै। पूरन परमानंदु बखानै।।" आदि श्रीगुरुग्रंथसाहिब, २ सैंची, पृष्ठ ९३९।

८. नाभा कृत भक्तमाल, छप्पय क्रमांक ६३, रूपकला-संस्करण, पृष्ठ ५२५ व इसकी टीकाएँ राघवदास दादूपंथी कृत भक्तमाल, छंदांक १३९-१४०, आगरचंद नाहरा का संस्करण पृ. ६४
दयालदास कृत भक्तमाल, छँदाक २२९, प्रथम संस्करण, पृ. १६२ टीका. भगवद्दासजी, सींथल किशनदास कृत भक्तमाल, छँदांक १११, किशनदासजी महा. की अनुभववाणी, पृ. १९७ प्रथम संस्करण। 'जन्मलो न्हावीय चें उदरी' तथाकथित भक्तसेन कृत मराठी अभंग, स्रोत : उत्तरी- भारत की सन्त-परम्परा, पृ.य २३०।
The Sikh Religion by M.a. Macauliffe, Sixth Volumes, PP 120
आदिग्रंथ में संग्रहित संतकवि पृष्ठ ६६, डॉ. महीपसिंह।
कान्तकाव्य, पृ. ९०
हिन्दी-साहित्य का बृहत् इतिहास, पृष्ठ १०६, आ. परशुराम चतुर्वेदी
रैदास-रचनावली, पृष्ठ ५९, डॉ. गोविन्द रजनीश, २००९ का संस्करण।
आदिगुरुग्रंथ, राग आसा, पद धन्ना भगत का, पृष्ठ ३९५, सैंची २.
'सेनु नाई बुतकरीआ, औहु घरि घरि सुनिआ।
हिरदै बसिआ पारब्रह्म, भगता महि गनिआ ।।
और भी पुस्तकों से इसकी पुष्टि होती है। अत: अधिक संदर्भ जुटाने का कोई विशेष प्रयोजन नहीं रह जाता।

९. हिन्दी-साहित्य-कोश, भाग-२, पृष्ठ ५२७, द्वितीय संस्करण, धीरेन्द्रवर्मा व अन्य।

१०. आदिग्रंथ, राग मारू, पद रैदास का, पृष्ठ ९७८, सैंची ३।
"नामदेव कबीरू तिलोचनु, सघना सेनु तरै।
कहि रविदासु सुनहु रे संतहु, हरि जीउ ते सभै सरै ।।

११. आदि गुरुग्रंथ, राग आसा, पद धन्ना भगत का, पृष्ठ ३९५, सैंची २१

१२. श्रीरामानंद रघुनाथ ज्योंदुतिय सेतु जग तरन किया ।।
अनतानंद कबीर सुखा सुरसरा पद्मावति नरहरि। पीपा भावानंद रैदास धना सेन सुरसर की घरहरि।
औरों शिष्य प्रशिष्य एक ते एक उजागर। विश्वमंगल आधार सर्वानंद दशधा के आगर।
बहुत काल वपु धारिके प्रणत जनन को पार दियो। रामानन्द रघुनाथ ज्यौं दुतिय सेतु जग तरन कियो।
भक्तमाल, रूपकला-संस्करण, पृष्ठ २८२ छंचांक २६१

१३. हिन्दी-साहित्य का वृहत्-इतिहास, भाग ४,पृष्ठ १०६, द्वितीय वृत्ति।

१४. उत्तरीभारत की सन्त-परम्परा, पृष्ठ २३३१

१५. The Sikh religion, by M.a Macaliffe pp 120 Sixth Volume



१६. आदिग्रंथ में संग्रहित संतकवि, पृष्ठ ६५ डॉ. महीपसिंह।

१७. भक्तमाल, रूपकला-संक्रण,पृ. ५२५।
१८. आदिग्रंथ, पहली सैंची, पृ. १३ भूमिका भाग, डॉ. मनमोहन सहगल।
१९. रामरसिकावली, पृ. ९३९ छंचांक ३१ राजा रामसिंह को कबीर का शिष्य भी बताया है। "तहँ को राजाराम बघेला। वण्यों जेहि कबीर को चेला।। करै रोज तिनकी सेवकाई। मुकुर देखावे तैल लगाई ।।"
२०. रींवा राज्य का इतिहास : लेखक गुरु रामप्यारे अग्निहोत्री
२१. रामरसिकावली, पृष्ठ १०८० से ११०२ तक, रघुराजसिंहदेव।
२२. रामरसिकावली, पृष्ठ ११०२-११०३ व रींवा राज्य का इतिहास
२३. रामरसिकावली, पृष्ठ ११०२ से ११०३ व वेवसाइट्स।
२४. उत्तरीभारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ २३२, आचार्य परशुराम चतुर्वेदी।
२५. अनन्तदास ने कुल नौ परचियाँ लिखी हैं– १. नामदेव २. त्रिलोचन ३. काँका-बाँका ४. धत्रा ५. पीपा ६. रैदास ७. कबीर ८. अंगद ९. सेऊ-संमन। इन्होंने नामदेव के परची में उसको बनाने का समय वि.सं. १६४५ बताया है। अनन्तदास विनोदीजी का शिष्य था और विनोदीजी अग्रदासजी, रैदास के विश्य थे।
२६. अनंतदास कृतरैदास की परची, विश्राम ७ को लेकर ९ तक। सिटी पैलेस, जयपुर की वि.सं. १७१९, १७२२ व १७४४ की हस्तलिखित पुस्तकें व लेखक के निजीसंग्रह में उपलब्ध १८६९, १८४४, १९०३ वि.सं. की हस्तलिखित प्रतिया।
२७. रारसिकावली : बघेलवंशागम निर्देश, महाराज रघुराजसिंहदेव निर्मित, पृ. १०९९
२८. उक्तानुसार, पृ. ११००, ११०१
२९. अनंतदास कृत कबीर की परचई, चौथे विश्राम के छँचांक ११ से लेकरग छठे विश्राम के छंदांक ४ तक। बिन्दु २६ में इल्लिखित व अन्यान्य हस्तलिखित ग्रंथ।
३०. मनां भजसि रे हरि चरन।

परम पुनीति आरति हरन, और जंजाल सब तजसि लोई।
वेद पुरान जे कोटि सासतर पढ़ै, बिनु भगवंत नहिं मुक्ति होई।।टेक।।
भजि हरि जरन जीति च्यार्‍यूँ बरन, जासकी जाति अछोप छीपा।
व्यास में लेषिये सनक में पेषिये, नामा की नामना सप्त दीपा ।।१।।
जाकै ईंद बकरीद गऊ रह बध खरै, मानिये सेष सहीद पीरा।
वापि औसी करी पूत ओसी धरी, प्रथमि प्रसिध नवखण्ड कबीरा ।।२।।
जासु के कुटुंब के ढोर ढोवत फिरैं, अजहूँ वाराणी आसपासा।
षटक्रम सहित विप्र डँडवत करैं, प्रगट नीसाण रैदास दासा ।।३।।
जपत जे जना चरण कँवलापति, तास समतुलि नहीं आन कोई।
आप एक अेक ह्वै विसतर्‍यौ, अंत ही एक ह्वै, रह्यौ सोई ।।४।।
दसौं दिसि छाइ जस रह्यौ भरपूरि करि, कूण मारगि गयौ खोजौ न पाऊँ।
दास पीपौ कहै कठिण कलिकाल में, भगत भगवंत भजि पार पाऊँ ।।५।।

–दादूधाम नरायना के ग्रंथांक ४९६, ४९७, ५६१ व अन्य अनेक ग्रंथ,
लिपिकाल क्रमशः १६६०, १७८५ व १७८० विक्रमसम्वत्
लेखक का वैचारिकी, त्रैमासिकी, वर्ष २३ अंग ३ पृष्ठ २२ से ४० तक में
प्रा 'राजर्षि पीपा और उनकी रचनाएँ' नामक लेख!

३१. चौहान-कल्पद्रुम, पृष्ठ ९९, स्रोत अचलदास खींची की बचनिका, सम्पादक व लेखक डॉ. शम्भुसिंह मनोहर, पृ. ५७-५८ भूमिका, प्रथम संस्करण सन् १९९१। इसके अनुसार कड़वाराय (क्रोधसिंह) के पुत्र थे राजर्षि पीपा जिनका पूर्वाश्रमीय नाम बप्पाजी राजा था। ये नि:संतान थे। अत: इनका भतीजा कल्याणराव इनकी गद्दी पर बैठा। कल्याणराव की गद्दी पर भोजराज और भोजराज का उत्तराधिकारी अचलदास खींची हुआ।

३२. तबकाते अकबरी, जिल्द ३ पृष्ठ २०७, २०८, ४७९ अचलदास खींची री वचनिका, शिवदास गाडण री कही, मूल पाठ २१(१) व भूमिका पृष्ठ ८५ व १३८, सम्पादक डॉ. शंभुसिंह मनोहर
राजस्थान के इतिहास का तिथिक्रम, पृष्ठ १२, ले. सुखवीरसिंह गहलोत।
तबकाते परिश्ता (ब्रिक्स कृत अंग्रेजी अनुवाद) जिल्द ४ पृष्ठ २३-३५, २८२-२८३।

३३. वचनिका : ऐतिहासिक परीक्षण, पृष्ठ ३ सं. दीनानाथ खत्री, ले. डॉ. दशरथ शर्मा
A descriptive catalogue of Bardic and Historical MSS, section II Part I, Page 41 by Dr. P.L. Tessitori.

३४. डॉ. शंभुसिंह मनोहर ने अनेक विद्वानों के मतों का पूर्ण पक्ष के रूप में उल्लेख कर उन्हें सप्रमाण निरस्त करते हुए निर्णय दिया है कि शिवदास गाड़ण जो अचलदास खींची का समकालीन था तथा जो अचलदास खींची केपुत्र पाल्हणसी के साथ युद्ध पूर्व ही गढ़ से निकलकर युद्ध से विरत हो गए थे, ने पाल्हणसी के राजकाल में हुए दूसरे शाके (सन् १४४४) के पूर्व ही इस ग्रंथ का निर्माण कर दिया था क्योंकि गागरोन के इस दूसरे शाके का इस ग्रंथ में कोई उल्लेख नहीं है। अत: उनका निर्णय है कि इस वचनिका का रचनाकाल ई. १४३४ से १४४४ के बीच कभी का हो सकता है। पृष्ठ २६ भूमिका।
डॉ. दशरथ ओझा ने भी इसका रचनाकाल ई. १४३५ (वि.सं. १४९२) माना है। देखें Rajasthan through the ages, page 459-460 by Dr. Dashrath Ojha.

३५. खवासप्राय: नाई जाति के ही हुआ करते थे और वर्तमानकाल के १०-२० वर्ष पूर्व तक प्राय: नाइयों को खवासजी व नाइनों को खवासनजी कहा जाता था। 'खवास' शब्द 'खास' से बना है जिसका तात्पर्य है निजी। राजा का निजी सेवक। खवास नाई ही होते थे, ऐसा अटल नियम नहीं था। जयपुर का रोड़ाराम खवास दर्जी था। इसने रोड़पुरा नामक गाँव बसाया जिसको आजकल दुर्गापुरा (जयपुर) कहा जाता है।

३६. भक्तमाल की भक्तदासगुणचित्रणी टीका, ३९वाँ वृंद, छंदांक २९, पृष्ठ २९८

३७. उक्त छंद २९

३८. नाभा कृत भक्तमाल, छंदांक ३६, रूपकला-संस्करण, पृष्ठ २८२

३९. भक्तदामगुणचित्रणी टीका, ३९वाँ वृंद, छंदांक ३४, पृष्ठ २९८

४०. वही, छंदांक ३९वाँ।

४१. संत धन्ना जाट का पद, आदिगुरुग्रंथ साहिब, पृष्ठ ३९५, सैंची दूसरी।

४२. रज्जन ने 'सरबंगी' नामक ग्रंथ को विक्रमसम्वत् १६६० से १६७० के बीच कभी भी संकलन करके सम्पादित किया था। इसमें १४९ अंग तथा ११७ हिन्दी के रचनाकार हैं। उर्दू-फारसी व संस्कृत के रचनाकार इनसे अलग हैं। इसमें कुछ १६ प्रकार के छंदों का प्रयोग होकर ४१०८ छंदों-पदों का संकलन है। देखें– रज्जब की सरबंगी, सम्पादक : ब्रजेन्द्र कुमार सिंहल। सन्तप्रवर सेन का पद इसमें ३९वें अंग के ४६वें पद के रूप में आया है।

४३. दादू-शिष्य संतदास मारू के शिष्य सन्त गोपालदास ने वि.सं. १६८४ में, जब वह ३७ वर्ष की उम्र का था साँभर में रहते हुए 'सरबंगी-सरस-चिंतामणि' नामक ग्रंथ का संकलन-सम्पादन किया। इसमें कुल १२६ अंग हैं जिनमें समाहित सामग्री का अनुष्टुपश्लोकांक २५००० परिमाण है। लेखक के संग्रह में इसकी एक हस्तलिखित प्रति वि.सं. १७७१ की है। इस संग्रह में संत सेन का ७८वें अंग में ८७वाँ पद है।

४४. यह पाठ दादूधाम, नरायना के ग्रंथांक ४९६ के आधार पर है जिसका लिपिकाल वि.सं. १६६० है। चूँकि यह प्राचीन पाठ है। साथ ही अर्थ की दृष्टि से इसका पाठ प्रामाणिक लगता है। अतः अन्यान्य प्रतियों से पाठान्तर नहीं दिये गये हैं। वैसे पाठांतर हैं भी सामान्य। ग्रंथांक ५६१ में 'बीनऊँ' के स्थान पर 'केसव' पाठांतर अवश्य महत्त्वपूर्ण है जो अर्थभिन्नता की उत्पन्न करता है।

४५. यह पाठ दादूधाम, नरायना के ग्रंथांक ४९७ के आधार पर है। इसका लिपिकाल वि.सं. १७८५ है। इसमें कुल ६९ आरतियों का संकलन है जिसमें से इसका १९वाँ क्रमांक हैं। दादूधाम, नरायना की कई अन्य पंचवाणी-पुस्तकों में भी इक आरती का संकलन है। गुरुग्रंथीय-पाठ प्रकाशित है। अतः उसको पाठांतर में देना पृष्ठों को बढ़ाना मात्र है।

४६. यह गोष्ठी वि.सं. १८६९ में लिखी पुस्तक के पृष्ठ ३४३ से प्रारम्भ होकर ३४५ पर समाप्त होती है। इस गोष्ठी के सम्पन्न होने के अनंतर ही रैदास तथा सेन की निष्ठा साकार भगवान् की ओर से हटकर निर्गुण-निराकार की ओर हो गई। संतों से सुना गया है कि रैदास द्वारा पदों व साखियों की रचना भी इस गोष्ठी के उपरान्त ही की गई। इसी कारण पदों व साखियों में सगुण-साकार-निष्ठा का वर्णन न होकर निर्गुण-निराकार-निष्ठा का वर्णन है। इस गोष्ठी को पढ़ने पर उक्त तथ्य की पुष्टि भी होती है। यह रचना राजस्थान-प्राच्य-विद्या-प्रतिष्ठान, जयपुर के ग्रंथांक १२ के पृष्ठ ३२४-३२५ पर भी लिखित है।

●

# तुलसीदास का काव्य : दर्शन व संस्कृति का समन्वय

दानबहादुर सिंह *

ईश्वर प्राप्ति के साधन रूप में हिन्दू-धर्म ग्रन्थों में ज्ञान और भक्ति दो मार्ग निर्दिष्ट किए गए हैं और जो इन दोनों का अनुगमन करते हैं, संसार में विलक्षण शक्ति प्राप्त कर लेते हैं, उनके मार्ग से महान सम्राट् और राजनीतिज्ञ भी स्पर्द्धा नहीं कर सकते। इस सम्पूर्ण सृष्टि में चरित्र की साधुता के रूप में भावी पीढ़ियों के लिए शाश्वत मूल्यों के समकक्ष कहीं कुछ भी नहीं है, दूरदर्शिता और असीम प्रेम ही किसी सिद्ध महात्मा के वैशिष्ट्य एकमात्र ज्ञानी पुरुष ही संसार की विविधता में एकता के दर्शन करता है और सभी प्राणियों में आत्मवत् देखता है। इस प्रकार भक्त चतुर्दिक शान्ति विकीर्ण करता है और क्रियाशील रह कर सर्वत्र प्रशंसित होता है। वह शान्ति और विनम्रता पूर्वक उन लोगों के हृदयों में परिवर्तन लाता है जो दुःख और पीड़ा से भाराक्रान्त है और संसार की रक्षा के लिए उद्विग्न रहते हैं, ऐसा ही एक महात्मा महाकवि गोस्वामी तुलसीदास थे जिन्होंने संसार को अपने रचनाकर्म के मार्ग पर चलने की प्रेरणा दी। उनके जीवन-वृत्तांत को लेकर विद्वानों में मतभेद है। १४९७-१६२३ के मध्य १२६ वर्षीय सन्त बेनीमाधवदास का अविर्भाव काल माना जाता है, उन्होंने महात्मा तुलसीदास के जीवन काल को १५३२-१६२३ के मध्य नियत किया है। वह भक्त शिरोमणि थे और उनका 'रामचरितमानस' भारत के भक्ति साहित्य में सर्वोत्तम है, उसका गौरव गान महाकवि 'बेनी' इस प्रकार करते हैं–

'वेदमत सोधि-सोधि, सोधि कै पुरान सबै।
संत औ असन्तन को भेद को बतावतो।
कपटी कुराही कर कलि के कुचाली जीव।
कौन राम नामहू की चरचा चलावतो।
'बेनी' कवि कहैं मानो-मानो हो प्रतीति यह
पाहन-हिए में कौन प्रेम उपजावतो।
भारी भव-सागर उतारतो कवन पार
जो पै यह रामायन तुलसी न गावतो।"



* हिन्दी साहित्य के प्रखर वागमी रीवा, मध्य प्रदेश।

उपर्युक्त पंक्तियों में रामचरितमानस की उत्कृष्टता का बखान करने के बाद तुलसीदास के जीवन-दर्शन पर भी विहंगम दृष्टि डालना विषयान्तर नहीं होगा। उनका प्रारम्भिक जीवन नाना झंझावातों से आक्रान्त था। वह ब्राह्मण माता-पिता की सन्तान थे। बचपन में ही वह अनाथ हो गए थे। उन्हें उत्तर प्रदेश के अन्धकार में डूबे एक गाँव की मटमैली सड़क से उठा लिया गया था। सुविख्यात साधु नरहरिदास ने उनकी शिक्षा-दीक्षा और लालन-पालन का स्वप्न देखा था। गुरुदेव ने बाल्यावस्था में ही उन्हें रामकथा भलीभाँति सुना दी थी और वह धीरे-धीरे साहित्यिक और धार्मिक शिक्षा में निष्णात हो गये थे। नरहरिदास स्वयं रामानन्द के शिष्य हो गये। वह अपने समय के उच्चकोटि के वैष्णव सन्त और गुरु थे। मध्यकाल में उन्होंने भक्ति आन्दोलन का मार्ग प्रशस्त किया था। अपने विलक्षण स्वभाव और भक्ति से उन्होंने रविदास और कबीरदास जैसे महान सन्तों को दीक्षित किया और उनका मार्ग-दर्शन किया था।

नरहरिदास तुलसीदास को अयोध्या ले गए। वहाँ पर उन्होंने उनका परंपरानुकूल यज्ञोपवीत संस्कार सम्पन्न किया और राम-नाम का मन्त्र दिया। वह दत्तचित्त हो कर अपनी शिक्षा में उत्साहपूर्वक लीन हो गए। दस महीने पश्चात् उन्होंने अयोध्या छोड़ दिया और गोंडा जनपद में सरयू नदी के तट पर स्थित प्राचीन तीर्थ स्थल 'सूकर-खेत' चले गए। वहाँ पर गुरु और शिष्य घनिष्ठ भाव से पाँच वर्ष तक रहे और अपने इष्टदेव भगवान 'राम' की कथा का श्रवण करते रहे।

रामचरित मानस (बालकाण्ड) से हमें पता चलता है कि यह वही स्थान है जहाँ तुलसीदास ने अपने इष्टदेव भगवान राम की पावन कथा का श्रवण किया था और सम्पूर्ण विश्व को उससे अवगत कराया था।

**"मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकर खेत।**
**समुझी नहिं तसि बालपन तब अति रहेउँ अचेत।**
**श्रोता बकता ग्यान निधि कथा राम कै गूढ़।**
**किमि समूझौं मैं जीव जड़ कलि मल ग्रसित विमूढ़।"**

इन पंक्तियों से हमें सहिष्णुता और अध्यवसाय की विचारधारा मिलती है कि नरहरिदास ने इस छोटे से भिक्षुक बालक को शिक्षित करने के लिए कितनी बार अभ्यास किया होगा और अब संभवत: भलीभाँति समझ गए होंगे कि क्यों निम्नांकित अवतरण में उनको साष्टांग प्रणाम किया गया है–

**"बंदऊँ गुरु पद पदुम परागा। सुरुचि सुबास सरस अनुरागा।।**
**अमिय मूरिमय चूरन चारू। समन सकल भव रुज परिवारू।।**
**श्रीगुर पद नख मनि गन जोती। सुमिरत दिव्य दृष्टि हियँ होती।**
**दलन मोह तम सोक प्रकासू। बड़े भाग उर आवइ जासू।।"**

कुल मिलाकर वह अपने गुरु के सान्निध्य में छः वर्षों तक रहे। अपने आपको कितने विनत भाव में रखने के बावजूद उन्होंने एक असाधारण विवेकशील शिष्य होने का परिचय दिया। उनका बौद्धिक स्तर इतना उच्चकोटि का था कि उसके बारे में कल्पना भी नहीं की जा सकती। यही नहीं, बल्कि उनकी स्मृति भी अपूर्व थी। इस अवधि में उन्होंने पाणिनि-व्याकरण के सिद्धान्तों की पूर्ण शिक्षा ग्रहण कर ली थी। वह स्वयं इस बात को स्वीकारते हैं कि राम-कथा और उसका महत्त्व और सम्पूर्ण मानवता के लिए उसका सबक उन्हें बारंबार सिखाया गया था। एक अन्य साधु जिन्हें शेष सनातन कहा जाता था, तुलसी के उज्ज्वल एवं अपराजेय पौरुष से अत्यधिक प्रभावित हुए थे और उन्होंने नरहरिदास से आग्रह किया था कि तुलसी को भावी शिक्षा के लिए उनके पास सौंप दिया जाए। तुलसीदास शेष सनातन के पास अनवरत पन्द्रह वर्षों तक रह कर मनोयोग पूर्वक वेदों, पुराणों और वेदान्त का गहन अध्ययन किया।

उन्होंने विवाह किया और एक गृहस्थ का पूर्ण जीवन-यापन करने लगे; किन्तु अपनी पत्नी के मुखारविन्द से कुछ कटु शब्दों के निकल जाने से उनकी आँखें खुल गईं और उन्होंने घर का परित्याग कर दिया, वह संन्यास धारण कर लिए और चार तीर्थ स्थलों जैसे रामेश्वरम्, द्वारका, पुरी और बदरिकाश्रम का परिभ्रमण किया और अन्ततः वाराणसी में आ कर रहने लगे, कभी-कभार वह चित्रकूट, अयोध्या और अन्य पवित्र स्थानों का तीर्थाटन कर के वापस आ जाते थे।

## योगदान और चारित्रिक वैशिष्ट्य

उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर तुलसीदास को एक दर्जन भर से अधिक ग्रन्थों के प्रणयन का श्रेय प्राप्त है। 'गीतावली', 'कवितावली', 'विनय पत्रिका' और 'रामचरितमानस', जैसे ग्रन्थ उनके नाम को सदा के लिए अमर कर गये। ये ग्रंथ प्रत्येक भारतवासी के दिल और दिमाग में विद्यमान है। उनकी अन्य पुस्तकें हैं– 'दोहावली', 'वैराग्य' 'संदीपिनी', 'रामाज्ञा प्रश्नावली', 'रामलला नहछू', 'बरवै रामायण', 'पार्वती मंगल', 'जानकी मंगल', 'कृष्ण गीतावली', 'हनुमान बाहुक', 'राम सतसई', 'संकट मोचन', 'रामशलाका', 'छन्दावली', 'छप्पय रामायण', 'कड़खा रामायण', 'रोला रामायण', 'झूलना रामायण' और 'कुण्डलिया रामायण', इन सब में भाव-वैविध्य सहज रूप में पाया जाता है जिससे इनकी रागात्मिका वृत्ति कई गुना बढ़ गई। इन सब में कहीं-कहीं छप्पय पद्धति, गीति-पद्धति, कवित्त, सवैया-पद्धति, सूक्ति-पद्धति, दोहा-चौपाई की प्रबन्ध-पद्धति आदि सभी काव्य-शैलियाँ पाई जाती हैं, गीतावली और कवितावली दोनों ही काव्य ग्रन्थ रामचरितमानस के लिए पूरक का कार्य करते हैं, 'गीतावली' जैसा कि उसके नाम से ही पता चलता है, संगीत

पर आधारित अनेक पद हैं और वे ब्रजभाषा बोली में लिखे गए हैं।

"कवि राम के संवेदनशील चरित्र का गुणानुवाद करता है। अत: इसमें भावानुभूति के माधुर्य जिसे मधुरस भी कहा जाता है, यह अपने सर्वोच्च शिखर पर है, इस प्रकार वह श्री रामचन्द्र जी के सम्पूर्ण इतिहास को एक आह्लादपूर्ण शैली में वर्णन करता है, वह छन्द उनके आचारानुसार महाकाव्य से बिल्कुल भिन्न दिखाई देता है। इस पुस्तक में ऐसा कोई छन्द नहीं है जो अपने आप में एक पूर्ण चित्र न हो। ये अपने में अत्यन्त चित्ताकर्षक हैं, इसमें कवि ने अपने महानायक के बाल्यकाल तथा उनके भाइयों का वर्णन किया है।" – सर जार्ज ग्रियर्सन।

"कवितावली की भाषा अवधी और ब्रजभाषा बोलियों का मिश्रण है, इस पुस्तक में उसकी शब्दावली असाधारण और विस्तृत है, उसका विषय वीररस प्रधान है। इसमें कवि ने संस्कृत भाषा का प्रयोग कम से कम किया है। यह एक वीरोचित शैली में लिखा गया है, जिस क्षण इसमें युद्ध स्थल का वर्णन आता है तो शब्द अपने आप वैसी ही प्रतिध्वनि करते हैं। शस्त्रों का संघर्ष दिखाई देता है। योद्धाओं की चीख-पुकार सुनाई देती है। कवि जब लंका-दहन का वर्णन करता है, तो उस समय अग्नि-ज्वाला की पटपटाहट सुनाई देती है।" – सर जार्ज ग्रियर्सन।

रामचरितमानस अथवा राम-कथा ने अपनी सामर्थ्य को सिद्ध किया जिसकी शक्ति से सनातन धर्म विघटित होने से बच गया और लोगों को इसने अपने आपमें विश्वास पैदा करने तथा अपनी संस्कृति को पहचानने की दृष्टि प्रदान की, अन्यथा समकालीन परिस्थितियों ने उसे उखाड़ फेंका होता, इस महान कार्य से तत्काल सफलता मिली, यही कारण है कि विगत चार शताब्दियों से जन साधारण के हृदय और मस्तिष्क में इसने अपना घर कर लिया है। हिन्दी भाषा-भाषी सभी प्रदेशों में इसकी पंक्तियाँ उद्धरण रूप में लोगों की जुबान पर हैं और वे इसका प्रयोग आवश्यकतानुसार करते रहते हैं। यही नहीं, बल्कि लोगों के जीवन और विचारों पर भी इसका गहन प्रभाव पड़ा।

यहाँ इस बात की कल्पना करने की आवश्यता नहीं है कि यह ग्रन्थ वाल्मीकि रामायण का अनुवाद है, महानायक के जीवन का वर्णन मौलिक है और वाल्मीकि के महाकाव्य के नाना विषयों पर विचारों की नई प्रवृत्ति पाई जाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि तुलसीदास ने अध्यात्म रामायण का अनुगमन बड़ी निकटता से किया है। जिसमें शिव और राम की जीवन-कथा को पार्वती से जोड़ते हैं। कार्य-व्यापार के लिए तुलसीदास जिस नाम की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं, उसमें दोनों ही सम्मिलित हैं। अर्थात् काव्यात्मक और धार्मिक, रामचरितमानस के बारे में तुलसी ने कहा है कि वह तो एक मनोहर मानस-झील की भाँति हैं। उसने शिव के मस्तिष्क में रूप धारण किया। दीर्घ

काल तक उन्होंने मानस को अपने पास रखा। जैसे जल से आपूर्ण कोई झील पर्वत के निर्जन एकान्त में स्थापित हो। जब शिव को एक सुनहरा अवसर प्राप्त हुआ तो उन्होंने उसे पार्वती को बता दिया। वह पूरे ग्रन्थ में फैल गई। वही बड़े संवेदनशील ढंग से कथा के रूप में बुनी गई। रामचरित मानस को मनोयोगपूर्वक अध्ययन करने से पता चलता है कि उसमें गीता, उपनिषद, भागवत और नाना अन्य धार्मिक ग्रन्थों के श्लोकों का शाब्दिक अनुवाद किया गया है। यही नहीं, अपितु कतिपय अन्य स्थानों से भी महत्त्वपूर्ण अंश ग्रहण कर लिए गए हैं। इस प्रकार महान मनीषियों के बौद्धिक कौशल को जन समूह तक पहुँचाया।

तुलसीदास ने रामानन्द की भाँति अपने देशवासियों के लिए स्वयं को सबका प्रिय पात्र बनाया। उन्होंने संस्कृत का प्रयोग कम कर दिया और लोगों की आम जुबान में लिखा। उन दिनों वाराणसी संस्कृत सीखने का गढ़ था। वहाँ पर उन दिनों धर्म निष्ठता की तूती बोलती थी। तुलसी को तत्कालीन पण्डितों और पुरोहितों का विरोध बरदाश्त करना पड़ा। चारों तरफ एक प्रकार का तनाव छाया हुआ था। उनका अपना जीवन खतरे में था, किन्तु एक आध्यात्मिक गुरु के रूप में उनकी भूमिका ठीक ही थी। उन्हें अपने समकालीनों का वैषम्य प्रदर्शन स्फूर्तिदायक सिद्ध हुआ। उनकी दृष्टि और कल्पना बेजोड़ थी। वह अपने समय के सम्मेलनों में एक मनीषी के रूप में उभर कर सामने आए। १९०३ ई. में रायल एशियाटिक सोसाइटी की पत्रिका में 'तुलसीदास: कवि और धार्मिक सुधारक' शीर्षक से एक आलेख प्रकाशित हुआ जिसमें महान चिन्तक सर जार्ज ग्रियर्सन लिखते हैं– "वर्तमान काल में यदि हम उनके द्वारा चलाए गए मानवीय भाग्य एवं चरित्र को प्रभावित करने वाली बातों का उल्लेख करें तो वह एशिया के तीन अथवा चार महान लेखकों में से अद्वितीय माने जाते हैं। इंग्लैण्ड में बाइबिल जितना पूज्य है, उसकी तुलना में गंगा की घाटी में उनका योगदान बेहतर साबित होता है। तुलसीदास के समकालीनों ने 'रामचरितमानस' पर प्रशंसा के पुल बाँध दिए थे। अकबर की रियासत में मंत्री रह चुके अब्दुर्रहीम खानखाना कहते हैं कि "पवित्र 'रामचरितमानस' शुद्ध-शुद्ध आत्माओं के लिए जीवन की साँस हैं, हिन्दुओं के लिए तो वेद हैं। सचमुच उसी प्रकार जैसे मुसलमानों के लिए कुरान।"

### सगुण ब्रह्म और निर्गुण ब्रह्म का स्वरूप

श्री रामानुजाचार्य का अनुरागी सगुण ब्रह्म जीवों अथवा बद्ध आत्माओं के लिए करुणा और अनुकम्पा से आपूर्ण है। अद्वैत वेदान्त के निराकार ब्रह्म की तुलना में सगुण ब्रह्म ने महान लोकप्रियता प्राप्त की, तुलसीदास ने जन-समुदाय की कल्पना के बारे में एक निश्चित धारणा बना ली थी कि ईश्वर जन साधारण की तरह जन्म लेता है

और पृथ्वी पर चलता-फिरता है। उन्होंने निराकारब्रह्म को साकार रूप प्रदान कर संकल्पनात्मक कार्य-क्षेत्र के भीतर स्थापित किया और कहा कि ब्रह्म जिसे वेदों में 'नेति' कहा गया है, उसके बारे में हम निर्गुण ब्रह्म के रूप में ध्यान धारण करने में असमर्थ हैं, हमारे भीतर न तो सहिष्णुता आ सकती है और न श्रद्धा ही जिसके बल पर हम गुफा अथवा वन में जा कर कठोर तपस्या कर सकें। किन्तु यह विचारधारा की ब्रह्म हम जैसे लोगों की तरह ही रहता है। हमारे आनन्द और पीड़ा की अनुभूति करता है तथा मानव हृदय को सान्त्वना और शान्ति प्रदान करता सही प्रतीत होती है। चूँकि भारत में दार्शनिक विचारधारा की शुरुआत ने एक प्रश्न खड़ा कर दिया है कि किस प्रकार निर्गुण ब्रह्म सगुण ब्रह्म का रूप धारण कर लेता है और मानवीय मनीषा के भीतर एक प्रकार का कौतूहल उत्पन्न कर देता है? रामचरितमानस के पहले काण्ड में शिव और पार्वती के मध्य संवाद के रूप में तुलसी ने एक महत्त्वपूर्ण तत्त्वमीमांसीय समस्या को जन्म दे दिया है। उपर्युक्त संवाद इस प्रकार है–

**प्रभु जे मुनि परमारथवादी। कहहिं राम कहुँ ब्रह्म अनादी।**
**सेस सारदा वेद पुराना। सकल करहिं रघुपति गुन गाना।।**
**तुम्ह पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनँग आराती।।**
**रामु सो अवध नृपति सुत सोई। की अज अगुन अलख गति कोई।।**
**'जौ नृप तनय त ब्रह्म किमि नारि विरहँ मति भोरि।**
**देखि चरित महिमा सुनत भ्रमति बुद्धि अति मोरि।''**

–बालकाण्ड, १०७.३.४.१०८

इस प्रश्न का उत्तर शिव जी इस प्रकार देते हैं–

**'सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध वेदा।।**
**अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई ।।**
**जो गुन रहित सगुन सोई कैसे। जलु हिम उपल बिलग नहिं जैसे।।**
**जासु नाम भ्रम तिमिर पतंगा। जेहिं किमि कहिअ विमोह प्रसंगा।।**

–बालकाण्ड ११५.१.२

## कर्म

तुलसीदास ने रामचरितमानस के अयोध्या काण्ड में ब्रह्म की प्रकृति आकृति और निराकृति का वर्णन करने के पश्चात् वह संसार का वर्णन करते हैं। कर्म के मूल सिद्धान्तों के बारे में भी विचार-विमर्श करते हैं। हम स्वयं अपने सुख और दुःख के लिए उत्तरदायी हैं। निम्नलिखित रूप में कथा के भीतर विषय वस्तु को जोड़ा गया है। अपने पिता के राज्य से निर्वासन के बाद दूसरे दिन राम ने गंगा के किनारे मछुआरों

के एक छोटे से गाँव में विश्राम किया। मछुआरों का मुखिया और लक्ष्मण दोनों ही उस समय जब सीता और राम एक अशोक वृक्ष के नीचे सो रहे थे। रखवाली कर रहे थे। मछुआरों का मुखिया दशरथ की तीसरी रानी कैकेयी के ऊपर इस बात के लिए दोषारोपण किया। उन्हीं के कहने पर ही राम को वनवास दिया गया था। लक्ष्मण ने बुद्धिमानीपूर्वक समझा कर इन शब्दों में उसे प्रशान्त किया।

**"काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत करम भोग सब भ्राता।।**
**जोग वियोग भोग भल मंदा। हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा।।**
**जनमु मरनु जहँ लगि जग जालू। संपति विपति करमु अरु कालू।।**
**धरनि धामु धनु पुर परिवारू। सरगु-नरकु जहँ लगि व्यवहारू।।**
**देखिअ सुनिअ गुनिअ मन माहीं मोह मूल परमारथु नाहीं।।**

–अयोध्या काण्ड ९१-२.३.४

उपर्युक्त अवतरण में अद्वैतवाद के सिद्धांतों के अवास्तविकता के बावजूद यह नहीं स्वीकार कर लेना चाहिए कि तुलसीदास शंकराचार्य के मतानुयायी थे। उन्होंने संसार को उस विशुद्ध भ्रान्ति रूप में नहीं देखा जैसा कि कुछ मायावादी करते हैं।

**जड़ चेतन जग जीव जन सकल राममय जानि।**
**बंदउँ सब के पद कमल सदा जोरि जुग पानि।।**

–बालकाण्ड ७ (ग)

**सो अनन्य असि मति न टरइ हनुमंत।**
**मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवन्त।।**

संसार, आकाश, समय और कार्य कारण के माध्यम से जिस रूप में दिखाई देता है, वह माया से अभिभूत है। माया इस अर्थ में अतात्विक है कि केवल ईश्वर में ही तात्विकता है और तो भी यदि माया के पास वास्तविकता नहीं होती तो कैसे उसने इस अलौकिक संसार को पैदा किया। इस प्रकार सभी विभेदीकरण और परिवर्तन, सृजन, जीवन और संहार माया के ही फलस्वरूप हैं। तुलसीदास निम्नलिखित छन्द में माया के बारे में हमें कहते है–

**मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहिं बस कीन्हे जीव निकाया।।**
**गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई।।**
**तेहि कर भेद सुनहुँ तुम्ह सोऊ। विद्या ऊपर अविद्या दोऊ।।**
**एक दृष्ट अतिसय दुख रूपा। जो बसजीव परा भव कूपा।।**
**एक रचइ जग गुन बस जाकें। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें।।**

–अरण्य काण्ड १.१-२.३

जीव अथवा अन्तर्भूत आत्मा के बारे में तुलसीदास वर्णन करते हुए कहते हैं–

**"सुनहु तात यह अकथ कहानी। समुझत बनइ न जाई बखानी।।**
**ईश्वर अंस जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी।।**
**सो मायावस भयउ गोसाईं। बँध्यों कीर मरकट की नाईं।।**
**जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई।।"**

ईश्वर, माया और अन्तर्भूत आत्मा के बीच संबंधों के बारे में तुलसीदास निम्नलिखित छन्द में बिल्कुल स्पष्ट कर देते हैं–

**"जौ सब के रह ग्यान एक रस। ईश्वर जीवहिं भेद कहहु कस।।**
**माया बस्य जीव अभिमानी, ईस बस्य माया गुन खानी।"**

–उत्तर काण्ड ७७.३

ज्ञान-मार्ग और उपासना के बारे में बात करते हुए वह कहते हैं–

**ग्यान पंथ कृपान कै धारा, परत खगेस होइ नहिं बारा।**
**जो निर्बिघ्न पंथ निर्बहई, सो कैबल्य परम पद लहई।**
**अस विचारि हरि भगत सयाने, मुक्ति निरादर भगति लुभाने।**
**भगति करत बिनु जतन प्रयासा, संसृति मूल अविद्या नासा।।**

–उत्तर काण्ड ११८.१.४

## ईश्वर के प्रति उपासना

यह कहना कि ज्ञानमार्ग उपासना मार्ग की तुलना में सरल है, तुलसीदास के लिए वह पर्याप्त नहीं है। वह तो यहाँ तक कहते हैं कि परवर्ती की तुलना में इससे पूर्व वाला उत्कृष्ट है, तृतीय काण्ड में राम लक्ष्मण से कहते हैं–

**धर्म तें विरति जोग तें ग्याना। ग्यान मोच्छप्रद वेद बखाना।।**
**जातें वेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति जगत् सुखदाई।।**
**सो सुतंत्र अवलंब न आना, तेहि आधीन ग्यान बिग्याना।।**
**भगति तात अनुपम सुख मूला, मिलइ जो संत होइ अनुकूला।**

"तुलसीदास का सम्पूर्ण लेखन-कार्य उनके ही ऋषि हृदय की प्रतिच्छाया है, जो राम के लिए आकण्ठ अनुराग से भरा है जिस पर वह पूर्णरूपेण आश्रित हैं। वही महाशक्ति उनके लिए शक्ति का स्रोत है और वही एकमात्र उनके लिए आशा और आस्था है।" –दोहावली पृष्ठ क्र. सं. २७७

रामचरितमानस के नाना चरित्र विशिष्ट व्यक्तित्व के धनी हैं। सबके अपने उतरते-चढ़ते मनोभाव, अन्तर्द्वन्द्व और प्रतिक्रियाएँ हैं, कुल मिला-जुला कर सबकी अपनी केवल एक ही गुणवत्ता है, चाहे वह मित्रता की हो, चाहे विद्वेष की अथवा प्रेम की। सब के हृदय अपने आराध्यदेव के प्रति समर्पित हैं– "जिस प्रकार चातक पक्षी की

एकनिष्ठा पूर्वक स्वाती जल की एक बूँद पा कर प्यास बुझाने में है और वह बादल की ओर टकटकी लगा कर देखता रहता है वैसे ही निष्ठावान् भक्त भी अपने आराध्यदेव भगवान राम का दर्शन पाने के लिए उन्हीं की ओर ताकता रहता है। भरत कहते हैं "यद्यपि बादल चातक को स्वाती जल की एक बूँद पाने के लिए उसे तरसाता है और उसे भुला देता है। उसके ऊपर ओलों की वृष्टि करता है और उसके ऊपर बिजली गिरा देनी जैसी भयंकर स्थिति पैदा कर देता है, किन्तु इन सब के बावजूद चातक की साधना और उत्कण्ठा वर्षा की एक बूँद पाने के लिए रुदन करती है और स्वर्ण केवल अग्नि में ही जिस प्रकार तप कर अपना रूप निखारता है, उसी प्रकार भगवान का दास भी अपने स्वामी के प्रति एक निष्ठा रखता है और प्रेम करता है।"

**जलदु जनम भरि सुरति बिसारउ, जाचत जलु पबि पाहन डारउ।।**
**चातकु रटनि घटें घटि जाई। बढ़े प्रेम सब भाँति भलाई।।**
**कनकहिं बान चढ़इ जिमि दाहें। तिमि प्रियतम पद नेम निबाहें।।**
**भरत बचन सुनि माझ त्रिबेनी। भइ मृदु बानि सुमंगल देनी।।**

**–अयोध्या काण्ड, २०४**

पुनः तुलसीदास राम से प्रार्थना करते हैं कि 'आप मुझे वैसे ही प्रिय हैं जैसे लोभी को स्वर्ण।"

**"कामिहि नारि पिआरि जिमि। लोभिहि प्रिय जिमि दाम।।**
**तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहिराम।"**

**–उत्तरकाण्ड, १३० (ख)**

## ईश्वर नाम-जप का माहात्म्य

तुलसीदास ने भक्ति की अभिवृद्धि के लिए ईश्वर के नाम की बारंबार आवृत्ति पर सर्वाधिक बल दिया है। वह कहते हैं कि राम का नाम ब्रह्मा, विष्णु और शिव की तरह और उनकी आत्मा वेदों की है। वह अद्वितीय है। मैं उनकी वन्दना करता हूँ। नाम और स्वरूप ईश्वर के दो विशिष्ट गुण हैं। वह वर्णनातीत है। ईश्वर का स्वरूप उसके नाम पर ही आश्रित है। उसका नाम बिना किसी स्वरूप के जाना जा सकता है। उसका नाम ही सब कुछ है। वह ब्रह्मा से भी महान है। उसके नाम में चाहे कोई गुण हो अथवा नहीं। दोनों को ही केवल निरंतर नाम-जप से ही जाना जा सकता है। इस विषय को कुछ उद्धरणों के माध्यम से और स्पष्ट किया जा सकता है। "जो स्वप्न में भी अचेतावस्था में 'राम' शब्द का उच्चारण करता है। तुलसीदास जी उसके पैरों में पहनने के लिए अपने शरीर का चर्म दान कर देंगे; ताकि वह उसका जूता बनवा कर पहन सके।"

**– वैराग्य संदीपिनी**

"जब ध्यानावस्था में सगुण ब्रह्म अस्वादकर लगे और निर्गुण ब्रह्म मस्तिष्क से बहुत दूर हो तो उस अवस्था में जीवनदाता राम का नाम स्मरण करना चाहिए।

–दोहावली, ८

कलियुग में ज्ञान, वीतराग, योग और समाधि का कोई अर्थ नहीं। अत: निरन्तर पूर्ण आत्मविश्वास के साथ राम के नाम का जाप करना चाहिए। कठोर तपस्या, तीर्थाटन, आहुति, धर्मार्थ, अनुशासन और उपवास से भी कई गुना बढ़ कर है भगवान राम का नाम। अत: तुलसीदास कहते हैं कि सब कुछ भुला कर राम-नाम का जाप करें।"

–बरवै रामायण

## नवधा भक्ति

वैष्णव भक्तों के लिए नवधा भक्ति का अनुसरण अनिवार्य बताया गया है। नारद भक्ति सूत्र में भी इसका उल्लेख है। महात्मा तुलसीदास ने रामचरितमानस में इसका विस्तृत विवरण दिया है। सीता की खोज में राम की भेंट शबरी से होती है। वह वन-जन जातियों से जुड़ी एक असाधारण तपस्विनी स्त्री थी और राम के चरणारविन्द में समर्पित थी। उसके लिए राम नव प्रकार की भक्ति का वर्णन करते हैं–

**"नवधा भगति कहउँ तोहि पाहीं। सावधान सुनु धरु मन माहीं।।**
**प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मन कथा प्रसंगा।।**
**गुरु पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान।**
**चौथि भगति मम गुन गन करइ कपट तजि गान।**
**मंत्र जाप मम दृढ़ बिश्वासा, पंचम भजन सो बेद प्रकासा।।**
**छठ दम सील बिरति बहु करमा, निरत निरन्तर सज्जन धरमा।।**
**सातवँ सम मोहि मय जग देखा, मोतें सन्त अधिक करि लेखा।।**
**आठवँ जथालाभ संतोषा। सपनेहुँ नहिं देखइ परदोषा।**
**नवम सरल सब सन छलहीना। मम भरोस हियँ हरष न दीना।।**
**नव महुँ एकउ जिन्ह के होई, नारि पुरुष सचराचर कोई।।**

–अरण्यकाण्ड ३४.३५.४

उत्तरकाण्ड में तुलसी राम भक्ति की तुलना रत्नजड़ित आभूषण चिन्तामणि से करते हैं। वह सभी मनोरथ को पूर्ण करने वाली है और जिसका प्रचण्ड प्रकाश मोहान्धकार को नष्ट करने वाला है और लोभ की हवा उसे निष्प्रभ नहीं कर सकती। उसका प्रकाश गहन अन्धकार को नष्ट कर डालता है। सभी प्रकार के अहंकार और आत्माभिमान की छाया को दूर कर देता है। इच्छा, क्रोध और अन्य प्रकार की पापिष्ठ अनुभूतियाँ उस व्यक्ति के पास नहीं आ सकती हैं, जिसका हृदय इस भक्ति के दीप से प्रकाशित है।

## भक्त का हृदय ईश्वर का वासस्थान

तुलसी के काव्य में यहाँ तक की उनकी छोटी-मोटी घटनाओं के वर्णन में भी उपासना सन्निहित है। जब वन में राम की मुलाकात महर्षि वाल्मीकि से होती है तो उनसे रहने के लिए कोई उपयुक्त स्थान सुझाने के लिए कहा; ताकि वह वहाँ एक झोपड़ी का निर्माण क़र सकें और सीता और लक्ष्मण के साथ कुछ समय के लिए रह सकें। इस मामूली से सवाल पर महर्षि ने अपने खुले हृदय से उत्तर दिया–

**"सुनि मुनि बचन प्रेम रस साने। सकुचि राम मन महुँ मुसुकाने।।**
**बाल्मीकि हँसि कहहिं बहोरी। बानी मधुर अमिअ रस बोरी।।**
**सुनहुँ राम अब कहउँ निकेता। जहाँ बसहु सिय लखन समेता।।**
**जिन्ह के श्रवण समुद्र समाना। कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना।।**
**भरहिं निरन्तर होहिं न पूरे। तिन्ह के हिय तुम्ह कहुँ गृह रूरे।।**
**लोचन चातक जिन्ह करि राखे। रहहिं दरस जलधर अभिलाषे।।**
**निदरहिं सरित सिंधु सर भारी, रूप बिन्दु जल होहिं सुखारी।।**
**तिन्ह कें हृदय सदन सुखदायक। बसहु बन्धु सिय सह रघुनायक।।**
**जसु तुम्हार मानस बिमल हंसिनि जीहा जासु।**
**मुकताहल गुन गन चुनइ राम बसहु हियँ तासु।।"**

–अयोध्या काण्ड १२७.२.१३१

इस अत्यन्त सुमनोहर अवतरण में तुलसीदास कहना चाहते हैं कि ईश्वर के प्रति सम्पूर्ण कार्य-कलाप के समर्पण से ही इन्द्रिय-निग्रह द्वारा वहाँ तक पहुँचने के लिए मार्ग प्रशस्त होता है। इस प्रकार वह सर्वप्रथम कान, आँख आदि इन्द्रियों की ओर संकेत करते हैं और उसके बाद ही वह उच्च नैतिक गुणों जैसे इच्छा, लोभ और क्रोध पर विजय की बात करते हैं। वस्तुतः चारित्रिक परिपूर्णता जैसा कि उन्होंने वर्णन किया है, वह मानव प्रयासों से परे है। सचमुच ऐसा प्रतीत भी होता है। यह सब भी संभव है जब मनुष्य की आत्मा सीधे ईश्वरीय भक्ति से जुड़ी हो, उसमें सर्वस्व का न्यौछावर हो अर्थात् सोई हुई चिनगारी को देवतानुभाव में प्रज्ज्वलित करना पड़ता है। उसी से मनुष्य के भीतर विद्यमान पाशविक वृत्तियाँ दूर होती हैं।

## ईश्वर-कृपा

रामचरितमानस के सम्पूर्ण चरित्रों में सर्वाधिक विचारों को झकझोर देने वाला रावण है जो इस महाकाव्य का एक अशिष्ट चरित्र है। इस सन्दर्भ में केवल एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा जहाँ उसने सर्वोच्च नैतिक गुणों का बखान किया है जिससे उसके मस्तिष्क में उठने वाले भावों की झलक मिलती है। एक प्रसंग में उसने कहा, "यदि ईश्वर अवतार लेता है तब तो मैं इस बात पर बल दूँगा कि उसके साथ मेरा बैर है और उसके बाण मेरे हृदय को बेध देंगे और मैं मर जाऊँगा।" इस प्रकार जन्म और

मृत्यु के समुद्र को लाँघने की बात सिद्ध होती है। यदि राम और लक्ष्मण वास्तव में राजा की सन्तान हैं और साधारणतः मानव प्राणी हैं तो मैं युद्ध में उन्हें परास्त कर दूँगा और राम की रानी को उठा ले जाऊँगा।''

–अरण्य काण्ड

रावण जब पहली बार सीता से मिला तो उसके शब्द-बाण से वह क्रोधाभिभूत हो उठीं, फिर भी वह उनके चरणारविन्द को नमन करता है और चरमाह्लाद का अनुभव करता है– अरण्य काण्ड। इन अवतरणों को छोड़कर तुलसीदास ने सर्वत्र उसे एक दुराचारी सिद्ध किया है। रावण क्रोध, अहंकार और असभ्य व्यवहार से आपूर्ण है। यद्यपि वह भारतीय परंपरा में सभी प्रकार की बुराइयों के मानवीकरण के रूप में देखा है। रावण ने एकमात्र राम की कृपा से ही मोक्ष प्राप्त किया था। यह उपलब्धि अनन्त होने के कारण उसकी अपनी ही करुणा से कभी भी परिपूर्ण नहीं होती।–बालकाण्ड

विचारों के सर्वोत्कृष्ट औदार्य को नाना मार्गों के बारे में धर्मनिष्ठ धार्मिक ग्रन्थों में विधिवत् बताया गया है जिसके माध्यम से मानवात्मा ईश्वर अथवा प्रेम के माध्यम से मानवात्मा ईश्वर तक पहुँच सकती है। यह न केवल समर्पित कार्यकलापों अथवा प्रेम के माध्यम से; अपितु क्रोध, भय अथवा घृणा के द्वारा भी उस तक पहुँचा जा सकता है। एक बार जब खोजबीन आरम्भ हो गयी तो व्यक्ति के भीतर विद्यमान अन्तर्भूत दिव्यता शेष कार्य को पूर्ण कर देती है। श्रद्धात्मक भाषा में इसे दैवी-कृपा कहा गया है। ईश्वर की अनुकम्पा और दया जो कि रावण की मुक्ति में से सारभूत तत्वों को बलात निकाल लिया गया है, वही विनय पत्रिका के पदों का मूल प्रतिपाद्य है, उनमें से एक को यहाँ उद्धृत करना विषयान्तर नहीं होगा।

"हे हरि, यदि आप अपने भक्तों की भूलों को ढूँढ़ते हैं तो इन्द्र, दुर्योधन और बालि से अपने आप क्यों दुश्मनी मोल ली थी। यदि आप जप, आहुति, भोग और उपवास से अनासक्त हैं तो आपका हृदय एकमात्र प्रेम से नहीं जीता जा सका था। आपने ईश्वर और ऋषियों, मुनियों के निवास-स्थान को क्यों छोड़ दिया था? कालान्तर में आप गोप-गोपियों के बीच ब्रजभूमि में रहने लगे थे। यदि आपने अजामिल के नाना पापों को धोया नहीं था तो किसने उसके पुत्र को आपका नाम जपने के लिए कहा था। इस प्रकार मृत्यु के संदेश वाहकों ने मेरे जैसे बैलों को संसार के हल में जोत दिया था। यदि आप अपने आप पापियों को शुद्ध-बुद्ध करने के मामले में विश्व प्रसिद्ध भूमिका निभाने का दुस्साहस नहीं करते तो तुलसीदास जैसा दुराचारी युगों पर्यन्त कभी भी मोक्ष प्राप्त करने का स्वप्न भी नहीं देखता।'' –विनयपत्रिका

## सत्संगति

हिन्दू धर्म ग्रन्थों के अनुसार तुलसीदास सदैव साधु पुरुषों के सान्निध्य में रहने की आदत डालने पर अधिक बल देते हैं। यह बात सदैव नाना मत-मतान्तर के बाद

सिद्ध हो चुकी है कि जीव ईश्वर के बताए हुए मार्ग पर चल कर सत्संगति प्राप्त कर सकता है। तुलसीदास जी उन संन्यासियों के जीवन की प्रशंसा करने में हर्ष का अनुभव करते हैं जिनका जीवन ईश्वर की खोज में समर्पित है। वह साधु पुरुषों के जीवन को धवल रूई से तुलना करते हैं। उनका जीवन उतना ही पवित्र एवं धवल है जितना रूई। संन्यासी सांसारिक वस्तुओं से आसक्त रहते हैं। वे दूसरों की सहायता करते हैं। साधु पुरुष दूसरों की भूलों को छिपा लेने में गर्व का अनुभव करते हैं। उनके लिए कभी-कभी वे अपने जीवन को भी होम कर देते हैं। यह सब उसी प्रकार से होता है जैसे रूई से बना हुआ धागा सिलाई करते समय छिद्र को ढँक लेता है। वही नया अथवा पुराना वस्त्र सर्दी, गर्मी बरसात और तेज हवा से बचने में सहायता पहुँचाता है। तुलसीदास जी आगे कहते हैं कि साधु, सन्तों का जीवन तो चलता-फिरता तीर्थाटन है। वह पवित्र प्रयाग की तरह जहाँ तीनों नदियाँ गंगा, यमुना और सरस्वती आ कर मिलती हैं, उसी को संगम कहा गया है। राम के लिए उनका पवित्र प्रेम ही मुख्य धारा है। संगम पर सरस्वती का रूप निर्गुण ब्रह्म की तरह दिखाई नहीं देता। वह उपासना से भी विश्रुत करने योग्य नहीं है। ईश्वर तक पहुँचने के लिए यही दार्शनकि पृष्ठभूमि है। उनके आचरण के नियम यमुना के पवित्र जल की भाँति हैं। यह चलता-फिरता तीर्थाटन हर क्षण, हर समय और सभी देशों में उपलब्ध रहता है। साधुओं की सत्संगति के बिना विवेचन असंभव है। यह सब कुछ वैसे ही है जैसे ईश्वर की कृपा के बिना कुछ भी प्राप्त नहीं किया जा सकता।

तुलसीदास राम का नाम जपने से कभी थकते नहीं। वह तो राम के स्वामिभक्त दास हैं। राम-भक्तों के लिए सबसे बड़ी श्रद्धा की बात वहाँ आती है जहाँ वह दूसरे काण्ड के अन्त में भरत की प्रशंसा करते हैं।

**"सिय राम प्रेम पियूष पूरन होत जनमु न भरत को।**<br>
**मुनि मन अगम जम नियम सम दम विषम ब्रत आचरत को।**<br>
**दुख दाह दारिद दंभ दूषन सुजस मिस अपहरत को।**<br>
**कलिकाल तुलसी से सठन्हि हठि राम सनमुख करत को।**<br>
**भरत चरित करि नेमु तुलसी जो सादर सुनहिं,**<br>
**सीय राम पद प्रेमु अवसि होइ भव रस बिरति।"**

सारांश रूप में यह अवश्य कहना चाहिए कि यद्यपि तुलसीदास ने न तो किसी नवीन सिद्धान्त की बात की और न ही किसी नवीन सम्प्रदाय की तो भी उनका अपना पवित्र जीवन और उनकी कविता के जादू ने भक्ति मार्ग के लिए ऐसा असाधारण मार्ग प्रशस्त किया है जिसे सैकड़ों गुरु मिल कर भी उतनी वाक्-पटुता नहीं ला सकते।

●

# दलितचेतना और रामावतसम्प्रदाय

डॉ. उदयप्रताप सिंह

कालक्रम के प्रवाह में सामाजिक जीवन घात-प्रतिघातों, विघटन-संघटनों के अनेक स्तरों से यात्रा करते हुए एक स्वरूप ग्रहण करता है। सामाजिक दृष्टि से बड़ी जातियाँ कभी छोटी हो जाती हैं तो छोटी जातियाँ बड़ी। सामाजीकरण की इस प्रक्रिया में सम्राटों के निर्धन होने के दृष्टांत मिलते हैं तो निर्धनों के सम्राट् बनने के उदाहरण भी देखे जा सकते हैं। निकट अतीत में राजभर जाति वाराणसी आजमगढ़ और निकटस्थ भूभागों में कभी सत्ता की बागडोर सँभालते दिखाई पड़ती है। कभी पराक्रमी राजा सुहेलदेव गाजीमियाँ को बहराइच में परास्त करता है। जिससे इतिहास एक नया मोड़ लेता है। इसी जाति को कभी भारशिव कहा जाता जो आज पिछड़ी-निर्धन जाति में सिमट कर रह गयी है। योगी जाति की कहानी भी कुछ इसी प्रकार की है।[१] उसी जाति में कबीर जैसा महात्मा वैष्णवता का हिमालयी व्यक्तित्व बन जाता है। भारत वर्ष के अनेक प्रांतों में राजपूतों की सत्ता व्याप्त रही है पर उन्हीं स्थानों पर वे पिछड़ी जातियों में परिगणित होने लगे हैं। यादव जाति के साथ अतीत ने कुछ इसी प्रकार का परिवर्तन कर रखा है। ब्राह्मणों में योगी, यती, गुसाईं आदि इसी प्रक्रिया के प्रतिफल कहे जा सकते हैं। इस सत्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि सत्ता और उससे उत्पन्न अधिकार एवं अर्थ इन परिस्थितियों को धारदार बनाने में सहायक रहे हैं। भारतीय चिंतनधारा मुख्यत: भक्ति के आध्यात्मिक प्रस्थान में दलित और ब्राह्मण का भेद कभी स्वीकृत नहीं रहा है। ईश्वर की सत्ता में जीव मात्र समानता का अधिकारी है। वैसे भी दलित और उच्च दोनों का संसार में आना एक ही प्रक्रिया का परिणाम है। जन्म-मृत्यु, मांस-रक्त सब तो एक ही हैं फिर ब्राह्मण, शूद्र, छूत-अछूत सम्पन्न-निर्धन की व्यवस्था किसने की? यह एक बड़ा प्रश्न कबीर समाज के समक्ष रखते हैं।[२]

विचारणीय है कि कभी राजनीतिक छल-छद्म एवं अपरिपक्व पौरोहित्य कर्म ने ईश्वर की संतान मनुष्य को जातियों-उपजातियों, छोटों-बड़ों, कुलीनों-अकुलीनों में विभक्त किया तो आज की राजनीतिक प्रणाली उन्हीं की गयी सामाजिक भूलों को और पुष्ट बना रही है। अतीत की सामाजिक भूलें या दुरभिसंधियाँ आज शासकीय एजेण्डा बनने में गर्व अनुभव कर रही हैं।

वस्तुतः इस प्रकार की प्रवृत्तियाँ इस्लामी शासन के प्रतिफलन के रूप में देखी जानी चाहिए। उस समय बहुत सी बड़ी जातियों को दरबारी संस्कृति के कारण अपनी मूल जाति और धर्म से च्युत होना पड़ा। बहुत बड़ा वर्ग मुसलमानों के साथ आयी जातियों से समरस होने लगा। फलतः नयी जातियों का उन्मेष होता गया। हिन्दुओं के पूर्वजों में बहुत कम ही लोग ऐसे थे जिन्होंने स्वेच्छा से धर्मांतरण किया। धर्मांतरित भारतीय मुसलमानों में हिन्दू मूल के लोग ही बहुसंख्यक हैं। अध्ययन से ज्ञात होता है कि आज के मुसलमान हमारे ही रक्त बंधु हैं तथा वे उन पूर्वजों के वंशज हैं जो किसी कारण विशेष से धर्मान्तरण के फलस्वरूप हमसे बिछुड़ गए।[३] मेहतर, भाँट अन्यान्य जातियाँ इन्हीं परिस्थितियों की उपज हैं। उस समय हिन्दू-पुरुष द्वारा मुस्लिम औरतों से विवाह करने के कारण उन्हें भी इस्लाम स्वीकार करना अनिवार्य था। एक तो हिन्दुओं की कट्टरता उन्हें हृदयंगम नहीं करती थी। दूसरे इस्लाम की शासकीय अहंमन्यता उन्हें सामाजिक प्रतिष्ठा नहीं देती थी। शनैः-शनैः ऐसे लोगों का एक बड़ा समूह बनता गया। कपड़े की सिलाई करने वाले दर्जी, विभिन्न अवसरों पर बाजा वाले दफाली, बाल काटने वाले नाई (तुर्की), सफाई करनेवाले मेहतर, पत्थर काटने वाला पथरकट्टा इत्यादि दलित श्रेणी में होते हुए भी इस्लाम मतावलंबी हैं। युद्ध काल में यह प्रक्रिया और तीव्रता से चली। "इस्लामी आक्रांता पराजित एवं युद्ध बंदी हिन्दू सैनिकों को गुलाम बनाते, बार-बार क्रय-विक्रय करते थे और वे अभागे हिन्दू गुलाम कालांतर में मुसलमान बनने को विवश होकर मुस्लिम जनसंख्या की वृद्धि के मुख्य घटक बन जाते थे। यह प्रथा भले ही बड़ी क्रूर मालूम देती हो लेकिन इस्लामी धर्म विज्ञान के अनुसार युद्ध में शामिल न होने वाले काफिर पुरुषों, महिलाओं एवं बच्चों को गुलाम बनाना अल्लाह के द्वारा पुरस्कार के रूप में योद्धाओं को दिया जाने वाला स्वीकृत एवं अनुमोदित उपहार है। इस्लाम के समर्थकों ने अल्लाह की इस अनुज्ञा को निष्ठापूर्वक कार्यान्वित ही किया है।"[४] राजपूत जाति में उत्पन्न होने वाले दरियासाहब मुस्लिम दर्जी जाती की स्त्री से विवाह करने के कारण दर्जी (मुस्लिम) हो गयें।[५] इसी प्रकार मध्यकालीन भारत में अनेकानेक नयी जातियों का सृजन होता रहा जो न पूर्णतः हिन्दू थीं और न मुसलमान ही, वे कालांतर में दलित हो गयीं तमाम ऐसी हिन्दू जातियाँ जो मुस्लिम दरबारों में सेवा कार्य से जुड़ी थीं। हिन्दू समुदाय में उन्हें सम्मान नहीं मिल सका। धार्मिक अलगाव के कारण उन जातियों की इस्लाम से स्वाभाविक दूरी बनी हुई थीं। मुसहर, तेली, दुसाध, चमार, विंद, पासी इत्यादि जैसी जातियाँ इसी श्रेणी में आती हैं। पुरोहितों के एक वर्ग ने उन्हें मंदिर प्रवेश से वर्जित कर दिया। शास्त्राध्ययन पर रोक लगा दी। इस तरह सम्पूर्ण मध्यकाल उथल-पुथल की घटनाओं और परिस्थितियों से भरा पड़ा है। ऐसे ही समय में सिद्धों-नाथों ने तो कम पर संतों और

सूफियों ने सम्पूर्ण भारतीय समाज को भक्ति के महाभाव से जोड़ने का अद्भुत प्रयास किया। इनके संयुक्त प्रयास ने जाति-पाँति की निस्सारता को जनसामान्य तक पहुँचा दिया। छुआछूत की भावना को नकारा। वैषम्य को मिटाने की धर्मसनी वाणियाँ दीं। सभी ईश्वर के अंश हैं इसकी प्रतीति करायी। इसीलिए समूचे मध्यकाल में भक्ति का प्रवाह सामाजिक समरसता के आंदोलन के रूप में दिखायी पड़ता है। ध्यातव्य है कि मुस्लिम शासित प्रांतों में इस आंदोलन की गति अत्यंत तीव्र थी। इस आंदोलन का मूल कारण दो संस्कृतियों तथा जातियों का टकराव ही नहीं वरन व्यापक पैमाने पर धर्मांतरण भी रहा है।

छोटा- बड़ा, ऊँच-नीच, शासक-शासित, शोषक-शोषित, दलित-सवर्ण, काला-गोरा का भेद सम्पूर्ण विश्व में न्यूनाधिक दिखायी पड़ता है। विश्व के अनेक भागों की भाँति भारत में भी जातियों में टकराव हुए हैं लेकिन इस्लामीकरण का यही एक प्रमुख कारण था यह एक भ्रांति है।''[६] यह प्रवृत्ति मनुष्य के स्वभाव के रूप में पनपने लगी है। इतना ही नहीं दलितों में दलित जातियों में जाति, नीचों में नीच देखने की प्रवृत्ति भी दिखायी पड़ने लगी है। भारतीय समाज में कतिपय ब्राह्मण यदि छुआछूत को प्रतिष्ठित करते हैं तो धोबी-चमार से अहीर-ढँढोर से, पासी दुसाध से, परहेज करता है। शेख और पठान मोमिन अंसार से, दूरी रखना चाहता है। अंग्रेजों में भूस्वामी (लैण्डलार्ड) कम जमीन वाले से, प्रोटेस्टैन्ट कैथोलिक से भेद रखता है। इन भेदोपभेदों की लम्बी प्रक्रिया में आर्थिक रूप से विपन्न होता तथा सामाजिक रूप से निरादृत होता मानव समूह एक दिन दलित की राह पकड़ लेता है। समाज की इन विषमताओं और रूढ़ियों को भंजित करने का प्रयत्न प्रत्येक समाज में समय-समय पर चलता रहा है। विचारकों, संत-साधुओं, समाज सुधारकों, चिंतन मनन करने वाले मनीषियों, कवि रचनाकारों ने सामाजिक विकास और मानवता के दैवी प्रकाश में इन प्रवृत्तियों को काल बाह्य घोषित किया है, निरर्थक बताया है, धिक्कारा है और अंततः खारिज भी किया है।

आज का प्रचलित दलित चिंतन निकट अतीत का प्रदेय है। इसमें एकांगी दृष्टि का नियोजन है और राजनीतिक छलछद्म की रुनझुन होती है।[७] यहाँ सामाजिक भाव को जातीय परिवेश में परिभाषित किया जा रहा है। फलतः यह राजनीतिक अधिक सामाजिक कम दिखायी पड़ता है। इसमें सम्पत्ति की बात अधिक और भाव साम्य की बात नहीं के बराबर की जाती है। अतः शासकीय सुविधाओं के बावजूद सामाजिक सौख्य अनुपस्थित है। दलित वही जो कालक्रम में अपने अधिकारों से वंचित हो गया है। सामाजिक न्याय की परिधि से बाहर कर दिया गया है। पीढ़ी दर पीढ़ी अभिशाप को वहन कर रहा है। राजनीतिक दल दलितवर्ग की शताब्दियों से उत्पन्न समस्याओं

का समाधान नहीं दे पा रहे हैं; अपितु अन्य जातियों के प्रति प्रतिशोध की भावना उत्पन्न कर रहे हैं। आरक्षण इत्यादि की नीतियाँ इस विखण्डन की प्रवृत्ति को और बढ़ा रही हैं। आरक्षण मुख्य रूप से दलितों-पिछड़ों के उत्थान का मात्र राजनीतिक प्रयास है। दलित वर्ग को लेकर कुत्सित राजनीतिक प्रयास सम्पूर्ण देश में चल रहा है जिससे दलित आंदोलन प्राणहीन तथा विवादास्पद हो रहा है, सामाजिक ताना-बाना भी चटक रहा है। यह तो धीरे-धीरे अंग्रेजों की नीति पर चलना हो गया है। २०वीं शती के तीसरे दशक में मुसलमानों के लिए अलग क्षेत्र और प्रातिनिधिक व्यवस्था की स्वीकृति देकर अंग्रेजों ने दलित भावना को तीव्रतर किया। परिणामतः महाराष्ट्र में सुसंगठित दलित चिंतन और चेतना पर विमर्श होने लगा। नाटक, कहानी, उपन्यास तथा अन्य विधाओं के माध्यम से दलित भाव को उत्तेजित करने का प्रयास चलने लगा। अमेरिका में लिखा गया निग्रो साहित्य भारतीय दलित लेखन का महत्त्वपूर्ण आधार बन जाता है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य में दलित चेतना का प्रथम उन्मेष १९१४ ई. में दिखायी पड़ता है। वह मराठी में लिखे साहित्य से बहुत पहले का है। बिहार के भोजपुर जनपद में जन्म लेने वाले हीरा डोम ने पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी-संपादित 'सरस्वती' पात्रिका में 'अछूत की शिकायत' नाम से एक स्वलिखित कविता प्रकाशित करवायी थी। हिन्दी में दलित भाव-बोध की यह पहली कविता कही जाती है। इसमें दलित की वस्तुस्थिति, बेइंतहाँ पीड़ा की अभिव्यक्ति, ईश्वर के न्याय पर प्रश्न चिह्न, स्वधर्म के प्रति स्वाभिमान, सामाजिक व्यवस्था के खोखलेपन की ओर संकेत, पौराणिक आख्यानों पर तीखा व्यंग्य, जातियों के हिसाब से बँटे कर्म की निस्सारता, एक ही हाड़मांस से सबकी निर्मिति पर किसी को दुख और किसी को सुख क्यों, बेगार की प्रतिध्वनि, प्रताड़ना तथा जबर्दस्त तिरस्कार और घृणा, एक साथ ध्वनित होती है। दलित हीरा डोम की यह कविता आधुनिक हिन्दी साहित्य में एक नयी संभावना की ओर संकेत करती है। हिन्दी में दलित लेखन की शुरुआत यहीं से स्वीकार करना चाहिए। प्रसिद्ध समीक्षक डॉ. रामविलास शर्मा ने भी इस कविता का उल्लेख दलित लेखन के संदर्भ में किया है। समानता की पक्षपर तथा दलित श्रेणी के हीरा डोम द्वारा लिखित यह कविता दलित चेतना और चिंतन का दस्तावेज तो है ही आधुनिक हिन्दी साहित्य के दलित लेखन का प्रमुख उत्स भी है। बानगी के लिए कुछ पंक्तियाँ नीचे दी जाती हैं–

**हमनी के राति दिन दुखवा भोगत बानी हमनी के साहब से मिनती सुनाइब।**
**हमनी के दुख भगवनवो ना देखता जे, हमनी के कब तक कलेसवा उठाइब।**
**पदरी साहिब के कचहरी में जाइब जा, बेधरम होके रंगरेज बनि जाइब।**
**हाय राम धरम ना छोड़त बनतबा जे, बेधरम होके कैसे मुँहवा देखाइब।।**

**हड़वा मसुइया के देहिया ह हमनी के ओकरे के देहिया बभनवो के बानी।**
**ओकरा के घरे-घरे पुजवा होखत बा जे सारे इलकवा में भइलें जजमानी।।**
**हमनी के इनरा का निगिचे न जाइलें जा पाँके में से भरि भरि पियतानी पानी।**
**पनहीं से पिटि-पिटि हाथ गोड़ तुड़िदेलें, हमनी के एतनी काहे के हलकानी।**[८]

कविता में अभिव्यक्त अछूत की वेदना वस्तुतः हमें इतिहास के पुनरावलोकन तथा भारतीय सामाजिक व्यवस्था के पुनर्विश्लेषण का अवसर प्रदान करती है। निश्चित रूप से हमारे अतीत के सामाजिक जीवन में अन्याय हुए हैं। लोंगो को अधिकारों से वंचित किया गया है, उत्पीड़न का लक्ष्य बनाया गया है। शास्त्रों की गलत व्याख्या की गई है। पर प्रारंभ में ही संकेत किया गया है कि जाति आधृत सामाजिक व्यवस्था में भारतीय समाज में उत्पीड़न की घटनाएँ अत्यल्प हैं। मुगल और अंग्रेज शासकों ने भारतीय समाज को विभिन्न भौतिक सुख-सुविधाओं के आधार पर बाँट दिया। उनके समस्त निर्णय जातीय आधार पर ही लिए जाते थे। अतः विभिन्न जातियों के बीच अधिकारों को लेकर एक द्वन्द्व चलने लगा। जमींदारी प्रथा का परिचालन मुगलों से होता हुआ अंग्रेज शासकों तक आता है। मुगल व अंग्रेजों की नीतियों से जैसे जमींदार प्रभावित होते थे उसी प्रकार का व्यवहार जमींदारों का दलितों के प्रति भी दिखायी पड़ने लगा। इस प्रकार सामाजिक विघटन और वैषम्य के मूल में विदेशी शासकों की नीतियाँ ही मुख्यतः जिम्मेदार रही हैं न कि प्राचीन भारतीय सामाजिक व्यवस्था। कहा जा सकता है कि पौरोहित्य कर्म ने इस भावना को बढ़ावा दिया।

मध्यकालीन भारत में मुगलों की सत्तास्थापना के कुछ वर्षों पूर्व से ही नाथों, सिद्धों, संतों तथा सूफी फकीरों की एक बड़ी जमात भी सामाजिक सौख्य स्थापित करने में सक्रिय दिखायी पड़ती है। जातीय विभेद, हिन्दू-मुसलमान का सांस्कृतिक संघर्ष, सम्प्रदायों की अनुदारता, जातिबोध की अहमन्यता, शास्त्रों की स्वार्थ केन्द्रित व्याख्याजन्य, मध्यकाल में खूब हुई। अतः शास्त्रबद्धता और पौरोहित्य कर्म की वर्गीय चेतना से तत्कालीन हिन्दी साहित्य सहमत नहीं दिखायी पड़ता। सिद्धों और नाथों ने जनजागरण के माध्यम से ऐसी संकीर्ण प्रवृत्तियों का मुकाबला किया। १०वीं से १२वीं शती तक आचार्यों सिद्धों-नाथों और संतों ने भारतीय समाज का मंथन कर ऐसी भाव-भूमि निर्मित की जिस पर प्रगतिशील चेतना से मण्डित स्वामी रामानंद का अवतरण हुआ।

स्वामी रामानंदाचार्य ने (१२९९ ई.-१४१० ई.) वाराणसी के पंचगंगाघाट पर तपोरत रहते हुए भारतीय साधक समाज में महती प्रतिष्ठा अर्जित की थी। लोकमानस में उनकी मर्यादा का सर्वाधिक महत्व तत्कालीन इतिहास का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है। इस समय तक इस्लाम मतावलंबी फकीरों, सूफियों को भी स्वामी जी की

साधना ने प्रभूत मात्रा में आकृष्ट कर रखा था। उनके जीवन वृतांत में कई ऐसे प्रसंग आते हैं जिनमें तत्कालीन इस्लामी सम्राटों ने उनके आगे समर्पण तक कर दिये हैं। उनकी शंख-ध्वनि में अजान के स्वर विलीन हो जाते थे। स्वामी जी की प्रभविष्णुता भारतीय लोक मानस पर इतनी अधिक चढ़ी हुई थी कि हिन्दू तो उन्हें 'रामानंदः स्वयं रामः प्रादुर्भूतो महीतले' के रूप में स्वीकार ही करते हैं।[९] इस्लाम मतावलंबी अरबी-फारसी के ज्ञाता मौलबी भी उनकी मृत्यु पर अपनी अभिव्यक्ति को रोक नहीं पाते:

**रहनुमाए सालँका साहिब कमाल, मुरशिदे कामिल कबीरो बेमिशाला।**
**दर रजब विस्मुत फिना फिल्लाहशुद, स्वामी रामानंद मुजतर पुरब बाल।।**[१०]

अर्थात् ईश्वर भक्तों के पथ प्रदर्शक, परमोत्कृष्ट ज्ञानी, कबीर के अद्वितीय गुरु जिनके समान ज्ञानी दूसरा कोई नहीं ऐसे प्रभावशाली स्वामी रामानंद ता. २० रज्जब को परमात्मा से जा मिले। उक्त कथन का विश्लेषण करने पर ज्ञाता होता है कि ८७६ हिजरी सन् की तारीख २० रज्जब चैत्र शुक्ला रामनवमी सम्बत् १५१५ वि. को पड़ी थी। इसी तिथि पर स्वामी रामानंद ने अयोध्या में मृत्यु का वरण किया था। तिथियों के दस-पाँच वर्ष इधर-उधर होने का ध्यान न रखते हुए इतना तो सिद्ध ही है कि उस समय तक स्वामी रामानंद जगतगुरु से अलंकृत हो चुके थे। इस्लाम मतावलंबियों में उनकी साधना की तेजस्विता प्रविष्ट कर चुकी थी। जुलाहा कबीर स्वामी रामानंद से अभिमंत्रित होकर वैष्णवता के शिखर पुरुष बन जाते हैं। दलित रैदास महाभागवत बन जाते हैं। इस प्रकार स्वामीजी का आकर्षक व्यक्तित्व भारतीय समाज को अनेक रूपों में आलोकित करता दिखायी पड़ता है।

स्वामी रामानंद प्रगतिशील चेतना से मंडित महात्मा थे। सामाजिक क्षेत्र में कार्यरत किसी भी व्यक्तित्व को प्रगतिशीलता का मंत्र ग्रहण करना ही पड़ता है। आज की धर्मद्रोही प्रगतिशीलता उन्हें मान्य नहीं थी। उनकी प्रगतिशील जीवन दृष्टि सम्पूर्ण धार्मिक आस्था के साथ सामन्जस्य का पक्षधर थी। सामाजिक, धार्मिक अथवा अन्य क्षेत्रों में समय सापेक्ष का आना स्वाभाविक है। स्वामी जी समय के महत्व तथा स्वभाव को पहचानने वाले सर्वाधिक निपुण महात्मा थे। युग प्रवृत्तियों के अन्तः एवं बाह्य प्रवाह का उन्हें पूर्ण ज्ञान था। मुगलसत्ता के हस्तक्षेप से सामाजिक विघटन तथा नवीन मानव वर्गों (दलित) का निर्माण उनकी दृष्टि में था। अतः स्वामी रामानंद शास्त्रानुमोदित पक्ष का सम्मान करते हुए भी समाज में व्यावहारिक पक्ष पर विशेष ध्यान रखते हैं। वह हिन्दू समाज को विभिन्न साँचों में विभक्त नहीं देखना चाहते। सबको ईश्वर की सृष्टि मानकर सार्वकालिक सिद्धान्त "जात पाँत पूछे ना कोई। हरि को भजै सो हरि का होई।" की उद्घोषणा करते हैं।

रामानंदी मान्यतानुसार 'प्रसंगपारिजात' के रचयिता चेतनदास, स्वामी रामानंद के शिष्य थे। यद्यपि नाभादास उल्लिखित द्वादश शिष्यों में चेतनदास का नाम नहीं आता। फिर भी पंथीय विश्वास के अनुसार रामानंद जी के उपदेशों को चेतनदास ने पैशाची भाषा में उनकी मृत्यु के दो वर्ष बाद लिपिबद्ध किया था। 'प्रसंगपारिजात' के अंत में ग्रन्थपूर्ण होने की तिथि १५१७ विक्रमाब्द अंकित है।[११] स्वामी जी ने मृत्यु का वरण १५१५ वि. में किया। 'प्रसंग-पारिजात' के अष्टपदी संख्या १५ पृ. २४ पर दलित चेतना का बीजमंत्र दिया हुआ है। पैशाची भाषा में लिखित इस पुस्तक की प्राचीनता तो असंदिग्ध है पर कतिपय विद्वान् इसे प्रामाणिक ग्रंथ नहीं स्वीकारते। इन सब विसंगतियों के उपरांत इस ग्रंथ से स्वामी रामानंद के वैचारिक धरातल का आभास तो मिल ही जाता है। संत साहित्य पर सर्वाधिक प्रामाणिक सूचना देने वाली पुस्तक नाभादास कृत 'भक्तमाल' भी स्वामी रामानंद की पाँचवी पीढ़ी की रचना है। इस तर्क के आधार पर 'प्रसंगपारिजात' को दलित चेतना का आधार ग्रन्थ स्वीकार करने में कोई असहज स्थिति नहीं होनी चाहिए। 'प्रसंगपारिजात' की वे पंक्तियाँ निम्न प्रकार से मिलती हैं:

**विप्पां भुचंसा माह किण। तिसुधा मुधाता लाहलिण।।**
**लुह वाचलुं विग घासुमू। वह खाच भाड़िस चासुमू।।**[१२]

अर्थात् "सब शास्त्रों का सार भगवान् का स्मरण करना है। यही संतों का जीवनाधार है। शिखासूत्र के आधार पादज और अन्त्यज हैं। भाई पैरों को काटकर समाज को पंगु मत बनाना। "उक्त पद का ध्वन्यर्थ यही निकलता है कि सनातन धर्म के आधार स्तंभ शूद्र और दलित हैं। उन्हें सामाजिक तिरस्कार देकर हिन्दू समाज को कमजोर नहीं करना चाहिए। उन्हें आत्मीयता से अपनाकर बंधु-भाव विकसित करना चाहिए। पादज (शूद्र) अंत्यज (दलित) तो कर्म के साक्षात् स्वरूप हैं। पादजों-अन्त्यजों रहित समाज की कल्पना दिवा स्वप्न है। उनके अलगाव से समाज का एक महत्वपूर्ण पायदान टूट जाएगा। समाज लँगड़ा हो जाएगा।[१३] स्वामी रामानंद की यह प्रगतिशील सोच उनकी विशिष्टाद्वैतवादी दार्शनिक अवधारणा की उपज कही जाएगी जिसमें जगत् जीव और ईश्वर तीनों की सत्ता महत्वपूर्ण है। जीव दास्य भाव से ईश्वरार्पण करता है। भक्ति का चरम ही दास्यभाव की प्रतीति है। अर्थात् सम्पूर्ण जीव दास्यभाव से ईश्वराधीन है। फिर पादज और अन्त्यज का प्रश्न कहाँ? मुक्ति तो सारूप्य, सालोक्य और सामीप्य का मिश्रित प्रतिफल है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सामाजिक अधिकारों से वंचित, अनादृत समाज के आधार स्तंभ दलितों के प्रति स्वामी रामानंद के हृदय सागर में समानुभूति एवं सहानुभूति की अनंत उर्मियाँ उठती रहीं हैं।

जगत्गुरु रामानंदाचार्य ने अपने दीर्घजीवनकाल में शास्त्र की पंक्तिबद्धता को कभी सर्वोपरि नहीं स्वीकार किया। उनके समक्ष तत्कालीन भारत के दयनीय समाज का

चित्र निरंतर दिखायी पड़ता था। फलतः स्वामी रामानंद ने सामाजिक अभियान जो पूर्णतः धार्मिकता से आवेष्टित था, में पादजों (शूद्रों) अन्त्यजों (दलितों) तथा स्त्रियों को बराबर का महत्त्व प्रदान किया है। वर्णाश्रम व्यवस्था के संपोषक होते हुए भी उपासना के क्षेत्र में किसी भी लौकिक प्रतिबंध को स्वीकार नहीं करते हैं यही कारण है कि उनके द्वादश शिष्यों में ब्राह्मण, राजपूत, चमार, मुसलमान, अन्त्यज तथा पादज सभी थे। यह रामानंद के मंत्र का ही परिणाम था कि मध्ययुगीन भारतीय मानसिकता में चमार के घर जन्म लेकर रैदास भक्त शिरोमणि कहलाए। कबीर जुलाहे के घर पैदा होकर महाभागवत बन गए। मध्यकालीन भक्ति आंदोलन की इन चमत्कारी एवं क्रांतिकारी घटनाओं में स्वामी रामानंदाचार्य का अभिमंत्रण ही काम कर रहा था। सेन-नाई को शिष्य बनाकर प्रगतिशील सोच में एक नया अध्याय जुड़ जाता है। राजस्थान में पीपा  राव अत्यंत बलशाही राजपूत राजा थे वह भी स्वामी रामानंद के शिष्य बनकर भक्तों-संतों की श्रेणी में अग्रणी हो गये। संत रैदास के शिष्यत्व के अवसर पर भारतीय स्तर का संतों का भण्डारा स्वामी रामानंद की सामाजिक दूरदृष्टि का परिचायक है तो दलित प्रेम का पुष्ट प्रमाण भी।[१४] भारतीय समाज को सुदृढ़ बनाने के लिए स्वामी रामानंद ने पादजों (शूद्रों) अन्त्यजों (दलितों) तथा स्त्रियों की सामाजिक प्रतिष्ठा पर विशेष बल दिया था। उन्होंने भक्ति की स्रोतस्विनी से जहाँ जातिभेद के कल्मष को प्रक्षालित किया वहीं अशिक्षित अछूत कही जाने वाली जातियों के लिए धर्म का द्वार भी उन्मुख कर दिया। 'सुरसरि' और 'पद्मावती' जैसी स्त्रियों  को शिष्या बनाकर भक्ति की अधिकारिणी बनाया। जनभाषा (हिन्दी) में कविता रचकर जनसामान्य का मार्ग भी सुलभ कर दिया। ऐसे लोकाभिमुखी आचार्य के कर्म मानव जाति के लिए संजीवनी सदृश हैं। उनकी स्पष्ट मान्यता थी कि समन्वित भारतीय भाव-धारा में सबको समरसता बंधुता तथा सामाजिक उन्नति का समान अवसर उपलब्ध है। आचार्य रामानंद के भीतर प्राचीन और नवीन के बीच निरंतर द्वन्द्व चलता रहता था। शास्त्रों का भाष्य करते समय वे वर्णाश्रम के प्रतिबंधों का खण्डन नहीं कर सकते थे; किन्तु उनके लिए यह भी कठिन था कि किसी भक्त का निरादर सिर्फ इसलिए करें कि उसका जन्म ब्राह्मण या द्विज वंश में नहीं हुआ है। विचार से वे कठोर किंतु आचार से दयालु संत थे। उनका उद्देश्य रूढ़ियों और जड़ताओं को भंग करना था साथ ही ऐसे नवसमाज का सृजन भी था जिसमें मानवीय स्तर पर भेद-भाव न हो।[१५] इसीलिए सामाजिक समानता और सौख्य हेतु उन्होंने अपने द्वादश प्रमुख शिष्यों में प्रायः उतनी ही जातियों का समावेश किया। सदना जैसे कसाई को भी शिष्य बनाकर स्वामी रामानंद ने अपनी उदारता तथा हृदय की निर्मलता का परिचय दिया था। दलित चेतना का इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है? वह भी आज से सात सौ चौदह वर्ष पहले।

स्वामी रामानंद ने धर्म के माध्यम से समाज सुधार का जो आनुष्ठानिक अभियान चलाया वह कबीर, रैदास, पीपा, धन्ना, नरहर्यानंद, तुलसीदास द्वारा होता हुआ आज के संत समाज में व्याप्त है। परिणामतः कबीर (जुलाहे) के असंख्य शिष्य सवर्ण हुए रैदास (चमार) की शिष्या झाला की रानी (क्षत्रिय) मीराबाई हुई। राजपूत पीपा के शिष्य आदिवासी जातियाँ तथा मुसलमान हुए। सेन (नाई) के शिष्य महाराजा तक हुए। धन्ना (जाट) के शिष्य ब्राह्मण हुए। स्वामी रामानंद द्वारा प्रवर्तित सात सौ चौदह वर्षीय प्राचीन परम्परा आज भी उनके मूल गादी श्रीमठ पंचगंगा से संचालित हो रही है। वर्तमान आचार्य स्वामीरामनरेशाचार्य जी प्रतिवर्ष रामानंदाचार्य जयंती पर अखिल भारतीय दलित सम्मेलन का आयोजन करते हैं। इसमें सम्पूर्ण देश से आए दलित वर्ग के संत स्वामी रामानंद को प्रणाम करते हुए सामाजिक समानता, धार्मिक एकता का संकल्प लेते हैं। रामानंदी साधुओं-साधकों तथा संतों के इस सम्मेलन से अद्यावधि रामावत सम्प्रदाय में दलित चेतना का रेखांकन किया जा सकता है। दलित चेतना के इस दीर्घकालिक प्रवाह में रामावत सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक (उन्नायक) स्वामी रामानंद का सात सौ चौदह वर्षीय प्रदेय भूलने का विषय नहीं।

## संदर्भ

१. कबीर : हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. ८६
२. एक नूर ते सब उत्पन्ना को बाभन को सूदा।
३. भारतीय मुसलमान : डॉ. किशोरीशरण लाल, पृष्ठ भाग।
४. भारतीय मुसलमान : किशोरीशरण लाल भूमिका, पृ. २१
५. दरियासागर पृ. २०५: दरिया साहब (विहार वाले)
६. भारतीय मुसलमान : किशोरीशरण लाल पृ. भाग।
७. जात-जात में जात है ज्यौं केलन में पात।
रविदास मनुज न जुड़ सकै जब लौ जात न जात।।-रविदास साखी।
८. सरस्वती १९१४ ई. : संपादक- महावीर प्रासाद द्विवेदी नागरीप्रचारिणी सभा का अंक।
९. वैश्वानार संहिता।
१०. प्रसंगपारिजात, चेतनदास भूमिका।
११. प्रसंगपारिजात- चेतनदास अंतिम पदी।
१२. अष्टपदी सं. १०६ में मृत्यु क्षण का उल्लेख।
१३. प्रसंगपारिजात १५ वीं पदी पृ. २४।
१४. आचार्य रामानंद का सामाजिक परिवेश : मोहन लाल तिवारी: श्रीमठ स्मारिका पृ. ४०, १९८९ ई.
१५. मध्यकालीन भारतीय इतिहास : रामधारी सिंह दिनकर पृ. १९०।

●

# भारत की स्त्री सन्त परम्परा

**डॉ. बलदेव वंशी ***

विश्व का सबसे बड़ा लोकतन्त्र भारत है। इक्कीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में नारी सशक्तीकरण की दिशा में बढ़ता हुआ, नारी-मुक्ति आन्दोलन के विश्वव्यापी अभियान को दिशा दे रहा है। ऐसा भारत अपने अतीत वेद काल में अपनी विदुषी नारियों को, ऋषि माताओं और सन्त नारियों को विश्व-मानव समाज के सामने एक आदर्श के रूप में रख सकता है। अतीत में विश्व का ज्ञान गुरु रहा भारत आज भी अपने गुरु दायित्व को इस दिशा में सिद्ध करे तो यह एक स्पृहणीय कार्य होगा।

पुरातन काल की ऋषि-माताएँ-गार्गी, घोसा, अपाला, जुहू, उषा, अदिति, विश्ववारा, गोधा, इला, सरस्वती-सरमा, इन्द्राणी, रोमश, उर्वशी, यमी, लोपामुद्रा, श्रद्धा, सूर्या, सावित्री, शची, सिक्ता, शक्ति, उमा, हेमवती, सुलभ, ममता, वाक्य, रोमशा, आदि वेदकालीन एवं उत्तर वेदकालीन नारियों ने ज्ञान के प्रकाश में अपनी बहुमुखी प्रतिभा का परिचय दिया तथा ऋषियों के दार्शनिक चिन्तन के विकास में सहयोग किया। सन्त नारियों ने इसी प्रकार मध्य युग में पुनः सन्त गुरुओं के संग-साथ में तथा स्वतन्त्र रहकर भी अपनी साधना से सृजन एवं रचना-कर्म से तथा सक्रिय रूप से सामाजिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक क्षेत्रों में दिशा-दर्शी उदाहरण-आदर्श स्थापित किये हैं।

'भारतीय नारी सन्त परम्परा तथा नारी सन्तों की वाणियों में सिमटी वेदना, आत्मा, परमात्मा की सूक्ष्म अनुभूतियों की चर्चा से पहले– क्या ऐसा नहीं लगता कि मानवीय-अति मानवीय प्रकृति-प्रवृत्ति की संरचना के विकास के लिए ही बाहरी ध्वंसात्मक सामग्रियों के साथ आन्तरिक विकास की ईश्वरीय इच्छा आकार ले रही है। स्वयं ही स्वयं का महा-विनाश किसी महत् उद्देश्य के बिना सम्भव नहीं। विधायी शक्ति, जिसने सृष्टि रची है, वह निरुद्देश्य न पहले थी, न अब हो सकती है, न भविष्य में होगी! तब सूक्ष्म एवं अति विकास संरचना के लिए ही अति विनाश-रचना नहीं होती प्रतीत होती! "मृत्यु ही स्वयं पालती है जीवन को/अपने गर्भ में/कमाल से/विनाश की इच्छा में ही गहरे में/विकास के बीज/अंकुरित हो रहे हैं।" (वंशी) श्री अरविन्द का 'अति-मानसी सिद्धान्त' इसी दिशा में फल-फूल रहा है, दिव्यता के

* कवि, समीक्षक और संत साहित्य के विशेषज्ञ, फरीदाबाद, हरियाणा।

फूलों-फलों के लिए! मनुष्य को तीन अस्तित्व उपलब्ध हैं– (पतंजलि योगसूत्र)। स्थूल अस्तित्व– (देह), सूक्ष्म अस्तित्व (मन), कारण अस्तित्व (आत्मा, चेतना), और इससे ऊपर और परे अकारण अस्तित्व (परम-आत्मा)। कबीर ने इस परम सूक्ष्म, परम अगोचर, निराकार, अलख, निरंजन को 'पुहुप बास से पातरा' कहा है। अर्थात् फूल की सुगन्ध से भी अधिक सूक्ष्म और पतला। देह, मन, आत्मा तो मनुष्य की सीमा में आते हैं, किन्तु चौथा अस्तित्व मनुष्य के भीतर भी है आत्म-रूप में तथा समूची सृष्टि में भी व्याप्त है। इसी के लिए कबीर ने कहा है– 'जल बिच मीन पियासी'– समूची सृष्टि ब्रह्मजल, चैतन्यजल से आप्लावित है, जहाँ हमारी, मनुष्य की, जीव की स्थिति एक मछली की भाँति है, जो पानी में रहती हुई भी अपनी अविद्या माया में घिरी होने के कारण ब्रह्मजल का पान करने में असमर्थ होने से प्यासी है। सन्त दादू दयाल भी कहते हैं–

**सरवर भर्‌या दह दिसि, पंछी प्यासा जाये ।**
**दादू गुरु परसाद बिन, क्यों जल पीवे आये ।।**

अर्थात् सारा ब्रह्माण्ड ही ब्रह्मजल से भरा हुआ है। यह दशों दिशाओं से भरा हुआ है, पर यहाँ विचरने वाला जीव पक्षी की भाँति प्यासा ही रह जाता है। अपनी अज्ञानता के कारण पानी की एक बूँद तक नहीं पी पाता, जब तक कि उस पर, मनुष्य पर गुरु की कृपा न हो जाये। क्योंकि गुरु, सद्‌गुरु ही आत्मा-परमात्मा, ब्रह्मजल, परम चेतना की पहचान रखता है, वही हमें भी इसकी पहचान करा सकता है। सन्त ही बिना किसी व्यवधान के, 'बिना कागद की लेखी' (कबीर) के और बिना किसी अवरोध (मन्दिर, मस्जिद आदि) के उस चैतन्य तक सीधे ही अपनी पहुँच रखते हैं। इस कारण वे बाहरी चिह्नों, प्रतीकों, ठिकानों, पूजा-विधानों, तीर्थों आदि को व्यर्थ मानते हैं। सन्त का गुरु कोई प्रचलित अर्थों में सामान्य देहधारी नहीं, बल्कि सद्‌गुरु होता है, जो परम-आत्मा, परम-चेतना के ओज, तेज़, सामर्थ्य के रूपाकार को मानवों के लिए उपलब्ध कराता है। सन्तों का अपना कोई पक्ष या विपक्ष भी नहीं होता। कोई सम्प्रदाय भी नहीं होता। उसकी बद्धता, प्रतिबद्धता प्राणी मात्र के प्रति होती है; किसी भी प्रचलित धर्म-सम्प्रदाय के प्रति नहीं, किसी भी वर्ग-वर्ण, कुल-गोत्र, जाति-वंश, स्थान-क्षेत्र, देश-प्रदेश से वह स्वयं को जोड़ते-बाँधते नहीं। इन अर्थों में सार्वभौम, सार्व-कालिक, सर्व-कल्याणक, सर्व-जनीन उसका समूचा जीवन ही एक सुदीर्घ प्रार्थना होती है, जैसे–

**समूची सत्ता**
**आकाशकी**
**सिमट आती है एक बिन्दु पर।**

**स्वयं ही अपनी छाया में**
**समा जाती है वृक्ष की छाया।**
**ऐसे ही साकार होती है**
**प्रार्थना! (वंशी)**

नारी सन्त भी उक्त गुणों, विलक्षणताओं, सिद्धियों से भरपूर अस्तित्व की अधिकारिणी होती है। अपने गुरुओं के दार्शनिक सिद्धान्त, चिन्तन-पद्धतियाँ, विचार-सारिणियाँ उनकी प्रेरक-उद्धारक बन जाती हैं, तो किन्हीं नारी सन्तों को स्वयं ही स्वतन्त्र रूप में अपना मार्ग ढूँढ़ना-बनाना पड़ता है। पति का, परिवार का, समाज का आश्रय, संरक्षा-सुरक्षा के छिन जाने पर बाल विधवाओं, विधवाओं, परित्यक्ताओं को अपमानित करके घर से बहिष्कृत कर दिये जाने पर, निराश्रित कर दिये जाने पर, देवदासी बना दिये जाने पर ईश्वर या अल्ला की शरण में आने के सिवा जब और कोई विकल्प ही नहीं रहता तब सन्त बनी नारी अपनी आत्म-व्यथा को शब्दों के आवरण में लपेटकर कभी ढँके-उघड़े रूप में, कभी सुन्दर-सुघड़ रूप में गाने-रोने लगती है। अपने ईश्वर-अल्ला को पुकारने लगती है। कभी आत्म-मुग्धावस्था में बचपन से ही मातृत्व की नैसर्गिक प्रवृत्ति वश भगवान के बालरूप को अपना सर्वस्व सौंप देती है।

एक तरह से देखा जाये तो पुरुष सन्तों की भाँति, बल्कि उनसे भी अधिक विद्रोहिणी भूमिकाओं में नारी सन्तों को देख-पाकर समाज उनका शत्रु बन गया। उनकी उपस्थिति से समाज लज्जित-अपमानित भी हुआ है और उन्हें अपने चेहरे पर लगे कल्मष की भाँति मिटा देने का उतारू हो गया। कई नारी सन्तों के जीवन से ऐसे प्रमाण मिलते हैं। मीराबाई सबसे ज्वलंत प्रमाण हैं। राजघराने के सभी आकर्षणों-सुखों को त्यागने वाली, स्वयं की, समाज के सामान्य व्यक्ति के साथ पहचान जोड़कर निर्भय, निर-अहंकार हो आयी मीरा को कभी विष पिलाकर तो कभी सर्प से डँसवाकर मारने के प्रयत्नों को देखा जा सकता है। किन्तु राजघराने के या पुरुष समाज के अहंकार को इन नारी सन्तों ने बड़ी गहरी चोटें दी हैं। इतना ही नहीं, जड़ संस्कारी, अन्ध साम्प्रदायिक, धर्मों के नाम पर अधार्मिक, अधम-मानवीय कृत्यों, अन्यायों को, अन्याय दोहरे-तिहरे घेरों को नारी सन्तों ने तोड़ा है। टूटने की आवाजें ईसा पूर्व काल से लेकर आज तक आयी इन नारी सन्तों की वाणियों में सुनी जा सकती है। मोटे रूप में देखें तो, मध्य युगीन इन सन्तों- हजारों की संख्या में त्याग-तप-होम के कारण भारतीय समाज एवं लोक में विकसित चेतना, जिनमें मिला महात्मा गाँधी, दयानन्द सरस्वती, विवेकानन्द सरीखे महात्माओं के तथा स्वतन्त्रता सेनानियों के बलिदान भी सम्मिलित हैं इन्हीं का सुफल है भारत का धर्म-निरपेक्ष लोकतन्त्र! समाजवाद का, समानता का, न्याय का संकल्प सामने रख कर, सत्व और सात्विकता को आगे बढ़ाने

से देश-समाज विकास करेगा। स्थूल देह को, बाहरी अस्तित्व को स्वस्थ-सबल रखने के लिए कई अनपेक्षित-अन्ध स्वार्थी तत्त्व राह रोकेंगे, उन्हें निर्ममता से मार्ग से हटाने में संकोच न होना चाहिए। आन्तरिक सूक्ष्म, सत्त्व की रक्षा करके ही हम बाहरी स्थूल देह को सबल बनाये रख सकते हैं। व्यक्ति की भाँति समाज और राष्ट्र को भी संयोजित, संयमित, अनुशासित रखने के लिए अपने आत्म, परम-आत्म को सहेजना अनिवार्य होगा।

## नारी संत : 'स्वच्छन्दता' का अर्थ

स्वच्छन्दता का अर्थ उच्छृंखलता नहीं, बँधकर मुक्त होना है। यह बँधना किससे? स्वयं से। अपने 'स्व' से। बाहरी, पराये बन्धन भारी और दुखद होते हैं, जबकि स्व-विवेक से स्वीकार किये हुए सुखद व प्रिय। वैसे बँधना कोई किसी भी रूप में नहीं चाहता, फिर भी बिना बँधे गति नहीं, मुक्ति नहीं, बिना बँधे जीवन भी नहीं :

**कैसी है सृष्टि की परम्परा**
**कैसी है सृजन की परम्परा**
**कि नदी भी**
**अपने लिए दो किनारे बनाती है**
**तभी यह पाती है। (बंलदेव वंशी)**

समूची सृष्टि और सृजन की परम्परा भी स्वयं को स्वयं ही सत-असत, जन्म-मृत्यु के दो छोरों में बाँधकर ही अस्तित्व में आती है। दो तटों के बिना नदी, नदी ही नहीं रह जा सकती। और जीवन भी जन्म और मृत्यु के दो छोरों में बँधकर ही रूप-आकार लेता है, फिर चाहे सुख-दुख हों या खुशी-गमी इन्हीं का लेखा-जोखा महत्त्व रखता है। जीवन कहलाता है। अत: स्वच्छन्दता के लिए अपने ही कारणों से बँधना, सीमा बनाना अति आवश्यक है। फिर इतना तो बाहरी जीवन के लिए हुआ। मनुष्य की गरिमा, सम्मान और विकास के लिए उसका अन्त:जीवन पक्ष और भी अधिक की माँग करता है।

ऋग्वेद में एक छन्द का उल्लेख है। आत्म छन्द कर। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन और प्राण– इन सात पंखुड़ियों वाले पुष्प को छन्द कहा गया है तथा जो व्यक्ति इन उक्त सात पंखुड़ियों वाले पुष्प को स्वायत्त कर देता है, इन्हें अपने अधीन कर लेता है, वही स्व:छन्द कहलाता है। यानी इन्द्रियों, मन और प्राण पर अपने अधिकार के कारण कोई भी व्यक्ति स्वछन्द हो जाता है। और जो व्यक्ति स्वच्छन्द हो जाता है, वही स्व + स्वाधीन (स्वाधीन) होता है। तथा जो स्वाधीन हो जाता है, वही व्यक्ति स्वतन्त्र होता है, वास्तविक अर्थों में। वही व्यक्ति तब केवल अपनी धरती पर विचरण करता, स्थित रहता है। किसी शासक, राजा की धरती पर नहीं रहता तो, देखें स्वच्छन्दता कितना

बाँधती और मुक्त व खाली करती है? भारत यदि शिक्षा-गुरु था, विश्व का तो इन्हीं कमायी गई स्वच्छन्दता के कारण। भारतीय मनीषा ने ये ऊँचे आदर्श स्थापित किये, स्वयं अपने को कसौटी पर कसा बाँधा, तब स्वच्छन्द एवं मुक्त हुई, मुक्त किया। भारतीय नारी भी ऋषियों, महात्माओं, सन्तों के इन आदर्शों को अपने लिए श्रेयस्कर भी मानती रही है और प्रेयस्कर भी, तभी वेद काल में उसने पुरुषों के समकक्ष बैठकर समानता प्राप्त की तथा कहीं-कहीं तो आगे बढ़कर मार्ग भी प्रशस्त किया। ऐसे उदाहरण हमारे वाङ्मय में भरे पड़े हैं। कल भी और आज भी भारत में ऐसी स्वच्छन्दता के अनेक उदाहरण मिल जाते हैं; भले ही बहुत विरल ही सही। अंग्रेजों के शासनकाल में देखें तो बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपत राय, विपिनचन्द्र पाल हों या गाँधी, या साहित्यकारों में माखनलाल चतुर्वेदी, सुभद्रा कुमारी चौहान, चन्द्रशेखर आजाद, भगतसिंह आदि अनेकानेक उदाहरण उक्त कथन को प्रमाणित कर रहे हैं।

तब आज भारतीय नारी को यदि सही अर्थों में स्वच्छन्द-स्वाधीन, स्वतंत्र होना है, तो उसे अपने आत्मछन्द को अर्जित करना होगा। पुरुषों के लिए भी तथा समाज को नेतृत्व देने वाले व्यक्तियों को भी यह स्वछन्दता अपने चरित्रों द्वारा प्रमाणित करनी होगी और भारतीय तथा विश्व-मानव के लिए भी इस स्वच्छन्दता का प्रत्यक्षीकरण करना होगा। भारतीय नारी, आज पश्चिम की नारी के पद-चिह्नों पर, उसके द्वारा उछाले गये नारों पर आँखें मूँदकर चलने को तत्पर दीख रही है। सस्ते में आजादी बटोरकर आजाद हो जाना चाहती है। जो वास्तव में आजादी नहीं, स्वच्छन्दता भी नहीं, उच्छृंखलता है। यह सारी सड़ी-गली बन्धनकारी, हीनता में बाँधने-जकड़ने वाली शृंखलाओं को तोड़-फेंकने के साथ अपनी अर्जित की हुई अतीत सम्पदा से भी मुँह मोड़ लेना चाहती है। भले ही अनजाने ही, किन्तु अनजाने में की गई गलतियों के लिए उसे फिर से सदियों तक पशुता की स्थितियों में बँधना पड़ सकता है। जबकि इक्कीसवीं सदी की जागृति-चेतना इन गलतियों की कोई गुंजाइश नहीं देती।

भारतीय नारी को, सभी जाति-वरण-सम्प्रदाय की नारी को आज ज्ञान-आत्मज्ञान अर्जित करने की समानता अर्जित करने पर अपना पूरा ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। उसे देखना यह होगा कि वह कौन-सी चीज थी, जिससे उसे वंचित कर दिया गया। पूरे नारी वर्ग को, किसी भी जाति-वर्ण-सम्प्रदाय की क्यों न हो अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र– सभी को वेद-ज्ञान से वंचित कर दिया गया। दलितों (शूद्रों) को तथा उनकी नारियों को ही नहीं तथाकथित शेष तीन ऊँची जातियों की नारियों को भी इस ज्ञान से वंचित कर दिया गया। अर्थात्, ब्राह्मणी, क्षत्राणी तथा वैश्य नारी को भी इस ज्ञान (वेद-अध्ययन-मनन) से वंचित रखकर ही पशुतल पर उतार दिया गया था। ताकि वे अपनी वास्तविक, मानवीय-आत्मिक– स्थिति एवं गरिमा को भूल जायें।

दलित पुरुषों के साथ भी यही अन्याय किया गया। दोनों के पीछे कारण एक जैसा ही है। स्वयं के लिए श्रेष्ठी जनों ने वे सारी आत्म-ज्ञानात्मक सुविधाएँ सुरक्षित कर लीं; शासन, अनुशासन, सत्ता-व्यवस्था के सामाजिक-आर्थिक-न्यायिक संचालन की। ऐसे सभी नारियाँ, ब्रह्माणियाँ, क्षत्राणियाँ, वैश्य, शूद्र-नारियाँ मात्र 'पशु', 'गुलाम', 'पाँव का जूता' बनकर रह गयीं।

तब आज की स्थिति में भारतीय संसद द्वारा दिये जाने वाले संवैधानिक सशक्तिकरण (तैंतीस प्रतिशत के सांसद चुने जाने के अधिकार) के उपरान्त क्या भारतीय नारी को सन्तुष्ट या प्रसन्न होकर बैठ जाना होगा। भारत की नारी आज भी गाँव-देहात में नारकीय स्थितियों में जी रही है। दलित नारियाँ तो और भी अधिक कुंभीपाक में पड़ी यातनाएँ सहने को बाध्य हैं। वे तो दलितों की भी दलित हैं। दो-चार प्रतिशत शहरी महिलाएँ थोड़ा पढ़-लिखकर स्वयं को छुट्टा, मुक्त, आजाद, उच्छृंखल मानकर कई प्रकार की आजादियों की माँग कर रही हैं। वे अपनी और समूचे नारी वर्ग की नारकीय स्थितियों की ओर देखना भी नहीं चाहती। और फिर जिन आजादियों की वे माँग कर रही हैं, वे आधी-अधूरी हैं। पूरी आजादी और बराबरी स्वच्छन्दता के आत्मछन्द के अर्जित करने पर प्राप्त होगी। और फिर तैंतीस नहीं, शत-प्रतिशत आजादी और अधिकार उन्हें उपलब्ध करने होंगे। उन्हीं पर नजर रखकर बढ़ना होगा। यह ध्यान देने की बात है कि उन्हें पराधीन, गुलाम, पशु पहले भीतर से ही बनाया गया था। उसके बाद दलितों और नारियों ने बाहरी पराधीनता तो स्वयं ही स्वीकार कर ली। अब यदि स्वयं को सच्चे अर्थों में स्वच्छन्द, स्वाधीन, स्वतन्त्र करना है तो पुनः भीतरी-आत्मीय, पूरी, स्वतन्त्रता, समानता के लिए वे-ज्ञान-आत्मज्ञान का मार्ग चुनना होगा।

कुछ नारियाँ और नारी विमर्श चलाने वाले विद्वान् अपने अधकचरा सोच, मात्र भौतिक समानताओं के लिए संघर्ष (जिसमें यौन और अर्थ की स्वतन्त्रता की छूट सम्मिलित है) को ही प्रमुख और सम्पूर्ण उपलब्धि मानते हैं। क्या वे इस बात का उत्तर देंगे कि जिन देशों तथा समाजों में, पश्चिमी समाज को ही ले लें, जहाँ यौन एवं अर्थ तथा सत्ता-व्यवस्था में समानता के अधिकार नारी को प्राप्त हैं, वहाँ की नारी क्या सन्तुष्ट हैं? समानता एवं गरिमा की अनुभूति पाती है? वहाँ, उन समाजों में हर रोज, हर पल तलाक और बलात्कार और हर प्रकार के तनावों में क्या वे बेहाल और परेशान नहीं हैं? अतः नारी को पूरी आजादी, स्वच्छन्दता समानता पानी है, तो अपनी देह, मन, चेतना (आत्मा) के तीनों तलों पर स्वच्छन्द होकर पूरी स्वतन्त्रता के लिए प्रयासरत रहना होगा। नारी सशक्तीकरण के संवैधानिक प्रथम चरण के बाद अगला चरण 'स्वच्छन्दता का होना चाहिए'। अभी से ही अगले चरण पर दृष्टि होनी चाहिए।

अन्यथा शत-प्रतिशत राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करके भी गुलाम मानसिकता में जीते हुए वर्तमान भारत से उसकी स्थिति बेहतर नहीं होने वाली। स्वातन्त्र्योत्तर काल में हिन्दी में कवयित्रियों की नारी चेतना का विश्लेषण दिया जाना जरूरी है, ताकि नारी सशक्तीकरण के बाद उसे किस-किस या किन दिशाओं में आगे बढ़ना है, यह स्पष्ट रूप में सामने रह सके। आजादी के सपनों के बीच नारी अपनों द्वारा ही किन हीन-निम्न दशाओं को पहुँचा दी गयी, उन स्थितियों को मिटाकर सन्त नारी द्वारा दिखाई गयी स्वच्छन्दता की भारतीय अवधारणा को साकार किया जा सके।

वैसे तो धर्मों, धार्मिक विचार-दर्शनों की प्रतिबद्धताएँ उत्तर आधुनिकता के नकार के निशाने पर हैं, किन्तु बौद्ध चिन्तन अपनी रूढ़ियों से हमें मुक्त रखता है। जो जितना मुक्त होगा वह उतना ही सन्तई को जीता हुआ आनन्दित और नयी युगीन संवेदनाओं का संरक्षक और पक्षधर भी होगा। उतना ही सही अर्थों में उत्तर आधुनिक। अपनी मूल मानवीय पहचान को सार्थक करता हुआ।

यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि उत्तर आधुनिकता की पाश्चात्य अवधारणा भी उन्हीं और उतने अर्थों में वैश्विक परिस्थितिकी की दृष्टि से बनी, अप्रासंगिक और एकपक्षीय है, जितनी वह नैतिक कर्मशीलता, जिसे आध्यात्मिकता कह सकते हैं, से दूर या अछूती है; क्योंकि पश्चिमी सोच की उत्तर आधुनिकता जिस नव-उदारवादी वृहद् पूँजीवादी उड़न-खटोले पर सवार हो मानवीय नैतिकता, नैतिक कर्मशीलता, आध्यात्मिकता को बर्बरता के पैरों-तलों रौंदने में जरा भी गुरेज नहीं कर रही। मीडिया, साम्राज्यवाद तथा तकनीकी वर्चस्ववाद की हौंस में उसने नव मानवतावादी सम्भावनाओं को बुरी तरह कुचल दिया है तथा नयी विश्व व्यवस्था के नक्शे पर कालिख पोत दी है। सूचना-संचार क्रान्ति की मानवीय आकांक्षाओं के पंखों को अपने निबिड़ स्वार्थों के तमगों से बाँधकर, बधिया कर दिया है। उत्तर आधुनिकता की 'जड़ों की ओर वापसी' के आग्रहों के विरुद्ध पश्चिमी मीडिया-सूचना-संचार तन्त्र स्थानीयता की स्रोतस्विनी स्थानीय भाषाओं तक की जड़ें काटने में अपनी धूर्त्त नीतिमत्ता का छद्म कार्यान्वयन कर रहा है, जो अनैतिकता का एक चरम रूप है। ऐसे में कम-अकली बौद्धिक भी भ्रमित या अति चतुराई में भाषाई मोर्चों पर पस्त नजर आते हैं।

## नारी संतों की प्रासंगिकता

सभी सन्तों ने अपने-अपने प्रदेशों की जन-भाषाओं में अपनी वाणियों का प्रसार किया है और जन-साधारण से सीधा नाता जोड़ कर उन्हें अपने आत्मिक 'स्व' के दायरे में प्रवेश किया है। गरिमा प्रदान की और मुक्त किया है। आत्मवान बनाकर बड़े मानवीय संघर्षों में प्रवृत्त किया है।

नारी सन्तों ने भी और एक पग आगे बढ़कर अपने-अपने समाजों के पुरुष-वर्ग के विरुद्ध भी नारी आत्मा के उत्पीड़न और प्रताड़ना की आवाज को बुलन्द करने की खातिर जन-साधारण की भाषा को अपनाया, उन्हें अपनी वाणी और उपदेशों से समृद्ध किया। लल्लेश्वरी (ललद्यद) ने इस दिशा में पहल कर के जन-साधारण की भाषा को प्रश्रय और गरिमा देने वाली इस प्रवृत्ति को सिद्धान्त का रूप देने में पहल की है, क्योंकि ललद्यद से पहले (कश्मीर में) संस्कृत और फारसी भाषाएँ शासन-प्रशासन एवं श्रेष्ठीवर्ग की भाषाएँ रहीं, वहाँ ललद्यद ने काश्मीरी भाषा में जो जन-साधारण की, अपने सुख-दुख कहने की भाषा थी, उसे अपनाया। कश्मीरी उनकी माँ-बोली थी, उसमें अपनी माँ को पुकारा जाता है। ललद्यद ने भी इसी कश्मीरी भाषा में वृहत्तर समाज की चेतना तक अपनी वाख (वाक्) को पहुँचाया।

मध्यगुग में सन्तों ने लोक के श्रुतिमूलक ज्ञान का आश्रय-आधार स्वीकार किया और शास्त्र के विपरीत लोक की आकांक्षाओं-वेदनाओं को उन्हीं की भाषा (जन-भाषा) में, उन्हीं के बोध-स्तर पर उतर कर संवाद स्थापित किया। उनके समकक्ष बैठकर दुःख दर्द बाँटा। यह लोक ही तब राम बन गया, कृष्ण बन गया, शिव बन गया। वास्तव में, यह लोक साहित्य की सन्त साहित्य का इतिहास भी अपने भीतर छुपाये हुए है। सन्त-साहित्य का अभी, इस परिप्रेक्ष्य से अन्वेषण-मूल्यांकन हुआ ही नहीं। सन्त-साहित्य की सामाजिक भूमिका भी अभी तक अनुद्घाटित है।

नारी सन्तों की चित्ति में लोक साहित्य की मनोवैज्ञानिक सम्पदा, भव्यता, गरिमा तथा ऊर्जा आत्मकथात्मक शैली में फूट-बही। अन्यथा अधार्मिक-रूढ़-भय सामाजिक-भय राज्य-भय,. नैतिक बन्धनों का समवेत-भय अपने समूचे संश्लिष्ट आकार-प्रकार में मध्य युग में इतना उग्र-उदग्र-पर्वताकार रूप में स्थित था, कि बड़ी-बड़ी वैचारिक-आक्रामक आँधियाँ भी टकराकर ढेर हो गयीं। सन्तों की अकेले-दुकेले की तो क्या हस्ती!

नारी सन्तों के भी न कोई गुरु हुए न परम्परा। केवल ज्ञान-संवेदन-लोक की गोद में पले-बढ़े इन सन्तों ने अपनी व्यक्तिवाचक संज्ञाओं में लोक और उसकी आत्मा को सहेजा और अपने-आप में लोक-समुदाय का विश्वास धारण कर विराट् व्यक्तित्व हो गये। राममय हो गये। राम हो गये। सत् का आश्रय पा सत्यांश को विकसित कर सत्यरूप हो गये। पश्चिमी चिन्तन इस रूप में लोक-समुदाय की चिति में नहीं ढला। जिस रूप-प्रकार से भारतीय अध्यात्म-चिन्तन सन्तों की चिति एवं वाणी में ढलता गया है। सन्तों ने धर्म को आत्मा को सहेजा तो बाहरी अस्तित्व की भी अनदेखी नहीं की। आधि तथा आत्म– दोनों को सुधारने-सँवारने पर बल दिया, स्वयं को मूर्ख, खल, कामी कहकर रुके नहीं, आगे बढ़े और सुधारा। उनका मुख्य सरोकार धरती पर

जीवन-अस्तित्व को सुधारना, सँवारना, संवेदनशील बनाकर संरक्षित करना रहा है। पश्चिमी संस्कृतियाँ जहाँ भौतिक पर बल देती रहीं, वहाँ भारतीय संस्कृति आत्म पर; जिसमें भौतिक भी समाहित रहा है। अत: सन्तों ने अद्वैत नहीं, उस अद्वैत की दिशा पकड़ी जो आत्म को भौतिक-जीवन-उन्मुखी बनाकर उस नये रूप में ढालने का प्रयास करता है। नारी सन्तों का सृजन भी सर्वत: मुक्त है। प्रौढ़ है। भव्य है। जैसे अविभाजित सकल धरा और अखण्ड अनन्त आकाश। वह अन्तरालों को मात्र दिखाता नहीं, उन्हें भरता है, वह स्वयं इतना मुक्त है कि राम को भी मुक्त कर देता है– जन्म-स्थान अयोध्या से, राज-परिवार रघु एवं दशरथ से, राजभवन से, और सब लोगों का, सब स्थानों का, सब समयों का तथा श्वास-श्वास में बसा राम बना देता है। सन्तों का सृजन अपनी प्रौढ़ता में (वेद-संवेद-संवेदना) वैदिक-पौराणिक मिथकों को भावी मानवीय संवेदनीय जीवन के लिए दिशा-निर्देशक बनकर उपस्थित होता है। उसमें वेद (ज्ञान, आत्मज्ञान) की प्रौढ़ता, युगों के अन्तराल में घटित मूर्खताओं जातिगत, सम्प्रदायगत, रूढ़िवादी विचलनों से सावधान कर के मानवीय समकक्षता, समता, आत्मीयता में व्यक्ति को स्थित करती है। सन्त वाणी– क्योंकि वह भाषा में मात्र कविता नहीं, वाक् का-हृदय की वैखरी में उतरी चेतना है, इस कारण वह भव्यता में अद्वितीय है। सभी प्रकार के भेदों, भिन्नताओं को मिटाता मानव और उसकी वास्तविक सत्ता को भगवान् से भी ऊँचा, ऊपर स्थापित करता है, जहाँ भगवान् भी मानव का मुखापेक्षी बन जाता है। कबीर कहते हैं–

**कबिरा मन निर्मल भया जैसे गंगा नीर।**
**पीछे पीछे हरि फिरै, कहत कबीर कबीर।।**
**संत रैदास कहते हैं–**
**मन चंगा तो कठौती में गंगा।**
**सन्त मलूक का कहना है–**
**माला जपौं न कर जपौं जीभ्या कहों न राम।**
**सुमिरन मेरा हरि करै मैं पायो विसराम।।**

वहीं आंडाल भगवान की शासिका बनी बैठी है। हुकुम चलाती है और भगवान उसे मानते हैं।

सन्त दादू हों या सन्त पलटू हों, ललद्यद हों या मीरा सभी ने परम-आत्मा को अर्जित कर मनुष्य की अद्वितीयता का गीत गाया है। ऐसी भव्यता सन्तों के सृजन में वाणी में, सब के लिए सुलभ है। भारतीय जन इस दृष्टि से बड़े भाग्यशाली हैं कि एक लम्बी परम्परा, सन्त मालिका, हमें सुलभ है, उपलब्ध है। जो आत्म-अध्यात्म प्रकाश के बल पर वर्तमान अँधेरों में से हमें बाहर ला सकते हैं। मुक्ति दिला सकते हैं। स्वयं

के ओढ़े हुए छल, छद्म, ढोंग, दिखावे और मक्कारी-फरेब, हत्या-हिंसा के दलदल से निजात पाने के लिए हमारे सन्त पूरे विश्व के त्राणकर्ता हो सकते हैं। जरूरत है सन्तों की वाणियों के धर्म-सम्प्रदाय की हदबन्दियों से बाहर लाकर, खुले दिल-दिमागसे अपनाने की।

काव्य अपनी स्वायत्त प्रकृति के कारण बाहरी वैचारिक प्रतिबद्धताओं को स्वीकार नहीं करता। यदि करेगा तो स्वायत्तता क्षीण और क्षय हो जायेगी। इस प्रकार काव्य धर्म के अन्तःप्रसारों, परिसरों का तो अनुमोदन करता है, सहायक होता है, किन्तु उनकी वैचारिक प्रतिबद्धताओं और संस्था के जुड़ावों को अस्वीकार कर देता है, क्योंकि वह सामाजिक रूढ़ परिपाटियों के जुए में, बन्दिश में बँधना जरा भी सहन नहीं करता। इन्हीं कारणों से राजनीति के साथ उसकी जरा भी नहीं बन जाती। धार्मिक काव्य को, काव्य की कसौटी पर खरा न पाकर, इसी कारण इधर विद्वान् लोग महत्त्व नहीं देते या कम महत्त्व देते हैं।

किन्तु यहीं यह तथ्य स्वीकार करना चाहिए, भले ही थोड़ा कम अंशों में कि सन्त काव्य, भक्तों के काव्य की अपेक्षा अपनी आन्तरिक स्वायत्तता में अधिक मुक्त होने के कारण गुणों के अधार पर न सही, अपने मुक्त प्रकृति के आधार पर श्रेष्ठ एवं स्वायत्त होता है। सन्त, क्योंकि किसी धर्म, सम्प्रदाय, ग्रन्थ या गुरु से (आचारगत रूढ़ियों से) प्रतिबद्ध नहीं होते, जैसा कि भक्त होते हैं, इस कारण वे तथा उनका काव्य भी उतने अंशों-अर्थों में स्वायत्त होकर अपनी प्रकृति-सृष्टि के निकट होता है। इसी कारण सन्तों ने गद्य की अपेक्षा पद्य (काव्य) में अपनी बात कहना जरूरी समझा। जहाँ उनके काव्य को परा लोक से सीधे हृदय में उतरा हुआ– वाक् माना जाता है और 'वाणी' कहा जाता है; वहीं भक्तों के काव्य को प्रायः 'वाणी' का रुतबा नहीं मिला। महान साधु एवं भक्त तुलसीदास एवं सूरदास के काव्य को विद्वानों ने काव्य कहा, तुलसीदास जी द्वारा प्रयुक्त छन्दों को 'दोहा', 'चौपाई' कहा गया। वहीं कबीर, रैदास, दादू, मलूक आदि द्वारा प्रयुक्त इन्हीं छन्दों को 'साखी' एवं 'पद' कहा गया, सम्भवतः इस कारण कि सन्तों ने किसी ग्रन्थ, गुरु, सम्प्रदाय की अपेक्षा सीधे 'वाक्' को और अपनी 'अनुभूति' को साक्षी माना। कहना न होगा कि भक्त तुलसीदास तथा सूरदास निगमागम ग्रन्थों की तथा गुरु-परम्परा की प्रतिबद्धता की सापेक्षता की सीमाओं को स्वीकार कर चलते हैं, वहीं सन्त इनसे स्वतन्त्र एवं स्वायत्त होने के कारण मुक्त एवं उन्मुक्त! काव्य यदि जाग्रत आत्मा का सृजन माना जाता है, तो यह सृजनात्मक उन्मुक्तता उसका प्रमुख लक्षण है। इन्हीं अर्थों में सन्त वाणी (श्री गुरु ग्रन्थ साहब में समायोजित वाणियों सहित) विश्व के सभी अध्यात्म-प्रेमियों को सहज स्वीकार्य हो सकती है। तुलसी के राम एवं सूरदास के कृष्ण की सगुण भक्ति की अपेक्षा निर्गुण राम

एवं कृष्ण कहीं अधिक स्वीकार्य हैं। ये राम और कृष्ण अध्यात्म-तत्त्व-रूप में किसी भी सीमा में देश-जाति-ग्रन्थ-गुरु सम्प्रदाय की सीमाओं से मुक्त हैं। यह सुविधा-विश्व के अन्य किसी धर्म सम्प्रदाय के साथ नहीं है। तथा दूसरी ओर राम, कृष्ण की निर्गुण अनुभूति स्वरूप अध्यात्म चेतना श्रेष्ठ, संवेदनशील, मानवीयता के तल पर विश्व मानव की सच्ची धरोहर सिद्ध होती है। उसे विश्व मानव बनने में कहीं किसी प्रकार की बन्दिश में नहीं डालती, अपितु स्वतन्त्रता की पक्षधर है।

**नारी सन्त : इष्ट का स्वरूप**

भारतीय चिन्तन दर्शन में नारी स्वयं में ही शक्ति का रूप मानी गयी है। उसे इन्हीं अर्थों में पूज्य माना जाता है। शिव-शक्ति का द्वै भी अद्वै होकर सम्पूज्य है। शिव यदि स्थिति हैं तो शक्ति गति हैं। स्थिति-गति का यह स्वरूप है। यहाँ प्रमुख नारी सन्तों के इष्ट पर विचार अपेक्ष्य हैं। दक्षिण भारतीय नारी सन्तों के इष्ट शिव हैं। छठीं शताब्दी का तमिलनाडु की प्रथम नारी सन्त कारैक्काल अम्ऐयार (पुनितवती) निर्गुण निराकार शिव की आराधिका है। बचपन से ही शिवभक्त साधुओं की भक्ति के संस्कारों से वह इतना गहरे में प्रभावित हुई कि कैलाशपर्वत की यात्रा में उसे परम शिव के दर्शन हुए। शिव को अपनी वाणी में उसने 'ज्ञानरूप' माना है। भले ही शिव का बाहरी आकार 'नीलकंठ', 'जटाधारी', 'जटा में गंगा' तथा 'चन्द्रकला' सुशोभित वाला है। किन्तु इनकी शक्ति सार्वभौम व्यापिनी है। सब पर कृपा कर उद्धार करने वाली है। पुनितवती कहती हैं कि वही शिव धरती, आकाश, जल तथा प्रकाश रूप है। निराकार है। भक्त जिस भी रूप में उसका ध्यान करता है, उसी रूप में उसके दर्शन प्राप्त करता है। ध्यानकर्ता का मन ही इस निराकार का मन्दिर है।

सन्त कवयित्री आंडाल का मूल नाम गोदादेवी है। किन्तु अपने इष्ट भगवान् कृष्ण पर भी अपना शासन करने के कारण उसे लोग आंडाल (शासिका) कहने लगे। मध्य काल के उत्तर में जैसे मीरां बाई कृष्ण की अनन्य भक्त हुई हैं, वैसी ही एकनिष्ठ गहन आस्थाशील आलवार भक्त आंडाल दक्षिण भारत में हुई, जिसने सन् ७१६ ई. में सगुण कृष्ण की आराधना में, अपने 'तिरूप्पावै-श्रीव्रतम्' तथा 'नाच्चियारू तिरूमोलि' ग्रन्थों की रचना की। उनकी भक्ति भावना, समर्पण, सृजन को देखते हुए भक्तों ने आंडाल को भू देवी माना है। लोकमानस में आंडाल को आराध्य देवी माना। आंडाल का यह विश्वास कि देश को, लोगों को सुख-समृद्धि भी तभी प्राप्त हो सकती है जब उनमें धर्म-भावना-सबके हित-चिन्ता की भावना विकसित हो तथा नैतिक उच्च आचरण की चेतना विकसित हो।

अक्क महादेवी कर्नाटक की महा शिवयोगिनी सन्त हुई हैं। बालपन से ही 'शरण सती लिंग पति' का भाव उसके मन में समा गया था। उनके इष्ट का नाम

'श्रीमल्लिकार्जुन' है। वह उनकी अनन्य भक्त थीं। वह इष्ट के साथ एक रूप हो गयीं। वह कहती हैं, "यह शरीर जब तुम्हारे ही रूप से बना हुआ है, तुम्हारा रूप हो गया है तो अब मैं किस से भेंट करूँ? मेरा मन जब तुम्हारा ही मन बन गया है तो अब मैं किसे याद करूँ? जब मेरा प्राण तुम्हारा ही रूप बन गया है तो अब मैं किस की आराधना करूँ? जब ज्ञान तुम्हारा ही रूप बन गया है तो किसको जानने का प्रयत्न करूँ? हे चेन्नमल्लिकार्जुन तुम्हीं बताओ! इस प्रकार मैं तुम्ही बन कर रह गयी हूँ!" स्वयं को अपने इष्ट में एकाकार कर देने तथा सृष्टि को उसी का रूप आकार मान लेने से कैसी अभिन्नता निर्मित होती है। फिर परमात्मा, इष्ट द्वारा निर्मित संसार-सृष्टि के कल्याण के लिए सन्त के हृदय में कैसी-कैसी आशीषें व्यक्त होती हैं, यह नारी सन्त अक्क महादेवी की वाणी का सार है।

महानुभावीय सम्प्रदाय की मराठी भाषा प्रथम नारी सन्त हुई हैं महदायिसाँ। इनके इष्ट देव कृष्ण हैं– और कृष्णभक्ति ही मुक्ति एवं आनन्द का माध्यम है। कृष्ण एवं कृष्ण की भक्ति ही भक्तों में महान (उच्च, श्रेष्ठ, भावोत्तम) भावनाओं का विस्तार करने वाली है, जिससे श्रेष्ठ मानवों का समाज निर्मित होता है। आरम्भ में इस सम्प्रदाय को 'महात्मा पंथ', 'परमार्ग' भी कहा जाता था। सम्प्रदाय के संस्थापक चक्रधर स्वामी का जन्म यों तो गुजरात में सन् ११९४ ई. में हुआ था, किन्तु उनके मत का प्रचार-प्रसार महाराष्ट्र से लेकर गुजरात, पंजाब और काबुल तक हुआ। इसमें महदायिसाँ को बड़ा श्रेय जाता है।

सन्त वेणास्वामी अपने गुरु सन्त रामदास के सम्प्रदाय-इष्ट रामभक्त हनुमान को ही अपना इष्ट मानती हैं। किन्तु साथ ही साथ अपने गुरु के साथ रहती हुई सामाजिक, राष्ट्रीय उत्थान के कार्य में भी सदा हाथ बँटाती हैं, क्योंकि मानव सेवा ही सच्ची ईश-सेवा है।

बारकरी पंथ का सन्त चोखामेला की पत्नी सन्त सोयराबाई भगवान के पांडुरंगा स्वरूप को अपना इष्ट मानती हैं। बारकरी सम्प्रदाय और उनके पति का इष्ट भी पांडुरंगा है। किन्तु यह ध्यान रहना चाहिए कि महाराष्ट्रीय सन्त भगवान के सगुण-निर्गुण दोनों रूपों की उपासना करते हैं। इसमें भी निर्गुण ज्ञानमार्गी स्वरूप ही सर्वोपरि है। गीता ज्ञान को ही मुक्तिपथ माना है बारकरी सन्तों ने। ज्ञानदेव (ज्ञानेश्वर) द्वारा रचित ज्ञानेश्वरी तो सीधा-सीधा ज्ञान को ही मुक्ति का आधार प्रतिष्ठित करती है। सन्त मुक्ता बाई भी, जो वृत्तिनाथ, ज्ञानदेव, सोपानदेव की बहन है, इसी इष्ट-परम्परा को स्वीकार करती हैं।

कश्मीर की प्रथम एवं अमर सन्त लल्लेश्वरी पति, ससुराल एवं वृहत्तर समाज द्वारा उपेक्षित, त्रस्त, उत्पीड़ित होकर घर छोड़ चुकी थी। उसके आराध्य देव शिव हैं, उन्हीं को वह अपने दुख-दर्द अपने वाख (वाक्) छन्द में गूँथकर सुनाती। उनके शिव

भी निर्गुण रूप हैं अत: लल्लेश्वरी की उपासना निर्गुण-निराकार सन्त कवियों के समान है।

कान्होपात्रा एक वेश्या की पुत्री थी, जिसने अपना सारा जीवन अपने प्रिय कृष्ण को अर्पित कर दिया था। उसने अपनी आत्मा को मारकर अपना शरीर बेचने की अपेक्षा अपना सर्वस्व कृष्ण भक्ति में लगा दिया। अपनी आत्मा भी परमेश्वर को अर्पित कर दी और अपना उद्धार किया।

महान सन्त मीरा ने तो बचपन से ऐसी प्रीत जोड़ी भगवान् कृष्ण से कि भक्ति के सगुण मार्ग से आरम्भ करके वह अपने अन्तिम सोपान तक आते-आते निर्गुण भक्ति के शिखर पर पहुँच गयी। उसने कृष्ण को सभी उत्पीड़ित, दलित, उपेक्षित की पहुँच में ला दिया। कृष्ण भक्ति की खातिर उसने घर, परिवार, राजसुख, सम्मान सब त्याग दिया। जीवन के बड़े-बड़े खतरों को भी हँसते-हँसते पार कर गयी। इष्ट भगवान् कृष्ण ने भी सदा उसकी रक्षा की। गहरा विश्वास और अटूट आस्था व्यक्ति को उसके भीतर से भी दृढ़ बनाते और हर प्रकार से रक्षा करते हैं।

सन्त आतुकूरि मोल्ला आन्ध्र प्रदेश की ऐसी सन्त हुई हैं, जिसने तेलुगु भाषा में अपने इष्ट राम की भक्ति में रामायण की रचना की है, मोल्ला का कहना है कि भगवान् श्रीराम ने स्वयं चाहकर मुझसे इस पावन कथा को लोक-कल्याण के लिए कहलवाया है। अत: जिस पर राम की कृपा है, वही राम की अनन्य भक्ति का अवसर पा सकता है।

अपूर्व कृष्ण भक्त, मुस्लिम परिवार की नारी कृष्ण के रूप-सौन्दर्य पर ऐसी मुग्ध हुई कि अपना पारिवारिक धर्म-करम सब न्यौछावर कर बैठी। उसने चोरी-छिपे नहीं खुले में ऊँचे स्वर में कहा–

**नन्द के कुमार, कुरबान तेरी सूरत पै।**
**हूँ तो मुगलानी, हिन्दुआनी ह्वै रहूँगी मैं।।**

ऐसी जीवट वाली नारी सन्त की अन्य कोई भी क्या बराबरी कर सकता है।

कर्नाटक की ही एक अन्य सन्त हुई हैं 'हेलवनकट्टे गिरियम्मा' यह हरिदास परम्परा (वैष्णव परम्परा) की सन्त हुई हैं, जबकि अक्कमहादेवी वीर शैव मत की सन्त हैं। गिरियम्मा गाँव के मन्दिर में श्री रंगनाथजी का पूजा किया करतीं, उसके गाँव का नाम हेलवनकट्टे था, जो उसके नाम के साथ जुड़ गया। अपने इष्ट को रिझाने के लिए वह अनेक प्रकार की रंगोलियाँ सजाती। इतना ही नहीं उसने अपने इष्ट देव के लिए कई मन्दिर भी बनवाये।

सन्त सहजोबाई तथा सन्त दयाबाई महात्मा चरणदास की शिष्याएँ हैं। इनके इष्टदेव भी भगवान् श्रीकृष्ण हैं जिनके निर्गुण रूप की ये सन्त अराधना करती हैं।

सन्त बारमुखी स्वयं एक वेश्या थी, किन्तु श्री रंग जी को अपना इष्ट मानकर अपनी बहुत-सी पूँजी लगाकर उनके लिए बहुत मूल्यवान मुकुट बनवाया और बड़ी श्रद्धा से उन्हें पहनाकर अपार सन्तुष्टि का अनुभव किया।

हसीना और हमीदा दोनों मुस्लिम परिवार की कृष्ण-भक्त थीं। उन्होंने भगवान् कृष्ण के रूप-सौन्दर्य-भव्यता की बातें सुनकर अपने देश-अरब में ही अपना चित्त कृष्ण पर न्यौछावर कर दिया। फिर दोनों युवतियों ने अपार कष्ट सहन करके वृन्दावन में कई बाधाओं को पार करके अपने इष्ट भगवान् कृष्ण के दर्शन किये और उनकी कृपा से जैसा कि लोक प्रसिद्ध है, श्रीकृष्ण के नित्य-विहार में सदा के लिए सम्मिलित हो गयीं।

●

# मध्यकालीन नारी : रामानन्दी सन्दर्भ

डॉ. वेदप्रकाश मिश्र *

सम्राट पृथ्वीराज चौहान का जिस काल में पतन हुआ, वह भारत का 'अन्धकार युग' था। एक ओर भारत वर्ष की राजनीतिक शक्ति छिन्न-भिन्न अवस्था में थी तो दूसरी ओर भारतीय धर्म, दर्शन और समाज अपने संक्रमण के दौर से गुजर रहे थे। लोगों को जोड़ने वाला धर्म, जिसे धारण करने से मनुष्य सच्चे अर्थों में मनुष्य बनता है, अपना स्वाभाविक स्वरूप त्याग कर विकृत हो चुका था। शैव, वैष्णव, शाक्त और कापालिक सम्प्रदाय एवं उसके अनुयायी आपस में संघर्षरत थे, तो दूसरी ओर बौद्ध और जैन धर्म स्वयं को मानव का एकमात्र त्राणकर्ता, मुक्तिदाता मान बैठे थे। उधर सिद्धों और नाथों की अटपटी बानी से जनता दिग्भ्रमित थी।[१] इड़ा, पिङ्गला, शून्य, समाधि और षडचक्र के फेर में पड़ी साधारण जनता 'क्या सही है, क्या गलत?' इसका निश्चय नहीं कर पा रही थी। इनका आतंक इस तरह समाज पर हावी था कि वह इनके समक्ष घुटने टेकने के लिए लाचार थी। उच्च वर्ग की अपनी एक अलग ही दुनिया थी, जिसमें साधारण जनता का कोई दखल न था। रही बात भारतीय पाण्डित्य जगत् की तो उसकी भी एक अलग चिन्ता थी। यहाँ निरन्तर शास्त्र को आत्मसात करना, शास्त्रार्थ एवं वाद-विवाद द्वारा अपने पाण्डित्य का प्रदर्शन करना, प्रतिपक्षी को पराभूत कर उसे अपमानित करना, प्रधान उपजीव्य ग्रन्थों पर टीका करना, उसकी उपटीका, उस उपटीका की भी उपटीका करना, भाष्यों का सृजन करना उसके लिए परमगौरव की बात मानी जाती थी। कौन पण्डित किस-किस विद्वान् को शास्त्रार्थ में पराजित किया, उसका क्या विषय था? किसने किन ग्रन्थों की टीका अथवा भाष्यों का प्रणयन किया है, उसकी चर्चा का प्रधान विषय हुआ करता था। इस प्रकार, यह वर्ग भी जनता और उसकी चित्तवृत्तियों, सरोकारों से कोसों दूर था।[२] इधर दिल्ली में जो नवीन राजनीतिक-सैनिक शक्ति शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी के नेतृत्व में पश्चिमोत्तर भारत से आकर स्थापित हुई थी और जिसका संरक्षक कुतुबुद्दीन ऐबक व बख्तियार खिलजी था, वह निरन्तर शक्तिशाली एवं प्रभावशाली होती जा रही थी। हिन्दू मन्दिर व शिक्षा केन्द्र अपवित्र किए जा रहे थे। भारतीय सभ्यता व संस्कृति के स्वर्णशिखर धूल-धूसरित हो रहे थे। चारों ओर सिर्फ नाश का तांडव हो रहा था। बालक, वृद्ध व कुलवधुओं के साथ

---

* हिन्दी साहित्य के गम्भीर अध्येता, इलाहाबाद।

अतिचार साधारण बात थी। भय और लालच का ऐसा बवंडर खड़ा किया जा रहा था जिससे समाज का एक बड़ा वर्ग इस्लाम धर्म का अनुयायी हो गया। धीरे-धीरे यह विजय-वैजयन्ती द्वार समुद्र व देवगिरि तक आ पहुँचा और इस प्रकार देश का एक विशाल भू-भाग इस शक्ति के प्रत्यक्ष शासन के अधीन हो गया। अब भारत में दो वर्ग थे, एक शासक और दूसरा शासित। दोनों के स्वार्थ भी अलग-अलग थे। जीवन-पद्धति, आचार और धर्म भी अलग-अलग थे। एक स्वयं को विजयी मानता और दूसरे से उसे कोई सहानुभूति न थी। वह स्वयं को श्रेष्ठ मानता था और दूसरे को मनुष्य तक मानने को तैयार न था। इसके लिए देश की बहुसंख्यक जनता का फिर, दोजखी और बुतपरस्त थी, जिसे धरती पर रहने का कोई अधिकार न था।[३] वह कुरान मजीद की उस आज्ञा को भूल गया था, जिसमें कहा गया था कि निःसन्देह अल्लाह के निकट वह मनुष्य सबसे अच्छा और श्रेष्ठ है, जो इंसान-इंसान में भेद नहीं करता।[४] दूसरी ओर भारतीय जनता थी, जो पहले वर्ग को अत्याचारी, आततायी, म्लेच्छ और आक्रमणकारी जाति भर मानती थी। इसे देखकर उसकी सोयी हुई जातीय चेतना, राष्ट्रीय गौरव व विवशता भरी खीझ उद्‌बुद्ध हो उठती थी। फलतः संघर्ष तो होना ही था और हुआ भी यही। एक ओर मुसलमानों का विजयी होने का दर्प उन्हें हिन्दुओं से दूर करता था तो दूसरी ओर इसकी आक्रामकता व अतिवादिता ने भी इससे भारतियों को दूर किया। इन सबके अतिरिक्त इस्लाम धर्म की सांगठनिक दृढ़ता भी प्रतिरोध का कार्य किया।[५] संवाद की बात दूर इन्हें एक दूसरे को देखना तक न सुहाता था। इस खाई को और चौड़ा करने में तत्कालीन शासकों, अमीरों एवं काजी-उलेमाओं ने भी अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। इनके अपने स्वार्थ, एकांगी सोच और अदूरदर्शी संकीर्ण मनोवृत्ति ने भी दोनों धर्मों व उसके अनुयायियों को दूर करने का कार्य किया।[६] फलतः एक दूसरे को शंका की दृष्टि से देखते थे। ऐसी स्थिति में एक सामंतवादी व धर्मान्ध समाज में नारी की क्या दशा रही होगी, इसका सही-सही अन्दाज लगाया जा सकता है। जहाँ तक राजन्य वर्ग एवं पाण्डित्य जगत् स्वयं दिग्भ्रमित हो, वहाँ शिक्षा की प्रकृति, नारी की सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक दशा कैसी होगी, यह समझा जा सकता है। यह काल समाज के अधःपतन का काल था। प्राचीन भारत का गौरव, वैभव व ऐश्वर्य नष्ट हो चला था। स्त्रियाँ देवी पद से गिरकर भोग्या बन कर रह गयी थीं। इसमें भारतीय साधनाजगत्, समाजनियामकों व विदेशी शक्तियों की महत्वपूर्ण भूमिका थी।

आरंभ करते हैं मध्यकाल के प्रथम सोपान से, जिसे हम 'हर्ष का परवर्ती काल' कहते हैं। यह वह समय था, जब बौद्धों की महायान शाखा विकृत होकर वज्रयान सम्प्रदाय के रूप में देश के पूरबी भागों में विशेष रूप से फलफूल रही थी। तंत्र-मंत्र, काय-साधना व इड़ा-पिंगला के फेर में पड़े इन बौद्ध तांत्रिकों के बीच व्यभिचार अपनी

चरम सीमा को पहुँच गया था। ये बिहार से लेकर असम तक फैले थे और सिद्ध कहलाते थे।[७] मांस, मदिरा, मैथुन, मीन और मुद्रा इन पंचमकारों के सेवन को ही सर्वस्व मानने वाले समाज को कैसी दशा व दिशा तक पहुँचा सकते थे, यह समझने की बात है। 'चौरासी सिद्ध' इन्हीं में हुए हैं, जिनका परम्परागत स्मरण जनता को अब तक है। इन तांत्रिक योगियों को लोग अलौकिक शक्ति सम्पन्न समझते थे। ये सिद्ध अपने मत एवं समाज-दर्शन का संस्कार जनता पर ही डालना चाहते थे। इसे वे संस्कृत रचनाओं के अतिरिक्त अपनी बानी अपभ्रंशमिश्रित देशभाषा या काव्यभाषा में निरन्तर सुनाते रहते थे[८] और ऐसी अटपटी बानी से जनता को चमत्कृत करना चाहते थे, जो उसकी समझ में न आये। पाण्डित्य जगत् की निंदा, दक्षिणामार्ग का खण्डन और वामाचार-संभोग, मद्य व मांस का दुष्प्रचार इनका मुख्य उद्देश्य रहा। पाँच जाति की स्त्रियों का सेवन इनकी साधना का अनिवार्य अंग था। यथा, सिद्ध कण्हपा डोमिनी का आह्वान करते हुए कहते हैं–

**नगर बाहिरे डोबी तोहरि कुडिया छइ। छोइ जाइ सो बाह्म नड़िया।।**
**आलो डोंबि! तोए सम करिब न सांग। निघिण कण्ह कपाली जोइ लाग।।**
**एक्कु सो पदमा चौषट्ठि पाखुड़ी। चढ़ि चढ़ि नाचअ डोबी बाबुड़ी।।**
**हालो जोंबी! तो पुछमि सदभावे। अइससि जासि डोंबी काहरि नावे।।**

अंतस्साधना पर जोर व पण्डितों को फटकारते हुए सरहपा कहते हैं–

**पंडिअ सअल सत्त बक्खाणइ। देहहि रुद्ध बसंत न जाणइ।**
**अमणागमण ण तेन बिखंडिअ। तोवि णिजल्लइभगइहउँ पंडिया।।**[१]

तो वारुणी अन्तर्साधना पर विरूपा कहते हैं–

**सहजे थिर करि वारुणि साध। अजरामर होइ दिट काँध।।**
**दुशमि दुआरत चिह्न देखइआ। आइल गराहक अपणे बहिअ।।**
**चउशठि घड़िए देट पसारा। पठइल गराहक नाहि निसारा।।**

कण्हया पाँच वर्ण की स्त्रियों के सेवन की बात कहते हैं–

**एकण किज्जइ मंत्र न तंत्र। णिअ धरणी लइ केलि करंत।।**
**णिअ घर घरणी जावण मज्जइ। तावकि पंचवर्ण बिहरज्जर।।**
**जिमि लोण बिलज्जइ पाणिएहि, तमि धरिणी लइ चित्त।**
**समरस जइ तक्खणे जइ पुणु ते सम नित्त।।**

अर्थात् जिस प्रकार पानी में लवण विलीन हो जाता है, उसी प्रकार यदि गृहणी में चित्त लगा दे तो तत्क्षण समरसता जायमान हो जायेगी।

इन तांत्रिकों, सिद्धों के षड्यंत्र से बचने का उल्लेख स्वयं करते हुए ये सिद्ध

कहते हैं कि कापालिक योगियों से बचने का उपदेश घर-घर में सास-ननद आदि देती रहती थीं, फिर भी वे इनकी ओर आकर्षित होती रहती थीं। काम के वश हुए इन अन्धों को वे कुलवधुएँ गोपियाँ और आप श्रीकृष्ण दिखलाई पड़ती हैं।

राग देस मोह लाइअ छार। परम भीख लवए मुत्तिहार।
मारि सासु नणद घरेशाली। माह मारिया, कण्ह भइल कबाली।।[१०]

और भी,

नाड़ि शक्ति दिआ धरिअ खेद। अनह डमरू बाजई बीर नादे।
काण्ड कपाली जोगी पइठछ अचारे। देह नअरी बिहरइ एकारे।।
असुरी निंद गेल, बहरुड़ीजागअ। कानेट चोर निलका गइ मागअ।।
दिवसइ बहुणी काढ़इ डरे भाअ। रति भइले कामरू जाअ।।

इस सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल बड़ी सटीक टिप्पणी करते हुए कहते हैं– 'निर्वाण के तीन अवयव ठहराये गये– शून्य, विज्ञान और महासुख। उपनिषद् में तो ब्रह्मानन्द के सुख के परिणाम का अंदाजा करने के लिए उसे सहवास सुख से सौ गुना कहा था, पर वज्रयान में निर्वाण के सुख का स्वरूप ही सहवास सुख के समान बताया गया। शक्तियों सहित देवताओं के 'युगनद्ध' स्वरूप की भावना चली और उनकी नग्न मूर्तियाँ सहवास की अनेक अश्लील मुद्राओं में बनने लगीं, जो कहीं-कहीं अब भी मिलती हैं। रहस्य या गुह्य प्रवृत्ति बढ़ती गयी और 'गुह्यसमाज' या 'श्रीसमाज' स्थान-स्थान पर होने लगे। ऊँच-नीच कई-कई वर्ण की स्त्रियों को लेकर मद्यपान के साथ एक विभत्स विधान वज्रयानियों की साधना के प्रधान अंग थे। सिद्धि प्राप्त करने के लिए किसी स्त्री का (जिसे शक्ति योगिनी या महामुद्रा कहते थे) योग या सेवन आवश्यक था। इसमें कोई संदेह नहीं कि जिस समय मुसलमान भारत में आये, उस समय देश के पूरबी भागों में (बिहार, बंगाल और उड़ीसा में) धर्म के नाम पर दुराचार फैला हुआ था।[११]

पृथ्वीराज चौहान की पराजय के साथ दिल्ली में इस्लामी शक्ति का विधिवत संस्थापन हुआ। काल के अनुसार इसकी विजय-पताका सुदूर दक्षिण तक पहुँच गयी। किन्तु नारी के सम्बन्ध में इसकी भी दृष्टि एकांगी व संकीर्ण ही थी। हजरत मुहम्मद-बिन-अब्दुल्ला ने यद्यपि इस्लाम में स्त्रियों को एक मुकम्मल जगह दी थी किन्तु बिडम्बना यह रही कि नारी के साथ सर्वाधिक अमानवीय व्यवहार इसी मजहब के मानने वालों ने किया। वह मुहम्मद साहब की आज्ञाओं को तिलाञ्जलि दे सुरा-सुन्दरली को सर्वस्व मान बैठा। उसकी बुद्धि में जाने कहाँ से पराजित जाति के कत्लेआम की बात समा गयी। स्त्रियों, वृद्धों व बालकों का संरक्षा देने वाला इस्लाम व उसके अनुयायी अपनी धर्मान्धता तथा हिंसक, रक्तपिपासु मनोवृत्ति के कारण सर्वाधिक उन्हें

ही अपनी हिंसा बुद्धि व हवस का शिकार बनाया। कोमल कलिका-सी भारतीय कन्याओं व कुल वधुओं का शीलहरण करना उसकी फितरत बन गयी। धर्म एवं चरित्र के हनन की ऐसी घटना शायद ही किसी देश के इतिहास में देखी गयी हो। मलिक मुहम्मद जायसी इस सम्बन्ध में बेलाग टिप्पणी करते हुए कहते हैं कि चित्तौड़ की सारी स्त्रियाँ जौहर कर लीं और पुरुषयुद्ध में मारे गये। बादशाह ने चित्तौड़ पर अधिकार कर लिया और उसे मुसलमान बना दिया–

**जौहर भई सब इस्तिरी, पुरुष भये संग्राम।**
**पातसाहि गढ़ चूरा, चितउर भा इस्लाम।।**

और अमीर खुसरों कहता है–

**दास्ताने फतहे रणथम्भोर कन्दर यक गजा।**
**गस्त अज़ों सॉं दारे कुफ्रे दारे-इस्लाम दरकज़ा।।**[१२]

किन्तु इस स्वीकृति में दोनों की मनः स्थिति में भारी अन्तर है। एक विशुद्ध भारतीय होकर इस अतिचार को रेखांकित करता है, तो दूसरा रक्तपिपासु शख्स के रूप में, जो स्वयं को विजयी मानता हुआ, प्रतिपक्षी को विधर्मी मानता हुआ उनकी कुलवधुओं के महान् त्याग को, उनके रूप-शील को हबस भरी दृष्टि से देखता है। वह अपनी इस कुत्सित दृष्टि का परिचय देते हुए कहता है– 'और वह जहन्नुमी राय, ईश्वरी कोप की बिजली से सर से पैर तक जल कर, पत्थर के दरवाजे से इस कदर उछलकर आया, जैसे पत्थर से आग उछलती है और उसने अपने को पानी में डाल दिया। वह जहाँपनाह के दरबार की ओर दौड़ा और तलवार की बिजली से बच गया। ...सुल्तान का गुस्सा ठण्डा नहीं हुआ था। ...और हुक्म दिया कि जहाँ-जहाँ हिन्दू जवान दिखे, घास-फूस की तरह जला डालो। एक दिन बादशाह की प्रचण्ड आज्ञा से तीस हजार दोजखी लोग काट दिये गये।... ...बादशाह ने उन सभी हिन्दुओं को, जो इस्लाम की परिधि से बाहर पड़ते थे, कत्ल कर डालने का कर्तव्य काफिरों का वध कर डालने वाली अपनी दुधारी तलवार को इस तरह सौंपा कि अगर आज के दिन राफिजी अर्थात् भिन्न मत रखने वाले, नाम को भी इन काफिरों के हक की माँग करे तो सच्चे सुन्न लोग ईश्वर के इस खलीफा का समर्थन कसम खाकर करेंगे।''[१३] पहाड़ की चोटी पर लाल फूलों के पर्वत की भाँति ऊँची आग जलाई और अनार की तरह कठोर स्तनों वाली सुन्दरियों को जो उस किले में पली थीं, आग में झोंक दिया।[१४] जब अपने को सबसे बड़ा हिन्दी कहने वाला, सूफियों का झंडाबरदार मानने वाला तथाकथित उदार व इस्लाम का सच्चा अनुयायी अमीर खुसरो ऐसी रक्तपिपासु मनोवृत्ति रखता है, तो उस काल में स्त्रियों व भारतीय बहुसंख्यक वर्ग की क्या दशा रही होगी, समझा जा सकता है। ऐसी ही घटना शेरशाह सूरी ने भी घटित की थी, जिसमें हिन्दू राजा की रानियों

व रियाया के साथ उसने यही व्यवहार किया था।[१५] इस सम्बन्ध में नानक अपने हृदय की हाहाकार, पीड़ा और व्यथा को व्यक्त करते हुए कहते हैं-

खुरसान खमासान कीया हिन्दुस्तान डराइया।
आपै दोस न देई करता जपु करि मुगल चढ़ाइया।
एतीमार पई कुर लाणै तै की दरदु न आइया।।

× × ×

जिन सर सोहन पटीआ माँगि संधूर।
ते सिर काती मुनी अहि गल बिचि आपै धूड़।

× × ×

भंड जमी औ भंडि निमीऐ भंड मंगण बीआहु।
भंडहु होवै दोस्ती भंडहु चलै राहु।।
भंड मुआ भंड मालीऐ भंड हो वे बंधान।
सोउ किउ मन्दा आखी अहि जित जंभै राजान।।

अर्थात् जिसकी केशराशि की माँग के बीच सिंदूर सजाया जाता है, उसी का सुन्दर केश काट दिया जाता है। जन्म देने वाली भी नारी, पत्नी के रूप में भी नारी, फिर उसकी अवमानना क्यों?[१६] इसी तरह गुरुनानक भारतीय समाज में नारियों की दयनीय अवस्था का वर्णन करने वाले प्रथम भक्त कवि हैं। उदार एवं मानववादी दृष्टि में समन्वित उनका महान् व्यक्तित्व परवर्ती भक्ति काव्य को एक नयी दिशा देता है। इसके बाद भक्तिकाल में नारी की अनुभूतियों, परवशता व जीवन-संघर्ष का वर्णन मीराबाई में होता है, जहाँ परदेखी नहीं, स्वानुभूति की मार्मिक अभिव्यक्ति होती है। नारी हृदय की वेदना, उत्कट अनुराग एवं समाज की कठोर पाबंदियों में छटपटाती एक नारी की अकुलाहट उनके काव्य में देखी जा सकती है। इस संबंध में शिव कुमार मिश्र 'भक्ति आन्दोलन और भक्ति काव्य में' लिखते हैं कि 'मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन अपने समय का एक महान् सांस्कृतिक आन्दोलन था। अपने युग संदर्भों में वह एक क्रान्तिकारी सामाजिक आन्दोलन तथा जन आन्दोलन भी था। भक्ति आन्दोलन की इस क्रान्तिकारी लोकोन्मुखता ने जिस तरह वर्ण व्यवस्था और दूसरे सामाजिक विधि-विधानों के तहत सदियों से यातनाग्रस्त शूद्रों और अन्त्यजों की व्यथा को उन्हीं की पंक्ति से लिये संतों की वाणी के माध्यण से मुखर किया, उसी तरह भक्ति आन्दोलन के इस ज्वार ने शूद्रों और अन्त्यजों की ही भाँति सामाजिक भेदभाव की यातना से ग्रस्त सदियों से पीड़ा झेलती हुई नारी के अन्तर्मन को भी अपनी आशाओं-आकांक्षाओं तथा स्वप्नों के साथ समाज की सतह पर ला दिया.. मीरा इसी भक्ति-आन्दोलन की अनूठी देन है। उनकी कविता नारी के अन्तर्मन की उस घुटन व तड़प

का प्रतिनिधित्व करती है।[१७] इस संदर्भ में डॉ. आर. एस. प्रजापति का विचार है कि 'मीराबाई मूलतः सगुणोपासक थीं। उनकी वाणी में जीवन-संघर्ष, शृंगार-वियोग एवं संयोग, भक्ति, विनय निवेदन तथा राम और कृष्ण से सम्बन्धित साम्प्रदायिक भाव से युक्त पद मिलते हैं।''[१८]

मीरा प्रसिद्ध संत रविदास (रैदास) की शिष्या थीं, जो स्वामी रामानन्द के शिष्य थे। भक्ति-भावना, उदारता और प्रेम भावना की सहज अभिव्यक्ति उनकी कविताओं में देखा जा सकता है। इसका भी प्रभाव मीरा पर पड़ा था। कृष्ण की माधुर्यभाव से उपासना करने वाली मीरा ने इसी उदार भावना से अनुप्राणित होकर कृष्ण के साथ-साथ राम की भक्ति से सम्बन्धित पदों की रचना की थी।

**मीरा दासी राम की ने, राम गरीब निवाज।**
**मीरा की लज्या राख्यो, मारी बाँहै ग्रह्यानी लाज।।**[१९]

× × ×

**हारे जेणे राम तणा गुण गाया, तेणे जमना मार न खाया,**
**हारे गुण गाय छे मीराबाई, तमे हरि चरणे जाओ धाई।**[२०]

मीरा का विवाह चित्तौड़ के राणा सांगा के ज्येष्ठ पुत्र भोजराज से (सन् १५१६) में हुआ था किन्तु दुर्भाग्य से वह १५२३ में दिवंगत हो गये, जिससे मीरा के अंतर्मन में विद्यमान अब तक अप्रकट अन्तःसंघर्ष प्रकट रूप से उनके जीवन का अंग बन गया। मीरा तत्कालीन प्रथा के अनुसार सती नहीं हुई क्योंकि वे स्वयं को अजर-अमर की चिरसुहागिनी मानती थीं–

**जग सुहाग मिथ्या की सजणई हांवा हो मिट जासी।**
**वरन करूँयाँ हरि अविनाशी म्हारो काल-व्याल न खासी।।**

राजरानी मीरां का यह निश्चय मेवाड़ के राजघराने के लिए सर्वथा अप्रत्याशित था। परन्तु मीरा अब तथाकथित लौकिक बंधनों से पूर्णतः मुक्त होकर निश्चित भाव से साधु संगति एवं भक्ति में अपना समय व्यतीत करने लगीं।[२१] यह वह समय था जब नारी का अपने स्वजनों के अलावा अन्य किसी के साथ उठना-बैठना, बोलना सामाजिक दृष्टि से अपराध था। घूँघट अथवा परदे में रहना उसकी नियति थी, किन्तु मीरा ने इस लक्ष्य रेखा का अतिक्रमण किया, जो उस युग की एक क्रान्तिकारी घटना थी। यह तत्कालीन समाज को असह्य था। उसकी बनायी युगों-युगों से सुदृढ़ दीवार पर मीरा ने तगड़ी चोट पहुँचाई थी। ऐसी चोट जिससे पूरी दीवार कंपायमान हो उठी। फलतः इसका प्रतिरोध भी मीरा को सोहना ही था, जिसकी पहली परिणति देवर विक्रमाजीत द्वारा मीरा को विष दिया जाना रहा। मीरा के समय में पति की मृत्यु हो जाने पर नारी या तो सती हो सकती थी, या फिर घर की दीवार से सिर टकरा-टकरा कर

वैधव्य-जीवन जीने को विवश थी। मीरा ने दोनों को चुनौती दी। उन्होंने तत्कालीन समाज-व्यवस्था को नकारते हुए उसके द्वारा निर्धारित लोक लाज को त्याग दिया। अपने आराध्य को जीवन सर्वस्व मान लेने व उसके लिए सब कुछ छोड़कर दर-दर भटकती हुई मीरा कहती हैं– अँसुवन जल सीचि-सीचि, प्रेम बेलि बोई।' 'सावन माँ उमग्यो म्हारो हियरा, भणक सुव्या हरि आवण की।''

मीरा का जीवन स्वत्व की रक्षा के लिए संघर्ष की एक प्रेरणामयी कहानी है। उन्होंने पीहर छोड़ा, राणा का देश छोड़ा, लोक-लाज व कुल की मर्यादा छोड़कर दर-दर भटकती रहीं... पर साँवरिया के प्रेम में व्याकुल हो उसे ढूँढ़ने से न हिचकीं। एक मध्यकालीन स्त्री का ऐसा संघर्ष निश्चय ही अटल साहस और विश्वास की सूचना देता है, वह यह भी प्रकट करता है कि ऐसा संघर्षमय व्यक्तित्व बंधन के पिंजरे में नहीं बँध सकता।[२३] मीरा घोषित रूप से कान्हा को अपना पति कहती, भक्ति में बेसुध हो नाचने लगतीं। उनका यह आचरण अमर्यादित कोटि में गिना गया। राज-परिवार से जुड़े होने के कारण वे सीधे राज-परिवार के कोप का भाजन बनीं। उनके आचरण को राजपरिवार तथा राजकुल की मर्यादा तथा प्रतिष्ठा के खिलाफ करार दिया गया। पर मीरा न डिगीं। उन्होंने सबको ठुकरा दिया, और निर्भय होकर कहा–

**राजा रूठ्याँ नगरी त्यागाँ, हरि रूठ्याँ कठ जाणा।**
**राजा भेज्याँ बिखवाँ थाडा, चरणामृत पी जाणा।।**[२३]

अर्थात् राजा रूठेगा तो अपनी नगरी ही तो लेगा, परन्तु यदि हरि रूठ गया तो फिर मैं कहाँ, किसके पास जाऊँगी।

मीरा की कविताओं में मध्ययुगीन भारतीय नारी जीवन पूरे यथार्थ रूप में अभिव्यक्त हुआ है। वह मुखर होते हुए भी उस मार्मिक वेदना से जूझ रही हैं, जिसे उसे अकेले जीना है। इसीलिए मीरा कहती हैं, 'घायल की गति घायल जाणै और न जाणै कोय'। मीरा को अपने नारी होने व नारी के अबला होने का उन्हें पूरा अहसास था। उनके अनेक पद उनकी इस असहायता का बोध कराते हैं। 'यह तड़प और घुटन समाज तथा लोक के उन आदर्शों, रीति-रिवाजों, मान्यताओं और मर्यादाओं की पोल खोलते हुए भक्ति के आवरण में ही मूर्त हुई है, जिनके तहत नारी सदियों से गीली लकड़ी की तरह धुंधुवाते हुए जलती रही है और लोक तथा समाज, जिसके इस तरह धुधुवाने और जलने को ही जिसके नारीत्व की सार्थकता मानता रहा है। इस प्रकार देखा जाय तो मीरा ने एक तरह से सम्पूर्ण नारी जाति के अब तक के अनभिव्यक्त और अनकहे को कहा है, प्रत्यक्ष भी और अपरोक्ष भी।[२४]

गबरी बाई का डूँगरपुर के बड़नगरा नागर परिवार में संवत् १८१५ में जन्म हुआ था। पाँच वर्ष की अल्पायु में विवाह और एक सप्ताह पश्चात् ही पति की मृत्यु

ने गबरी के बाल मन पर गहरा आघात पहुँचाया और संसार के प्रति विराग का जन्म हुआ, जो वय बढ़ने के साथ क्रमशः बढ़ता ही गया। गिरधारी नटवर नागर कृष्ण के साथ-साथ इन्होंने राम का भी समान भाव से स्मरण किया है। यदि यह कहा जाये कि गबरीबाई के आराध्य राम ही रहे हैं, तो यह अधिक उपयुक्त होगा। डॉ. आर.एस. प्रजापति ने भी इन्हें रामानंद सम्प्रदाय से माना है।[२५] स्वयं गबरी स्वीकार करती हुई कहती हैं कि सतगुरु ने मेरा सब संशय, संकल्प-विकल्प नष्ट कर मेरे प्रभु का मुझे साक्षात्कार करा दिया है।

**''सतगुरु संशय संकल्प मेट्यो, सन्मुख गबरी दरस कर्‌यो ।।''**

इनकी रचनाओं में पद, भजन, गरबी, साखी आदि का सुन्दर प्रयोग मिलता है। डॉ. मोतीलाल मेनारिया ने फुटकल पदों की संख्या लगभग ६१० मानी है।[२६] जिसमें इन्होंने संसार के सभी भोग-विलासों को क्षणिक मानकर इन्द्रिय सुखों के असार माना है। इनका विचार है कि इन्हीं इन्द्रियों से प्रेरित होकर मनुष्य भोग विलास में डूब जाता है। फलतः जीवात्मा के लिए बार-बार गर्भ का बन्धन तैयार हो जाता है। इन सब से परित्राण पाने का एकमात्र उपाय सद्‌गुरु का प्रताप ही है। जिनकी कृपा से भवसागर पार हो जाता है। यहाँ पर गबरी के अन्तर्मन की पीड़ा, वैधव्य जीवन का क्लेश, वेदना और प्रेम भाव ही ईश-कृपा व सद्‌गुरु की दयादृष्टि की आकांक्षी है। नारी मन की पवित्र और निर्मल अन्तःवृत्ति ही यहाँ पर सात्त्विक रूप ग्रहण कर निम्न रूप में प्रकट हुआ है–

**गुरु दिया कृपा कर ज्ञान, मेरे मन भाया ।।टेक।।**
**राम नाम का समरण दीना, त्रिकुटी में ध्यान लगाया ।।**[२७]
**मेरो राम नायक बणझारो... मेरो ।**
**चौदह भुवन की रची बादली वो, माया मार लदाणो । ... मेरो।**[२८]

कहीं-कहीं पर वह मीरा के रूप में हमारे सामने आती हैं। तब यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि यह मीरा हैं अथवा गरबीबाई। भाव, भक्ति, भाषा, तन्मयता और साँवले-सलोने कृष्ण की 'मोहनिमूरति' सभी कुछ मीरामय हो जाता है–

**बाँके चलत हो मोहन, बाके हो गिरधारी रे ।**
**बाँको मुगट बन्यो मनमोहन, कुंडल की छब न्यारी रे ।**
**बाँकी भुजा सोहे अति सुन्दर, बाँकी अलक घुँघट पाली रे ।**
**बाँकी लटको लालन तेरी बाँकी कुबजा नारी रे ।**
**बाँकी मुरली माधुरी मोहन ललित त्रिभंगी मनहारी रे ।**
× × ×
**गबरी कहै तेरी बाँकी बात है, अगम अपार अटारी रे ।।**[२९]

अथवा

**'सुन्दर फूले सरदरत शोभा, सोहामणी रे लोल'**

गबरीबाई के पदों में योग व ब्रह्मज्ञान का निरूपण भी हुआ है, जो इन्हें कबीर व रामानन्दी योगमार्गियों के निकट ले जाता है। यथा–

**अविगत की गति को नहिं पावे, सचराचर में हरि-वेद बतावे।**
**निगम निरंतर नेति बखाणे, ताकूँ जसोदा हरखे हलरावे।।अवि.।।**
**उपनिषद् नो सार श्री कृष्णवाकूँ समर्या बन्धन कट जावे।**

× × ×

**गबरी के प्रभु ब्रह्म सनातन, तेरी गति में तूँ ही पावे।।अवि.।।**[३०]

इस प्रकार, भक्ति आन्दोलन, जन सामान्य और उसके सरोकारों से जुड़ा आन्दोलन है, जिसे डॉ. रामविलास शर्मा ने लोक जागरण से जोड़ने का प्रयत्न किया है। यद्यपि इस आन्दोलन और इससे प्रेरित भक्तिकाल की क्रान्तिकारी विषयवस्तु धर्म के आवरण में, धर्म के आचार्यों, संतों और रचनाओं के माध्यम से सामने आती है, परन्तु इससे मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन और भक्ति काव्य का क्रान्तिकारी सामाजिक-सांस्कृतिक महत्व कम नहीं हो जाता। वस्तुतः उस युग में यही उपयुक्त माध्यम हो सकता था। इससे सामाजिक भेदभाव की यातना से ग्रस्त सदियों से शोषित, वंचित व पीड़ा झेलती रही नारी के अन्तर्मन में उठ रही आशा-आकांक्षा और स्वप्नों को समाज के दृष्टिपथ पर ला दिया। इस अभिव्यक्ति का माध्यम भी भक्तों की श्रेणी में परिगणित नारियाँ ही बनीं, जिनकी भगवद्भक्ति में विपन्न ब्राह्मणों, शूद्रों और अन्यजों की ही तरह आत्मनिवेदन के मार्मिक स्वर सहज में ही सुनायी पड़ते हैं। भक्ति आन्दोलन एवं उस काल के अलावा भारत के सामाजिक-सांस्कृतिक इतिहास में इतना बड़ा जमावड़ा और वह भी समाज के विपन्न, दरिद्र, शोषित व अभावग्रस्त समाज के लोगों का, बुद्ध के समय को छोड़कर इससे पूर्व कभी नहीं देखा गया। बहरहाल ये भक्त कवि साहस करके सामने आये और अपनी पूरी आवाज से युग-युग की जीर्ण-शीर्ण रूढ़ियों को ध्वस्त करने का महान कार्य किया, जिसमें मीरा और गबरीबाई प्रभृति नारी संतों ने अपनी महान भूमिका निभायी। जिस लोक-लाज और कुल की मर्यादा को छोड़ने के लिए इन्हें तिरस्कृत किया गया, उन्होंने उस प्रताड़ना तथा लांछना को सिर-माथे स्वीकार कर अपने गिरधरनागर, हृदय के अन्तस्थल में विद्यमान राम का प्रसाद समझा। जिन आराध्य के हाथों बिकना उन्होंने सबके सामने स्वीकार किया था, उसके प्रेम की पीर हृदय से चिपटाये ये दर-दूर भटकती हुई भारत की रज को पावन कर दिया। बाहर अभाव, वंचना, लोकोपवाद की दहकती आग थी तो अन्दर अपने श्यामल नीलघन के प्रेम की शीतल ज्वाला, जो निरन्तर रह-रहकर इनके हृदय को टीसती, बींधती रहती थी। हृदय की इस सघन कन्दरा से फूटा उनका स्वर यातनाग्रस्त, पीड़ित व अभावग्रस्त

मानवता और नारी हृदय को शीतलता प्रदान करने का महान् कार्य किया। इनके पदों में अपने प्रियतम के प्रति जो प्रणति, प्रपत्ति अथवा शरणागति का भाव है, बार-बार जो गिरधर नागर, राम की पुकार है, वह इनके डगमगाते आत्मविश्वास और चेतना को नया संबल प्रदान करता है। तत्कालीन सन्दर्भों में स्त्री-संतों से इससे अधिक अपेक्षा भी नहीं करनी चाहिए। क्या यह कम है कि ये कवयित्रियाँ अपने माध्यम से अपने समकालीन समाज में घुटती, कराहती बिलखती और नाना प्रकार के अत्याचारों, अभावों, असमानताओं व पारिवारिक प्रताड़नाओं को सहती आम नारी की दयनीय दशा का साक्षात्कार कराती हैं। उसके दुःख, कसक और कुछ कर न पाने की पीड़ा को अपने माध्यम से स्वर प्रदान करती हैं। समाज की कुप्रथाओं, कुरीतियों व परम्पराओं का सच उसके वास्तविक स्वरूप से उजागर करती हुई ये उसका सच सबके सामने ला देती हैं, जिसने उसे परवश व इतनी असहाय बना दिया है कि उसका स्वेच्छा से एक कदम भी उसे कुलटा, चरित्रहीन व भ्रष्ट बना देने के लिए काफी माना जाता है। जबकि पुरुष को अपार अधिकार व सुविधाओं से सम्पन्न किया गया है। वह चरित्रहीन होकर भी सम्मान के साथ घूमता है। हिंसक होकर भी हिंसक नहीं कहा जाता और झूठा पौरुष व वीरता का नाम दे दिया जाता है। मध्यकालीन नारी-लेखन इसी का उदार शब्दों में साक्षात्कार कराता है, जिसकी पद्मावती, सुरसरी, मीरा और गबरी बाई प्रभृति भक्त-नारियाँ वाहक बनती हैं। स्मरणीय है कि इन नारियों की मूल चेतना का स्वर स्वामी रामानंद तथा उनकी परवर्ती भक्ति परम्परा से जुड़ा है।

उल्लेख है कि द्वादश दिव्य परम्परा में पद्मावती और सुरसरि दो ऐसी महाभागवत नारियाँ थीं जिनके माध्यम से तत्कालीन समाज में नारियों के प्रति फैले अत्याचार को शमन करने का अद्‌भुत कार्य स्वामी रामानंद ने किया था। पद्मावती असम और सुरसरी उत्तर प्रदेश की निवासिनी थी। एक को दक्षिण तथा दूसरे को पश्चिमोत्तर प्रांतों में धर्म के प्रचार के लिए स्वामीजी ने भेजा था। इन दोनों ने अपने योगबल से अपने गुरु का स्मरण कर तत्कालीन समाज में नारियों के प्रति उत्पीड़न को शांत किया था। यद्यपि इन दोनों में काव्य प्रतिमा नहीं दिखायी पड़ती है पर धर्म के प्रचार-प्रसार में इनके योगदान को विस्मृत नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार रामानंद जी द्वारा प्रवर्तित भक्ति आंदोलन नारी की स्वतंत्रता के साथ उसके स्वाभिमान और आत्मबल को भी जाग्रत करता दिखायी पड़ती है।

## संदर्भ

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. ३४
२. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिंदी साहित्य की भूमिका, पृ. २२-२४
३. विजयदेव नारायण साही, जायसी, पृ. ५६-५९

४. इन्नमा अकरामोकुम इन्दल्लाहे अताकाकुम-कुरान मजीद, सूर-ए-हज्ररात आयत
५. हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृ. १३६-३८
६. वही, पृ. ४०-४८
७. रामचन्द्रशुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. ५
८. वही, पृ. ६
९. प्राचीन भाषा अपभ्रंश, डॉ. सभापति मिश्र एवं डॉ. मुदमंगल सिंह, पृ. ३२
१०. आचार्य रामचन्द्रशुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. ६
११. आचार्य रामचन्द्रशुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. ८
१२. विजयदेवनारायण साही, जायसी, पृ. ५६
(अमीर खुसरो का सन् १३०१ का रणथम्भौर-विजय का विवरण)
१३. अमीर खुसरो के सोमवार २८ जनवरी १३०३ ई. का चित्तौड़-विजय को विवरण का हिन्दी तर्जुमा (विजय देवनारायण साही, जायसी, पृ. ५६-५८)
१४. वही (रणधम्भौर विजय १३०१ ई.) पृ. ५६
१५. डॉ. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, मुगलकालीन भारत, पृ. ८८
१६. डॉ. बच्चन सिंह, हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, पृ. ९४
१७. शिवकुमार मिश्र, भक्ति आन्दोलन और भक्त-काव्य, पृ. १७९
१८. डॉ. आर.एस. प्रजापति, रामानन्द सम्प्रदाय और साहित्य, पृ. २७८
१९. मीराबाई का भजन, पद ३१
२०. वही, पद २१
२१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, संपा. डॉ. नगेन्द्र, पृ. २३५
२२. डॉ. आर. एस. प्रजापति, रामानन्द सम्प्रदाय और साहित्य, पृ. २७८
२३. शिवकुमार मिश्र, भक्ति आन्दोलन और भक्ति काव्य, पृ. १८२
२४. वही, पृ. १८०
२५. डॉ. आर. एस. प्रजापति, रामानन्द सम्प्रदाय और साहित्य, पृ. २८९

●

# नारी शक्ति का भारतीय पक्ष

डॉ. अमिता दुबे *

सृष्टि के विकास में ईश्वर ने 'नर' और 'नारी' का निर्माण किया। 'मनु' को प्रथम पुरुष और 'शतरूपा' को प्रथम स्त्री के रूप में माना जाता है। शतरूपा अर्थात् जिसके शत रूप हों। नारी के विभिन्न पक्षों पर विमर्श या विचार करते हुए शत रूप सदैव सामने आते हैं। जीवन का कोई भी पक्ष हो समाज का कोई भी क्षेत्र हो नारी शक्ति के सहयोग के बिना पूर्ण नहीं होता। ईश्वर ने नारी को सृजन शक्ति में गुरुतर दायित्व दिया है। वह धात्री होती है। भावी सन्तति को नौ माह गर्भ में धारण कर अपने रक्त से उसे सिंचित करते हुए पुष्पित-पल्लवित करने का भार एक नारी जिसे हम माँ कहते हैं, पर होता है। उसकी सन्तति पूर्ण रूपेण विकसित हो इस दिशा में हर माँ सजग रहती है और अपने प्राणों का उत्सर्ग करके भी अपनी सन्तान की रक्षा करने वाली मातृशक्ति को सभी नमन करते हैं। हमारे आदि ग्रंथ तो नारी शक्ति को पूजनीय मानते हैं और कहते हैं जहाँ नारी जाति की पूजा या सम्मान नहीं होता वहाँ देवताओं का निवास भी नहीं हो सकता। अर्थात् उस भूमि को देवता भी अपनी पूजा स्थली या कर्मस्थली नहीं बनाते जहाँ पर नारियों के प्रति सम्मान का भाव नहीं होता।

हिन्दी साहित्य में नारी शक्ति को श्रद्धा की भावना से नमन किया जाता है– श्री जयशंकर प्रसाद कहते हैं–

**नारी तुम केवल श्रद्धा हो,**
**विश्वास रजत नग पग तल में।**
**पीयूष स्रोत सी बहा करो**
**जीवन के सुन्दर समतल में।**

नारी शक्ति को 'पीयूष' अर्थात् 'अमृत' के रूप में माना गया हैं। वहीं मैथिलीशरण गुप्त जी कहते हैं–

**अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी,**
**आँचल में है दूध और आँखों में पानी।'**

मातृ शक्ति का आदरणीय पक्ष उसके आँचल में निबद्ध अमृत के समान दुग्ध से है, जिसका पान पर शिशु की रक्त मज्जा का विकास होता है। एक माँ अपने दूध से

---

* प्रसिद्ध लेखिका, सहायक सम्पादक, 'साहित्य भारती', लखनऊ, उत्तर प्रदेश।

अपने बच्चे में न केवल शक्ति का संचार करती है वरन् संस्कार भी सृजित करती है। अत: भारतीय संस्कृति में माँ का महत्त्व सर्वोपरि है।

नारी शक्ति का एक रूप 'भार्या' का भी है जो भारतीय संस्कारों में अनिवार्य माना जाता है। मात्र इसलिए नहीं कि एक परिवार के वंश को चलाने के लिए यह अनिवार्य है बल्कि एक घर की कल्पना बिना पत्नी ने नहीं की जा सकती। कहा भी जाता है 'बिन पत्नी घर भूत का डेरा।' बहन और पुत्री के रूप में नारी के मुग्धकारी रूप हमारे भारतीय समाज में विद्यमान है।

राष्ट्रकवि के सम्मान से विभूषित डॉ. रामधारी सिंह 'दिनकर' 'उर्वशी' महाकाव्य के तीसरे अंक में पुरुरवा को आत्म परिचय देती हुई अलौकिक सौन्दर्य से सम्पन्न उर्वशी के मुख से कहलवाते हैं कि प्रणय और सौन्दर्य-प्रिय नर के अतृप्त हृदय से मेरा उद्भव हुआ है और दुर्वृत्त जीव भी मुझे देखकर कोमल एवं सरल हो जाते हैं। संस्कृति, सभ्यता और साहित्य में मैं ही प्रकट होती हूँ।

**'विस्तीर्ण सिन्धु के बीच शून्य एकान्त द्वीप,**
**यह मेरा उर।**
**देवालय में देवता नहीं, केवल मैं हूँ।**
**मेरी प्रतिमा को घेर उठ रही अगुरु-गन्ध,**
**बज रहा अर्चना में मेरी मेरा नुपुर।**
**भू-नभ का सब संगीत बाद मेरे निस्सीम प्रणय का है,**
**सारी कविता जयगान एक मेरा त्रयलोक विजय का है।**

वास्तव में भारतीय नारी में यह शक्ति है कि वह अपने सौन्दर्य, अद्भुत मेधा, व्यवहार, मानसिक दृढ़ता, धैर्य चारित्रिक उत्कृष्टता आदि जैसे गुणों के कारण त्रय लोक विजय कर सकती है और कई प्रसंगों में की भी है। वर्तमान संदर्भ में नारी शक्ति का भारतीय पक्ष अपनी 'ये सिलवटें' कविता के माध्यम से प्रस्तुत करना चाहती हूँ–

**एक लड़की**
**चहकती-महकती**
**मुस्कुराती-गुदगुदाती**
**न जाने कब बड़ी हो जाती है।**
**धरती की तरह**
**गृहस्थी का गुरु गम्भीर भार**
**वहन करने को तत्पर**
**यह लड़की**

खुली और मुंदी आँखों से
देखती है सपने
बुनती है कहानियाँ
गुनगुनाती है गीत
बाँचती है कविता।
बार-बार निहारती है दर्पण
श्रृंगार करते हुए
और न करते हुए भी।
मायके की देहरी से
विदा लेते ही
शुरू हो जाती हैं
प्रदक्षिणाएँ, वर्जनाएँ
आकांक्षाओं के साथ अपेक्षाएँ
इन सबके बीच
दब जाती है वह सुकुमार लड़की
स्मृतियों के गर्त में डूब जाते हैं
उसके सपने
उसकी कहानियाँ और गीत
मुड़े-तुड़े पन्नों में खो जाती है
उसकी अधलिखी कविता भी।
क्योंकि
उसने घुट्टी में पिया है,
तालमेल बैठाने का तरीका
उसे सिखाया गया है
सबको खुश रखने का सलीका
वह एक माँ है, बहन है, पुत्री है
बहू है, प्रेयसी है, पत्नी है,
परिवार का समीकरण उसे ही करना होता है हल
उसे भी नहीं पड़ती कल
क्योंकि
उसका स्वभाव ही ऐसा है
और

परिवार को भी उसी पर भरोसा है।
एक स्त्री ही है
परिवार, समाज, देश और विश्व का
केन्द्र, त्रिज्या, व्यास, परिधि
और उससे निर्मित वृत्त
वृत्त के अन्दर लघु वृत्त
अन्तर्वृत्त, परिवृत्त
उसे ही दिखाने हैं रास्ते
उसे ही चलना है उन पर
संसार में फैले
अनेक ब्लैक होलों से बचते हुए
खोजनी हैं सुरक्षित राहें
बदलने हैं पारम्परिक रास्ते भी।
संसार का कोई अनुष्ठान
पूर्ण नहीं होता मातृ शक्ति के बिना
वास्तव में स्त्री-जीवन स्वयं एक अनुष्ठान है
अनेक आड़ी-तिरछी सिलवटों से भरा।

वास्तव में नारी शक्ति का यह भारतीय रूप विश्व स्तर पर भी स्तुत्य और वन्दनीय है। नारियों के अनेक रूप में भारतीय वस्त्राभूषणों में सुसज्जित नारी को ही प्रशंसा की दृष्टि से देखा जाता है।

यह हमारे लिए अत्यन्त गर्व का विषय भी है और हमारे लिए सीमाएँ भी निर्धारित करता है कि हमें अपनी परम्पराओं और संस्कृति को संरक्षित करते हुए चुनौतियों के रास्तों पर आगे बढ़ना होगा। भारतीय जीवन एक कुम्भ है जहाँ सभी संस्कार मिलकर भारतीय परम्पराओं का पोषण करते हैं और नारी शक्ति उसे सम्पोषित करने के साथ-साथ संरक्षित भी करती है।

●

# भक्तिकालीन नारी की स्वत्व चेतना

**उदयप्रताप सिंह**

आज विश्व के वैचारिक रंगमंच पर विमर्श की परिधि में मुख्यत: दो विषय हैं- पहला स्त्री और दूसरा दलित। दोनों समाज को प्रभावित करने वाले और समाज से प्रभावित होने वाले विषय हैं। दोनों का उत्स अभारतीय होते हुए भी महत्त्वपूर्ण है। यदि आलोच्य विषय पर हम विचार करें तो ज्ञात होता है कि भारतीय ही नहीं; अपितु वैश्विक समाज में भी स्त्री के जीवन सम्बधी विविध आयामों पर शताब्दियों से विचार विमर्श होता रहा है। पर बीसवीं सदी का उत्तरार्द्ध और इक्कीसवीं का पूर्वार्द्ध इससे विशेषत: आंदोलित है। इन दिनों स्त्री के विकास और उन्नयन के नाम पर उन्मुक्त और स्वच्छंद अवधारणाओं का सृजन किया जा रहा है। जिसमें स्वच्छंदता और यौन मुक्तता को महत्त्व मिल रहा है। साथ ही परंपरित मर्यादा और नैतिकता को ताख पर रख दिया गया है। पारम्परिक विचारों के प्रतिपक्ष में स्त्री को खड़ा किया जा रहा है। इसके मूल में सीमोन द बोउवार की पुस्तक– 'दी सेकेण्ड सेक्स, केट मिलेट की 'सेक्सुअल पालिटिक्स' और जर्मन गियर की 'फीमेल यूनक हैं। इन तीनों में नारी विमर्श के नाम पर कहीं विवाह संस्कार को खारिज करने की बात है तो कहीं उन्मुक्त आसंग-फ्रीसेक्स और समलैंगिक लेस्वियन जैसी विकृत मनोवृत्तियाँ हैं। कहना न होगा कि आज का स्त्री विमर्श इन्हीं विचारों का क्रीतदास बन कर रह गया है। मुझे लगता है कि इस मकड़जाल से निकलने के लिए भक्तिकालीन आंदोलन को उपजीव्य बनाना होगा।

पूर्वमध्यकालीन और भक्तिकालीन भारतीय समाज तमाम अन्तर्विरोधों एवं बाह्य द्वन्द्वों में उलझा एक ऐसा समाज है जहाँ स्त्री को स्वतंत्र साँस लेने में अनेक बंधनों को चटकाना पड़ता है। यह युद्धों और आंतरिक द्वन्द्वों में उलझा संकटग्रस्त समय है। यहाँ सबसे अधिक प्रतिबंधित स्त्री है। कभी वह युद्ध का कारण बनती है तो कभी युद्ध को शांत करने का उपहार। कभी उसकी भावनाओं और शरीर पर संधि पत्र लिखे जाते हैं तो कभी उसे जौहर जैसी अग्नि परीक्षा में उत्तीर्ण होना होता है। सती प्रथा, अनमेल विवाह, बालविवाह, वैधव्य जीवन सब नारी के हिस्से में ही पूर्व मध्यकाल सौंप देता है। ये समस्त दंश और यातनाएँ झेलते हुए भी वह दृढ़ता के साथ खड़ी है। इतिहास के पन्ने इससे भरे पड़े हैं। तत्कालीन जैन, बौद्ध और नाथ साहित्य में भी उसका स्वर मंद्र नहीं, अपितु मंद ही रह जाता है। कुछ प्रसंग अवश्य हैं जहाँ वह सम्मानित होती

है। सुजाता के हाथ का खीर और नारियों को बौद्ध संघ में सम्मिलित करने के निर्णय से वह गौरवान्वित होती है। समता और उदारता की यह दृष्टि स्वयं भगवान बुद्ध ने प्रदान की थी। यद्यपि कालांतर में नाथपंथियों ने इस भावना को प्रतिहत किया। विद्वानों ने इसे सिद्धों की वामाचारिता और विलासिता की प्रतिक्रिया कहा है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि भारतीय नारी लम्बे समय से अनेक झंझावातों को सहती हुई भी अपनी जिजीविषा को नहीं छोड़ती है। नारी को इस अवदशा तक पहुँचाने में तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियाँ और तद्‌युगीन शासन भी कम जिम्मेदार नहीं है।

प्राचीन भारतीय ग्रंथों में नारी के प्रति सम्मान की दृष्टि मिलती है। 'यत्र नार्यस्तुपूज्यंते रमंते तत्र देवता' जैसे सुभाषित दीख पड़ते हैं पर व्यावहारिक जगत् में वह प्रवंचित ही रह गयी है। गार्गी, मैत्रेयी जैसी कई वैदिक युगीन स्त्रियों की गौरवगाथा सुनने में तो मिलती है; पर स्त्रियों के सामूहिक उन्नयन के चित्र कम ही दृष्टिगत होते हैं। उनकी निजी स्वतंत्रता की क्षीण रेखाएँ यदा-कदा अवश्य दिख जाती हैं। इन समस्त संदर्भों और मनोदशाओं की पृष्ठभूमि में ही भक्तिकाल का उद्‌भव होता है। फिर भी यह युग नारी की स्वतंत्रता, समता और अधिकारों के संरक्षण में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन अपनी आध्यात्मिक चेतना से करता रहा है।

समूचा भक्तिकाल स्त्री संवेदना और उसकी शक्तिमयता से परिपूर्ण है। यद्यपि भक्तिकाल विरक्ति की मनोदशा का काल है। विरक्ति का आधार है घर अर्थात् घरनी का त्याग। इसकी प्रबल अभिव्यक्ति रामानंद सम्प्रदाय में दीक्षित उन्नीसवीं शती के अयोध्यावासी साधक बनादास के दोहरे में दिखाई पड़ता है–

**जाचब, जाब, जमात, जर, जोरू, जाति, जमीन।**
**जतन आठ ये जहर सम बनादास तजि दीन।।**

कबीर भी कहते हैं– 'नारी की झाईं परत अंधा होता भुजंग।' अन्य भक्त कवियों ने भी स्त्री को माया मानते हुए अवगुण की खानि कहा है। उनके अवगुणों की गणना भी की है। इस तरह भक्ति आंदोलन का बाह्य पक्ष स्त्री विरोधी लगते हुए भी आंतरिक रूप से स्त्री का पक्षधर है। ध्यानपूर्वक देखा जाय तो पूरे भक्ति साहित्य की अन्तर्ज्योति सीता और राधा हैं। राधा-माधव-माधवराधा, सीयराममय सब जग जानी' जैसे भाव से भक्तिकाल संवलित है। निर्गुण मार्गी संतों ने आदि शक्ति नारी से ही सृष्टि का विस्तार माना है। 'अंतर्ज्योति' तथा 'अन्तर्वासा' (जीव रूप एक अन्तर्वासा) जैसे शब्दों का प्रयोग करते हुए सर्जना की सत्ता को स्त्री से जोड़ा है। उसी काल में सूफियों की प्रेमसंवलित साधना भी पराकाष्ठा पर थी जिसका केन्द्र स्त्री ही है। प्रेमाख्यानक काव्यों में पदुमावति, चंदायन, मृगावती, मधुमालती सभी स्त्री केन्द्रित ही हैं। पंच कन्याओं तथा पंच महाशक्तियों की कल्पना भक्ति से ही सम्बंधित हैं। इनमें से किसी का अवतार

नहीं हुआ है इसलिए यह सच है कि पुरुष का महिमामंडन अवतार के रूप में होता है और स्त्री का मनुष्य जाति के उत्थान के रूप में। इतना ही नहीं अबला कही जाने वाली स्त्री के जितने दिव्य प्रतीक भक्तिकाल में हैं वे सभी शक्तिमय हैं। शस्त्र और शाप उसकी सबसे बड़ी शक्ति है। दुर्गा, छिन्नमस्ता, चण्डी, चामुण्डा सबके हाथों में शस्त्र हैं। भैरवी, डाकिनी और त्रिपुर सुंदरी के अनेक रूप भय और प्रणय से सम्बंधित हैं। यह परम्परा रीतिकालीन कवियों तक में दिखायी पड़ती है। जब बिहारी कहते हैं– 'मेरी भवबाधा हरो, राधा नागरि सोय। जा तन की झाईं परै स्याम हरित द्युति होय।' यह राधा के बहाने भक्तिकालीन नारी के सम्मान की अभिव्यक्ति है। इस तरह से सम्पूर्ण भक्तिकाल नारी की निंदा और प्रशंसा का समन्वित रूप दिखाई पड़ता है। पर जब वह दैवी शक्ति का प्रतीक बन जाती है तब श्रद्धास्पद हो जाती है। यह एक प्रकार से युग-युगीन गुलाम नारी की विजय गाथा ही है।

इन समस्त बिन्दुओं को जब हम रामानंदी सम्प्रदाय के आलोक में परखने की चेष्टा करते हैं तो एक विचित्र प्रकार की नारी छवि हमारी आँखों के समक्ष तैरने लगती है। स्वामी रामानंद समन्वयी चेतना के महानायक हैं। उनकी उदारता और समन्वयशीलता उन्हें जगद्‌गुरु की पदवी प्रदान करती है। सगुण-निर्गुण दोनों को पंचगंगा का शीतल जल पिलाने की अद्‌भुत क्षमता उनमें विद्यमान थी। उनकी नवोन्मेषशालिनी दृष्टि समरसता की उद्‌भाविका है। वे विशिष्टाद्वैत के अनुगामी थे। उन्होंने सीताराम की युगलमूर्ति और रामदरबार को लोकमानस में ऐसा प्रविष्ट करा दिया कि समस्त भवतापों का शमन उसी से होने लगा। युगीन प्रवृत्ति को बहुत गहराई से स्वामी रामानंद ने अनुभव किया था। उनके सीयराम राधन की ऐसी बीन बजी कि सम्पूर्ण भारत उसी में तल्लीन हो गया। परवर्ती काल में उनकी इस भक्तिभावना का विकास कबीर, तुलसी, पीपादि संत कवियों में देखा जा सकता है।

सामाजिक समरसता की तान छेड़ने वाले महानायक स्वामीरामानंद भारतीय समाज व्यवस्था की रीढ़ नारी को कैसे विस्मृत कर सकते हैं। अपने द्वादशादित्यों में 'सुरसरि' और 'पद्‌मावती' को सम्मिलित कर स्वामी जी रामानंद ने भक्ति के माध्यम से नारी जागरण का महाभियान चलाया। नाभादासकृत 'भक्तमाल' में इसका उल्लेख प्राप्त होता है। उन बारह शिष्यों में प्राय: बारह जातियों का समन्वय है। परकीय सत्ता में जहाँ नारी दीवारों, अवगुंठनों में कैद थी वहाँ उसका साध्वी बनना एक साहसपूर्ण क्रान्तिकारी कदम था। यह स्वामी रामानंद के भक्ति आन्दोलन का प्रतिफल ही कहा जाएगा। नारी शक्ति का जागरण उसका महत्त्वपूर्ण पहलू है।

सम्पूर्ण मध्यकाल में रामभक्ति आंदोलन का व्यापक रूप देखा जा सकता है। निर्गुण पंथियों में कबीर, रैदास, पीपा, सेन, धन्ना आदि जहाँ लोक जागरण का संदेश

देते हुए 'रामरेव परब्रह्म' की उद्घोषणा करते हैं वही स्वामी रामानंद के शिष्य अनंतानंद और उनके शिष्य नरहर्यानंद तथा उनके शिष्य तुलसीदास ने जिस रामभक्ति की मंदाकिनी का अविरल प्रवाह किया था उसमें सगुण-निर्गुण दोनों तटविलीन हो गए। उन्होंने नारी की प्रतिनिधि सीता को जगज्जननी, जगधात्री, पराम्बा कहकर स्त्री समाज को जो उदात्तता और प्रतिष्ठा प्रदान की वह भारतीय वाङ्मय में अतुलनीय है। इस प्रकार व्यापक गुणों से सम्पन्न नारी की उदात्त छवि निश्चित रूप से नारियों में एक मानसिक उत्फुल्लता और गौरव बोध का सृजन करती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस नारी उत्थान की प्रबल चेतना का मूल उत्स आचार्य रामानंद का सर्वस्पर्शी भक्ति आंदोलन ही रहा है। आज भी पुत्रियों, पत्नियों और माताओं का 'सीता' नाम रखने में लोग गर्वानुभूति करते हैं। सीता संज्ञा स्वयं में इतना अर्थपूर्ण और महिमामंडित है कि मर्यादित नारी की समूची छबि एकबारगी उभर कर आँखों के समक्ष तैरने लग जाती है। पीपा साहब की 'सीता सहचरी' इसका ज्वलंत दृष्टांत हैं।

स्वामी जी के परम शिष्य रैदास वाराणसी के ही निवासी थे। हरिजन थे। वह उनकी आध्यात्मिक चेतना से इतने शक्तिमान हो उठे कि काशी के बड़े-बड़े ब्राह्मण उन्हें दण्डवत करने लगे– 'बड़े-बड़े बिप्र करैंदण्डवत प्रनामा'। उनकी शिष्या मीराबाई राजरानी थीं। उनकी कृष्ण भक्ति की दीवानगी लोगों की जुबान पर आज भी विद्यमान है। उनकी रामभक्ति की उत्कर्षता भी सिद्धावस्था तक पहुँची दिखायी पड़ती है। अनेकानेक प्रतिबंधों के अनंतर उनका स्वाधीन चेता कवित्व अव्याहत रूप से प्रवाहित होता रहा है। एक ही दृष्टांत पर्याप्त होगा–

**मीरादासी राम की ने, राम गरीब नेवाज।**
**मीरा की लाज राख्यो म्हारी बाँह ग्रहना जी लाज।**
**हारे जेणें राम तथा गुन गाया, तेरे जमना मार न खाया।।**

इसी प्रकार रामानंदी परम्परा में गबरी बाई का उल्लेख भी हुआ है। वह राजस्थान के आस-पास की निवासिनी थीं। राम-नाम में ऐसी तन्मय हुई कि नारी स्वतंत्रता का निष्कंप दीप जला गयी। उनकी भक्तिमयी तन्मयता के आलोक से पूरा युग ही जगमगा उठा–

**मेरो राम-नाम बणझारों।**
**चौदह भुवन की रची बादली वो मायामार लदाणों।**

परतंत्र भारत में इस प्रकार की स्वतंत्र अभिव्यक्तियाँ नारी जागरण की ही कहानी कहती हैं।

आधुनिक संदर्भ में स्त्री विमर्श के नाम पर उसकी कामुक भावनाओं को उभारकर स्वच्छंदता को ही स्वतंत्रता कहा जा रहा है। नारी के प्रति छद्म सम्वेदना व्यक्त करने

वाले ये विमर्शकार उसे अपने मकड़जाल में फँसा कर उसका दोहन कर रहे हैं। ये गोमुखीव्याघ्र सरीखें विमर्शकार पहले नारी की कलमतोड़ सहानुभूति लीला लिखते हैं पश्चात् उसे अपना बनाने का षड्यंत्र करते हैं। जरूरत है नारी को इस गोरखधंधे से बाहर निकालने की। आवश्यकता है उसके स्वाभिमान और अधिकार के संरक्षण की। उसकी पीयूषधारा वाली छबि, उसके देवि, माँ, सहचर, प्राण वाले रूप की। शक्ति स्वरूपा जगदम्बा, दुर्गा, चामुण्डा और दैवी शक्ति की। भक्तिकाल में शक्ति और शाप नारी का सबसे बड़ा बल है। आज युगानुरूप उसकी शक्ति का परिमार्जन अपेक्षित है। उसके 'अन्तर्ज्योति' और 'अन्तर्वासा' जैसी सर्जनात्मक सत्ता की आज बड़ी जरूरत है। यदि नारी को इस अवदशा से मुक्त करना है तो रामभक्ति आंदोलन के पुरस्कर्त्ता स्वामी रामानंद का अनुगमन अपेक्षित।

स्पष्ट है कि भक्तिकाल में स्वामी रामानंद ने नारी की इस अतुलित शक्ति और अन्तर्निहित ऊर्जा हो बहुत करीब से पहचाना था। उनकी इस पहचान में समय का दबाव, इतिहास का प्रभाव और अध्यात्म संवलित चेतना की स्पष्ट झलक दिखाई पड़ती है। परिणामतः पूरे भक्ति काल में सुरसरि, पद्मावती, मीराबाई, गबरीबाई सहजोबाई, दयाबाई और बावरी साहिबा जैसी साध्वी कवयित्रियाँ स्त्री स्वातंत्र्य का शंखनाद करती हैं। भक्ति आंदोलन का यह प्रभाव जहाँ नारी मन को स्वतंत्रचेता और स्वाधीन बनाता है, वहीं सम्प्रदाय और जात-पात से ऊपर उठकर सामाजिक समरसता का सृजन भी करता है। कृष्ण के रंग में डूबी ताजबीवी की ललकार नारी की स्वाधीन चेतना का शक्तिशाली प्रकटीकरण है। आचार्य रामानंद की उदार दृष्टि में राम-कृष्ण का स्वरूप एक ही है। स्थान विशेष पर नामांतर होता है भावांतर नहीं–

छैल जो छबीला, सब रंग में रंगीला,
बड़ा चित्त का अड़ीला कहूँ देवता से न्यारा है।।
मालगले सोहै, नाक मोती सेत जोहै,
कान कुण्डल मन मोहै, लाल मुकुट सिर धारा है।।
दुष्टजन मारे सब, संत जो उबारे,
ताज चित्त में निहारे, मन प्रीति करनवारा है।।
नंद जू का प्यारा जिन कंस को पछारा,
वह वृंदावन वारा, कृष्ण साहेब हमारा है ।।

सुनो दिल जानी, मेरे दिल की कहानी,
तुम दस्त की बिकानी, बदनामी भी सहूँगी मैं।।
देव पूजा ठानी मैं निवाज हूँ भुलानी,

तजे कलमा कुरान, साड़े गुनन गहूँगी मैं।।
साँवला सलोना सिरताज सिर कुल्ले दिये,
तेरेनेह दाग में निदाघ ही दहूँगी मैं।।
नंद के कुमार, कुरबान तेरी सूरत पै,
हूँ तो मुगलानी, हिन्दुआनी ही रहूँगी मैं।।

इस अभियान में मुसलमान नारियों को भी रूढ़ियों, विद्रूपताओं, अंधविश्वासों और पुरुषों की लक्ष्मण रेखाओं का अतिक्रमण करना पड़ा था।।

इस संदर्भ में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि उन सभी नारियों की स्वतंत्र चेतना का पाथेय स्वामी रामानंद का राम भक्ति आंदोलन ही रहा है। भक्तिकाल की इस प्रबल धारा में राम-कृष्ण, सगुण-निर्गुण, ऊँच-नीच, स्पृश्य-अस्पृश्य, स्त्री-पुरुष के भेद तिरोहित हो गये थे। भक्तिकाल की यह पहली घटना है जब स्त्रियों ने पुरुषों के बराबर आध्यात्मिक और सामाजिक चेतना को जगाने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया है। कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण भक्तियुग स्त्री की शक्तिमयता, वाग्मिता, जागृति और स्वत्व चेतना का महत्वपूर्ण का कालखण्ड है जिसमें रामानंद सम्प्रदाय की अविस्मरणीय भूमिका है।

●

# शाश्वत एवं अप्रतिम भारतीय संस्कृति

**डॉ. कौशलेन्द्र पाण्डेय ***

एक समय ऐसा भी था जब हम भारतीय अपने आचरण एवं सोच को वैदिक व्यवस्थाओं के अनुरूप ही ढालते थे। उच्च वर्गीय ही नहीं, इतर समुदाय के लोग भी शास्त्रोपदिष्ट रीति सम्मत जीवन जीते थे। सामान्य नागरिक भी मानवीय मूल्यों से समृद्ध होने पर स्वयं को गौरवान्वित समझता, अपने प्रति हुए अपकार का बदला भी लेना होता तो वह विरोधी पक्ष को सतर्क कर देता, युद्ध क्षेत्र से पलायन करने वाले सैनिक को भले ही ऐसा करने में बाधा उत्पन्न करें, शरणागत के प्रति उसका व्यवहार मानवीय ही होता। विधर्मियों के विरुद्ध लड़ने वाला सैनिक भी उनके प्रति सम्मान भाव रखता। इसीलिए दोनों ही पक्ष चोरी छिपे दूसरे पर आक्रमण करने को वर्जित ही न मानते, निकटस्थ नदी में साथ-साथ स्नान भी करते, पान-सुपारी जैसी शिष्टाचार में आने वाली वस्तुओं का आदान-प्रदान भी करते। वचन के प्रति साधारण हिन्दू सैनिक भी इतना सम्मान रखता कि युद्ध स्थगित होने की अवधि में अपने परिवार के साथ तो रहता, किन्तु यथासमय अपने आप वह वापस भी आ जाता; स्वयं की अपकीर्ति को मरण से भी बदतर मानता। अंग्रेज प्रो. पी. जार्ज तो भारतीयों की निष्कपटता से ही गद्‌गद थे। उनके अनुसार यहाँ के करोड़ों व्यक्ति साधु-संतों की तरह ही रहते आये हैं। ये "सहज रूप से सरल, कपट रहित हैं।" पेरिस विश्वविद्यालय के प्रो. लूई रिनाड भी इस मान्यता के रहे हैं कि भारत के प्रति लोगों का प्रेम और आदर उसकी बौद्धिक, आध्यात्मिक और नैतिक सम्पत्ति के कारण है। आज से लगभग बारह सौ वर्ष पूर्व के 'याकूबी' नाम के एक विचारक के अनुसार तो 'बुद्धि और विचारशीलता में हिन्दू सभी देशों से ऊँचे हैं। गणित और फलित ज्योतिष में उनका ज्ञान किसी अन्य जाति से अधिक है; चिकित्सा विषयक उनकी सम्मति प्रथम कोटीय होती है। वैश्विक ख्यातिलब्ध लेखनधर्मी, विशेषत: कवि सैमुएल जानसन की धारणा भी भारतीय समुदाय के लिये कम गौरव वाली नहीं। वह हम हिन्दुओं को स्वधर्म परायण, प्रसन्न, न्यायप्रिय, कृतज्ञता के भाव से सम्पन्न, ईश्वर भक्ति से सर्वथा पूरित एवं सत्य के प्रति अप्रतिम आसक्ति वाला कह चुके हैं।

सत्य के प्रति अतुल्य निष्ठा मात्र हम भारतीयों की सम्पत्ति रही है। बाल्यावस्था

---

* हिन्दी में विविध विधाओं के चितेरे, अनेक सम्मान एवं पुरस्कार प्राप्त, लखनऊ।

से ही हमारे अभिभावक अध्यापक और धर्मगुरु ही नहीं, आशीर्वाद देने की पात्रता वाले वरिष्ठ या कि श्रेष्ठतर व्यक्ति 'सत्यं वद' की सीख देते रहे हैं, इस परम्परा से प्रभावित कई राजपुरुषों ने अनेकानेक कष्टों को जिया किन्तु सत्य की राह से विचलित नहीं हुए क्योंकि सत्य को उन्होंने प्राणवायु की तरह अपने अस्तित्व से सम्बद्ध कर रक्खा था। हमारी जीवन शैली धर्माचरण तथा स्वाध्याय के अतिरिक्त सत्य भाषण-केन्द्रित थी। सत्य को हम परमेश्वर मानते रहे हैं। तात्पर्यतः हम इस मान्यता के रहे हैं कि असत्य भाषण परमेश्वर को नकारने जैसा महापाप है। सर्वव्यापी होने या कि सम्पूर्ण चराचर जगत् में अपनी परिव्याप्ति के कारण 'समष्टि नायक' तुरंत ही हमें असत्य भाषण करते हुए सुन भी लेता है और देख भी। तुलसी की अर्द्धालियाँ 'सियाराम मय सब जग जानी' तथा 'नहि असत्य सम पातक पुंजा' से भी उक्त धारणा संबलित है।

इससे ठीक विपरीत स्थिति पाश्चात्य देशों की रही है। इण्डियन सिविल सर्विस के सदस्य मिस्टर एच. फील्डिंग हॉल ने अपनी कृति 'पासिंग ऑफ दि एम्पायार' में सुस्पष्ट रूप से कहा है– ब्रिटेन की शिक्षण संस्थाओं में छात्रों को सच बोलना नहीं सिखलाया जाता, सत्य की इच्छा ही उनमें नहीं उत्पन्न की जाती। पहले से ही वे इस बात की शिक्षा पाते हैं कि किसी सत्य बात को उसके सिद्ध स्वरूप में जान लेने की आवश्यकता नहीं, आवश्यकता इस बात की है कि वह बात अवसर आने पर अपने पक्ष के समर्थन में किसी भी तरह कैसे इस्तेमाल हो सकती है। उल्लिखित ग्रन्थ में उन्होंने ऑक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज जैसी विश्वख्यात शिक्षण इकाइयों का नामोल्लेख भी किया है। अर्थात् भिन्न संस्कृतियों में प्रारम्भ से ही छात्र को चालाकी, मक्कारी यानि सभी प्रकार के छलछंदो में माहिर बनाने की कोशिश की जाती है। ...सर्वविधि पवित्रता, नैतिकता, संस्कार बहुलता की दृष्टि से प्रबुद्ध वर्ग इतना ज्यादा प्रभावित रहा है कि प्रो. क्रोज़र नाम के एक विद्वान् की ये धारणा हम भारतीयों के निमित्त एक गौरवमयी उपलब्धि ही कही जायेगी। उनके अनुसार यदि पृथ्वी पर कोई ऐसा देश है जो सचमुच में गौरवशाली हो तो वह मानव जाति का आदि स्थान निःसंशयः भारत वर्ष है। डॉ. लोई नाम के एक फ्रांसीसी विद्वान् तो भारत भूमि की श्रेष्ठता को अनन्यतम बताने में कलम ही तोड़ देते हैं। यथा—"हे प्राचीन भारत भूमि, जगत् की उत्पत्ति की आदि स्थली, मानव जाति की आदि जननी! तेरी जय जयकार हो। पूज्य धात्रि! तेरी जय हो। हे धर्म की, प्रेम और कविता एवं विज्ञान की पितृभूमि! हम तुझे प्रणाम करते हैं और चाहते हैं कि तेरा गौरवास्पद भूतकाल पश्चिम के भविष्य में उदित होकर पुनरावर्तन करें।"

एम. लुई जेकोलियट भी भावविभोर होकर कहते हैं– "हे प्राचीन भारत भूमि! हे मानव-जाति की पालन करने वाली! हे पूजनीया! हे पोषणादात्री! तुझे नमस्कार है!

शताब्दियों से लगातार चलने वाले पाशविक अत्याचार आज तक तुझे नष्ट नहीं कर सके। हे श्रद्धा, प्रेम, कला और विज्ञान की जन्मदात्री! तुझे बारम्बार नमस्कार है।'' इतना ही नहीं, हमारे वेद, पुराण, गीता, महाभारत और रामायण प्रभृति समस्त ग्रन्थों की प्रशंसा में आर्थर शॉपनेनहॉवर, मैक्समूलर, आयरलैण्ड के कवि रसेल, भारत में ब्रिटिश गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्ज, फ्रान्सीसी इतिहासकार मिसले प्रभृति विदेशी विचारक एवं विद्वानों ने ही नहीं, अनेक भारतीय हस्तियों ने भी समय-समय पर अपनी सांस्कृतिक अद्वितीयता की दुन्दुभी बजाई है।

यूँ सुप्रसरित दिक्दिगंत वाली भारतीय संस्कृति के विषय में अधिकाधिक उल्लेख भी अणुतुल्य ही होगा, तो भी यहाँ के नारी वर्ग के अतीत की दशा और दिशा पर चर्चा करना ज्यादा समीचीन प्रतीत होता है क्योंकि लौकिक सृष्टि के मूल में सदैव ही पुरुष के होते हुए भी नारी का प्रमुख स्थान रहा है। वह गर्भ भी धारण करती है, शिशु पालन भी। अपनी किसी भी सन्तति की प्रथम गुरु भी है वह! मानवीय मूल्यों से शनैः शनैः परिचित कराते रहने के साथ-साथ वह अपनी सन्तति के भविष्य को मन मुताबिक आकार भी देती है। भगिनी, पत्नी, माँ और अनेकशः अन्य सम्बन्धों से परिवार, समाज और राष्ट्र की निर्मात्री है, तथ्यतः शक्तिस्वरूपा ही नहीं शक्ति माँ'' भी है वह। अर्गला स्तोत्र के अंतर्गत उसका कोई भी भक्त इसी से अनुनय-विनय करता है– 'पत्नी मनोरमां देहि मनोवृत्यानुसारिणीम / तारिणीं दुर्ग संसार सागरस्य कुलोदभवाम्।' हमारे वैदिक मनीषी भी इसी आधार पर कह चुके हैं कि जिस घर में नारी सम्पूज्य मानी जाती है, उसमें देवताओं का वास होता है। महर्षि गर्ग के अनुसार भी ''यद गृहे रमते नारी लक्ष्मीस्तद गृहवासिनी/देवताः कोटिशो वत्स न त्यजन्ति गृहं हि तत्।' ऐसा ही वैदिक सोच कमोवेश वर्तमान में भी हिन्दू परिवारों को संचालित कर रही है। आज भी हम 'एक चक्रो रथों यद्वदेव पक्षो यथा खगः। अभार्योपि नरस्तद्वदयोग्यः सर्वकर्मसु।' तात्पर्यतः जैसे एक पहिये वाला रथ हो या एक ही पाँख वाली चिड़िया असार्थक होते हैं, वैसे ही भार्या से रहित अकेला पुरुष भी निरर्थक याकि नितांत निष्प्रयोज्य! भारतीय नारी पूर्णतया पति को समर्पित उसकी सहधर्मिणी, अनुगामिनी, पति परमेश्वर की अपेक्षानुसार ही सम्पूर्ण परिवार की मर्यादा एवं उत्कर्ष के लिये संतुलित निर्णय लेने वाली प्रतिनिधि है। श्वसुर-सास तथा परिवार की अन्य स्त्रियों व उनके बच्चों में वह अपना सम्मान, स्नेह तथा न्यायिक दृष्टि भी बाँटती है। स्त्री वर्ग का दायित्व होता है कि वह घर से बाहर निकलने वाली लड़कियों को व्यावहारिक दृष्टि से जिससे कि वह समाज के अवांछित तत्वों की अनपेक्षित गतिविधियों से सदैव सावधान रहें। यह बात उनके मन मस्तिष्क में सतत रूप से ध्वनित करते रहना भी उसका दायित्व होता है कि ज्यादातर वे घर पर रहकर ही

गृहस्थी के सभी दायित्वों से सुपरिचित हों। सीखें कि पति के घर जाकर उनका सभी के प्रति व्यवहार कैसा होगा। देश की स्वाधीनता से पूर्व तथा पश्चात् के कुछ समय तक दलित परिवारों में विशेषकर, बाल-बालिका विवाह की प्रथा थी। इसके मूल में थी अशिक्षा, आर्थिक दैन्य, भविष्य की असुरक्षा एवं उनकी अनेकानेक विवशता में! परतंत्रता के अंतिम चरण में देश की विदेशी सरकार दूसरे विश्वयुद्ध को फतह करने में लगी रही तो १५ अगस्त १९४७ की स्वदेशी सरकार साम्प्रदायिक ऐक्य, जमींदारी उन्मूलन तथा सामूहिक श्रमदान कार्यक्रम के माध्यम से ग्राम विकास करने में लगी थी। बालिका शिक्षा की दिशा में शासकीय-प्रशासकीय सोच का धीरे-धीरे ही प्रारम्भ हुआ। देश-प्रदेश के अलग-अलग अंचलों में आज की कन्यायें स्वयं ही बाल विवाह के विरोध में आंदोलित हैं। निकट भूत में ही दर्जनो बालिकाओं के एक समूह जिसमें कई तो विवाहित भी– नहीं हैं बालिका विवाह के विरुद्ध अपनी आवाज बुलन्द की। वे पहले पढ़ाई कर लेने की इच्छुक हैं जिससे कि देश-प्रदेश के सांविधानिक औदार्य का समान लाभ पाने के लिये वह लड़कों से प्रतिस्पर्धा कर सकें। इस दिशा में वह सत्याग्रह भी कर रही हैं, अपनी संस्था बाल पंचायत के माध्यम से समाज के अभिभावक वर्ग को स्पष्ट भाषा में बता रही हैं कि वह पढ़ेगी, सिर्फ पढ़ेगी घर के चूल्हा-चौके से उन्हें कोई सरोकार नहीं होगा। नाट्य मंच के माध्यम से भी वह अपने वर्ग की ही नहीं अनागत पीढ़ियों की किशोरियों को प्रेरित कर रही हैं कि वह सड़ी गली एवं विवशताजन्य परम्पराओं से विरत हों, स्वयं की भाग्यविधाता बनें, तदर्थ समाज तथा देशहित बद्ध मेधा का प्रदर्शन करने के लिये बुद्धि एवं भविष्यदात्री माँ वीणा पाणि के प्रति समर्पित हों। किन्तु उन्हें ऐसी सिद्धि के लिए अपनी तरुणाई तक थोड़ी सी सोचसमझ एवं वर्जनाओं के अंतर्गत ही रहना आवश्यक होगा। वस्तुतः नारी हो या पुरुष दोनों के अर्थपूर्ण भविष्य के लिए आत्मानुशासन प्राणवायु तुल्य होता है। सुलभता की दृष्टि से हम इसे सदाचरण से संबंधित जीवनशैली भी कह सकते हैं। सम्प्रति एक बहुत बड़ा नारी वर्ग स्वयं को सदाचरण की संहिता से आबद्ध रखने में यथेष्ट रुचि नहीं रखता। उसे असहज लगता है ऐसा करना, चाहे समाज के किसी भी वर्ग से सम्बन्धित हो वह। पारस्परिक श्रेष्ठता के निकष पर मध्यम वर्गीय नागरिक अधिकांशतः निष्कलुष पाये जाते हैं। वे ऋषिपरम्परा के अंतर्गत यथेष्ट संतुष्टि के साथ जीवन यापन करते हैं; आस्था सम्पन्न होते ही हैं, अपने सामाजिक एवं पारिवारिक सरोकारों का अर्थ समझते हैं, उन्हें तदनुसार जीते भी हैं। इतर वर्गीय परिवार की बालिकायें ज्यादातर ऐसी होती हैं जिनके अभिभावक सतत संघर्षशील रहकर एक जून की रोटी का जुगाड़ कर पाते हैं, जानते ही नहीं की अपनी बालिकाओं को नैतिक दृष्टि से सबल कैसे बनायें। यूं भौतिक दृष्टि से ही नहीं, नैतिक सम्पदा से भी न्यून होने के

कारण वह अनपेक्षित स्थितियों की गिरफ्त में आ सकती हैं।

आजकल इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के सौजन्य से देश भर के बेडरूम, रेस्तराँ-भोजनालयों और मदिरालयों में पर्तदरपर्त उद्घाटित होते तथाकथित उच्चवर्गीय ही नहीं, उच्चमध्यवर्गीय़ नागरिकों के परिवारीय चारित्रिक रहस्य सभी आयु, रंग-रूप धर्म-सम्प्रदाय और भाषा वाले भारतीयों के संज्ञान में हैं। नारियों का एक बहुत बड़ा वर्ग ब्रह्मधर्म पुराण की व्यवस्था 'किं गृहेषु तनया भूषा भूषासम्पत्सु पंडिता/पुरुषां भूषा तु सद्बुद्धिः स्त्रीणां भूषा सलज्जता' (अर्थात् घर की शोभा कन्या, सम्पत्ति की शोभा पाण्डित्य, पुरुष की शोभा सद्बुद्धि और महिलाओं की शोभा लज्जा है) की या फिर अल्प शिक्षित या अशिक्षित, जीविकोपार्जन में लगे रहने के कारण यदाकदा शोषित और अपमानित होती रहती हैं। पाश्चात्य देशों में भी ऐसा रहा है। निःसंदेह चारित्रिक शून्यता भौतिक उन्नति में सहायक होती है, किन्तु समान्यतया वह उन्हें अपनी मर्यादा एवं लोकछवि की कीमत चुकाकर अत्यल्प काल के लिये सुविख्यात लेखक हैवेल्लक सल्लिस प्रणीत सायकोलॉजी ऑफ सेक्स, पार्ट-दो, पृ. ५५७-५५८ के अनुसार 'कारखानों और घरों में काम करने वाली, दूकानों में माल बेंचने वाली और होटलों में सेवा करने वाली लड़कियों में से ही अधिकांश पेशेवर होती हैं। लंदन नगर के पूर्वी अंचल वाली निर्धन बस्तियों में ८८% वेश्यायें, नौकरी पेशे वाली स्त्रियों में ३३ प्रतिशत आनन्दोपभोग के लिये, शेष में से अधिकांश अभावग्रस्तता के कारण (जिनमें कुछ प्रतिशत नारियाँ ऐसी हैं जो पुरुषपक्ष द्वारा विवाह कर लेने का वचन न निभा पाने के कारण वातावरण सम्मत काम यानी कि नीचकर्म अपना लेती हैं।' एक अन्य लेखक 'ऐक्टर' अपनी कृति 'ऑन प्रास्टीच्युशन' में कहते हैं– 'अनेक ब्रिटिश स्त्रियाँ नीच कर्म में प्रवृत्त होने का कारण वेतन की अत्यल्पता या फिर रोजगारहीनता बताती हैं। इस सांस्कृतिक नग्नता को अंकुशित करने के लिये ब्रिटिश सरकार ने एक राजाज्ञा जारी की। (देखिये जेम्म मर्चेन्ट प्रणीत "दि मास्टर प्रॉब्लेम/१८७' और विद्वान् डॉ. ब्लॉच की कृति सेक्सुअल लाइफ ऑफ अवर टाईम")। राजाज्ञानुसार अपुरुष वर्ग (विशेषकर लड़कियों के लिये) एक आचार संहिता ही उपलब्ध कराई गई थी– 'वे कभी भी किन्हीं अपरिचित व्यक्तियों से बात न करें।(चाहे वह औरतें ही क्यों न हों) दूकानों में, स्टेशनों पर, रेलगाड़ी पर, मनोरंजन केन्द्रों में या कहीं भी तनहाई में मिलने-जुलने से बाज आयें, रास्ता पूछना हो तो वह ड्यूटी पर तैनात कर्मचारियों, पोस्टमैन या पुलिस वालों से ही पूछें, सड़क पर कभी भी वह अकेले ही न टहलें, किसी पुलिस वाले से सम्पर्क करने के लिये तेजी से चलें, यदि कोई दूसरी महिला रास्ते में मूर्छित पड़ी हो तो किसी पुलिसकर्मी को सूचित तो कर दें किन्तु उस स्थान पर रुकें नहीं। वे कोई रविवारीय स्कूल या बाइविल क्लास पहुँचने के लिये किसी अपरिचित का आमंत्रण भी न स्वीकारें

(भले ही वह व्यक्ति पादरी, नॅन् वगैरह की वर्दी में हो, लड़कियाँ किसी अपरिचित से उसकी कार, टैक्सी या अन्य किसी प्रकार के वाहन से लिफ्ट हासिल करने का न तो अनुरोध करें– ना ही उसके प्रस्ताव को स्वीकारें, उसके द्वारा दिये गये पते पर भी ना जायें, उसके किसी रिश्तेदार से परिचित होने की बात पर यकीन भी कतई न करें, वे किसी के द्वारा दी गई मिठाई, पानी भरा गिलास या किसी भी खाद्य पदार्थ का सेवन न करें, लंदन या किसी अन्य बड़े शहर में अपने अभिभावकों की पूर्वानुमति के बिना रात्रि विश्राम भी न करें, साथ ही विज्ञापन में दिये गये पते पर किसी से सम्पर्क करने से भी बचें।

अस्लियतन ब्रिटेन में जिन दिनों उल्लिखित राजाज्ञा निर्गत हुई थी, उसकी दशा अपहरण, अनाचरण, अन्याय तथा अपकृत्यों में वही थी जो भारत के साम्प्रतिक नर-नारियों में व्याप्त है। प्रथम यह नहीं कि उस देश के नागरिकों के स्तर से राजाज्ञाप्रदत्त आचार संहिता का कितना अनुपालन हुआ, कितना कुछ सुधार दिखा वहाँ के युवा वर्ग की संस्कारशून्यताजन्य चारित्रिक गतिविधियों में, या फिर बिगड़ैल युवाओं के गले से नीचे उतरी ही नहीं ये पाबन्दियाँ। भिन्न विषय है वह। औद्योगिक क्रान्ति तथा इतर देशों से आई लक्ष्मी के फलस्वरूप ब्रिटेन का राजकोष उत्फुल्लित होते ही मुझे तो सामाजिक विद्रूपताओं में बहुलता की बात ही अधिक तर्कपूर्ण लगती है, स्वाभाविक भी।

इतना तो निर्विवाद है ही कि अंग्रेज शासकों-प्रशासकों ने अपनी सारी सामाजिक बुराइयाँ भारत में प्रसरित कीं। इन्हें हम उनके ऐश्वर्य की विशिष्टतायें समझकर ग्रहण भी करते रहे। भले ही वे सन् १६०० ई. में भारत आये, उनका तथा उनके पूर्ववर्ती मुख्यतः मुगल शासकों ने अपनी-अपनी शैली में भारतीय संस्कृति को दुष्प्रभावित किया किसी ने यदि इस्लाम संस्कृति को स्व्वेछा से अपनाया तो उसे उच्चपद और जागीरें दी गईं।... तो कुछ हिन्दू राजाओं ने अपनी सीमाओं को सुरक्षित बनाये रखने के व्यामोहवश अपनी कन्यायें मुस्लिम राजाओं और सिपाहसालारों को सौंप दीं। इस्लामी संस्कृति को किसी भी दशा में न स्वीकारने वालों को राणा प्रताप की तरह जूझना भी पड़ा या फिर ढोना पड़ा। उन्हें मनमाने तरीके से बढ़ाये गये करों का बोझा। मुगल शासकों में अपनी तथाकथित उदार मानसिकता के कारण 'महान्' बताये जाने वाले बादशाह अकबर ने तो 'दीन इलाही' का सूत्रपात करके भारतीय संस्कृति को तार-तार कर देने का षड्यंत्र रचा था, ईश्वर की अनिच्छा ही समझिये कि अनेक धर्मों का वह समिश्रण अत्यल्पजीवी रहा। औरंगजेब तो अपने दृष्टिपथ पर आये मंदिरों की शिखाओं से ही घृणा करता। अपने इस विद्रूप सोच का परित्याग उसने तब किया जब वाराणसी स्थित जंगमवाणी मठ में ससैन्य होते हुए भी उसे मुँह की खानी पड़ी।

सारांशतः वासुदेव को सम्प्रेषित अर्जुन के श्रीमद्भगवद् गीता के श्लोक इकतालीस से चौवालीस तक की अभिव्यक्ति अक्षरशः सत्य साबित हुई। देश में हर तरह से बदलाव आया। प्रजावर्ग के अहर्निश दुखी रहने के बावजूद आज का सत्ता पुरुष नरक से किंचित्मात्र भयभीत नहीं। आज की नारी भी सीता, सावित्री, अनसूया प्रभृति आदर्शों के प्रति सर्वथा उदासीन है; अपने गार्हस्थिक दायित्व के निर्वहन तथा पति की मनोकांक्षा के प्रति सात्विक समर्पण याकि अनुगामिनी की भूमिका में तभी तक प्रसन्न रहती है जब तक वह उसके मनमुताबिक धन का अपव्यय करने में समर्थ है। परिवार शब्द की परिभाषा ही बिगाड़ दी है उसने। वस्तुतः यौवनोन्माद में दम्पत्ति वर्ग ही विवेकशून्यता की गिरफ्त में है। यूँ मानसकार की भविष्य दृष्टि की त्रुटिशून्यता नमनीय ही कही जायेगी। निम्नलिखित चौपाइयों में उन्होंने सौभाग्यवती ही नहीं विधवाओं, तपस्वियों और धनहीन समाज के सभी वर्गों पर कटाक्ष किया है क्योंकि अपने श्रेष्ठतम सांस्कृतिक पारिवारिक-सामाजिक एवं मूल्याधारित बन्धनों में उनकी आस्था एवं आसक्ति नहीं रही। यथा: "सौभागिनी विभूषन हीना/विधवन्ह के सिंगार नवीना।' 'बहुदाम सँवारहिं धाम जती/विषया हरि तीन्ह न रहि बिरती।। तपसी धनवन्त दरिद्र गृही/ कलि कौतुक तात न जात कही।। कुलवंति निकारहिं नारि सती/गृह आनहिं चेरि निबेरि गती।। सुत मानहिं मातु पिता तब लौं। अबलानन दीख नहीं जब लौं।। ससुरारि पियारि लगी जब ते/रिपुरूप कुटुम्ब भये तब ते।। नृप पाप परायन धर्म नहीं। करि दण्ड बिडम्ब प्रजा नितही।। धनवंत कुलीन मलीन अपी/ द्विज चिह्न जनेउ उघार तपी।। नहि मान पुरान न बेदहिं जो/हरि सेवक संत सही कलि सो।' एक बात और। अधिकार सम्पन्न और सत्तासीन पुरुषों में विवेकशून्यताजन्य उन्माद तो सम्बन्धों का सत्यानाश करने में प्रथम क्रम पर हैं ही बाल्यावस्था से अपने कैशोर्य तक संस्कारों की घुट्टी से वंचित रहीं याकि कथित अवधि के दौरान कुत्सित एवं विपन्नताग्रस्त परिवेश में संपोषित बेटियाँ टेलीविजनी एवं फिल्मी चकाचौंध से उत्प्रेरित होकर विकृत एवं बेहिसाब महत्वाकांक्षायें पाल बैठीं हैं, ऐसे में उन्हें किसी न किसी नरपिशाच का ग्रास बन जाना किसी आश्चर्य वाली बात नहीं। मेरी इस धारणा के अपवाद भी मिलेंगे। उधर अंतरजातीय नर नारी सम्बन्ध हो, या और कुछ जिससे सम्बन्धित प्रकरण सभी समाचार पत्रों में आये दिन पढ़ने को मिलते रहते हैं। इसमें हम दण्डसंहिता में वर्णित अन्यान्य अपराध भी सम्मिलित कर सकते हैं।

स्वातंत्र्योत्तरीय इन साढ़े छः दशकों में देश की आबादी में जिस गति से उफान आया है, उसके मुकाबले किसी महामारी की तरह कई गुनी गति से इसकी सांस्कृतिक बदतरी बढ़ी है वस्तुतः क्षतविक्षत हो चुकी है वह। हमारे सारे ही कार्यकलाप अर्थप्रेरित हो चुके हैं। देशी-विदेशी विचारकों ने सम्पूर्ण विश्व के मुकाबले हमारी सांस्कृतिक

श्रेष्ठता की कितनी भी वाहवाही की हो, वह सब इतिहास होने के कारण हमें गरिमा मंडित नहीं करती, व्यंग्यस्पर्शी लहजे में यदि कहैं– 'हमे उत्फुल्लित करती है यह बात कि हम भारतीय कभी गुलाम के रूप में खरीदे जाते थे, पद, सुविधा और सम्पत्ति के लालच में हमने अपनी बेटियाँ विधर्मियों को दान कर दीं, अपनी ही जाति और मूल्याधारित जीवन जी रहे सगे सम्बन्धियों को एक अश्व और हथियार के रूप में एक भाला के लालच में घास की रोटियाँ तक खाने और अरावली की पहाड़ियों में अहर्निश भटकने के लिये विवश कर दिया था। विदेशियों की विजयश्री के निमित्त हमीं ने तो बेवजह की लड़ाका लक्ष्मीबाई को नेस्तनाबूत करके ही दम लिया। जलियाँवाला बाग का नरसंहार हमारे ही दमखम की तो बात थी! ईस्ट इण्डिया कम्पनी जब स्थापित हुई थी, हमारे पुराने-पुरखों को उनके बेटों पर माल की लोडिंग-अनलोडिंग करने का काम भी मिला था, अंग्रेज साहबों के घरों में हमारी दादियाँ-परदादियाँ मेमों की रसोईं संभालतीं, धोबन और महरी का काम भी बड़े मनोयोग से करती, बंद कर दिया था उंगलियों को बेवजह माला जप-जपकर घिसना। थोड़े वक्त में हममें से बहुत से क्रिस्तान भी बन गये। इज्जत की जिन्दगी जीने का सउर हमें अंग्रेजों ने ही तो सिखाया। ...आखिर कहाँ तक बाँचूँ मैं अपनी जायज-नाजायज उपलब्धियों की फेहरिश्त!

अपने सांस्कृतिक अवसान का उद्‌गान किंचित्मात्र लाभकारी नहीं। साम्प्रतिक पीढ़ी तक के हम देशवासियों के एक बहुत बड़े वर्ग में जितनी भी सांस्कृतिक शून्यताजन्य कालिमा है, उससे त्वरित मुक्ति दिलाने में कोई भी डिटरजेन्ट समर्थ नहीं। शायद कई पीढ़ियों का समय लगेगा देश के घर-घर में प्रसरित अपसंस्कृति की कुरूपता को अत्यल्प करने में। सुखद संयोग ही है कि आलेख के उत्तर प्रारम्भ में उल्लिखित एक जनपद की बालिकाओं के स्तर से स्थापित 'बालपंचायत' बालिका वर्ग के अनागत को आशिल्पित करने की दिशा में प्रयासरत हैं। इस बिन्दु पर मात्र अनिवार्यता यह होगी कि देश के सांस्कृतिक मनीषी उनका मार्गदर्शन करते हुये यह सुनिश्चित करते रहें कि बालिका वर्ग का सोच यथा– संभव रूप से सांस्कृतिक पटरी पर ही गतिमान रहें, वे आत्मबली हों और वैदिक अवधारणाओं एवं स्थापनाओं के आधार पर अपनी संतति के साथ-साथ पति वर्ग को भी अपनी विचारधारा में ही अनुरक्त करें। आसमान में छेद हो सकता है, बशर्ते सहयोग करने वाले मनीषी सच्चरित्र होने के साथ-साथ अपने मनोयोग को सामूहिक अभियान का रूप देने का सुप्रयास करें। ध्यातव्य है कि कन्या हो या पुत्र– माँ ही दोनों का भविष्य निर्मात्री होती है, भविष्यघाती भी। युगीन चमक-दमकजन्य आचरण को 'डायनेमिज़्म' समझने वाली माँ अपने देश के सांस्कृतिक ऐश्वर्य से अपरिचित है तो निश्चित रूप से संस्कार याकि जीवन मूल्यों का उसे किंचितमात्र जानकारी नहीं। उसके संज्ञान में यही होगा कि

'सौंदर्य' और नारी की आंगिक सुषमा परस्पर समानार्थी हैं। तात्पर्यतः उसकी बालिका उसके ही दैनन्दिन आचार-विचार को आत्मसात करेगी। अतएव पूर्वयुगीन गुरुमाताओं के आचार-विचार एवं वैदुष्य से कमोवेश मिलती-जुलती सांस्कृतिक शिक्षिकाओं को चतुराई से ही ढूँढ़ना होगा। आखिर उसे उपदेशों के साथ-साथ अपने आचरण के खनिज और बीता मीनों से बालिकाओं में अपने लक्ष्य के प्रति एकाग्रता बनाये रखना है वैसे साम्प्रतिक समाज में व्याप्त सर्वथा असाध्य उपस्थितियों के कारण बाल पंचायतें एवं गुरुमातास्वरूप संस्कृति शिक्षिकाओं की व्यवस्था होना बहुत व्यावहारिक नहीं लगता। इसके बावजूद प्रारंभिक अवस्था में उत्तर प्रदेश के अंचल विशेष की बालिकाओं का जज्बा कम प्रशंस्य नहीं।

आवश्यकता है संस्कृति सम्बन्धी कतिपय अन्य बिन्दुओं पर पुनर्विचार करने की भी। बहुत पहले वेदों के पुरुष सूक्त के "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासी' मंत्र का हमारी चार स्मृतियों में गलत अर्थ किया गया था। इसके मूल में थी जनसाधारण की अशिक्षा तथा तदाधारित उनकी समझ, लेकिन इसका दुष्फल दलित वर्गीय समाज को भोगना पड़ा। उसके हिस्से में प्रथम तीन वर्णों का दुर्व्यवहार आया, हालाँकि अनेक संत और वेद ज्ञानी महापुरुषों ने लोगों के मिथ्या भ्रम को निर्मूल करने के प्रयास किये किन्तु यथेष्ट सफलता नहीं मिल पाई। इस बात का लाभ अन्यान्य धर्मों ने उठाया उनके प्रति संवेदना प्रकट करके। फलतः आज भी पूर्व में बौद्ध एवं जैन धर्मों में दीक्षित परिवार अपने पुश्तैनी धर्म में वापस नहीं लौटना चाहते। स्वातंत्र्योत्तरीय इन पैसठ वर्षों में अपने सर पर भारतीय संविधान का आशीर्हस्त होने के कारण दलित एवं जनजाति वर्ग के जो हिन्दू भाई हिन्दू ही बने रहे अब प्रसन्न हैं क्योंकि अस्पृश्य नहीं हैं, समान अधिकार सम्पन्न हैं वे तथा कमोवेश परितुष्ट हैं अपनी यथास्थिति से। अब इस्लाम अथवा ईसाई किसी भिन्न धर्म के प्रति रुचि नहीं। उन पर भिन्न धर्मों या संस्कृति की विक्तियों को दूर करते रहना होगा। हिन्दू संस्कृतिजन्य किसी भी अव्यावहारिकता या जटिलता के प्रति भी हमें उदारता भी बरतनी होगी।

वर्तमान में हिन्दू हों, ईसाई या मुसलमान भारतीय, सभी पारस्परिक समरसता की डोर में बँधे हैं। तीनों ही अपनी-अपनी भाषायें बोलते ही हैं। सामान्य बोलचाल के दौरान एकदूसरे की भाषा में भी विचारों का आदान-प्रदान करते हैं। विशेष ध्यातव्य बात यह है कि भाषायी स्तर पर किसी को किसी से वैर भाव नहीं। कवि और शायर एक ही मंच से बात करते हैं, मिली-जुली बोली में श्रोताओं तक उनके मन की बात सम्प्रेषित करते हैं, शासन, प्रशासन तंत्र भी सभी धर्मावलम्बी कर्मियों के समान सोच और विचार की सुपरिणति है। हम अपने सहकर्मियों के आवास पर जाकर क्रिसमस और ईद की बधाइयाँ तक देते हैं। कहीं बर्थडे केक का आनन्द लेते हैं तो कहीं सेवइयों

का। वे भी हमारी ना जानकारी में तो अक्सर ही चट कर जाते हैं लंचबाक्स की सारी खिचड़ी या पराठे और सब्जी। ऐसे अवसरों का हमें यथेष्ट उदारता से लुत्फ लेना चाहिए। दरअसल इस सद्भावनापूरित व्यवहार से हमारी संस्कृति चिह्नित होती है, सहिष्णुता, सहनशीलता, औदार्य, पारस्परिक सामन्जस्य एवं अलाभ जैसी अन्य संस्कृतियों में दुर्लभ विशिष्टताजन्य लोक ख्याति भी मिलती है उसे। नहीं चाहते हैं हम कि कोई हिन्दू संस्कृति का अंग बने। श्रीराम जैसे हमारे सर्वस्वीकार्य आदर्श तक ने रावण के अंत के पश्चात् शेष राक्षस जाति से कभी इच्छा तक नहीं प्रकट की कि वह वैदिक संस्कृति में दीक्षित हो जाय। वह इसी उपलब्धि से संतुष्ट थे कि लंका विजय के साथ ही उनकी सीता भी मिली लंका के प्रति निर्लोभी वृत्ति के कारण सांस्कृतिक यश भी।

●

# भगवा और उसकी प्रतिष्ठा

डॉ. देवेन्द्र दीपक*

नाम में क्या रखा है? नाम का क्या? रंग में क्या रखा है? रंग का क्या?

ऐसा नहीं है बंधु!

हमारे लिए नाम का भी महत्त्व है और रंग का भी।

जैसे और रंग ऐसा ही भगवा?

फिर वही रट! ऐसा नहीं है। हमारे लिए भगवा एक रंग भर नहीं है। वह हमारे लिए बहुत कुछ है। जब भगवा रंग चोला बनकर किसी व्यक्ति के शरीर को आवेष्टित करता है, तब भगवा को एक नया आयाम मिलता है।

तो फिर क्या है भगवा?

भगवा एक थीसिस है।

भगवा एक संकल्पना है।

भगवा एक अन्तर्यात्रा है।

भगवा एक जीवन-शैली है।

भगवा एक जीवन-बोध है।

भगवा एक आचार संहिता है।

भगवा एक आत्म स्वीकार है।

भगवा एक प्रतिकार है।

भगवा एक संधि है।

भगवा एक समास है।

भगवा एक आह्वान है।

भगवा एक संकेत है।

भगवा एक मौन संगीत है।

भगवा अभय है।

भगवा एक अनुशासन है।

भगवा एक उत्प्रेरक है।

भगवा एक सतत परीक्षा है।

---

* संस्कृति-साहित्य एवं रंग-कर्मी, डी. शालीमार गार्डेन, कोलार रोड, भोपाल-४२

भगवा एक अग्निशिखा है।
भगवा एक कीलक है।
भगवा एक चुम्बक है।
भगवा एक रस-वर्षा है।
भगवा एक प्रतिबद्धता है।
भगवा एक परम्परा है।
भगवा एक पराक्रम है।
भगवा एक भाषा है।
भगवा तलवार की धार है।
भगवा सुइयों का पैरहन है।
भगवा एक अपेक्षा है।
भगवा एक सम्पूर्ति है।
भगवा हमारी जातीय स्मृति में श्रद्धा, वैराग्य
पवित्रता, शुचिता का प्रतीक बनकर बैठा है। जो कोई
भगवा चोला पहनकर हमारे सामने खड़ा है उसके
सामने हम नतमस्तक होते हैं। उसकी अपेक्षा की उपेक्षा
नहीं कर सकते। भगवा सबका है। जितना ब्राह्मण के
लिए, उससे कहीं अधिक अस्पृश्य के लिए। भगवा पंथ-
निरपेक्ष, जाति निरपेक्ष!
भगवा धारण करने के बाद भी यदि कोई भगवान् के साथ
अपने तार नहीं जोड़ पाता, उस पर समाज अँगुली उठाता
है। वह समाज आलोचक के स्वर में बोलता है– 'मन न रंगायो रंगायो
जोगी कपड़ा।'
मंगल का लाल और बृहस्पति का पीला! दोनों मिलते
है तब भगवा बनता है। यानि मंगल और बृहस्पति दोनों
के गुण-धर्म का मिश्रण।
मानव के हित में है कि संस्कृति राजनीति की नियामक
बने। लेकिन आज राजनीति संस्कृति पर हावी हो रही है।
भारत में आज राजनीति भगवा को घेरने की कोशिश
कर रही है। भगवाधारी साधु-संतों को
किसी न किसी बहाने लांछित किया जा रहा है। उनकी साख
को बट्टा लगाया जा रहा है। एक समय होता है जब राजनेता
किसी साधु / स्वामी की शरण में जाते हैं। उसके चरण पखारते

हैं। फिर कुछ ऐसा होता है कि वही राजनेता उसी साधु/स्वामी
को 'ढोंगी और पाखण्डी' कहने लगते हैं। राजनेता चाहते हैं कि
संत उनके हित में काम करें। उनकी लाइन पर चलें।
जो नहीं चलेगा, उसके लिए काली स्याही!
सीरियलों में, विज्ञापनों में, नाट्य प्रस्तुतियों में भगवा की
हँसी उड़ाई जाती है। किसी दुष्ट पात्र को दिखाना हो तो उसके
माथे पर तिलक, गले में रुद्राक्ष की माला और भगवे
रंग का दुपट्टा! बस इतना भर काफी!
पाखण्ड भी एक सच है। सब धर्मों में कुछ पाखण्डी होते ही हैं। अधिक
समय तक उनका नाटक नहीं चल पाता। लेकिन आज हवा हिन्दू
समाज के विरुद्ध बह रही है। और धर्म-पंथ के साधु सच्चे तथा
महान, लेकिन हिन्दू संत-महात्मा पाखण्डी और दुराचारी!
थोड़ा ठहरकर ठंडे दिमाग से सोचने की जरूरत है। एक शब्द चल
रहा है 'भगवाकरण'। एक उपालम्भ की तरह। योग के
प्रसार का प्रस्ताव हो तो भगवाकरण, संस्कृत की बात करो तो
भगवाकरण, गीता पढ़ाओं तो भगवाकरण, सूर्य नमस्कार का
आयोजन करो तो भगवाकरण, वंदेमातरम कहो तो भगवाकरण,
सरस्वती की वंदना करो तो भगवाकरण, गोरक्षा का मसला उठाओ
तो भगवाकरण, वेद और यज्ञ को महत्त्व दो तो भगवाकरण,
वर्षप्रतिपदा को भारतीय नववर्ष के रूप में मनाओ तो भगवाकरण,
अल्पना और रंगोली निकालो तो भगवाकरण, शिलान्यास
के अवसर पर भूमिपूजन करो और नारियल फोड़ो तो भगवाकरण,
नटराज का पूजन करो तो भगवाकरण, वैदिक गणित सिखाओ तो
भगवाकरण, मकान के द्वार पर ॐ लिखवाओ तो भगवाकरण।
तो फिर क्या करें? स्यापा करें। रोते-कलपते रहें।
नहीं। ऐसा नहीं। झाड़ू लगाना होगा, धूल हटानी होगी,
शंख बजाना होगा। आग जलानी होगी।
याद रखने की बात है कि भगवा जब चोला बनकर देह
पर सजता है तो वह भक्ति और अध्यात्म की ओर ले जाता
है, लेकिन वही भगवा जब ध्वज के रूप में आकाश
में फहराता है तो वह शक्ति शौर्य और पराक्रम का भाव जगाता
है, न्याय की रक्षा का आश्वासन देता है।
याद रखने की बात यह भी है कि उपहास और अपमान

उसी का होता है जो उपहास और अपमान को सहता है।
भगवा का उपहास इसलिए होता है कि भगवाधारी और
भगवा प्रेमी उपहास और अपमान को चुपचाप
सह लेता है और उसका प्रतिकार नहीं करता। ऐसे में व्यक्ति
और समाज दोनों का मार्दव कुंठित होता है। हम खुद
अपराध बोध से ग्रस्त, हो जाते हैं।
यह बात याद रखिए कि आज हमारा पहला सरोकर भगवा की
प्रतिष्ठा का है। प्रतिष्ठा मर्यादा के पालन से अर्जित होती है
और मर्यादा के उल्लंघन और अतिक्रमण से विसर्जित। यदा-कदा
अनेक स्वामियों और उनके आश्रमों की गर्हित
और अनैतिक गतिविधियों के समाचार सामने आते हैं तो
मन दुखी होता है, शंकालु हो उठता है, श्रद्धा डगमगाने लगती
है। यौनाचार, हत्या, आर्थिक गड़बड़ियों आदि में जब समाज किसी साधु
व्यक्ति या संस्था को लिप्त होते देखते हैं तो उसका मोहभंग होता
है। इस मोहभंग का विपरीत प्रभाव हम प्रौढों पर तो पड़ता ही है, हम से
अधिक नई पीढ़ी पर पड़ता है।
यह कोई रहस्यवादी तथ्य नहीं, वरन् एक स्पष्ट बात है
कि भगवा की प्रतिष्ठा आवश्यक है। इस आवश्यकता
की पूर्ति भगवाधारी वर्ग को ही करनी होगी। भगवाधारी
वर्ग को छल-छद्म से बचना होगा। यदि भगवाधारी भगवे
की मर्यादा का पालन नहीं कर पा रहा है तो उसे अपने भगवे
चोले को उतार कर पृथक् हो जाना चाहिए जो नहीं सध पा रहा, उसे
साधने का नाटक क्यों?
हम भगवा प्रेमी तो अपने-अपने भगवाधारी के प्रभा-मण्डल में हैं।
भगवा प्रेमी की शुचिता भगवाधारी की आध्यात्मिक और आन्तरिक उच्चता
के अनुपात पर निर्भर करती है।

भगवाधारी को अखण्ड भगवा-नाम में जीना होगा। उसे पारदर्शी होना होगा। भगवाधारी का आश्रम हमारे लिए धोबी घाट है। मैल साफ होनी चाहिए। मलिनता समाज को मान्य नहीं।

अन्तिम बात जो मुझे कहनी है, वह यह कि–
भगवा भारत का छंद है
त्याग, शील मकरंद है।

●

# संत और योद्धा

**प्रो. रमाकांत आंगिरस ***

ऊपर से देखने पर सन्त और योद्धा ये दो शब्द अपने अर्थों की भिन्नता के कारण एकदम विपरीत बोध को पैदा करते हैं। किन्तु ब्राह्मण-संस्कृति में इसका अद्भुत समन्वय हुआ। समन्वय कहाँ जाकर होता है जहाँ कर्म का मानव जीवन में शुद्धरूप निखर कर सामने आता है या जिन लोगों ने यह बात बहुत पूर्व ही निश्चित कर ली हो कि यह भारतभूमि कर्मभूमि है भोगभूमि मात्र नहीं। 'तस्मात्कर्म कुर्वन्ति यतय: पारदर्शिम:' की उद्‌घोषणा करने वाले लोगों में बुद्ध और आचार्य शंकर के ज्ञानवाद के अतिप्रचार से पहले सिद्धान्तरूप से यह बात तय हो चुकी थी कि यदि मनुष्य जीवन के सौ वर्ष कर्म करते हुए ही बिताएगा तो उसके इस कर्मव्रत के कारण उसके कर्म उसको मुक्त करेंगे,बांधेंगे नहीं। यास्क मुनि व्रत को कर्म का ही नाम देते हुए कहते हैं कि श्रेष्ठ लोगों द्वारा जब किसी कर्म का वरण हो जाता है तो वह कर्म व्रत हो जाता है। धारणा हो जाता है। गीता के कर्मयोग में श्रीकृष्ण ने यद्यपि कर्म के पक्ष में बहुत ही कहा है तथापि दो श्लोकों में उनके कर्मव्रती होने का प्रमाण इसलिए मिलता है कि एक में तो अर्जुन को कर्मदर्शन की विधि का सूत्र पकड़ा दिया कि कर्म कैसे होना चाहिए। अर्थात् हे अर्जुन "तुम्हारा केवल कर्म में ही अधिकार है, फल में नहीं। पर इस फलत्याग से कर्ता होने का अहंकार भी नहीं हावी हो जाए। तथा यह भी न हो कि तुम यह सोचकर काम करना ही बन्द कर दो कि फल पर तो अपना अधिकार है ही नहीं।"

अधिकार शब्द का स्पष्ट संकेत है, कि जन्मते ही मनुष्य के हिस्से में कर्म आया है। ज्ञान से उस कर्म को पुष्ट करना है। उसे उसके चरमरूप निष्काम कर्म में ले जाना है, उसे छोड़ना नहीं है। बुद्ध जब इस कर्म को बारीकियों में ले गये तो उसे उन्होंने ज्ञान में बदल दिया और उसे मानसिक गूढ़ताओं में ले जाते-ले जाते उसे पीस कर समाधिप्रज्ञा में विलीन कर दिया एवम् इस प्रकार वे कर्मयोगी, ज्ञानयोगी या बुद्धियोगी हो गए। गीता में जो कहा गया था कि ज्ञान की "अग्नि से सब कर्म दग्ध हो गए", इसका अभिप्राय भी नए वेदान्तियों ने कर्म की समाप्ति ही किया। क्या ज्ञान की अग्नि से कर्म झुलस जाएँगे? या उनमें से जो अशुभ वासना का मल है वह झुलस जाएगा? बात तो इतनी है कि 'कर्मरति' मनुष्य की मूल चेतना है। उसे क्या पूर्णत: निकाला जा

* संस्कृत वाङ्मय के चिंतक-विचारक, चण्डीगढ़।

सकता है? उसे निकालने का मतलब मनुष्यता की परिसमाप्ति। फिर मनुष्य चाहे ब्रह्मज्ञानी हो जाए चाहे ब्रह्मराक्षस। मूल चेतना के संस्कार की बात तो समझ में आती है विनाश की नहीं। लेकिन "अजगर करे न चाकरी पंछी करे न काम" की घोषणा करने वालों को तो जाने कर्ममात्र से ही वैर था। चलो, चाकरी तो न करो, ठीक है, पर अजगर की वृत्ति यानी निठल्ले रहने की आदत तथा पंछी की तरह दायित्वहीन होकर इधर-उधर बहकते फिरना, दोनों ही लोक-चेतनाविरोधी प्रचार थे। महाभारत में प्रह्लाद के पूछने पर अवधूत ने कहा था कि मैं तत्त्वतः या मूलतः सुख-असुख, लाभ, हानि, प्रीति-अप्रीति, मृत्यु-जीवन इन सबको पूरी तरह जानकर आजकल (पवित्र अजगरव्रत यानि) अजगर की तरह जीवन बिता रहा हूँ। लेकिन यह बात कुछ और है। यह बात कर्म-लोप के पक्ष में नहीं। क्योंकि कर्म की गति को समझने के लिए अवधूत स्वामी को कर्म के माध्यम से ही घोर संघर्ष करना पड़ेगा। पर अधकचरे सन्तों ने उसके सत्य का अपकर्ष करके छोड़ दिया।

साधारण जन में जब नैष्कर्म्य नाम की योग-समाधि का प्रचार होता है तो लोगों में बहक बढ़ती है। सुख का कुछ-कुछ आनन्द तो सामने उभरने लगता है किन्तु परिश्रम से होने वाला दुख या कष्ट समझ में नहीं आता। उसके बिना जीवन आनन्द की ओर अग्रसर नहीं हो सकता। ग्लानि बढ़ जाती है। इसीलिए दूसरी बार श्रीकृष्ण अपने व्यक्ति को साथ जोड़कर अर्जुन को कहते हैं– "उत्सीदेयुरिमेलोकाः न कुर्यां कर्म चेद्अहम्" अर्थात् यदि मैं ही कर्म करना छोड़ दूँ तो ये लोक सब उजड़ जाएँगे, उखड़ जाएँगे। इसीलिए प्राचीन मनीषी ज्ञान या भक्ति की प्रौढ़ दशा में भी कर्मलोप के पक्ष में नहीं थे। ज्ञान या भक्ति में कर्म-परिष्कार हो जाता था। वह व्यक्ति ही अहंनिष्ठा से निकल कर लोककर्म या यज्ञकर्म का कर्त्ता बन जाता था। वह समस्त लोकचेतना को बाँधने वाला आकर्षक कर्म ही कृष्ण बन जाता था। अग्निपुराण में निकम्मे कृष्णभक्तों को गालियाँ तक दी गई हैं– "अपहाय निज कर्म कृष्ण कृष्णेति वादिनः। ते हरेर्द्वेषिणश्चौराः कर्मार्थं जन्म यद्हरेः।" अर्थात् जो लोग अपना काम छोड़ कर केवल कृष्ण– रट में फँसे हैं वे हरि के द्वेषी हैं, चोर हैं, क्योंकि कृष्ण का जन्म तो स्वयम् कर्म के लिए हुआ।

अतः लोकनीति और धर्म से कर्मसंस्कार की बात ही भारतीय अवतारवाद की मूल प्रेरणा बनी। सभी अवतार महाकर्मा है और महाकर्म की ही स्थापना में रत हैं। मत्स्य,कच्छप, वराह, वामन, नृसिंह, परशुराम, राम, कृष्ण और बलराम सभी की परम्परा कर्म द्वारा लोकाराधन है, धर्मप्रचारवाद या मतपरिवर्तनवाद नहीं। सभी में कर्मोत्कर्ष के लिए आत्मदान की प्रबल संस्कृति है। ऐसा लगता है कि जैसे सब जगह कर्म ने ही शील, मर्यादा, धर्म और आचार को धारण कर लिया हो और वह

लोकसज्जा में व्यस्त हो। इसी वैष्णवी धारणा ने ही सन्त और योद्धा को एक स्थान पर लाकर लोगों के सामने खड़ा कर दिया।

यह सुनिश्चित है कि वैदिक मनीषियों में संन्यास की या कर्मत्याग की आज जैसी धारणा तो बिलकुल ही नहीं थी। सारी वैदिक चेतना की धुरी संस्कृत की 'ऋ' धातु है जिसका अर्थ गतिधर्मिता है। ऋषि, ऋत, ऋतंभरा और ऋतु ही उसके मुख्य स्वर हैं। उन्होंने सम्पूर्ण सृष्टि के बाहर भीतर तप से पैदा होकर उठते हुए इस 'ऋत' को देखा जो सत्य था। देव, मानव, दानव सभी में उसकी अभिव्यक्ति हो रही है। वही सम्पूर्ण सृष्टि को धारण करने से धर्म बना। धारण कर्मवाली 'धृ' धातु के मूल में भी 'ऋ', हर या हरि शब्द की रचना करने वाली हृ के मूल में भी 'ऋ' धातु, विधातृ और स्रष्ट के मूल में भी 'ऋ' यह स्पष्ट कर देती है कि गति-मूल या क्रियामूलक 'ऋ' ध्वनि ब्रह्म के बृंहण में भी व्याप्त है। यह 'ऋ' भारतीय कर्म-संस्कृति का आदिस्रोत है जिसे गोस्वामी तुलसीदास ने भी, भारतीय चेतना के इतिहास के पतझड़ के मौसम में भी 'कर्मप्रधान विस्व रचि राखा' कहकर देवसंस्कृति को भी कर्मसंस्कृति से नियन्त्रित माना।

लेकिन यह विचित्र हुआ कि इतिहास बदला। इस ऋतकर्म को फलासक्ति और प्रयोजनवादी भावना के कोण से देखते हुए अधकचरे ज्ञानियों ने उसे अविद्या, माया, भ्रम, मिथ्या और जाने क्या-क्या कह मारा। "दत्त, दाम्यत, दयध्वम्" की संस्कृति में निर्वाण का बुझता हुआ दर्शन धारणा, ध्यान, समाधि के घेरों में उलझता नैष्कर्म्य-प्रचार की ओर फैलता गया। ज्ञान और उपासना जो कभी कर्म का संस्कार करते थे, उसको दीक्षित कर विश्वायतन की ओर अग्रसर करते थे, संस्कृति में जो कृति के आश्रय में रहते थे, वे स्वयम् को पृथक् रूप से प्रधान घोषित करने लगे। उन्होंने अपने यथार्थ कर्म से सम्बन्ध-विच्छेद की बहुत चेष्टा की है।

ऋषि-प्रज्ञा के सामने सत् और असत् दोनों थे। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में सत् की झलकियाँ उन्हें मिलीं तो नासदीय सूक्त में असत् भी सामने नीरव मौन लेकर खड़ा था। उन्होंने सृष्टि-यज्ञ के लिए सत् को, जो सक्रिय था जो 'अस्ति' का मूल था उसे चुना। 'अस्ति' तो कर्मशील है। वह 'भवति' या 'होता है'च में परिणत हुए बिना नहीं मानेगा और वह एक बार छूटा कि फिर होता ही जाएगा। इस सत् को धारण करने वाले लोग ही सन्त कहलाने के अधिकारी थे। उन्होंने सत्कर्म को ज्ञान-निर्धूतकल्मष अर्थात् समझदारी से कर्म को निर्मल या स्वच्छ बनाकर लोक में प्रतिष्ठित करके सृष्टि का संपूर्ण ऐश्वर्य, संपूर्ण धर्म, संपूर्ण यश, संपूर्ण श्री, संपूर्ण ज्ञान, संपूर्ण वैराग्य से मण्डित कर उसे राम-कृष्ण के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। यही उनकी सत् के प्रति महनीय आस्था थी। सत् से सत् ही पैदा होगा कि दृढ़ धारणावाले लोग ही सन्त

कहलाए।

कालिदास ने कुमारसंभवम् महाकाव्य का आरम्भ किसी देववन्दना या ईशवन्दना से न करके केवल 'अस्ति' पद से आरम्भ किया है। और 'अस्ति' में आस्था रखनेवाले इस महाकवि ने दो जगह तो 'सन्त' पद का खुल कर प्रयोग किया है। पहले तो मालविकाग्निमित्रम् नाटक में नए लोगों और पुराने लोगों में वैमनस्य या विवाद होने पर सन्त को लोगों की स्थिति का सही जायजा लेकर सही का पक्ष लेने का अनुरोध किया है। दूसरे, उन्होंने अपनी कृति रघुवंश के सही मूल्यांकन के लिए उसे सत् और असत् की पहचान रखने वाले सन्तों की ही न्याय-मति पर अपनी आस्था प्रकट करते हुए निवेदन किया है कि "सोने के खरे और खोटे होने की पहचान अग्नि में ही हो सकती है।" सन्तों को अग्निस्वभाव कहना उनकी 'परख-शक्ति' और 'शोधनशक्ति' दोनों को संकेतित करता है। महाकवि बाण ने भी अपनी महाकृति कादम्बरी में मंगल-प्रणाम करते समय, असत् का आश्रय लेनेवाले दम्भी असज्जनों की अविचारित वाणी को बन्धन-शृंखला (लोहे की जंजीर) की कटु ध्वनि के समान पीड़ा देने वाली मानते हुए कहा कि 'सन्त लोग तो साधु ध्वनियों का प्रयोग करते हुए मणिनूपुरों का मनोहारी अनुनाद सा पैदा करते हुए मन का आकर्षण कर लेते हैं"। सज्जन कौन? जो सत् के साथ मिला हुआ जन है। असत् की घनी काली छाया में से उभरते हुए प्रकाश का जो संगी साथी है। इन्हें ही साधु कहा जाता रहा। साधु का संन्यासी शब्द से कोई सम्बन्ध नहीं। ये वे लोग हैं जो ज्ञानी थोड़े कम भी हों, पर सदाचारी और अपने कर्म के दायित्व से अवश्य जुड़े हों। ब्रह्म के सच्चिदानन्द रूप में से सत् के प्रति विशेष आग्रह रहने से इनका कार्यक्षेत्र विश्वहित, प्रीति, चरम विनम्रता, सहिष्णुता, अमानिता आदि सहज वैष्णव गुणों तक सीमित है।

किन्तु युद्ध? जिसका अर्थ है कि असत् या सृष्टि के नास्तित्व का समर्थन करने वाली शक्तियाँ, जो 'अस्ति' के साथ रहकर ही जीवित हैं, किन्तु असत् के पक्ष में जूझती हैं, उन शक्तियों के विरुद्ध प्रचण्ड युद्ध करना ही पड़ता है। युद्ध का मूल अर्थ है प्रचण्ड सांग्रामिकता, संप्रहारता। इस युद्ध के मूल में जो चेतना काम करती है वह है ग्राम के लिए, समाज के लिए, लोक की सृष्टि स्थिति एवम् विसर्जन के लिए सम्पूर्ण संघर्ष करनेवाली चेतना। इसमें लेशमात्र भी अपना अहंमूलक प्रयोजन न रहने से मर जाने या मार देने की क्रिया का कोई महत्त्व नहीं रहता। वह सब तो एक खेल बन जाता है। यदि भारतीय युद्धों का इतिहास गहराई से देखा जाए तो उसमें ९० प्रतिशत युद्ध जमीन, जायदाद संपत्ति धन, दारा लूटने के संकल्प से नहीं अपितु मर्यादा, अमर्यादा के विवेक के लिए लड़े गए। शिव का प्रजापति के विरुद्ध, विष्णु का मधुकैटभ के विरुद्ध, नृसिंह का हिरण्यकशिपु के विरुद्ध राम का रावण के विरुद्ध, परशुराम का

सहस्रार्जुन के विरुद्ध, कृष्ण का कंस आदि के विरुद्ध, पांडवों का कौरवों के विरुद्ध, चाणक्य चन्द्रगुप्त से लेकर भारतीय स्वतन्त्रता-संग्रामियों के द्वारा विदेशी आक्रान्ताओं के विरुद्ध युद्ध, लोक के तिरस्कार, विध्वंस, हिंसा तथा असंस्कृत जातियों की क्रूरता एवम् लोलुपता के विरुद्ध कई युद्ध लड़े गए। इन युद्धों में सत्पक्ष के लोगों को प्रायः अपने संघर्ष में कूट चालों को दूर ही रखने की प्रेरणा दी गई। राजनीति और युद्धनीति की दूरी को लोग बखूबी समझते थे। राजनीति को तो अपने छोटे-छोटे स्वार्थों के लिए योद्धा बहुत अनुकूल बैठता है। वह उसे वेतन एवम् अन्य सुविधाओं को प्रदान कर अपना बनाकर उसका इस्तेमाल भी करती है। किन्तु सन्तत्व उसे स्वकर्म के प्रति सचेत करके उसे लोकरक्षा में जोड़ देता है। पुराण इस बात की गवाही देते हैं कि ऋषि मुनि और अन्य देवता लोग दानवकर्म से पीड़ित जन के उद्धार के लिए बराबर परम आत्मशक्ति के प्रतीक भगवान् विष्णु के योद्धा रूप का धरती पर आवाहन करते रहते हैं। भगवान् को आर्तजनों की पुकार पर धरती पर उतरना ही पड़ता है। फिर यह युद्ध भगवान् के किसी अपने स्वार्थ के लिए तो है नहीं। अतः वह युद्ध एक शुद्ध लीलामात्र बनकर रह जाता है। इसीलिए भगवान् की युद्धलीला में शत्रुओं का उत्पीड़न एवम् क्रूरधर्मिता, आदि द्वेषमूलक बातें नहीं रहतीं। अतः शुद्ध एकरसता में जीना निष्प्रयोजनता एवं लोकहित इन तीनों बातों में संत और योद्धा में रत्तीभर का भी अन्तर नहीं है।

भारतीय सन्तों और कवियों की वाणी में मानवीय चेतना एवम् अस्तित्व के लिए जूझने वाले तीन ही चरित्र हैं– सती, सन्त, सूरमा। तीनों ही इस जगत् में सत् तत्त्व का आध्यात्मिक तथा भौतिक त्रिकोण हैं। इन तीनों का कुल मिलाकर एक ही दर्शन रहा है। भारतीय परम्परा में बुद्ध-मत जब जक अशुभ तुल्य या असत्रूप निर्वाण को ही प्रमुखता देता रहा तो लोगों ने बुद्ध को ठीक नहीं समझा। किन्तु महायान मत में बुद्ध के लोकपक्ष पर जोर आते ही उन्होंने बुद्ध को भगवान्, शास्ता, तथागत, एवम् विष्णु का अवतार आदि उपाधियों से मण्डित कर दिया। क्योंकि उनका ज्ञान या महासुख गंगा आदि नदियों एवं सागरों के जल, सूरज के प्रकाश एवम् फूलों की सुगन्ध के समान सम्पूर्ण विश्व की संपत्ति बन गया। वे असत् के दर्शन से सत् की ओर आ गए। वहाँ बुद्ध की सत्ता, धर्म की सत्ता एवम् संघ की सत्ता एकमेव हो गई। वे उपनिषद्मार्ग से अलग चलने का साहस लेकर भी उपनिषदों के असतो मा सद् गमय'' की रेखा पर पहुँच ही गए। क्योंकि बुद्ध भी विग्रहवान् धर्म बन गए। अर्थात् धर्म ने ही बुद्ध के रूप में अवतार ले लिया।

वस्तुतः हिन्दुदर्शन आरम्भ से ही सकारात्मक था। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में ऋषियों ने यह देख लिया था कि सृष्टि के पीछे कहीं असत्, शून्य शव के रूप में पड़ा

है और वह अपनी एकाकिता एवम् एकांगिता से पीड़ित होकर सत् का हाथ पकड़ना चाहता है। शाक्तों का यह कहना कितना सटीक है कि अशुभ के प्रतीक चिताभस्म, विष, शून्यता, असंस्कृति आदि को ओढ़ने वाला अमंगल शव यदि आज शिव बन बैठा है तो हे भवानि (अस्तित्वशक्ति) यह तुम्हारे हाथ थामने का ही परिणाम है।

वैदिकों ने अपने ढंग से ही कहा था कि वह जो (तत्) के रूप में असत् था, जो अचीन्हा तम में लिपटा सुन्न पड़ा था, वह तप की महिमा से 'ओम् तत् सत्' हो गया। और यह सत् विश्व भी बना और विश्वातीत भी। इसीलिए भास्कर अर्थात् प्रकाश से दिप् दिप् करते हुए तेजों के जितने बिम्ब-रूप वैदिक साहित्य में हैं, वे अन्यत्र शायद ही कहीं हों। क्योंकि अधिकांश धर्मों के मनीषी जलप्रलय से बहुत आगे नहीं जाते। लेकिन वेद में सविता का वरणीय तेज, जिसे गायत्री में भर्ग कहा गया है।

अधमर्षण सूक्तों में जिसे दहकता या धधकता तप या ऊर्जा कहा है उसी के यहाँ ऋत और सत्य का आविर्भाव हुआ। उनके सौम्य बल को देखते हुए सन्त, सती और सूरा ने उनकी अपने जीवन में प्रतिष्ठा कर ली। उसी को धारण कर जीवन जिया और त्यागा। ये ऋषि लोग आजकल के संन्यासी जैसे नहीं होते थे। संन्यास जैसी कोई बात वेदों में आई है या नहीं यह नहीं कहा जा सकता। कहीं कोई खण्डस्वर को लेकर उसे घसीटना ठीक नहीं था, पर ऐसा हुआ। वहाँ पर कर्म या ज्ञान जैसे दो खण्ड नहीं थे। जीवन सम्पूर्ण था। न बुद्ध थे, न शंकर। यदि थे तो एक ही शिव की पंचमुखी या विश्वतोमुखी दृष्टि थी। वह सबके अन्दर की तरफ भी थी और बाहर की तरफ भी थी– "तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यत:"

"जिस समय श्रीकृष्ण अर्जुन को "युध्यस्व विगतज्वर:" का उपदेश कर रहे थे उस समय अर्जुन को अहन्ता, ममता का ज्वर चढ़ा हुआ था। फिर एक अस्वस्थ आदमी युद्ध कैसे करता। इस अहंता-ममता के ज्वर का उपचार ब्रह्मज्ञान नहीं, उस वीरभाव का उदय होना था जिसके उदय की अर्जुन में शत-प्रतिशत संभावना थी। उसे युक्ति-वाक्यों और शास्त्रवाक्यों से अत्यन्त दृढ़ कर दिया कि इस संसार में दो ही ऐसे पुरुष हैं जो सूर्य-मण्डल को तोड़ कर परमतत्त्व में पहुँच सकते हैं– एक तो योग में सिद्ध परिव्राट् और दूसरे युद्ध करते-करते मारा हुआ योद्धा क्षत्रिय। वस्तुत: वीररस का पान करने वाले लोग बीच में आकर दूषित करने वाले राजनीति या कूटनीति के कचरे को सहन नहीं कर सकते। वह ही तो रसभंग का कारण एवम् अनौचित्य है। इस अनौचित्य से संत और योद्धा दोनों ही डरते हैं। राजनीति का प्रवेश होते ही योद्धा और संत का मन समझ जाता है कि अनाचार या असदाचार के विरुद्ध यदि चालाकी या धूर्तता की सहायता लेनी पड़ी, आतंक और भय की रचना करनी पड़ी, निरपराध एवम् निर्दोष लोगों की हत्या करनी या करवानी पड़ी तो वहाँ शूरता कहाँ रहेगी।

लोककल्याण के लिए अपनी वासनाओं से अलिप्त रहने वाला वीरव्रत जो योद्धा का परम साधन है वह कहाँ जायेगा? उसमें न हिंसा है, न काम है, न लोभ है, न घृणा है, न द्वेष, न राग। वह तो योद्धा का शुद्ध उत्साह है जिसमें अनुचित के प्रति क्रोध के कारण एक महालहरी का उदय, एक महावृत्ति का उदय, जो चित्त की समस्त क्षुद्रवृत्तियों को विलीन करके स्वयं को युद्ध के पर ब्रह्म शिव या धर्म कहो, उसमें विलीन कर शान्त हो जाती है। इस वृत्ति के उदय के बाद योद्धा जीवन्मुक्त भी हो सकता है। युद्ध में देह नष्ट हो जाए तो विदेहमुक्त भी। बाकी लोकहित के लिए या सत्य के लिए उसका कर्म कैसा है, यही परखना शुद्ध वीररस की कसौटी है। यदि किसी जातिगत या व्यक्तिगत अन्धता के कारण अथवा किसी यश आदि की लिप्सा के कारण वह युद्ध में प्रवृत्त हो रहा है तो उसमें और आपस में लड़ते हुए कुत्तों, बिल्लियों और भेड़ियों, दरिन्दों-परिन्दों में कोई अन्तर ही नहीं है।

तंत्रसाधना में रसपान के सम्बन्ध में तीन बातें कही गई हैं। एक तो पशु-पान, जिसमें मनुष्य अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए पशुता को ही रस मान कर चलता है। इस स्थिति में क्रूरता का उदय तो होता है शूरता का नहीं। दूसरा है वीर-पान, इस दशा में वह भय, या काम-क्रोध, लोभ की वृत्तियों से ऊपर उठकर धर्मचेतना को समर्पित होकर अपने गम्भीर वीरकर्म के माध्यम से वीररस का पान साधक योगी की तरह ही करता है। तीसरा है दिव्य-पान, जिसमें योद्धा अपने परिपूर्ण स्वभाव को प्राप्त होकर किसी बाह्य प्रेरणावश संप्रेरित न होकर स्वयम् धर्मरूप हो जाता है। यह दशा "रामो विग्रहवान् धर्मः' की है। वह स्वयम् धर्मरूप हो जाता है।

पर यह धर्मतत्त्व किसी मजहब, मत आदि संप्रदायों के रूप में व्यक्ति द्वारा प्रवर्तित तथा लोगों की चेतना पर आरोपित धर्म नहीं है। यह धर्मतत्त्व विश्वेश एवम् मूल प्रकृति द्वारा जन-जन के प्राण में संचारित शुद्ध सत्त्व है जिसका संत और योद्धा द्वारा साक्षात्कार होता है। कभी-कभी ऐसा भी प्रतीत होने लगता है कि संभवतः संत तो ज्ञानमार्गी है और योद्धा कर्ममार्गी। यह भेद वस्तुतः ऊपरी है। क्योंकि सत् मूल्यों के लिए संघर्ष तो दोनों ही करते हैं। विश्वामित्र के विरुद्ध वसिष्ठ का संघर्ष, पिता के सामने नचिकेता का संघर्ष, इन्द्र के विरुद्ध दध्यङ्अथर्वा ऋषि का शान्त विद्रोह, अत्याचारियों के विरुद्ध जैन महावीर का मौन रह जाना, धर्मान्ध लोगों के विरुद्ध कबीर एवम् सूफियों का सत्याग्रह, दयानन्द एवम् महात्मागांधी का लोगों को न्याय दिलाने के लिए आत्मत्याग, यह सब इतिहास केवल इस सत्य की पुष्टि के लिए काफी होगा कि सन्त कोई निष्क्रिय चेतना नहीं वह तो लोक एवम् समाज को आमूलचूल हिला देती है। लेकिन सन्त और योद्धा दोनों में क्रिया-भेद होने पर भी दोनों का स्थायी-भाव एक ही है। सत्य या सत् के लिए आत्मदान या आत्मसमर्पण के लिए एक उत्कट, परन्तु

सौम्य उत्साह। इसी कारण संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने एक ही वीररस के चार रूप माने हैं– युद्धवीर, दानवीर, दयावीर, शान्तवीर।

आज के जीवन के सन्दर्भ में संत और योद्धा इतिहास की वस्तु बन चुके हैं। राजनीति के प्रदूषण ने और यन्त्रीकरण ने सन्त और योद्धा की उसके लिए उपजाऊ भूमि को स्वार्थ की मार से अनुर्वरा कर दिया है। इसीलिए आज के नये भारत में पैदा हुए नये दिमाग को संत और योद्धाओं की परम्परा से परिपूर्ण इतिहास उत्प्रेरित नहीं करता। क्योंकि डिप्लोमेसी या कूटनीति का काम यथाकथमपि अपनी लक्ष्यसिद्धि है। साधन-शुद्धि का विचार करना नहीं।

•

# संतों की जीवनदृष्टि और हमारा समय

डॉ. उमेश कुमार सिंह *

**संत परम्परा भारतीय देन–** संत एक जीवन दर्शन है। यह भारतीय संस्कृति का ऐसा मूलाधार है जिसमें धार्मिक व्यवस्था, मानवीय संवेदना, प्राकृतिक लय के साथ स्पन्दित होती है। यहाँ बुद्धि, ज्ञान और विवेक का मणि-कांचन संयोग दिखाई देता है। सहानुभूति परोपकार, असंग्रह, निरहंकार भाव संत परंपरा के मूलाधार हैं। संत संस्वर और विचार दोनों हैं। संत का क्षेत्र भक्ति का है किन्तु वह सदा सर्वदा शास्त्र में नहीं जीता, उसका अपना आकाश होता है। वह लोक, लोक संवेदना, लोक व्यवहार और लोक संस्कृति लोक धर्म को अपने जीवन से विस्तार देता है। यह विस्तार भारत के चारों दिशाओं में फैले इन संतों के जीवन से होता है। संत भारतीय संस्कृति को आध्यात्मिक संस्कृति का रूप देते हैं। वर्तमान में यूरोपीय आधुनिकता मनुष्य को वर्तमान भोग और भविष्य के संग्रह में जीने की प्रेरणा देती है। वह स्मृति, संस्कार और परंपरा को पोंछ कर साफ कर देती है। वर्तमान युग के हमारे राष्ट्रीय चिंतक स्वामी विवेकानन्द, महर्षि अरविन्द आदि इसी से चिन्तित थे। ज्यादातर पश्चिम के ऐसे विद्वान् जिन्होंने भारतीय दर्शन का कहने के लिए तो गहरा अध्ययन किया किन्तु जिनकी समझ सतही रह गयी, ने दावा किया कि हिन्दू धर्म चिन्त्य 'छलना-छाया-भ्रम' है, इसलिए उन्हें ईसाई धर्म स्वीकार कर लेना चाहिए। हापसन विल्सन तो यहाँ तक कहते हैं कि हिन्दु अपने को 'सनातन' क्यों कहता है– 'दिव्यता' का दावा क्यों ठोकता है। (दे.ऐसेज ऐंड लेक्चर्स चीफली द रिलीजन ऑफ द हिन्दूज : खण्ड २ पृ. ४०) विस्तार को देखते हुए संक्षेप में यहाँ इतना ही कहना उचित होगा कि हापसन, वेबर, मैक्समूलर आदि ने एक पूरी सिरीज चलाकर यह बताने का प्रयत्न किया कि भारतीयों के पास कोई जीवन दृष्टि, दर्शन, भक्ति और संस्कृति नहीं है। इसका पुरजोर विरोध हजारीप्रसाद द्विवेदी जी ने किया। कहना न होगा कि केवल शास्त्र को पढ़कर उससे आधे-अधूरे निष्कर्ष निकाल कर भारतीय संस्कृति, परंपरा का मूल्यांकन करना अभारतीयता को जानबूझकर बढ़ावा देना ही रहा है। वे इस सत्य को समझ ही नहीं सके कि भारतीय जीवन मूल्य शास्त्रों में नहीं उनके संतों में बसते हैं।

---

* हिन्दी संत साहित्य के विद्वान्, भोपाल, मध्यप्रदेश।

संत सामाजिक परिवर्तन का भी अग्रदूत है। जैनेन्द्र कुमार ने लिखा है— दुनिया में कौन है जो बुरा होना चाहता है और कौन है जो बुरा नहीं है, अच्छा ही अच्छा है? न कोई देवता है, न पशु। सब आदमी ही हैं, देवता से कम ही और पशु से ऊपर ही। इस तरह किसे अपनी सहानुभूति देने से इन्कार कर दिया जाए? हमारे संतों की स्थिति भी कुछ इसी तरह की है। वे प्रत्येक जीव में परमात्मा को देखते हैं। देवत्व को देखते हैं। संत कभी स्नेह से, कभी फटकार से, उसके अन्दर के देवत्व को तरासता है। संत कबीर कहते हैं–

**जा घट प्रेम न संचरै, सो घट जान समान।**
**जैसे खाल लुहार की, साँस लेत बिनु प्राण।।**

जायसी ने कहा—

**मानुस प्रेम भयउ बैकुंठी। नाहि ता काह छार एक मूठी।।**

संत मलूकदास ने कहा—

**भूखेहि टूक, प्यासहिं पानी। ऐहि भाँति राम मन मानी ।।**

तथा

**मलूका सोई पीर है, जो जाने पर पीर।**
**जो पर पीर न जानई, सो काफिर बेपीर।।**

**संतों की जीवन दृष्टि–** संत व्यक्ति को वर्तमान जीवन में संत्रासों से मुक्ति दिलाते हैं। वर्तमान को ठीक करना ही जीवन की सार्थकता है। संत तुलसी साहब ने कहा—

**अपनी देखी कहौ न भाई। मुरा गए कि विधि बताई ।।**
**साँचा मिलै सोई मत आजी। मुए मुक्ति बतावै पाजी ।।**
**जीवन मिलै सोई मत पूरा। मुए कहै समझ सोई धूरा ।।**

(तुलसी साहब, प्रकाशक; राधा स्वामी सत्संग, व्यास पृ. २०)

संत प्रेम और करुणा का अमृत पिलाकर दुष्टों का भी उद्धार करते हैं। संत का अनुगमन भगवान भी करता है। संत कबीर कहते हैं–

**कबिरा मन निर्मल भया, जैसा गंगा नीर ।**
**पीछे-पीछे हरि फिरै, कहत कबीर कबीर ।।**

(कबीर ग्रंथावली)

मलूकदास इससे भी आगे बढ़ जाते हैं–

**माला जपौं न कर जपौं जीभ्या कहौं न राम।**
**सुमिरन मेरा हरि करै, मैं पायो विश्राम।।**

मलूक हाथ की माला से ऊपर उठ जाते हैं, जीभ भी स्थिर हो गई है, ऐसी

स्थिति बना ली है कि राम भी उनके पीछे-पीछे चलते हैं। तभी तो हरि अपनी मुक्ति के लिए संत का स्मरण करता है।

महात्मा बुद्ध आत्मा, परमात्मा और जगत् तीनों को नहीं मानते। उनका जीवन भारतीय परंपरा का उत्कृष्ट जीवन माना जाता है। उनके जीवन का एक उदाहरण उनके दृष्टि को सामने लाता है। महात्मा बुद्ध के शिष्य एक बार किसी व्यक्ति को बुद्ध के पास लाए और बोले, गुरुदेव इसे मुक्ति का उपदेश दीजिए, बुद्ध ने उस व्यक्ति को सिर से पैर तक देखा, वह भूखा और चेहरे से कुम्हलाया दिखाई दिया। बुद्ध अपने शिष्य से बोले, इसे भोजनालय ले जाओ और भोजन कराओ। भोजन के पश्चात् शिष्य गण उसे लेकर बुद्ध के पास आए और कहा अब इसका पेट भर गया है, इसे उपदेश दीजिए। बुद्ध ने उसके चेहरे की सन्तुष्टि देखी और बोले, अब इसे अपने रास्ते जाने दो। शिष्यों ने बुद्ध को आश्चर्य से देखा। तब बुद्ध ने कहा, भूखे को भोजन से बढ़कर कोई उपदेश नहीं। तात्पर्य यह कि संत जीवन की निर्मलता, आचरण की शुद्धता और मनुष्य प्रेम ही नहीं जीव प्रेम की बात करता है। जीवन उपदेश से नहीं, व्यवहार से चलता है। इसीलिए संतों को सत्य का शोधक कहा गया हैं। इनका दिशा-दर्शन अपना होता है–

**वेद हमार भेद है, हम वेदन में नाहि।**
**जिन वेदन में हम रहें, वेदौ जानति नाहि ।।**

संत जीवन में चमत्कार को महत्व नहीं देते हैं। यद्यपि चमत्कार कोई सत्य धारणा भी नहीं हैं। श्रद्धा, निष्ठा और अगाध विश्वास ही सन्तों के जीवन को सन्त बनाता है। संतों का आत्म प्रकाश और आत्मसाक्षात्कार ही सामान्य जीवन जीने वाले संसारी को चमत्कार दिखाई देता है। बुद्ध, महावीर, दादू, नानक, मलूकदास का जीवन इसी तरह के उदाहरण हैं।

आज समाज में धर्म और पंथ का ऐसा घालमेल हुआ है कि धर्म शब्द को बड़ा डरावना और भयानक बना दिया गया है। ऐसे में धर्म और पंथ, जीवन के आचरण को समझने में संतों का जीवन सहायक होता है। संत किसी पंथ-पूजा पद्धति की बात नहीं करते। वे प्राकृतिक धर्म, शाश्वत धर्माधारित जीवन व्यतीत करते हैं और उसी की शिक्षा देते हैं। संत पवन की तरह मुक्त, सर्वव्यापी और सर्वस्पर्शी स्वभाव के होते हैं। किसी ने ठीक ही कहा है–

**आग लगी आकाश में, झर-झर पड़े अँगार।**
**संत न होते जगत् में, जल जाता संसार।।**

आज दुनिया भर में प्रदूषण की बात को जता रही है। आने वाले भविष्य को हमारे संतों ने मनुष्य और प्रकृति के संबंधों पर निर्भर बताया है। संत मनुष्य ही नहीं, पशु, पक्षी, पेड़-पौधों के प्रति भी सहानुभूति रखते हैं। यह सहानुभूति व्यक्ति को समष्टि और विश्व मंगल से जोड़ती है–

**भूली मालिन पाती तोड़े, पानी पाती जीव।**
**जो मूरति कौं पाती तोड़े, सो मूरत निर्जीव।।**
**पाती ब्रह्मा, पुहपे विष्णु, फूल फल महादेवा।**
**तीनि देवौ एक मूरति, तू करै किसकी सेवा।।**

कबीर पाती, फूल, फल को त्रिदेव ब्रह्मा, विष्णु और महेश कहते हैं। फिर ब्रह्मा, विष्णु और महेश रूपी पाती को पत्थर पर चढ़ाकर किसकी सेवा करती हो।

कबीर ने संसार और जीव का रूपक बाँध कर व्यक्ति प्रकृति और समष्टि का संबंध स्थापित कर दिया है–

**इस घट अन्तर बाग बगीचे, इसी में सिरजनहारा।**
**इस घट अन्तर सात समुन्दर, इसी में नौ लख तारा।**
**इस घट अन्तर पारस मोती, इसी में परखन हारा।**
**इस घट अन्तर अनहद गरजै, इसी में उठत फुहारा।**
**कहत कबीर सुनो भाई साधो, इसी में साईं हमारा।।**

इसी तरह संत मलूकदास प्रकृति-वनस्पति में, जीव-जन्तु में परमात्मा को, ब्रह्म को चिन्हित करते हैं। उनका कहना है–

**हरी डाल मत तोड़िये, लागै छूरा बाण।**
**दास मलूका यों कहै, अपना-सा जिव आन।।**

तात्पर्य यह कि संतों की वाणी सत और ऋत का मार्ग दिखाकर भटकी हुई मानवता को राह दिखाती है। रविदास जी कहते हैं–

**सममहि एक राम जोति सम कह एकह सिरजनहारा**
**रविदास रामहि सभन माँहि ब्राह्मण हुई के चमारा।।**

दादू कहते हैं–

**दरदहि बूझै दरदवेद, जाके दिल होवै।**
**क्या जाणै दादू दरद की, जो नींद भरि सोवै।।**
**आप मेटे हरि भजै, तन मन तजै विकार।**
**निर्वैरी सब जीव सूँ दादू यह मत सार।।**

परमात्मा में अटूट आस्था, अहंकार का सम्पूर्णता से विनाश है–

**अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम।**
**दास मलूका कह गए, सबके दाता राम।।**

**भावी विश्व में संतों की भूमिका–** आज विश्व में जबकि संस्कृति और अर्थतंत्र की सम्मिलित नीति या रणनीति उभर रही है, विश्व मंच पर साम्यवादी विचारधारा अस्त हो चुकी है, विश्व शान्ति और मानवता के संरक्षण के सामने भयंकर तृतीय विश्व युद्ध के खतरे दिखाई दे रहे हैं, ऐसे में विश्व शान्ति, मैत्री और मानवीयता के संरक्षण

में सन्तों की भूमिका अग्रगण्य है। विश्व परिदृश्य यदि विज्ञान की चरमावस्था को स्वीकार करते हुए अपने को गद्गद पाता है तो अध्यात्म विहीन विज्ञान के ही कारण जीवन लोभ, मोह, घृणा द्वेष की आग में जल रहा है। चारों ओर जड़वाद, भौतिकवाद के परिणामस्वरूप भोग और संग्रह की असीम लालसा से मानव जल रहा है। आज बढ़ते भ्रष्टाचार का समाहार हमारे संतों ने अपरिग्रह के द्वारा बताया है–

**साईं इतना दीजिए, जामें कुटुम समाय।**
**मैं भी भूखा न रहूँ, साधु न भूखा जाय।।**

कभी-कभी पश्चिम को विज्ञान का स्वामी मानकर सारे समाधान की राहे उधर ही है हम टकटकी लगाकर देखने लगते हैं। राष्ट्र संत स्वामी विवेकानन्द जी ने कहा है– विज्ञान का मुख्य शब्द आज अभिव्यक्ति है, न कि सृष्टि (क्रियेशन), और हिन्दू इसलिए प्रसन्न है कि जो कुछ वह युगों से अपने हृदय में संजोए बैठा है, अधिक प्रभावशाली भाषा में और विज्ञान के नवीनतम निर्णयों से अधिक ज्योति देकर वही सिखाया जाने वाला है।

ऐसे में भारतीय संतों की वाणी ही है जो विश्वभर में दुःख और सन्ताप की औषधि है। दुनिया के मानवतावादियों के लिए यह दुर्भाग्य की बात है कि भारतीय संतों की वाणी सात समुन्दर पार कर पहुँचने में काफी देर हुई है। कबीर की संत चेतना को प्रकट करते हुए आचार्य रजनीश कहते हैं– "मनुष्य जाति के इतिहास में कबीर के सूत्रों का कोई मुकाबला नहीं है। इनसे सरल और इनसे स्पष्ट और साफ वचन पृथ्वी पर कभी नहीं बोले गए। यह तो दुर्भाग्य की बात है कि कबीर भारत के बाहर न के बराबर परिचित हैं, अन्यथा ढेन फकीर फीके पड़ जाएँ, हदीस फकीरों का नाम लोग भूल जाएँ, सूफियों की क्या विसात है? कबीर का एक-एक वचन जैसे हजारों शास्त्रों का सार है।" आज से करीब दो हजार वर्ष पूर्व तमिलनाडु प्रदेश में तिरुवल्लावर नाम से बड़े मनीषी संत हुई हैं। उनकी वाणी, उनकी अमर रचना तिरुवल्लुवर के माध्यम से तमिलनाडु के बौद्धिक, साहित्यिक, धार्मिक क्षेत्रों में दो शताब्दियों से अपना वर्चस्व कायम किए हुए है। विश्व के अन्य भाषाओं के विद्वानों ने भी संत तिरुवल्लुवर की मूर्द्धन्यता की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। जी.यू. पोप ने 'विश्वमानवता का अनुगायक कहा है, तो अल्बर्ट श्वाइत्जर ने कहा कि "तिरुवल्लुवर में अभिव्यक्त उदात्त धारणा और प्रज्ञा, शायद ही विश्व के किसी साहित्य में देखने को मिलेगी।' (तिरुवल्लुवर-लेखक : एस. महाराजन, अंतिम कवर पृष्ठ, प्रकाशक : साहित्य अकादेमी)

भारतीय मान्यता है कि भावी विश्व का सच्चा विकास केवल आर्थिक भूमण्डलीकरण के कारण पूर्ण नहीं हो सकता है बल्कि आध्यात्मिक चेतना समाहित कर पूर्ण और सन्तुलित बनाया जा सकता है। संत वेमना कहते हैं– "शरीर अनेक हैं,

परन्तु उनमें जीवन-शक्ति एक है, यही शक्ति सब शरीरों को संचालित करती हैं। भोजन अनेक हैं; पर भूख एक है। गाएँ कई रंगों की हैं, परन्तु दूध का रंग एक ही है सफेद।'' डॉ. एल.डी. बर्नेट ने अपनी पुस्तक 'दि हार्ट ऑफ इंडिया' में संत वेमना के संबंध में लिखा है कि ''जब हृदयों के अन्वेषक की तुला पर मानव जाति के गुरुओं और उपदेशकों को तोला जाएगा तो बहुत-सी उच्च और यशस्वी आत्माएँ तेलंगाना के इस विनम्र महान् व्यक्ति से ही साबित होंगी।''

भारत के सन्तों की दृष्टि प्रथम दृष्टया सगुण और निर्गुण दिखाती हो या शैव, शाक्त, वैष्णवी हो लेकिन उनके अन्दर दलितों, पीड़ितों के प्रति सह-आत्म कारुणिक सन्दर्भ केवल और केवल एकात्मकता का बोध कराती है। यही चिन्तन हमारे सन्तों को विश्वमानव के अधुनातन, क्रान्तिकारी विचारों से जोड़ता है। संत दादू कहते हैं–

**अल्लह राम छूटा भ्रम मोरा।**
**हिन्दू तुरक भेद कछु नांहि देखौं दर्शन तोरा।।**

रविदास सामाजिक संबद्धता, सहयोग, श्रम और अध्यात्म को एक समान मानते हैं। अतः जन्म से नहीं कर्म से मनुष्य श्रेष्ठ या नीच होता है–

**रविदास जन्म के कारनै, होत न कोई नीच।**
**नर कूँ नीच करि जारि है, ओछे करम कौ कीच।।**

उत्तर भारत की संत परंपरा में यों तो अनेक उज्ज्वल नक्षत्र हैं किन्तु उनमें से नानक, कबीर, दादू, मलूक, रैदास आदि ऐसे नक्षत्र हैं जिन्होंने चन्द्रमा बन कर उसी तरह उपेक्षित, शोषित, पीड़ित जनों का उद्धार किया जिस प्रकार सूर्य के चले जाने पर चन्द्रमा कुमुदुनी को खिलने का अवसर देता है। जो काम शासक, प्रकाशक, राजा नहीं कर सके वह कार्य इन फकीर, उपेक्षित संतों ने किया और अंत में उनके सामने बड़े-बड़े मुकुट नतमस्तक हुए।

**सामाजिक न्याय की तीव्र चेतना–** लोक जीवन का कोई भी ऐसा क्षेत्र नहीं है जहाँ संत वाणी का प्रभाव नहीं दिखाई देता। धर्म, साहित्य, कला एवं राजनीति पर भी इनके प्रभाव दिखाई देते हैं। अगर बात दक्षिण भारत के संतों की की जाए तो ध्यान में आता है कि आल्वार संतों के 'दिव्यप्रबंधम्', शैव नायनमारों के 'तेवारम्', हरिदासों के 'साहित्य', वीरशैवों के 'वचन' और महाराष्ट्र के 'वारकरी, दत्त व समर्थ संप्रदायों के संतों के काव्य कई दृष्टिकोणों से महत्वपूर्ण ठहरते हैं। जब दक्षिण में जैन और बौद्ध संप्रदायों को बोलबाला था और उसमें परिवर्तन की आवश्यकता थी जब वैदिक धर्म को उक्त सम्प्रदायों ने भक्ति की नई धारा प्रवाहित कर न केवल भक्ति आन्दोलन चलाया बल्कि उसे जन आन्दोलन का रूप देते हुए सामाजिक संस्कार किए। इन संतों की विशेषता यह थी कि उनके काव्य में उनके जातीय व्यापार के रूपक मिलते हैं। कुछ

संत तो बिल्कुल ही पढ़े लिखे नहीं और ऊपर से तथाकथित निम्न जातियों के घर में जन्म लेकर आर्थिक संकट और सामाजिक रचना की बुराइयों का सामना करते हुए न केवल अपने को तटस्थ रखा बल्कि सम्पूर्ण समाज में एक क्रान्ति की चिनगारी फूँकी। दक्षिण के संतों में जहाँ कुछ बिल्कुल पढ़े लिखे नहीं थे तो कुछ इतने विद्वान् थे कि संस्कृत ग्रंथों पर अपनी टीकाएँ दीं। खासतौर पर कर्नाटक के संतों की इस प्रकार की टीकाओं को 'व्यासकूट' कहा गया। दक्षिण के संतों ने धार्मिक ही नहीं राजनीतिक धारा को भी दिशा दी। यहाँ के कई संत राजाश्रयी थे। कतिपय संत तो कुछ प्रदेशों में राजा, मंत्री, सामंत या सेनापति थे। तमिलनाडु के तिरुवल्लुवर और महाराष्ट्र के संत रामदास इसके श्रेष्ठ उदाहरण हैं।

राजस्थान और पश्चिमी क्षेत्र के संतों में संत दादू दयाल, संत रज्जब, संत सुंदरदास, गरीबदास, संत हरिदास, संत हरिचरणदास, संत चरणदास, मीराबाई आदि को कौन भुला सकता है। इन सभी संतों की एक ही चिंता थी कि जीव-जगत् की सम्हाल कैसे रखी जाय। समाज में नैतिक चेतना केवल उपदेश से नहीं जीवन में आचरण से आती है, इसके ये संत विरले उदाहरण हैं। पूर्वी भारत में स्वामी रामकृष्ण परमहंस ऐसे उदाहरण हैं जो सारे भारत के ही नहीं विश्व के दुर्लभ संत हैं जिन्होंने न केवल एक ईश्वरीय मार्ग का साक्षात्कार किया बल्कि संसार के सभी प्रचलित और प्रभावी आध्यात्मिक मार्गों का अनुभव कर लोक को दिशा दी। विश्व के समन्वय के अनुपम उदाहरण हैं– रामकृष्ण परमहंस। वे कहते हैं, "उस ईशा का दर्शन करो, जिसने विश्व की मुक्ति के लिए अपने हृदय का रक्त दिया है, जिसने मनुष्य के प्रेम के लिए असीमित वेदना को सहन किया है।" वे हिन्दू धर्म के विभिन्न मत पंथों का समन्वय कुछ इस प्रकार करते हैं– 'जिसे हम कृष्ण के नाम से पुकारते हैं, वही शिव है, वही आद्या शक्ति है, वही ईसा है, वही अल्लाह है, सब उसी के नाम हैं– एक ही राम के सहस्रों नाम हैं। एक तालाब के अनेक घाट हैं।" आगे वे कहते हैं "हिन्दू जिसे जल कहता है, मुस्मिल उसे पानी तथा ईसाई उसे वाटर।" क्या इससे श्रेष्ठ समन्वय विश्व इतिहास में कहीं दिखाई देता है? एकात्मकता की इतनी महान विरासत दुनिया में कहीं भी नहीं मिल सकती।

स्वामी विवेकानन्द जैसे संत केवल पूजा पंथ तक जीवन को सीमित नहीं रहने देते। युवकों को सम्बेधित करते हुए कहते हैं– "पहले अपने शरीर को हृष्ट-पुष्ट करो, मैदान में जाकर खेलों, कसरत करो ताकि स्वस्थ-पुष्ट शरीर से धर्म-अध्यात्म ग्रंथों में बताए आदर्शों पर आचरण कर सको। आज जरूरत है ताकत और आत्मविश्वास की, आप में होनी चाहिए फौलादी शक्ति और अदम्य मनोबल।" आगे वे याद दिलाते हैं– "जिस संयम के द्वारा इच्छाशक्ति का प्रवाह और विकास वश में लाया जाता है और

फलदायक होता है, वह शिक्षा कहलाती है। हमें तो ऐसी शिक्षा चाहिये जिससे चरित्र बने, मानसिक वीर्य बढ़े, बुद्धि का विकास हो और जिससे मनुष्य अपने पैरों पर खड़ा हो सके।'' विवेकानन्द जी का आदर्श एक संत परंपरा का अनूठा आदर्श है जब वे कहते हैं– ''मैं एक हजार बार सहर्ष नरक में जाने को तैयार हूँ यदि इससे अपने देशवासियों का जीवन-स्तर थोड़ा-सा भी उठा सकूँ।'' श्री अरविन्द की एक कविता का हिन्दी अनुवाद प्राप्त हुआ जो उनके जीवन का संदेश देता है–

**अपना मैं देवत्व लाँघ कर उतर यहाँ आया हूँ,**
**मृत्यु लोक की ज्वाला पीने आप चला आया हूँ**
**अज्ञानी बन श्रमिक सहे मैंने अनंत संताप**
**जन्म-मरण के बीच पंथ का पथिक बना हूँ आप।।**

वस्तुतः भारत की संत परंपरा को सम्पूर्णता के साथ देखा जाय तो उसके कई रूप रंग दिखाई देते हैं। जहाँ संतों के प्रकटीकरण का ऊँची-नीची जाति, गरीबी-अमीरी, राजा-रंक, स्त्री-पुरुष, गृहस्थ-संन्यासी का कोई भेद नहीं दिखाई देता। चारों दिशाओं से एक ही आवाज आती है, 'वह है संत की मानवता की सेवा'। वह मानव देश-काल की सीमा को भी लाँघ जाता है। उसकी कोई जाति नहीं, धर्म नहीं। सभी में परमपिता परमेश्वर का साक्षात्कार। जीव मात्र में साक्षात्कार। पेड़-पौधों में साक्षात्कार। मिट्टी-पत्थर में ईश्वर का साक्षात्कार। प्रेम ही सहज मार्ग है। ईश्वर अपने अन्दर है। यह दुनिया का सर्वश्रेष्ठ संदेश हमारे संतों के माध्यम से हमें प्राप्त होता है। तुलसीदास जी ने कहा–

**संत हृदय नवनीत समाना। कहहिं कविन पै कहहि न जाना।**
**निज परिताप द्रवहिं नवनीता। पर परिताप संत सुपुनीता।।**
**संतन्ह के महिमा रघुराई। बहु विधि बेद पुरानन्ह गाई।।**

कबीर दास ने संत को अपने व्यवहार से परिभाषित करते हुए कहा–

**सुखिया सब संसार है, खावै अरु सोवे।**
**दुखिया दास कबीर है जागे और रोवै।।**

सार-संक्षेप यह कि संत के लोकजागरण की इस परंपरा को सामने लाने की निरन्तर आवश्यकता है। कारण यह कि एक ओर जहाँ संत धर्म को अपने वाणी से परिभाषित और परिनिष्ठित करते हैं, वहीं अपने व्यवहार से लोक जीवन का परिष्कार भी करते हैं।

●

# समाज में संतों की भूमिका

रागिनी सिंह *

**वृक्ष कबहुँ ना फल भखै, नदी न संचै नीर।**
**परमारथ के कारने साधुन धरा शरीर।।**

संतों का स्थान ईश्वर के बराबर माना जाता है। वसुन्धरा पर काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह और स्वार्थ से रहित संत हृदय का प्रज्ज्वलित प्रकाश संपूर्ण मानवता को प्रकाशित करता है। संतों की कथा से पर्वत भी सूक्ष्म राई का रूप धर सहजता और सरलता का प्रतीक बन जाता है। बंजर में भी फूल खिल जाता है। शाप भी वरदान बनकर पीड़ित को शांति और सुख प्रदान करता है। क्या इसे अलौकिक चमत्कार माना जाएगा? यह तो संतोंकी कृपा दृष्टि का अंश मात्र है। किसी कवि ने कहा है कि

**वसुधा का कष्ट सहन करते, परमार्थ जगत का करते हैं।**
**दीनो दुखिओं को अपनाकर, सबकी झोली भरते हैं।।**

जिस दिन हमारे ऊपर संतोंकी कृपादृष्टि की वर्षा होने लगेगी वह दिन बहुत ही सुखद और शांतिप्रद होगा। वस्तुतः संतों के हृदय स्थल से सर्वोच्च अन्य कोई स्थान नहीं है। संत सभी देश और काल में अवतरित होकर मानव का पथ-प्रदर्शन करते हैं। वे साधारण ढंग से रहते हुए भी प्रभुमय बने रहते हैं। उन्हें कण-कण में ईश्वर का स्वरूप दृष्टिगत होता है। संतोंकी अमृतवाणी शास्त्रज्ञान मात्र नहीं, वह तो पूर्ण तत्व ज्ञान होती है। क्योंकि वे सारे दुविधाओं से ऊपर होते हैं। सुख-दुख, पाप-पुण्य, राग-द्वेष, मान-अपमान और सम्पत्ति-विपत्ति उनके आत्मा को स्पर्श तक नहीं कर पाती। संत हृदय तो गंगा की भाँति पवित्र और निर्मल होता है। उनका हृदय तो इतना उदार और विशाल होता है जिसका माप न तो आकाश की ऊँचाई और न समुद्र की गहराई ही कर सकती हैं। उनके जीवन का एकमात्र उद्देश्य मानवता का विकास है। समाज में जहाँ भ्रष्टाचार को बढ़ावा मिल रहा है अधर्म और अनीति को अपनाया जा रहा है, जहाँजाति और सम्प्रदाय को विशिष्ट कहा जाता है वहाँ संत अपने तपोबल और आस्थामयी भक्ति से संपूर्ण विश्व को एक सूत्र में बांधने का प्रयत्न करता है।

इतिहास साक्षी है कि संतों का आविर्भाव अनीति और भ्रष्टाचार को मिटाने के

* आरा, बिहार।

लिए समय-समय पर होता रहा है। जब-जब हमारे समाज में अनीति और कदाचार चर्मोत्कर्ष पर रहा है तब-तब संतों ने इन कुरीतियों और अनीतियों पर सत्यता और प्रेम की विजय पताका लहराया है। समाज के हिलते हुए ईंट को स्थायी किया है। भटके को नया रास्ता दिया है। असहाय और निर्बलों का सम्बल बनकर दीन-दुखियों को गले लगाया है।

**धर्म अभ्युदय हेतु अवनि पर, दो फरिस्ता आये थे।**
**रामानुजाचार्य और रामानन्दाचार्य भक्ति ध्वजा फहराये थे।।**

वास्तव में संत समाज के काँटे और शूल से भरे हुए पथ के ऐसे पथिक होते हैं, विपरीत धाराओं में चलने वाले नाव के ऐसे नाविक होते हैं जिन्हें न तो शिलाओं से टकराने का भय होता है न नदी के तेज धारा में बह जाने की आशंका और न असमाजिक तत्वों के आघात-प्रतिघात से बचने की लालसा। सूर्य का तेज, चन्द्रमा की शीतलता गंगा की पवित्रता, वृक्ष की छाया और सदाचार से परिपूर्ण आचरण का समन्वित रूप कहीं दृष्टिगत होता है तो वह है संतों का हृदयस्थल।

संत हमारे समाज के गौरव हैं, शिरोमणि हैं और दिव्यमान प्रकाश पुंज हैं। परमार्थ के लिए कष्टों को सहन करना ही संतों का स्वभाव है। संत सत्कर्मों से संगठित मूर्त रूप देवता हैं। संतों का आचरण ऊँचा कलश वाला मंदिर है जो न कभी कुठाराघात से झुकता है, न प्रतिकूलता से व्यथित हो मुड़ता है। वह अपने स्थान पर अडिग, अचल और स्थायी होता है। गोस्वामी तुलसीदास जी के शब्दों में

**बूंद अघात सहहिं गिरि वैसे। खल के वचन संत सह जैसे।।**

हम संतों की कृपा दृष्टि के अभाव में, जीवन रूपी भवसागर को पार करना तो दूर, जीवन में उठे समुद्री थपेड़ों और तूफानी झंझावातों का सामना करने में भी सक्षम नहीं हो सकेंगे। नि:संदेह संत ऐसे दिव्यमान शक्ति होते हैं जिनका पवित्र आचरण और ऊँचा आदर्श पतितों की अंतरात्मा में भी दिव्य ज्योति बनकर प्रस्फुटित होता है जिसके माध्यम से लोग बुराई में भी अच्छाई, अंधकार में प्रकाश ढूँढ़ने का प्रयत्न करते हैं। यदि हमारा जीवन संसारिक भवसागर का नौका है तो, सद्गुरु नि:संदेह जीवन रूपी नौका के कुशल पतवार हैं। कभी-कभी तो प्रतिकूल परिस्थितियाँ इतनी भयावह रूप धारण कर लेती हैं कि पैरों के धूलकण ही सर के ऊपर ताण्डव करने लगते हैं। मनुष्य उसके सामने असहाय और दुर्बल प्रतीत होता है। आजका मानव मृगतृष्णा से भरा है। परिणामस्वरूप लोलुपता के अग्नि में झुलसता जा रहा है। पाप की गहरी खाईं में गिरता चला जा रहा है। किन्तु विडम्बना तो यह है, कि दिग्भ्रमितों को इसका आभास भी नहीं होता। वे इसका कारण जानने का प्रयत्न तक नहीं करना चाहते। इस परिवेश में

संकीर्णता मानव मन और मस्तिष्क पर पूरी तरह से छा जाती है। कृतघ्नता और अविश्वास जैसा दीमक आए दिन मनुष्यता को खोखला कर रहा है। मानवता की जगह दानवता को बढ़ावा दे रहा है। कदाचार और कुरीतियाँ समाज को पूर्णतः जर्जर कर चुकी हैं। वस्तुतः मानव ईश्वर का ही अंश है। देवता भी पृथ्वी पर आने की कामना करते हैं। विस्मयकारी बात है कि, मानव जो धर्म, सत्य और न्याय का प्रतीक था आज अधर्म, असत्य और अन्याय को धारण कर दावन बन बैठा है। मनुष्यता को हर पल झकझोरा जा रहा है। उसे दबोचा जा रहा है। आज का परिवेश कितना घृणित हो चुका है कि मानव ही मानव का शत्रु बन बैठा है। जहाँ सहृदयता और प्रेम में बंधकर बंधुत्व को बढ़ावा देना चाहिए वहाँ स्वार्थ और हिंसा को अपनाकर लोग हिंसक बन गये हैं। ऐसी परिस्थिति में मनुष्यता कलंकित हो गई है। असीमित आकांक्षाएँ ही, तनाव तथा विनाश का मूल कारण बनती हैं। कृतघ्नता हमारे समाज में नासूर बनती जा रही है। शिष्य गुरु के प्रति, पुत्र-पिता के, भाई-भाई के और मित्र-मित्र के प्रति अपने कर्तव्यों को भूलता जा रहा है। आज कृतज्ञता का स्थान कृतघ्नता ने ग्रहण कर लिया है। दुखद है कि जिसे हम अपना मानते हैं, वही हमारे अपनत्व को कुचल डालता है। जिस पर हम अटूट विश्वास करते हैं वही हमारे विश्वास को तिनके की भाँति तोड़ देता है।

आज का मनुष्य हिंसक पशु से भी भयावह हो चुका है। समाज का कोई भी क्षेत्र मानव रूपी हिंसक पशु से अछूता नहीं है। अधिकारी से, नेता तक समाज के कर्णधार कहे जाने वाले लोग स्वार्थ और लिप्सा से जकड़े हुए हैं। रक्षक ही भक्षक बन बैठा है। गरीबी, लूट, खसोट की होड़ मची हुई है। ईमानदारी बेईमानी की दरिया में अपने दम तोड़ रही है। झूठ व फरेब की अग्नि में विश्वास झुलसता दिख रहा है। जाति और सम्प्रदाय की बलि बेदी पर न्याय की बलि दी जा रही है। शक्ति और वर्चस्व द्वारा व्यथित वर्ग के अधिकारों को धूल धूसरित किया जा रहा है। सत्य तो यह है कि जिसका जीवन ऐश्वर्य और विलासिता में डूबा हुआ हो उससे न्याय और उदारता की अपेक्षा कैसे की जा सकती है? जो स्वयं गिरा हुआ है वह दूसरों को कैसे उठा सकता है?

प्राचीन काल में नारियाँ दुर्गा और देवी स्वरूपिणी समझी जाती थीं। किन्तु मध्ययुग से लेकर आज तक नारियाँ, सामाजिक उपेक्षाओं और यातनाओं के चक्रवात का सामना करती चली आ रही हैं। मध्य युग में सती प्रथा और पर्दाप्रथा उनके विकास में पूर्ण अवरोधक थी। उस समय अनेक संतों ने अवतार लिया। जिन्होंने समाज एवं धर्म के क्षेत्र में, व्याप्त पाखण्ड, अंधविश्वास एवं रूढ़ियों की मुखर आलोचना की। ऊँच-नीच, छुआछूत जैसे समाजिक कोढ़ को समूल नष्ट करने का अथक प्रयास किया।

उन संतों ने समाज के अनीतिपूर्ण आचरण पर खुलकर प्रहार किया। नारी को पवित्रता, मर्यादा और गरिमा का प्रतीक बतलाया। संत समुदाय आज भी इसके लिए प्रयत्नशील हैं। दुख इस बात का है कि संतों के अथक प्रयास के बावजूद भी आधुनिक समाज इन कुरीतियों से बंचित नहीं रह सका है। इस युग में भी दहेज जैसी कुप्रथा समाज को ग्रसित कर चुकी है। दहेज हमारे समाज का अभिशाप ही नहीं, बल्कि सबसे बड़ा कलंक बन चुका है। जिस पर न जाने कितनी नारियों को भेंट चढ़ा दिया गया है। इसके प्रचण्ड ज्वाला में झुलसती कन्याएँ नित्य प्रति अनीति और अनाचार की शिकार होती चली आ रही हैं। उनके त्याग, समर्पण और प्रेम का मूल्यांकन चंद पैसों से किया जा रहा है। वास्तविकता तो यह है कि नारी पति के लिए चरित्र, संतान के लिए ममता, समाज के लिए शील विश्व के लिए दया तथा जीव मात्र के लिए करुणा दर्शाने वाली महाप्रकृति का दूजा रूप है। इसके बावजूद इन पर अत्याचार होना कितना त्रासद है।

समाज को विकृत करने में मदिरा की महत्वपूर्र्ण भूमिका है। संतों ने इससे दूर रहने का उपदेश दिया है। मदिरा पान करने वाले व्यक्ति का जीवन नरक की यातना भोगने वालों के समान है। उनकी प्रेरणादायी चित्तवृत्ति ही विकृति में परिवर्तित हो जाती है। देवासुर संग्राम में शुक्राचार्य जी ने मदिरा का निर्माण राक्षसों के लिए किया था। किन्तु आज के विकृत समाज के लोग इसे सर्वोत्तम रस के रूप में ग्रहण कर रहे हैं। इसके सामने अमृतरस गोदुग्ध की महत्ता बिल्कुल धूमिल पड़ गई है। फलस्वरूप आये दिन न जाने कितने परिवार काल कवलित होते जा रहे हैं। यद्यपि मदिरा सेवन करने वाले व्यक्ति इस बात से अनभिज्ञ होते हैं कि–

**आदत की दवा मौत और मौत की दवा कुछ भी नहीं।** समाज की इन विकृतियों तथा बुराईयों को दूर करने के लिए संतगण लगातार प्रयत्नशील हैं। मुझे अपने मनोभावों को व्यक्त करने की प्रेरणा प्रातः स्मरणीय, वंदनीय परम पूज्य जगतगुरु रामानन्दाचार्य पद प्रतिष्ठित रामनरेशाचार्य जी के आशीर्वचनों के फलस्वरूप प्राप्त हुआ है। महाराजश्री के सान्निध्य प्राप्ति के बाद यह ज्ञात होता है कि समाज में व्याप्त दुर्व्यहार और कुरीतियों के प्रति वे कितना संवेदनशील हैं। इस महान संत के बारे में कुछ भी लिखना या कहना सूर्य को दीपक दिखाना है। दीनों पर दया, दलितों पर कृपा, असहायों के लिए सहयोग की भावना उनके अभ्यंतर से प्रस्फुटित होती रहती है। सौम्य चेहरा, मृदुल वाणी और आकर्षक व्यक्तित्व इनके साधुता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। धर्म, अध्यात्म, दर्शन व संस्कृति के संरक्षक के रूप में इनका भ्रमण देश के कोने-कोने में निरंतर होता रहता है। इनकी प्रेरणा इनके अनुयायियों को हर क्षण नई दिशा प्रदान करती है एवं समाज सेवी बनने के लिए बाध्य कर देती है। हमारी आस्था और हमारा

विश्वास संतों की चरणधूलि से जा लिपटे, तो कर्तव्यों का निर्वाह हमें भारस्वरूप दृष्टिगत नहीं होगा, हमारे हर कदम पर सौभाग्य का दरवाजा खुला हुआ होगा। मैं उस सर्वशक्तिमान ईश्वर से याचना करती हूँ कि इस विकृत समाज में संतों का प्रयत्न सफल हो और सम्पूर्ण विश्व मंगलमय हो। स्वामी रामनरेशाचार्य जी आज उस मानवकल्याण के प्रतीक बन गए हैं जिसके लिए गोस्वामी तुलसीदास ने कहा था कि–

**संत हृदय नवनीत समाना। कहहिं कबिन पै कहहिं न जाना।**
**निज परिताप द्रवै नवनीता। पर परिताप संत सुपुनीता।।**

●

# स्वामीरामानन्द और मैथिलीशरणगुप्त : परम्परा का अर्थ

कृष्णदत्त पालीवाल *

रामानन्द भक्ति-आन्दोलन के निर्माता, श्रेष्ठ कवि, आचार्य, विमर्शकार और युग प्रवर्तक नायक थे। उनकी चिन्तन परम्परा कबीर, रैदास, तुलसीदास के भीतर से प्रवाहित होकर मैथिलीशरण गुप्त के सृजन और चिन्तन में सर्जनात्मक तेजस्विता धारण करती है। सांस्कृतिक लोक जागरण का जैसा रूढ़िवाद विरोधी आन्दोलन भक्ति-आन्दोलन रहा है, वैसा आन्दोलन भारत क्या विश्व में कोई दूसरा नहीं है। इस आन्दोलन ने देश के कोने-कोने में नया जागरण पैदा किया और भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन के दिनों में अपने नवजागरण के प्रवाह से अनेक देशभक्त नायकों, कवियों, कलाकारों, चिन्तकों, पत्रकारों, वैज्ञानिकों को पैदा किया। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त इसी प्रवाह की रामानन्दी भक्ति का आदर्शरूप हैं। भक्ति आन्दोलन में विष्णु की उपासना ने ऐसा अखिल भारतीय रूप धारण किया कि अवतारवाद, लीलावाद ने (राम और कृष्ण का रूप धारण कर) दीनों-दुर्बलों-दलितों के मुरझाये मनों को नए जीवन जल से सींचकर सदाबहार बनाये रखा। तीसरी शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक तमिल में भक्ति आन्दोलन प्रमुख जीवन-स्रोत रहा। आलवार भक्तों के 'दिव्य-प्रबन्धम्' ने सारे भारत को भीतर-बाहर से नवजागरण का प्रकाश दिया। देश के सभी भागों में बड़े-बड़े आचार्य-सन्त-भक्त कवि पैदा हुए। इस भक्ति आन्दोलन ने भारतीय स्वाधीनता संग्राम के दिनों में अपनी अदम्य-अप्रतिहत नवजागरण की प्रेरणा से ब्रिटिश साम्राज्यवाद की गुलामी का भारत से अन्त कर दिया। महात्मा गांधी स्वयं जैसे रामानन्द बनकर आये जिन्होंने प्रेम-अहिंसा से असम्भव को सम्भव कर दिखाया।

भक्ति आन्दोलन से जन्मा रामोपासना का मंत्र राष्ट्रकवि मैथिली शरण गुप्त के प्राणों का स्थायी भाव रहा। इस मन्त्र से उन्होंने देश को एकता के सूत्र में बाँधकर जगाने का काम किया। इस तरह आधुनिक भारतीय नवजागरण हमारी अपनी परम्पराओं की शक्ति से फूटा है। उसे पश्चिमवाद का 'रेनासाँ' या नव जागरण, पुनर्जागरण कहना बेतुका प्रतीत होता है। रामानन्द के भक्ति-आन्दोलन ने जनता में एक

* पूर्व प्रो. हिन्दी, दिल्ली वि.वि. दिल्ली।

नये किस्म की राजनीतिक सामाजिक चेतना उत्पन्न की और देश को भावात्मक रूप से एक किया। कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक इस भावात्मक एकता की आन्तरिक लय ने अटूट रहकर भक्ति, देश-भक्ति को नया सन्दर्भ दिया। औपनिवेशिक गुलामी से पीड़ित भारत में देश-भक्ति एक घटना की तरह देश की जनता के प्राणों में घटी और पूरा देश अंगड़ाई लेकर जाग गया। स्वतन्त्रता स्वाधीनता प्राप्त करने का भाव महलों और झोपड़ियों के भीतर एक साथ एक लय से जागा। आज उस इतिहास को याद करते हुए एक सिहरन पैदा होती है।

मैथिलीशरण गुप्त और हिन्दी नवजागरण का नाभिनाल रिश्ता रामानन्द और भक्ति आन्दोलन से है। यूरोप के मध्ययुग और आधुनिक युग के बीच संक्रान्ति की जो अवस्था 'रेनासाँ' नवजागरण कही जाती है वैसा हमारे देश में कुछ भी घटित नहीं हुआ। न तो यहाँ अन्धकारकाल रहा न धार्मिकता के उन्माद से भरा चर्चवाद, पोपवाद रहा। यूरोप में तेरहवीं चौदहवीं शताब्दी से सोलहवीं शताब्दी तक धर्म, दर्शन, विज्ञान के क्षेत्र में नए आविष्कारों ने पुरानी सोच ही बदल दिया। नयी सांस्कृतिक सामाजिक राजनीतिक चेतना का उल्लेख वहाँ इटली से हुआ। इटली के नवजागरण से यूरोप का नया जन्म हुआ। इस नवजन्म या नवजागरण की बड़ी संघर्षपूर्ण गाथा है। ऐसी कोई गाथा भारत में नहीं बनानी पड़ी। क्योंकि भारतीय परम्पराओं के भीतर से परिवर्तन और सातत्य का अखंड प्रवाह रहा है। भारत में रूढ़ियाँ तोड़कर क्रांतिकारी साहित्य भारतेन्दु युग (१८५९-१९००) से ही सृजित किया गया। भारतेन्दु युग को यह परम्परा भक्तिकाल के साहित्य से मिली थी। रीतिकाल में यह परम्परा दब गई थी लेकिन मरी नहीं थी। इसी दबी परम्परा ने उन्नीसवीं शताब्दी में प्रबल वेग धारण किया और रीतिकार के पुराने तटों को तोड़कर नए तटों का निर्माण किया।

भारतीय नवजागरण को 'मध्ययुगीनता के बन्धनों' से मुक्त होने के लिए जिस तरह का तेज धारण करना पड़ा वह यूरोप के बन्धनों से अलग किस्म का रहा है। यूरोप में व्यक्ति स्वातन्त्र्यवाद की प्रतिष्ठा हुई और चर्चवाद की केन्द्रीयता धूल में मिल गयी। परलोक की चिन्ताओं से छूटकर वहाँ मानव केन्द्रित चिन्तन का बीज पनपा। पश्चिमी चिंतकों ने इसे सेकुलर मानववाद का नाम दिया। भारत का आधुनिक काल गुलामी से संघर्ष करते हुए शुरू हुआ। फलतः १८५७ की क्रान्ति हमारे नवजागरण का पहला चरण है। अमेरिकी गिरोह के सबाल्टर्न हिस्ट्रीवाले हमारे स्वाधीनता आन्दोलन को प्रथम मुक्ति संग्राम न मानकर उसे किसान क्रान्ति या किसान-आन्दोलन से जोड़ते हैं। इन्हें न तो हमारे भक्ति आन्दोलन का अर्थ समझ में आता है– न सन्त-काव्य की क्रान्तिचेतना का। जब हम कहते हैं कि मैथिलीशरण गुप्त हमारे आधुनिक युग के

तुलसीदास हैं तो वे हमें हैरानी से देखते हैं। क्या हो उन्हें भारत की धर्म-संस्कृति-दर्शन साहित्य की परम्पराओं का अर्थ समझ में ही नहीं आता। वे हमारे धर्म को 'रिलीजन' का पर्याय समझने की भूल करते हैं और 'संस्कृति' को 'कल्चर' का, इतिहास को 'हिस्ट्री' का। नतीजा यह हुआ कि उनकी पूरी समझ ही गड़बड़ है। उन्हें यह समझ नहीं है कि जिस प्रतिमान से मार्क्स को समझा जा सकता है उस प्रतिमान से दयानन्द, अरविन्द, विवेकानन्द, गांधी को नहीं समझा जा सकता। मार्क्स और गांधी दोनों दो भिन्न परम्पराओं, संस्कृतियों के प्रतिनिधि हैं।

भारत में पहला नवजागरण गौतम बुद्ध के वेदवाद-विरोधी चिन्तन से भाषा-धर्म-संस्कृति, आचरण, दर्शन आदि सभी क्षेत्रों में आया। बुद्ध ने तमाम हिंसावादी परम्पराओं को ध्वस्त करते हुए अहिंसा, करुणा, सत्य का एक पाठ (टेक्स्ट) तैयार किया। इस पाठ के अनेक अर्थों का प्रसार पूरे एशिया में हुआ। संस्कृत भाषा के स्थान पर पालि भाषा के प्रयोग से जन जागरण फैला। यह नव जागरण रुका नहीं। इसने फिर भक्ति आन्दोलन का रूप धारण कर भक्तिकाल में क्रान्तिकारी चिन्तन का बीजारोपण किया। यह भारतीय भाषाओं और उनके साहित्य के उदय और उत्कर्ष का समय है। क्रान्तिकारी निर्गुण सन्तों ने विद्रोह और अस्वीकार का साहस लेकर रूढ़िवाद, सामन्तवाद को ललकारा। फलतः निचली जातियों ने अपने तमाम सन्त पैदा किये। इन सन्तों ने जनता में आत्मसम्मान का भाव जागृत किया। इन सन्तों में हिन्दू संत ही नहीं थे तमाम मुसलमान सन्त भी थे– पुरुष ही नहीं थे स्त्रियाँ भी थीं' निर्गुण ही नहीं, सगुण तुलसीदास, सूरदास, जैसे सन्त भी थे। अतः सन्त से केवल निर्गुणिए सन्तों का अर्थ ही ग्रहण नहीं करना चाहिए। सन्त संन्यासी और गृहस्थ, निर्गुण और सगुण दोनों हैं। ये सभी सन्त झूठे कर्मकाण्ड, धर्मशास्त्र, पुरोहितों, मौलवियों की नीतियों के विरुद्ध हैं। इनका एक ही धर्म है लोक-धर्म। इनके लिए एक ही मूल्य है प्रेम और धरती इनके लिए परलोक से ज्यादा महत्वपूर्ण है। यह संसार मिथ्या नहीं है, संसार सत्य है, इसका कर्ममय व्यापार सत्य है। ध्यान रहे यह सन्त साहित्य भारतीय संस्कृति की सौ-दो सौ वर्षों की धारा नहीं है। इसके पीछे न जाने कितनी भारतीय परम्पराओं का हाथ रहा है। भक्ति आन्दोलन इस देश का सबसे महिमावान सांस्कृतिक आन्दोलन हैं। भारतीय समाज में यह परिवर्तन उसकी अपनी भाषा-संस्कृति-व्यापार, यायावरी आदि अनेक शक्तियों की समवेत ताकत के कारण हुआ। इनके पीछे प्रस्थानत्रयी (वेदान्तसूत्र, गीता, श्रीमद्भागवत पुराण) और उसके अनेक भाष्यों, टीकाओं-विमर्शों का हाथ था। रामानुजाचार्य, राघवाचार्य, रामानन्द जैसे आचार्यों ने अपना पूराजीवन ही चिन्तन मनन को अर्पित कर दिया।

यह तो इन्हीं आचार्यों सन्तों-भक्तों-कवियों की शक्तिधारा थी जिसने उन्नीसवीं शताब्दी में पुनः जागरण, नवजागरण या पुनर्जागरण को सम्भव बनाया। यह नवजागरण ही भारतीय मुक्ति संग्राम का आधुनिक काल में आधार बना जिसने अंग्रेजी साम्राज्यवाद के लूट तन्त्र के प्रति हमें चौंका कर सावधान किया। राजा राममोहन राय तो अंग्रेजी ज्ञान-विज्ञान के पीछे लट्टू रहे। लेकिन दयानन्द, अरविन्द, विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ टैगोर, भारतेन्दु, सुब्रह्मण्य भारती, मौलाना हाली, मैथिली शरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी ने एक नए पश्चिमी आधुनिकता-विरोधी चिन्तन के आधार को दृढ़ किया। भारतेन्दु और मैथिलीशरणगुप्त का भक्तिवाद, नवजागरणवाद, रामानन्द, वल्लभाचार्य की देन हैं– उसमें पश्चिम के व्यापारिक पूँजीवाद, औद्योगिक पूँजीवाद का हाथ नगण्य है। जातिवाद तोड़क, शूद्र और स्त्रियों को अधिकार सम्पन्न बनाने वाले, मोक्षवाद से भक्तिवाद को अधिक महत्व देने वाले रामानन्द ही (कबीर, तुलसी) नए सांस्कृतिक नवजागरण के अग्रदूत हैं। प्रायः रामानन्द की भूमिका को सांस्कृतिक नवजागरण के क्षेत्र में काम करके आँका जाता है। इस अन्यायपूर्ण दृष्टि से हमें छुटकारा पाना होगा ताकि हम अपनी परम्पराओं की क्रान्तिकारी भूमिका से समृद्ध हो सकें।

हमारे भारतीय नवजागरण का कोई सम्बन्ध व्यक्तिवाद धर्म निरपेक्षतावाद और छद्म मानववाद से नहीं रहा हैं। हमारा नवजागरण देश-प्रेम, देशभक्ति, राष्ट्रीयता, स्वदेशीयता तथा अंग्रेजी साम्राज्यवाद के विरोध में प्रस्फुटित विकसित हुआ है। इतना ही नहीं भारत के विभिन्न प्रदेशों में नवजागरण विभिन्न प्रभावों-दबावों से विकसित हुआ। बंगला नवजागरण के पीछे राजा राममोहन राय-ब्रह्मसमाज और नए ढंग का बुद्धिवाद था तो हिन्दी प्रदेशों में नवजागरण सन्तों- कवियों एवं १८५७ की जन-क्रान्ति के साथ आया। 'अंग्रेजी साम्राज्यवाद के खिलाफ हिन्दू-मुसलमानों ने सर्वाधिक विद्रोह हिन्दी प्रदेशों में ही किया। हिन्दी नवजागरण का शक्ति विस्फोट, राष्ट्रीयता-देश-भक्ति की भावना से हुआ। अंग्रेजी- राज ने देश को लूटकर खेतिहर देश बनाया तथा यहाँ के उद्योग-धन्धों को चौपट किया। तमाम आन्दोलन देश-प्रेम या राष्ट्रीय आन्दोलन से प्रेरित होकर चले। हमारे किसान-आन्दोलन राष्ट्रीय आन्दोलनों का ही अंग रहे। उनका अलग से व्यक्तित्व नहीं था। यह तथ्य भारतेन्दु, मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी तथा प्रेमचन्द के रचना-कर्म से स्पष्ट है। यहाँ जमींदार और साहूकार मिलकर किसान का माल डकारने लगे और कृषक तबाह हो गया। सबाल्टर्न इतिहासकार जिस ढंग से किसान-आन्दोलनों की व्याख्या करते हैं वह दृष्टि ही एकांगी है। रणजीत गुहा ने सबाल्टर्न स्टडीज नाम से किताबों की जो सीरीज निकाली उसपर ब्रिटेन अमेरिका

वाद छाया हुआ है। भारत नहीं। 'भारत का स्वाधीनता-संग्राम सन्त-साहित्य से प्रेरणा पाता है। गाँवों से प्रेरणा पाता है' अर्थात् उसमें किसानों की बड़ी हिस्सेदारी रही है। उन्नीसवीं शताब्दी में भक्ति का नवजागरण (रिनेसाँ ऑफ भक्ति) ब्रह्म समाज, आर्य समाज, प्रार्थना-समाज न जाने कितने समाजों से प्रेरणा पाता रहा है। भक्ति का नवजागरण भारतेन्दु युग तथा द्विवेदी युग को बड़ी भारी शक्ति देता रहा। मैथिलीशरण गुप्त जब प्रार्थना करते हैं– 'हमें भक्ति दी है अमिताभ' तो उसमें हमारी पुरानी परम्परा बोलती है। तुलसीदास, सूरदास जिस तरह भारतेन्दु, गुप्त और निराला में बोले हैं इसका भाष्य तो अनुपम है। हमारी बहुजातीय राष्ट्रीयता को सन्तों के लोकजागरण ने दिशा-दृष्टि दी है।

रामोपासना, कृष्णोपासना हमारे लिए कभी भी अतीत नहीं रही। रिन्तर वर्तमान रही हैं। 'भारत-भारती' का मंगलाचरण यहीं आवाज देता है– 'सीतापते! सीतापते! गीतामते! गीतामते!'। हमारी पूरी संस्कृति सीता गीता ही तो है जिसका एक पाठ रामानन्द ने तैयार किया दूसरा कबीर, तुलसीदास ने और तीसरा व्यापक पाठ मैथिलीशरण गुप्त ने उठाया है। रामानन्द से जो नवजागरण शुरू होता है वह नयी परिस्थितियों में पुराने का ही विकास है। गुप्त जी प्राचीनों में आधुनिक और आधुनिकों में प्राचीन रहे हैं। वे पुनरुत्थानवादी कभी नहीं रहे। वे अतीत में जाते हैं, लेकिन आधुनिक चेतना लेकर। इसलिए पूरा स्वाधीनता संग्राम उनकी लेखनी से नयी निष्पत्ति पाता रहा है। तिलक और गांधी की टीका का भाष्य स्वाधीनता-संग्राम का आधार रहा है और यह आधार रामानुजाचार्य, रामानन्द की देन है। मुझे आधुनिक भारतीय नवजागरण और देश भक्ति से भरा राष्ट्रीय आन्दोलन एक दूसरे के पर्याय लगते रहे हैं। धीरे-धीरे इसी आन्दोलन ने उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद की गुलामी से भारत को मुक्त करने का अभियान चलाया है।

भक्ति-आन्दोलन का अखिल भारतीय रामानन्दी प्रसार गीता-भागवत और रामायण की चेतना से हुआ था। लेकिन उन्नीसवी शताब्दी में पश्चिमी विद्वानों ने कृष्णोपासना एवं ईसाई धर्म के बीच समानताएँ दिखाकर यह 'षड्यन्त्र जाल रचा कि भक्ति सिद्धान्त ईसाई धर्म से लिए गए हैं।

ग्रियर्सन के निबन्ध 'नारायणीय एण्ड द भागवताज' तथा 'भक्ति मार्ग' शीर्षक से छपे तथा जाकोबी का निबन्ध अवतारवाद के सिद्धान्त पर छपा था। हॉपकिन्स ने इसी कूटनीति में शामिल होकर 'द एपिक यूज ऑफ भगवत एंड भक्ति' निबन्ध प्रकाशित करवाया। भगवद्गीता को लेकर पश्चिमी विद्वानों ने लेखों की एक शृंखला ही चलाई। फलत: तिलक, अरविन्द, गांधी, कुमार स्वामी को गीता तथा श्री लक्ष्मी पर विचार

करना पड़ा। विष्णु और नारायण पर अवतारवाद तथा अवतार के रूपों पर विवेचन का दौर चला। 'रामायण' एवं 'महाभारत' पर अनुसंधान कार्य करने का माहौल बनाया गया। भागवत, पांचरात्र, सात्वत एवं वैष्णव नामों से उपासना मार्ग को खोजा गया। कहा गया नारायण तो द्रविड़ मूल के देवता हैं और जल से जुड़े हैं। 'पौराणिक कथा समूह' वासुदेवकृष्ण को लेकर चल पड़ा। फिर भागवत धर्म में अहिंसा का सिद्धान्त स्वतन्त्र रूप से विकसित हुआ। 'गीता' ने भक्ति को परमात्मा के प्रेम से जोड़ दिया। यह पूरी परम्परा रामानन्द ने 'रामार्चन पद्धति' 'रामरक्षास्तोत्र' तथा 'वैष्णमताब्ज भास्कर' में अनेक स्रोतों के संकेतों के साथ एक नए पाठ में पाठकों को दी है। भक्ति आन्दोलन को मन्दिरों से रामानुजाचार्य जोड़ चुके थे जिसे आचार्यों ने आगे बढ़ाया। सौभाग्यवश इसे भक्त कवि वसवेश्वर के चिन्तन का क्रान्तिकारी स्पर्श मिला जो कबीर की तरह ही धारदार थे। कवि वेमना ने तमाम तरह की रूढ़ियों का खण्डन किया। इसी में आण्डाल, अक्कमहादेवी, ललद्यद तथा मीराबाई का भक्ति-योग प्रेम सागर बनकर प्रवाहित हुआ। इन तमाम भक्तों एवं गोरखनाथ के बीच सूर्य की तरह रामानन्द का उदय हुआ।

ईश्वर के प्रति प्रेम-मानव-प्रेम का परम उज्ज्वल वरदान बन गया है। पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने 'रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ' नाम की पुस्तक में रामानन्द के प्रेम तत्त्व का कबीर, तुलसी से जोड़कर जो विवेचन किया है– वह एक नया दृष्टिपथ है। उन्होंने कहा– 'स्मरण प्रेम का द्योतक है।' यह एक ऐसा सूत्र-मन्त्र है जिसकी व्याख्या अनन्त है। सूरति-निरति का इसी में विमर्श मौजूद है। रामानन्द ने 'योग' के स्थान पर 'प्रेम' को रखकर बड़ा भारी काम किया है– 'गोरख जगायो जोग' पर ऐसे ही चोट की जा सकती थीं। ईश्वर को केन्द्र में लाकर प्रेम की आरती से प्रकाश स्वर निकला– 'जाति-पाँति पूछै नहिं कोई। हरि को भजै सो हरि का होई।' यह अर्धाली जनता की स्मृति में रामानन्द के नाम से निवास करती है। कुछ समय बाद इसे ही सन्त दादूदयाल ने दुहराया थोड़े हेर फेर के साथ– हरि का भजै सो हरि का होई। नीच ऊँच अंतर नहि कोई।' ठीक बात है बैर को प्रेम से ही मिटाया, हटाया जा सकता है। रामानन्द ने 'वैष्णावमताब्ज भास्कर' में निर्भ्रान्त शब्दों में घोषणा की है कि ऊँच- नीच सभी ईश्वर की शरणागति (प्रपत्ति) के अधिकारी हैं। उच्च वर्ग तथा नीचवर्ण के सभी वैष्णवों को एक मार्ग दिखाकर रामानन्द ने भक्ति का राजमार्ग खोल दिया। साथ ही यह भी उपदेश दिया कि उच्चवर्ण के वैष्णव निम्न वर्ण के साधु सन्तों की सेवा-पूजा अर्चना करेंगे तो उन्हें धरती पर ही प्रेम का बैकुण्ठ प्राप्त हो सकता है। यही रामानन्द का सिद्धान्त राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त में छनकर आया है। 'सन्देश नहीं मैं स्वर्गलोक का लाया।

इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।' या फिर 'यशोधरा' के मंगलाचरण में गुप्तजी ने कहा– 'राम तुम्हारे इसी लोक में रूप-राशि गुण लीला लाभ। इसी भूमि में हमें जन्म दो तो प्रणाम हे नीरजनाम।' गुप्त जी के इस पाठ में रामानन्द का पूरा पाठ पुनर्नवा रूप में मौजूद है।

एक समय था कि 'रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ' पुस्तक में 'रामानन्द का जीवन चरित्र' शीर्षक लेख परम खोजी आलोचक श्रीकृष्ण लाल का प्रकाशित हुआ। उन्होंने 'भक्ति द्राविड़ ऊपजी वाले दोहे को आधार बनाकर एक नया विचार प्रस्तुत किया कि रामानन्द राघवानन्द के शिष्य थे। दक्षिण से रामोपासना का सिद्धान्त राघवानन्द लाये थे– उन्होंने ही रामानन्द को काशी में यह राम-मन्त्र दिया। 'ओऽमरां रामाय नम:'। इस विमर्श की मूल व्यंजना में यह सत्य ध्वनित है कि रामोपासना का प्रसार प्रचार पहले दक्षिण भारत में हुआ तत्पश्चात् उत्तर भारत में यह रामोपासना शुरू हुई। दक्षिण की रामोपासना को उत्तर भारत में पूरी गरिमा के साथ फैलाने का श्रेय रामानन्द को है। इस तरह परम्परा का यह विस्तार एक ऐतिहासिक घटना के महत्व को व्यंजित करता है। विद्वानों का एक वर्ग मानता रहा है कि रामानन्द और कबीर के बीच कई प्रश्नों को लेकर संवाद हुआ जिसका संकेत गोरखनाथ ने 'ज्ञान तिलक' शीर्षक अपनी रचना में दिया है। कबीर में जो अक्खड़पन है वह हठयोगियों की देन है। लेकिन जो प्रेम तत्त्व है वह वैष्णवों-विशेषकर स्वामी रामानन्द की देन। रामानन्द की साधना पर योगियों, हठयोगियों का प्रभाव पड़ा था इसका प्रमाण 'योग चिन्तामणि' नामक कृति देती है। 'रामानन्द के उपदेश का सार रहा है ईश्वर को एकाग्रभाव से हृदय में धारण करने से अन्त:करण शुद्ध हो जाता है– विकृतियों का विरेचन होकर भाव-परिष्कार से मन और बुद्धि निर्मल हो जाते हैं– गुप्तजी जब कहते हैं– 'राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य हैं तो उसका बहुवचनात्मक पाठ ही सामने आता है। शब्द ही राम है राम ही त्राणकारी है। कबीर ने 'निर्गुण राम जपहु' रे भाई की इसी भाव से आवाज़ लगाई थी। जब कि कबीर राम को दशरथ सुत नहीं मानते थे। उनका राम तो 'राम रसाइन' है– प्रेम रस है– रसाल है।

स्वामी रामानन्द के नाम से रामावत सम्प्रदाय चला। लेकिन रामानन्द किसी भी सम्प्रदाय में बँधकर नहीं रहे। सम्प्रदायवाद अतिक्रमण का नाम ही रामानन्द है। इसीलिए मैं उन्हें आकाश धर्म गुरु मानता हूँ। इसी रामानन्द की शक्ति का तप कबीर में आता है तो वे माया के बन्धनों से छूटकर गगनमण्डल को आसान कर लेते हैं। काल देवता उनके हाथ जोड़ता है– कबीर रामरूपी नौका पर सवार होकर निर्भय भाव से भवसागर पार उतर जाते हैं। क्यों न हों-निर्भय 'हरि जननी है', कबीर उसके बालक।

हरि जननी ने अपने बालक कबीर को 'ढाई आखर प्रेम' का रहस्य समझा दिया है। यही वह पाठ है जिसे जायसी, रसखान, तुलसीदास, सूरदास, मीरा और रहीम सभी ने याद कर लिया है और इस पाठ के अभ्यास से ये सभी सिद्ध हो गए हैं। त्रिकालज्ञ हो गए हैं और सभाओं, राजाओं के रोष से लापरवाह। इन सभी नवजागरण के सन्त-भक्त कवियों में उपनिषद् के गान गूँज रहे हैं। जनपदीय भाषाओं में ईश्वर की भक्ति धारा की सर्जनात्मकता का मोहक रंग निखर रहा है। लोक-भाषाओं की भक्तिधारा ने अन्तर्जातीय संस्कृति के प्रसार से दक्षिण उत्तर को परस्पर हृदय संवाद के लिए जोड़ दिया। बल्लभाचार्य, मध्वाचार्य सभी बड़े आचार्य दक्षिण से उत्तर आये और पूरा देश वैष्णव भक्ति आन्दोलन के कृष्ण-रस, राम-रस में अभेद भाव से निमग्न हो गया। राष्ट्र भाषा के प्रसार के लिए नवीन भूमिका को इन सन्तों ने निर्मित किया। इसी भूमि पर श्रीधर पाठक, हरिऔध और मैथिलीशरण गुप्त पूरे आत्मविश्वास से खड़े हो सके। इसी आदान- प्रदान से दक्खिनी हिन्दी प्रदेशों की हिन्दी के गले मिली है। यहाँ मुगल राज्य सभा में फारसी राजभाषा रही लेकिन ब्रजभाषा अवधी तथा अन्यलोक भाषाओं ने सर्जनात्मकता के उन शिखरों का स्पर्श किया जिनसे विश्व-संस्कृति सम्मानित हुई। सोलहवीं सत्रहवीं शताब्दी में तुलसीदास जैसे कवि का अवतरण विश्व इतिहास की एक अपूर्व घटना है। बाबा ने 'नानापुराण निगमागम तुलसी रघुनाथ गाथा' का संकेत देकर ज्ञान-योग-भक्तियोग का नया भाव योग मॉडल ही प्रस्तुत कर दिया। तुलसीदास जैसा ज्ञानी कवि मध्यकाल में कोई दूसरा नहीं है। यही समय अकबर और संगीत गायक तानसेन का है। १५७५ में अकबर ने विभिन्न धर्मों, दर्शनों के सत्य को समझने के लिए 'इबादत खाना' सूफीसंत शेख सलीम चिश्ती के आवास के पास बनवाया। उसकी समझ में बस इतना आया कि भारतीय वेदांत का ईरानी रूप ही सूफीमत हैं। वेदान्त तमाम रूढ़ियों से मुक्त दार्शनिक विचारधारा है। इस वेदान्त में इतना स्पेस है कि वह सभी धर्मों से आत्म संवाद कर सकता है। अकबर स्वयं परमसत्ता का अनुभव करने लगा और फतेहपुर सीकरी का निर्माण कराया। गरीबों-फकीरों-दरवेशों को दान दिया गया। दीन इलाही नाम से नया धर्म चलाया। यह सब बहुत उदार सूफीवाद था। सर्वात्मवाद का सत्त्व था। सूरदास-तुलसीदास पर इस सूफीवाद का प्रभाव कई रूपों में पड़ा है चूँकि यह प्रभाव इनकी कविता में भरा हुआ है इसलिए सीधे-सीधे पकड़ में नहीं आता। लेकिन गहराई में थाह लेने पर साफ दिखाई देने लगता है। हिन्दू-मुसलमान सब हिन्दी में कविता रचते हैं। अतः यह हिन्दी काव्य तो है– हिन्दू काव्य नहीं है। इसका रंग प्रगतिशील है और आचार-विचार सहिष्णुता से पूर्ण। अकबर, तानसेन को हिन्दी का अच्छा ज्ञान था और वे हिन्दी में रचते भी थे। जिस प्रदेश में तानसेन की

ध्रुपद गायकी थी गायक थे उसी प्रदेश में तुलसीदास 'रामचरितमानस' लिख रहे थे यह कहकर कि 'रचि महेश निज मानस राखा' कहते हैं कि वृन्दावन जाकर अकबर ने १५९० में गोविन्ददास से गोविन्देव का मन्दिर बनवाया। इस तरह उसने चार मंदिर बनवाये। दूसरा मंदिर मदनमोहन, तीसरा गोपीनाथ का मंदिर और चौथा जुगुल किशोर का मंदिर। अबुलफ़जल ने 'आइने अकबरी' में इस समय की कलाओं का विस्तार से वर्णन किया है।

अपने परदादा अकबर से दाराशिकोह ने बहुत कुछ सीखना चाहा था। उसने हिन्दू वेदान्त का अध्ययन किया और उपनिषदों के अनुवाद। दारा के प्रशासन में विद्या का केन्द्र काशी था, वहाँ उसने अनेक विद्वानों को बुलाया और उपनिषदों के अनुवाद में उनकी सहायता ली। उसने एक सीमा के बाद सूफीमत स्वीकार कर लिया और संस्कृतियों के मिलन पर 'मजमुआ इलबाहरीन' अर्थात् दो सागरों का मिलन पुस्तक लिखी। उसका उद्देश्य दो धाराओं को मिलाकर एक करना था। ये दो धाराएँ थीं– वेदान्त धारा और सूफीयत की धारा। यह धारा हिन्दुओं-मुसलमानों को मिलाकर एक करती थी। दाराशिकोह इस्लाम-धर्म और 'हिन्दू-धर्म को मिलाने के प्रयास में था। उसने हिन्दू योगी लालदास तथा मुस्लिम फकीर सरमद से दार्शनिक विचारों का समुच्चयवाद तैयार किया था। धीरे-धीरे हवा ने पलटा खाया और सामन्तवाद जर्जर होने लगा। शाही महलों में कामदेव की सेनाएँ चल पड़ीं। अतिशय विलास का युग आ गया। शरीरवाद या देहवाद की रंगत ने 'राधिका कान्हा सुमिरन को बहानों कहकर अपना भोगवादी समाज बनाया। बिहारीलाल ने इस पूरे रीतिकाल को एक दोहे में व्यक्त कर दिया है। वह दोहा है 'तजि तीरथ हरिराधिका तन दुति कर अनुराग। जेहि व्रज केलि निकुंज मग पग-पग होत प्रयाग।' यह दोहा पूरे रीतिकाल का पाठ (टेक्स्ट) है अनन्त अर्थों से भरा हुआ। आधुनिक काल में सांस्कृतिक-सामाजिक नवजागरण तथा १८५७ ई. के मुक्ति संग्राम के बाद वैष्णवता में नया सर्जनात्मक खमीर उठा। भारतेन्दु ने 'गुलामराधारानी के' कहते हुए एक निबन्ध लिखा 'वैष्णवता और भारत वर्ष'। इस निबन्ध की मूल स्थापना यह थी कि वैष्णव चिन्तन ही हमारे चिन्तन की धुरी है और इसी चिन्तन में क्रान्ति के बीज मौजूद रहे हैं। भारतेन्दु स्वयं वैष्णव भक्त थे। उन्होंने 'कृष्ण के सखा प्यारे' बनकर अंग्रेजी राज के लूटतन्त्र और सामन्तवादी रूढ़िवाद की कड़ी आलोचना की। भारतेन्दु के सृजन कर्म का स्थायी भाव है– भारत दुर्दशा। यह भारत-दुर्दशा 'कहाँ करुणानिधि केशव सोए। जागत नाहि असीम जतन करि भारतवासी रोए।' भारत को लूटकर अंग्रेजी राज ने भिखारी बना दिया है। कला-कौशल, उद्योग-धंधों को चौपट कर दिया है— फलतः 'ढपली बाज रही भारत भिखारी की।' एक मुकरी में कहा कि

'भीतर-भीतर सबरस चूसै। हँसि-हँसि कर तन-मन-धन मूसै।' अंग्रेजी नीतियों के कारण देश में अकाल पड़े। १८ मई १८७४ की कविवचन सुधा में लिखा– 'अब तो प्रतिवर्ष कहीं न कहीं दुकाल पड़ा ही रहता है, मुख्य करके अंग्रेजी राज में इसका घर हैं।' इधर- अकाल महामारी ऊधर भारत विलायती काल की विक्री का बड़ा बाजार। 'साथ ही लगा दी लेबी प्राण ले दी। इसी परिवेश में भारतेन्दु ने लेख लिखा– 'रामायण का समय'। इसमें अवतारवाद के भारतेन्दु आग्रही हैं। भारतेन्दु ने एक महत्त्वपूर्ण निबन्ध लिखा– 'काशी'। इसमें बौद्ध-जैन-वैष्णव मन्दिरों की काशी में खोजपूर्ण चर्चा की। बालमुकुन्द गुप्त हों या श्रीधर पाठक सभी में रामकथा की अलग-अलग व्याख्या है– 'रामकथा कै मिति जग नाहीं।' लोक मानस का ध्यान रखते हुए तुलसीदास ने 'मानस' में 'सीता बनवास' तथा 'शम्बूक वध' छोड़ दिया।

बीसवीं शताब्दी में रामानन्द की रामोपासना ने बड़ी भारी उधेड़बुन का सामना किया। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने 'भारतवर्षेर इतिहास धारा' में ब्राह्मण-क्षत्रिय संघर्ष और वशिष्ठ विश्वामित्र, की कहानी इस विचार क्रान्ति को खोजने का ऐतिहासिक श्रम किया। दो प्रबल शक्तियों का विरोध सामाजिक संघर्ष की कहानी है जिसे प्रचलित रामकथा में विचार पक्ष द्वारा अनुकूलित किया गया। बंगाल के नवजागरण और महाराष्ट्र के प्रबोधन नरसी मेहता के 'वैष्णवजन तो तेने कहिए' में कई बीज-मन्त्र हैं जो वैष्णव चिन्तन से निकले हैं। प्रश्न उठता है कि रामानन्द के भक्ति चिन्तन, भक्ति काव्य का सामाजिक सांस्कृतिक विश्लेषण-मूल्यांकन आधुनिक काल में क्या सन्देश देता है। इस सन्देश को श्रीधरपाठक, हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त, निराला और नवीन जी किस रूप में सुनते और रचते हैं। 'आधुनिक साहित्य का पाठक जब परम्परा पर निगाह दौड़ाता है तो वह उसका कैसे 'पाठ' या भाष्य करता है। वह चाहता है कि समाज समय के सन्दर्भ में उसका भाष्य करे और उसके अर्थवान तत्त्वों को आगे बढ़ाने का प्रयत्न करें। 'इस तरह रचनाकार के साथ पाठक भी अर्थ की रचना या सृष्टि करता रहता है। भक्ति काव्य, भक्तिशास्त्र, भक्ति आन्दोलन, भक्ति परम्परा हमारी कालजयी सम्पत्ति है– उसका एक विवेक-वयस्क दार्शनिक वैचारिक आधार है, जिसने हमारे आदिम मानस की संवेदन शक्ति में स्थान पाया है। हमारा पूरा चिन्तन 'रामायण' 'महाभारत' का है– वह चिन्तन रस हम तक टकराते-जूझते चला आता है और हमारे कवि-पाठक दोनों उससे नए साक्षात्कार की माँग करते हैं। भक्ति काव्य विशेषकर वैष्णव रामानन्दी चिन्तन अपनी प्रासंगिकता सिद्ध कर चुका है। अतः बार-बार यह प्रश्न उठाने की जरूरत नहीं है कि आज उसकी प्रासंगिकता क्या है? मैथिलीशरण गुप्त में उसकी प्रासंगिकता क्या है? देखिए न गुप्तजी के बाद हमारी कथा में रामकथा का अनेक रूपों

में विस्तार हुआ है। कारण यह पूरी कथा एक व्यापक सांस्कृतिक वैचारिक आन्दोलन की उपज है जिसे हम भक्तिकालीन भारतीय सांस्कृतिक नवजागरण का नाम देते हैं।

रामानन्दी भक्तिकाल के सर्जनात्मक स्वर को नए रूप में रचना हमारे कवियों की विशेषकर मैथिलीशरण गुप्त की आन्तरिक प्रेरणा है। यह प्रेरणा रचना की उर्वर भूमि है– इसी प्रेरणा ने समय विशेष में भक्ति कवियों ने रचनाशीलता को सम्भव बनाया। सर्जनात्मकता का सर्वोत्तम हमारी सांस्कृतिक चेतना से सम्पन्न है– यह चेतना नए मानक मूल्यों को आत्मसात करती हुई आगे बढ़ती है। भक्तिकाल की प्रतिभाएँ राजाश्रय को नकार कर चुनौती देती हैं। यह काव्य-चिन्तन मानव-मुक्ति का स्वप्न देखता है। भक्ति काव्य की लोक-भावना, लोक-मंगल दृष्टि भक्ति के समाज शास्त्र से जुड़ी है। भक्तिकाव्य का उद्देश्य केवल अवतारवाद, लीला-गायन, प्रार्थना भाव, प्रपत्तिवाद का प्रतिपादन नहीं है उसमें आत्म साक्षात्कार से समर्पण का, अहं के विलयन का भाव है। तुलसी का कलिकाल वर्णन समय का यथार्थ है। मध्यकाल का भयावह यथार्थ। विकास की लम्बी यात्रा में वैष्णव भावना ने यमुनाचार्य-रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, विष्णुस्वामी, बल्लभाचार्य, चैतन्य महाप्रभु सभी को आधुनिक काल की परम्परा में फड़कता पाया है। परम्परा ने ही विष्णु नारायणी वासुदेव के मिलन से विष्णु की व्याख्या का नया पाठ-विमर्श प्रस्तुत किया है। इस पाठ के निर्माण में हमारी आगम-निगम, पुराण-तन्त्र की परम्पराओं का दूर तक हाथ है। गीता की मूल्य चिन्ता, भागवत का प्रेम-भक्ति भाव पूरी परम्परा का एक बड़ा अर्थ है। इन सभी ने लोक-संस्कृति एवं लोक भाषाओं को उत्कर्ष प्रदान किया। इस तरह लोक काव्य,भारतीय जनता का तीसरा महाकाव्य है। इन वाचिक परम्पराओं को मैथिलीशरण गुप्त पुनः रचना कर्म में रचना करते हैं। रामानन्द का शिष्य मंडल साक्षी है कि रामानन्द की सोच बहुत व्यापक थी जिसमें सभी जातियों, धर्मों, भाषा-भाषियों को जगह थी। कबीर की विद्रोही चेतना और तुलसी का लोक धर्म दीनों का सामाजिक आधार रामानन्द की देन है। यह रामानन्द ही हैं जिन्होंने कुलीनतावाद, वर्चस्ववाद को नकार कर एक नया चिन्तन क्षेत्र प्रदान किया है। वर्ण, जाति, सम्प्रदाय, वर्ग की अस्वीकृति वैष्णव भावना की प्रासंगिकता है। यही आधुनिक युग में मानवतावादी अवधारणा है।

वैष्णव भावना में उच्चतर मानव मूल्यों का आग्रह, वर्ण-व्यवस्था, कर्मकाण्डवाद, कुलीनतावाद का निषेध है। नरसी मेहता की 'पीर पराई जाणे रे' की ध्वनि तथा रवीन्द्रनाथ का 'मानुषेर धर्म' तुलसी के 'सुरसरि सम सब कह हित होई' का ही भाष्य मात्र है। गीता का कर्मयोग दर्शन हमारे राष्ट्रीय स्वतन्त्रता-आन्दोलन का मूलाधार बना। अरविन्द, तिलक, गांधी 'गीता' पर मंथन में लगे रहे। मैथिलीशरण गुप्त

ने रामानन्द और तुलसीदास की परम्परा को राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन में सर्वाधिक महत्व दिया। गुप्तजी की समग्र सृजन यात्रा में रामानन्द की रामोपासना का एकछत्र राज्य है। उनकी प्रथम रचना कृति 'रंग में भंग (१९०९) में चित्तौड़ और बूँदी के राजघरानों से सम्बन्ध रखने वाली आन की एक कथा को लेकर हैं। सात सर्गों के इस प्रबन्ध काव्य का पहला छन्द है–

**लोक शिक्षा के लिए अवतार जिसने था लिया,**
**निर्विकार निरीह होकर नर-सदृश कौतुक किया।**
**राम नाम ललाम जिसका सर्व मंगल धाम हैं**
**प्रथम उस सर्वेश को श्रद्धा समेत प्रणाम है।।**

इस मंगलाचरण में अवतारवाद, लीलावाद और लोक मंगल तीनों का तुलसी पाक है। साथ हीं नर की नारायण लीला का इसलोक में विस्तार हुआ। कवि परलोक की चिन्ता नहीं कर रहा। 'गीता का कर्म-सौन्दर्य-दर्शन इसमें अन्तर्व्याप्ति है। राजपूतों की इस कीर्ति धवलित कथा में एक जाति का चरित्र है– महिमागान है।

गुरुजी की दूसरी प्रबन्ध रचना 'जयद्रथ बध' (१९१०) 'महाभारत' के एक प्रकरण पर केन्द्रित है। प्रथम सर्ग का आरम्भ देखिए–

**वाचक प्रथम सर्वत्र ही 'जयजानकीजीवन कहो,**
**फिर पूर्वजों के चरित की शिक्षातरंगों में बहो।**
**दुख शोक जब जो आ पड़े सो धैर्यपूर्वक सब सहो**
**होगी सफलता क्यों नहीं कर्तव्यपथ पर दृढ़ रहो।**

महान काव्य और कलाओं के मर्मज्ञ राष्ट्र निर्माता रायकृष्णा दास का विचार था कि गुप्त जी कर्त्तव्य के कवि हैं। जयजानकी जीवन श्रीराम हमारी संस्कृति के भाव नायक हैं और हमें अपनी परम्परा के गौरव भरे समय का ध्यान रखना चाहिए। क्योंकि हमारी परम्परा ही जातीय-स्मृति है। इसे विस्मृति से बचाना है। यह बात स्वामी रामानन्द ने 'आनन्द भाष्य' की व्याख्या में कही है। उस विचार को हृदय में धारण करते हुए गुप्तजी नवजागरण का प्रकाश फैला रहे हैं। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी जी द्वारा सम्पादित 'सरस्वती' पत्रिका में 'पद्य-प्रबन्ध' प्रकाशित हुए हैं। यहाँ फिर गुरुजी को तुलसीदास याद आये। इस उक्ति के साथ 'निज कवित्त केहिलाग न नीका'। पद्य प्रबन्ध 'श्रीराघवेन्द्रास्तन' से ही श्रीगणेशाय नमः करता मिलता है।

**सिंहासनस्थित प्रिया-सुत सौरभकारी,**
**सौदामिनी सहित नीरद-कान्तिहारी।**

त्रैलोक्य नाथ सुर पूजित पाद पद्म,
श्री राघवेन्द्र भज रे मन छोड़ छद्म
सृष्टि स्थिति प्रलय कारिणी आदि माया
हैं वामभाग जिनके जनकात्मजाया।
वे रामचन्द्र भगवान दयानिधान
देवे हमें नितकृपा कर दिव्य ज्ञान।।

गुप्तजी भक्त कवि हैं और उनकी भक्तवत्सलता का उज्ज्वलप्रकाश त्रैताप नाश करने की प्रार्थना से भरा है। राम यहाँ 'प्रभु' हैं इसलिए प्रभुता उनके आगे-पीछे दौड़ती रहती है। प्रभुता-सम्पन्न राम भक्तों की मनोकामना पूर्ण करने वाले हैं। राम ही ऋगवेद, अर्थवेद, यजुर्वेद तथा सामवेद हैं। करुणाधाम राम भक्तों के लिए पतित पावन विश्वनाथ हैं। लोकेश, केशव, महेश, सुरेश सब यही अनादि अनंत प्रभु हैं। कवि सीता समेत उन राघव को प्रणाम करता है। यह प्रार्थना का प्रपत्तिवाद रामानन्द की ही कृपा से आया है। 'श्रीरामनवमी' (वनवास) कविता ही उसमें कवि लोक नाटक के सूत्रधार को लोक रंजन, लोक रक्षण, अबला अहल्यातारक, दानव कुल संहारक रूप में याद करता है। 'मुनि का मोह' नारद पर केन्द्रित रोकता है जिसमें 'मुनिशाम फिर हरि ने हर भूभार उठाया है।' कृष्ण की 'गोवर्धन धारणा' कथा में इन्द्र के गर्व को चूर करते हुए धरती के देवता की महिमा का स्तवन है। धरती का देवता स्वर्ग के देवता से ज्यादा शक्तिशाली हैं। कवि बार-बार 'मातृभूमि' की वन्दना करता है– 'हे मातृभूमि तू सत्य ही सगुण मूर्ति सर्वेश की'। यहाँ 'सीय राम मय सब जगजानी' का गुप्त जी ने नया पाठ प्रस्तुत किया है। गुप्त जी 'प्राचीन भारत' कविता में ऋषि तथा मुनि मंगल धाम, श्रुति पुराण-सुधा का ध्यान कराते हैं।

यहाँ एक कविता का शीर्षक है– 'कुकवि कीर्तन'। यह पूरी कविता गुप्त जी की कवि मानसिकता का समग्र प्रतीक का है और रीतिवाद विरोधी अभियान का शंखनाद। कुकवि नायक नायिका भेंट में गई हैं उन्हें धिक्कारना चाहिए। कुकवि दरबारी काव्य परम्परा की लीक लिए मिथ्या स्तुति करते हैं– अलंकार शास्त्र के चमत्कारवाद से कविता का नाश करते हैं– उझोभिड़ाते हैं कविराज समझते हैं। 'जाने कितने न छल नहीं आप को आते। कविराज आपके चरित्र न जाने जाते।' गुप्तजी का विचार है कि कुकवि रति-पति का राग आलाप रहे हैं– वे ही युवकों की मति भ्रष्ट कर रहे हैं, समाज का बेड़ा गर्क करने में आगे हैं–

कविता द्वारा वे बीज आप बोते हैं
फल जिनके विष से अधिक विषम होते हैं।

**प्रिय चन्द्रवदन की चटक नहीं हो जिसमें**
**नागिन सी लट की लटक नहीं हो जिसमें।**
**भ्रू और दृगों की मटक नहीं हो जिसमें**
**मन्मथ महीय का कटक नहीं हो जिसमें**
**उसको कविता ही नहीं आप बतलाते**
**कविराज! आपके चरित न जाने जाते।।**

कुकवि कविराज कल्पना प्रतिभा का नाश करने में डटे हैं। इस कुकविवाद के गुप्तजी घोर विरोधी हैं। वे सन्त-भक्त भाव से समाज को सुधारना-माँजना चाहते हैं- संस्कारित करना चाहते हैं– यही गुप्तजी की भारतीयता है– भारतीय आधुनिकता है। 'नागरी और हिन्दी' की सेवा वे अपना कर्त्तव्य समझते हैं क्योंकि हिन्दी नवजागरण और स्वाधीनता संग्राम की भाषा है। 'हिन्दी की वर्त्तमान दशा' कविता कोरा विलाप नहीं है स्थिति से साक्षात्कार है। 'स्वभाषा' तथा 'स्वराज' की मूल ध्वनि ही कविता बन गई है। कवि वर्षा, ग्रीष्म, तमाम ऋतुओं पर कविता लिखकर देश प्रेम की प्रगाढ़ता व्यक्त करता है और 'मक्खीचूस' लोगों को धिक्कारता है। क्योंकि मक्खीचूस 'निन्नानवे के फेर' में पड़े हैं। न्यायादर्शक कहता है– जियो और जीने दो। आद्याशास्त्री के पिंजर बद्ध थूक के आधार भावानुवाद में अपनी कविता को लगाता है– क्योंकि वह परतन्त्रता से अंग्रेजी साम्राज्यवाद से मुक्त होने का आकांक्षी है। कभी कवि वाल्मीकि को कभी व्यास के समय को कभी कालिदास के समय को फिर ब्रिटिश राज्य को देखता है। उसकी कविता का काम है– 'है जिस कविता का काम लोक हित करना। सद्भावों से मन मनुज मात्र का 'भटकना' उस क्षेत्र को कुकवि व्यभिचार प्रयोग में डूबा यह राष्ट्र प्रेमी कवि को बर्दाश्त नहीं है। 'पद्य-प्रबन्धी में गुप्तजी को पूरा कवि-कर्म मातृभूमि की सेवा-पूजा में समर्पित है।

'भारत-भारती' (१९१२) आधुनिक युग की गीता है– भारत के गौरव की है–

**जयजय स्वर्गागार सम भारत कारागार।**
**पुरुष पुरातन का जहाँ हुआ नया अवतार।।**

यह कृति मौलाना अली के 'मुसद्दस' का अनुवाद है न नकल। उसी तरह की प्रेरणा का परिणाम है। कवि गीतों के वचनों पर ध्यान केन्द्रित किए हैं कि अपने 'अभ्युत्थानधर्मस्य' भारत में अपने को ब्रह्म लीला रूप में सृजित करता है। कवि ने आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, 'रायकृष्णदास, पंडित पद्मसिंह शर्मा, ठाकुर तिलक सिंह जी के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने के साथ कहा कि 'होली और कैफी के मुसहसों से भी मैंने लाभ उठाया है, इसलिए उनके प्रति भी मैं हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

'जिसने हमारी मदद की हो, उसके प्रति हृदय से कृतज्ञ होना हमारी परम्परा है। कवि ने 'भारत-भारती' के मंगलाचरण में कहा है–

**मानस भवन में आर्य्यजन जिसकी उतारें आरती**
**भगवान भारतवर्ष में गूँजे हमारी भारती।**
**हो भद्रभावोदभाविनी वह भारती हे भगवते।**
**सीतापते! सीतापते! गीतामते! गीतामते ।।२।।**

'भारत-भारती' से ही मैथिलीशरण गुप्त 'राष्ट्रकवि' कहलाये। यह कृति स्वदेश प्रेमी नवयुवकों को बहुत प्रिय हुई। लोकप्रियता का आलम यह रहा कि सभाओं, गोष्ठियों, प्रभात फेरियों, स्कूल कालेज की शिक्षा संस्थाओं में इस कृति की धूम रही। आचार्य महारीर प्रसाद द्विवेदी ने कहा कि यह काव्य हिन्दी में युगान्तर उत्पन्न करने वाला है। १९१२ में प्रकाशित इस कृति में 'हम कौन थे क्या हो गए हैं और क्या होंगे' की प्रश्नानुकुल समस्याओं का संकेत था। इस कृति में वह सब कुछ था जिसे स्वाधीनता आन्दोलन का वह नवजागरण युग चाह रहा था। हमारी पूरी परम्परा संस्कृति का अन्त: साक्षात्कार था। यह साक्षात्कार पूरी परम्परा से निचुड़ निथुरकर आया और सगुण भक्तिवाद तो अमृत था। विनीत विनम्र देशभक्त, रामभक्त कवि का अद्भुत अपूर्व साहस था। इसलिए 'भारत भारती' एक स्मृति रही है।

राष्ट्र कवि गुप्तजी पचास वर्ष से अधिक समय तक कैसे बिना परम्परा से नाता तोड़े, नए चिन्तन की आत्मसात करते हुए युवतर पीढ़ी के लिए चुनौती बने रहे। यह नए लेखक के लिए समझने की बात है। कवि कथाकार चिन्तक अज्ञेय के गुप्तजी काव्य गुरु रहे। अज्ञेय जी ने 'स्मृति लेखा में कहा है कि परम्परा को तोड़े बिना कैसे आधुनिक हुआ जा सकता है इसका उदाहरण 'हिन्दू' से लेकर 'यशोधरा' तक की उनकी काव्य यात्रा प्रत्यक्ष दिखाती है। बल्कि यह भी दिखाती है कि परम्परा को तोड़े बिना कैसे उसे आहत करते हुए उससे युक्त हुआ जा सकता है। गुरुजी को मैंने प्रसन्न आधुनिक इसीलिए कहा था।' वे सांस्कृतिक राष्ट्रीयतावादी और मानवतावादी कवि वैष्णव राम भक्त कवि हैं। वे रामानन्द तुलसीदास की जाति के कवि होकर भी उनसे थोड़े भिन्न हैं। क्योंकि 'पत्रावली' में कहते हैं–

**मैं अतीत अब मुक्त हुआ हूँ**
**वर्तमान। इति युक्त हुआ हूँ।**
× × ×
**लंका में प्रिय वार्ता सुनके आंजनेय से।**
**तुष्ट सीता रक्खें प्रेय के साथ श्रेय से।**

अशोक वाटिका में हनुमान सीता संवाद सुन्दरकाण्ड का भक्ति कुंड है। यहाँ स्वाधीनता की चाह है और पापी के अन्त की प्रतीक्षा। यह चाह राणाप्रताप में अकबर की अधीनता से मुक्ति में है। हनुमान 'अर्चनाराम की मूर्ति मान अक्षय शरीर है। गुप्तजी और निरालाजी के हनुमान-भाव में रामानन्द के हनुमान का दिव्य तेज है।

'वैतालिक' का आरम्भ आरती पूजा अर्चना से होता है। रामभक्ति परम्परा का यह परम पावन अर्थ प्रकाश है–

**श्री रवि-कुल मणि रघुनायक**
**तुमको रहें दीप्ति दायक।**
**श्री सीता धनधान्य भरें**
**उर्वर कर्म क्षेत्र करें।।**
**नयी पौ फटी, रात कटी।**
**तम की अन्तर पटी हटी।।**

पराधीनता की आधीरात ढल चुकी है– पौ फटने वाली है– प्राची में उषा (सीता) के दर्शन होंगे। देश-भक्त साधकों जगो राष्ट्र सेवा करो।

गुप्तजी की अचानक 'किसान' शीर्षक से कृति आती है। यह कहते हुए रामानन्द भाव से कि दक्षिण भारत उत्तर भारत दोनों एक हैं, एक है पूरा देश अखण्ड भारत–

**भारतीय मेरे बान्धव हैं घर है मेरा सारा देश;**
**बस यह मेरा आत्मचरित ही है मेरा अन्तिम सन्देश।**

यहाँ कवि प्रार्थना करता है–

**यद्यपि हम हैं सिद्ध न सुकृती, व्रती न योगी,**
**पर किस अघ से हुए हाय! ऐसे दुख-भोगी?**
**क्यों हैं हम यों विवश, अकिंचन, दुर्बल, रोगी?**
**दयाधाम हे राम! दया क्या इधर न होगी? ।।**

राम से विनय किया कि तुमने अवतार लेकर असुरों को मारा है– अब निष्ठुर नरों को दण्ड क्यों नहीं देते हो? हम इतने गरीब हो गए हैं कि 'विष खाने के लिए टका भी पास नहीं है? नरक में जी रहे हैं। खेती करके भी अन्न के अभाव में भूखों मर रहे हैं। पूरी कृति में कृषकों की व्यथा-कथा है। किसान हमारे फिजी में गए और वहाँ भी त्रास पाया।

कवि ने 'पंचवटी' में राम-कथा के प्रकरण को लिया। 'पूर्वाभ्यास' में कवि ने प्रश्नोकुल भाव से सीता से कहलवाया है कि मेरे पति को वनवास मिला है– पूज्य

पिता के सहज सत्य पर। किन्तु लक्षण तुम किसकी आज्ञा से त्यागी बनकर घर से मुँह मोड़ चले हो। 'संवाद'मयी कथा है जिसमें भाई-भाई का प्रेम एक आदर्श है। तभी तो राम की आँखों में आँसू भर आये हैं। सुरत्व की जननी है– मनुष्यता। मूलतः यह प्रकरण लक्ष्मण सूर्पनखा संवाद है। कामान्ध नारी को दण्ड की कथा है। गुप्तजी 'हिन्दू' में बौद्धों की क्षमा की बात करते हैं और 'महाभारत' गीता में उनका मन भ्रमण कर रहा है– हिंसा, अहिंसा में द्वन्द्व छिड़ा है– 'अहिंसा परमोधर्मः' पर कवि इस हिंसक विश्व में चिन्तन कर रहा है। 'श्रीमद् भगवद्गीता की अर्थच्छायाएँ बोल उठीं– नए कवित्व के साथ–

**मुनि सत्य साँचे में ढली**
**कवि कल्पना जिसमें बढ़ी**
**फूले फले साहित्य की वह वाटिका।**

'हिन्दी' में 'विस्मृति' से नवजागरण की ओर कवि का भाव स्वभाव है।

**श्रीरामकृष्ण के भक्त**
**रह सकते हैं कभी अशक्त?**
**दुर्बल हो तुम क्यों हे तात**
**उठो, हिन्दुओं हुआ प्रभात**
**हे हिन्दू तुम क्यों हो दीन**
**क्यों हो दलित दुखी अतिदीन**
**क्यों तुम हो यों आज हताश**
**क्यों यह पराधीनता पाश?**
**होकर ऋषियों की सन्तान**
**सहते हो तुम क्यों अपमान।**

जिस समय गुप्त जी 'हिन्दू' जैसी कृति लिख रहे थे उस समय तक सेकुलरवाद या धर्मनिरपेक्षवाद की सर्वनाशी राजनीति नहीं थी। यदि थी भी तो उसने जोर नहीं पकड़ा था। आज जातिवादी अपने को धर्मनिरपेक्षवादी कहकर इतराता है। ध्यान रहे हिंदू साम्प्रदायिक रचना नहीं है जैसा कि बहुत से मार्क्सवादी उसे सिद्ध करते रहे हैं। शिव-पार्वती, सीता-राम,राधा-कृष्ण, गणेश-हनुमान का नाम आ जाने से कोई रचना साम्प्रदायिक नहीं हो जाती। हमारी तो पूरी परम्परा ही पार्वती है, राधा है, सीता है, हनुमान है, कार्तिकेय है। गणेश है। हमारा बहुदेववाद, वहुसांस्कृतिवाद, वहु भाषावाद हमारी जातीय अस्मिता की पहचान है।

**छोड़ो ऊँच नीच का दम्भ**

**सम है हम सबका आरम्भ।**

यह रामानुजाचार्य–रामानन्द की परम्परा के भीतर से आवाज है। 'हिन्दू' का कवि 'जाति बहिष्कार', 'अछूत-उद्धार, 'कृषि सुधार', 'स्वावलम्ब' 'आत्मरक्षा,' 'साधुसुधार', 'उच्चकुलों का अन्त' 'मायावाद' 'लीक' 'रूढ़ि' 'शास्त्र' 'उपचार' 'प्रगति' 'आत्म-गौरव' तथा 'अपनी संस्कृति' शीर्षकों से भारत के सांस्कृतिक, सामाजिक नवजागरण को नया अर्थ सन्दर्भ देता है। 'अंगरेजों के प्रति' शीर्षक कविता में गुप्तजी कहते हैं कि अब हमें ज्यादा सभ्य मत बनाओ। यहाँ से बोरी, बिस्तर बाँधकर चले जाओ। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई-पारसी सभी इस देश में प्रेम से रहे। अन्त में 'परिशिष्ट' है जिसमें सिद्धि गणेश, 'रामकृष्ण की जय' 'हर हर महादेव' 'भगवती भवानी' 'महावीर की जय' 'हिन्दुस्तान' और 'हरिः ओम' शीर्षक कविताएँ हैं। कविताएँ क्या हैं परम्परा संस्कृति' की जीवन्त स्मृति है–

**हुए यहीं अवतार हमारे**
**हुए यहीं आचार्य,**
**यही हमारी धर्मभूमि है**
**भवविस्तारित कर्मभूमि है**
**हम सब हैं अविभक्त**
**भरा है हम सब में ऋषि रक्त।**

'स्वदेश संगीत' जैसी रचनाओं से भरी पूरी कृति 'हिन्दू' भाव परम्परा का ही विस्तार है। 'स्वदेश संगीत' का निवेदन है–

**राम तुम्हे यह देश न भूले**
**धाम-धरा-धन जाप भले ही।**
**यह अपना उद्देश्य न भूले**
**निज भाषा, निज भाव न भूले।**
**निज भूषा, निज वेश न भूले**
**प्रभो, तुम्हें भी सिन्धुपार से**
**सीता का सन्देश न भूले।**

रामकथा गुप्तजी के चित्र-चित्रकूट में निरन्तर उमड़ती घुमड़ती रहती हैं। 'विनय' यही है 'प्रार्थना' यही है उषा भाव यही है–

**रामरूप का शील सत्व दो,**
**सेतुबन्ध रचना महत्त्व दो,**
**श्याम-रूप का रास-तत्त्व दो।**

'आरोग्य-याचना' में हरि ही हरि हैं। 'आह्वान' में भक्ति भाव का महारस वैष्णव लोक हैं। 'भारतवर्ष' में 'धन्य हिमालय का उत्कर्ष' में भारतीय जीवन की कालिदासीय लय है– यही है 'मेरा देश' यही है मातृभूमि पूजा–

**नीलाम्बर परिधान हरितपट पर सुन्दर है**
**सूर्य्य चन्द्र युगमुकुट मेखला रत्नाकर हैं;**
**नदियाँ प्रेम प्रवाह, फूल तारे मण्डन हैं**
**वन्दीगन खगवृन्द, शेषफन सिंहासन हैं**
**करते अभिषेक पयोद हैं बलिहारी इस वेष की**
**हे मातृभूमि! तू सत्य ही सगुण मूर्ति सर्वेश की।।**

यह मातृभूमि प्रेम परिचय का राष्ट्रवाद नहीं है– देश भक्ति है– देश प्रेम हैं देश की पूजा आरती है– धरती माता रूपी दुर्गा-पार्वती-सीता की स्मृति है। यह भारत माता पर्वमयी है– एक पर्व में सौ-सौ पूर्वस्मृतियाँ हैं, दीवाली, होली, दशहरा की। इसमें अपनी भाषा का प्यार है। भाषा ही परम्परा है, इतिहास है स्मृति है, संस्कृति है गुप्तजी कई अर्थों में तुलसीदास, भारतेन्दु के वंशधर कवि हैं। यहाँ गांधी का तप और सत्याग्रह है– अफरीका प्रवासी भारतवासी है– स्वराज्य की अभिलाषा है, गांधी गीत है– ओ बार डोली है– जय बोल गांधी जी का मन्त्र है– असहयोग आन्दोलन की विराट् नाटकीयता है– सफलता है। 'जय भारत भूमि भवानी की आरती है– भारत का झंडा है– मुक्ति पर प्रतीक झंडा स्वाधीनता मूल्य का अर्थ देता राग। 'सैरन्ध्री' कृति में पाठक पाते हैं– पुनः वह गीत

**सुफलदायनी रहें राम कर्षक की सीता-**
**आर्य्यजनों की सुरुचि सभ्यता सिद्धि पुनीता**
**फली धर्म कृषि, जुती भूमि भूलंका जिन से**
**वही एक है मिटे स्वजीवन शंका जिनसे।**
**वे आप अहिंसा रूपिणी परम पुण्य की पूर्ति सी।**
**अंकित हो अन्तः क्षेत्र में मर्यादा की मूर्ति सी।**

सीता भारतीय जीवन की मर्यादा का नाम है और कृषि की हरीतिमा है हलकी-नोक से उपजी अन्न प्राण-ज्योति जीवन। सीता तप में पवित्र द्रौपदी की दासी रूप की कथा है– 'महाभारत' का यह बेहद कसकता अनुभव है। अधमाधम कीचक के पाप का वध हैं। इसके आगे 'वकसंहार' में प्रार्थना है कि शबरी के चखे बेर खाने वाले राम 'वे राम रक्षक हों धनुर्धारण किए।' 'शक्ति' शीर्षक कृति में फिट प्रार्थना है–

**भावुक' भव भय छोड़ दो, सीता भजो सभक्ति।**
**यातु वंश विध्वंसिनी के पातु सौम्य शुभ शक्ति।**

मंगलाचरण में शक्ति से प्रार्थना है कि दुष्ट दैत्यगण दारुण अत्याचार कर रहे हैं हम ब्रिटिश साम्राज्यवाद के आगे हम विवश लाचार हैं– रक्षा करो।

गुप्तजी की कृति 'वन-वैभव' का 'पूर्वार्द्ध' ऐसा मंगलाचरण हैं– जिसकी रामकथा में अर्थों की दीपमालाएँ जल रही हैं–

**अतुल यह अपना हे अगार, जलाकर कर देने को छार.**
**जानकी रूपी आग अपार। चुराने का करके कुविचार**
**चल जो रावण निपट निषिद्ध, मंगलाकरे वह सिद्ध?**

यहाँ पाण्डवों की वन-वैभव कथा हैं। दुर्योधन की घातक चाल है, शकुनि का उत्पात स्मरण है।

'गुरुकुल' कृति में सिख-गुरुओं का पुण्य-स्मरण है और स्मरण में निहित है उनकी बलिदान कथा। धर्म से मनुष्यता का स्तवन वन्दन है। 'गुरुकुल' का मंगलाचरण याद रखने योग्य है उन लोगों के लिए जो परम्परा का अर्थ समझना चाहते हैं कि परम्परा क्रम है कुल-शील है तारतम्यता है– बन्धन हीन मुक्ति है और महापुरुषों की भाव कथा का रिक्थ है परम्परा पोटली नहीं है कि उठाकर सिर पर रख लें और चल पड़े। परम्परा को श्रम से कमाना पड़ता है। उसमें संग्रह त्याग होता है। द्वन्द्वात्मकता होती है कभी कभार विपरीत दिशा में परिवर्तन भी।

**जय कबी्र-नानक-दादू का,**
**बापू का वाणी विश्राम**
**नव नव रूप पुराण पुरुष उन**
**लीलाधाम राम का नाम।**

पूरा-भक्ति आन्दोलन यहाँ नया पाठ बन जाता है जिसकी 'क्लोज रीडिंग? या पढ़त से नई अर्थ मीमांसा की निष्पत्ति होती है। इस सन्त पाठ को चित्त समाधि लगाकर पढ़ने समझने की जरूरत है अमृतवचन अमृतबानी। गुरुनानक, गुरु अंगद, गुरु अमरदास, गुरुरामदास, गुरु हरगोविन्द, गुरु हरराय, गुरु हरिकृष्ण, गुरु तेग बहादुर, गुरु गोविन्द सिंह, बन्दा वैरागी सभी का स्मरण है। यह हमारी भारतीय परम्परा है जिसके अनेक रूप हैं। जिसमें विभिन्नता का सौन्दर्य है और 'आत्म' का विस्तार। इस कृति के 'परिशिष्ट' में 'परम्परा' शीर्षक से कविता है–

**एक रूप में सिक्खों की गुरु परम्परा है अब भी शेष।**
**रखती है अति दृढ़ता पूर्वक जो निज भाव तथानिज वेश।।**

गुप्त जी को कभी 'कूका विद्रोह' की याद आती हैं कभी रामदेव सिंह की भैणी साहब में प्रतीक्षा की। हमारी परम्परा का रंग तरंगायन ही भारतीय सभ्यता संस्कृति की निधि रही है।

उनकी कृति 'विकटभट' ऐसी कृति है जिसमें जोधपुर के राजा विजय सिंह की शौर्य गाथा है। लेकिन मंगलाचरण नहीं है– सीधे मुक्त छन्द में कथा है। 'झंकार' में स्वर न ताल केवल झंकार। किसी शून्य में करे विहार।' राम की प्रार्थना है–

**निर्बल का बलराम है**
**हृदय! भय का क्या काम है**
**राम वही कि पतित-पावन जो परम दया का धाम है**
**इस सागर के उद्धारक तारक जिसका नाम है।**

पूरी प्रार्थना भक्त हृदय की झंकार नहीं तो क्या है? गीतों में विराट् पुरुष की लीला का गान है। विराट्-वीणा का रहस्य भरा स्वर है और अर्थ का अर्थ करना चुनौती। रमा है सबमें राम जो एक से अनेक और अनेक से एक हुआ है। एक गीत है– लोक ध्वनि में 'नटनागर आज कहाँ अटके'। 'बाँसुरी बज रही है।

सहसा हम पाते हैं कि गुप्तजी की प्रसिद्ध कृति 'साकेत' के हम सामने खड़े हैं–

**राम तुम्हारा वृत्त स्वयं ही काव्य है**
**कोई कवि बन जाय सहज सम्भाव्य है।**

'समर्पण' में वैष्णव पिता की स्मृति का प्रकाश है– पिता से सुने छन्दों की गूँज हैं–

**हम चाकर रघुवीर के पढ़ौ लिखौ दरबार**
**तुलसी अब का होहिगें नरके मनसबदार?**
**तुलसी अपने राम को रीझ भजो कैखीझ**
**उलटो-सूधो उगि है खेत पटे कौ बीज।**

पिता ने पुत्र को राम के बीज संस्कार दिए। श्रद्धा-भक्ति का अर्थ ग्रहण कराया। उसी पिता को अर्पण है– 'निज कवि धन साकेत'। जीवन भर की कमाई है। और यहाँ 'गीता' के वचन 'परित्राणाय साधूनां' की व्यंजना का लोक है। इसी के साथ 'रामचरितमानस' का भाव प्रवाह कह रहा है– 'हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता। कहहिं, सुनहिं, समुझहिं श्रुतिसन्ता।' 'रामचरित जो सुनत अघाही। रस विशेष जानातिन नाहीं।' रस-विशेष क्या है? भक्ति रस। भक्ति रस का आस्वाद फल ही उज्ज्वल नीलमणि है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की प्रेरणा से 'साकेत' रचा गया–

**कहते तुलसीदास भी कैसे मानस नाद**
**महावीर का यदि उन्हें मिलता नहीं प्रसाद।**

मानसकार जिन पात्रों को भूल गया गुप्त जी उनको इस काव्य में स्मरण किया। रवीन्द्रनाथ के लेख 'काव्येर उपेक्षिता नारी' ने आँखें खोल दीं। रायकृष्ण दास और मुंशी अजमेरी, सियारामशरण गुप्त और वाहर्स्पत्य महराज ने बीज को सींचा-बढ़ाया। उर्मिला के विरह वर्णन में कैकेयी अनुताप की विचारधारा ने कवि को बंधन मुक्त रखा। एक भक्त का पूछने लगा–

**राम, तुम मानव हो ? ईश्वर नहीं हो क्या?**
**विश्व में रमे हुए नहीं सभी कहीं हो क्या?**
**तब मैं निरीश्वर हूँ ईश्वर क्षमा करें,**
**तुम न रमो तो मन तुम रमा करे।**

मैं मानता हूँ कि उपेक्षिता नारियों के उद्धार में गुप्तजी ने जिस उत्साह से कवि लेखनी उठाई है उसके पीछे स्वामी रामानन्द की प्रेरणा है। रामानुजाचार्य और रामानन्द ने स्त्रियों के लिए भक्ति मार्ग खोलकर क्रान्तिकारी कदम उठाया। प्रायः हम लोग सन्त परम्परा के इस पक्ष को भूल जाते हैं। वाणी के देवता गणेश का 'मंगलाचरण' पूरे भारतीय संस्कृति के जप-तप यज्ञ-आचार, लीला की हृदय संवाद कीर्ति है–

**''जपति कुमार अभियोग गिरा गौरी प्रति**
**स-गण गिरीश जिसे सुन मुसकाते हैं–**
**देखो अम्बा ये हेरम्ब मानस के तीर**
**तुन्दिल शरीर एक ऊधम मचाते हैं।**
**गोद भरे मोदक धरे हैं, सविनोद उन्हें**
**सूँड़ से उठाके मुझे देने को दिखाते हैं**
**देते नहीं, कन्दुक सा ऊपर उछालते हैं**
**ऊपर ही झेलकर खेलकर खाते हैं।''**

पार्वती से गणेश की शिकायत का यह खेल रस क्या कहता है? 'साकेत' के प्रथम सर्ग में 'अपि दयामयि देवि' सुख दे, शारदे?– माँ सरस्वती का वन्दना है। ततस्तत:

**किसलिए यह खेल प्रभु ने है किया?**
**मनुज बनकर मानवी का पय पिया?**
**हो गया निर्गुण सगुण साकार है**
**ले लिया अखिलेश ने अवतार है।**

**भक्त वत्सलता इसी का नाम है,**
**और यह लोकेश लीला धाम है।**

यह धरती धन्य है जिस पर ब्रह्म अवतार लेकर मानव लीला करता है और नर को नारायण का बोध कराता है। यह धरती स्वर्ग से महान महीयसी है। 'धन्य भगवद् भूमि भारत वर्ष है। गुप्त जी की भारतीयता में आधुनिकता है और आधुनिकता में भारतीयता। अंग्रेजी साम्राज्यवाद के दिनों में गुप्तजी को राम-राज्य की प्रतीक्षा है– वसन्त के आने का अहसास 'पर निकट रामराज वसन्त है। पापियों का जान लो अब अन्त है।' देश पापियों से स्वतन्त्र होगा। कवि का यह विश्वास ही साकेत है।

गुप्तजी का ध्यान बौद्ध युग पर गया और 'यशोधरा' १९३२ में सृजन हुआ। भूमिका रूप में 'शुल्क' सियाराम शरणगुप्त को अदा किया है। गौतम गोपा कथा का अन्तःसूत्र खोलकर 'मंगलाचरण' लिखा है। यह मंगलाचरण भक्त कवि की पूरी मानसिकता का बिंब है। इसमें साफ कहा है कि मुझे न मोक्ष चाहिए न निर्वाण। भक्ति का वैष्णव रस-रामरस चाहिए–

**राम तुम्हारे इसी धाम में नाम रूप गुण लीला लाभ**
**इसी देश में हमें जन्म दो, लो प्रणाम हे नीरज नाभ।**
**धन्य हमारा भूमि भार भी, जिससे तुम अवतार धरो।**
**भुक्ति-मुक्ति माँगे क्या तुमसे, हमें भक्ति दो हे अमिताभ।**

भक्ति का शरणागतिवाद प्रपत्तिवाद रामानुजाचार्य का प्रदेय है। जिससे पूरी भक्ति-परम्परा ने आत्म-चैतन्य का आत्म-समर्पण का, अहं के विलयन का गुरु मन्त्र पाया है। यही मन्त्र रामानन्द ने कबीर, तुलसी को दिया और यही मन्त्र मैथिलीशरण गुप्त ने गाँठ में बाँध लिया है। यह भक्ति प्रेमरूपा है– प्रेमा-भक्ति। 'यशोधरा' काव्य में नारी-आन्दोलन का प्रभाव है और गांधी विचार दर्शन का सौन्दर्य। यहाँ वेदों की ध्वनि है– 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' का सन्देश। व्यक्ति पीड़ायें विश्व सुख की आहट– 'बुद्धं शरणंगच्छामि' का संकल्प।

'द्वापर' कृति में श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के तेईसवें अध्याय की एक कथा है। श्रीकृष्ण अपनी मंडली के साथ वन में दूर निकल गए थे। भूख लगी–बान्धवों के तो उन्हें याज्ञिक ब्राह्मणों ने पास यज्ञशाला में भेजा। ब्राह्मणों ने दुत्कार दिया। फिर बान्धवों को स्त्रियों के पास भेजा उन्होंने विविध व्यंजन बनाकर भगवान को भोग अर्पण किया। एक ब्राह्मण ने अपनी बनिता को बलपूर्वक रोक लिया। बेचारी ने प्राण त्याग दिए– भगवान के दर्शन न पा सकी। इस घटना के बाद इन्द्र यज्ञ छोड़ कर गोवर्द्धन यज्ञ की कथा है बलराम का भाषण है। मंगलाचरण (गोपाल) में 'द्वापर' के कह दिया

कि राम-भक्त का पक्कारंग होता है–

**धनुर्बाण वा वेणु लो श्याम रूप के संग।**
**मुझ पर चढ़ने से रहा राम दूसरा रंग।।**

श्रीकृष्ण राधा की शरण का श्रीकृष्ण राधा रस। यशोदा का वात्सल्य विधृता का भोगभाव प्रसार। पूरा प्रकरण एक वक्रोक्ति है। 'बलराम' का तेजस्वी स्वर। ग्वालबाल क्रीड़ा। नारद का हरिओम दर्शन। देवकी का मातृभाव विस्तार। उग्रसेन का मोहजाल। कंस के अत्याचार। अक्रूर का मनोरथ समाया श्याम-भाव। नन्द का हृदय दर्पण कुब्जा से प्रेम-प्रसंग की महिमा। उद्धव का यशोदा को धैर्य देना, गोपियों का समझाना। गोपी (राधा) का प्रणय प्रिय के लिए। अन्त में द्वारकाधीश सुदामा का मित्र संवाद है। 'द्वापर' का पूरी कथा का वैष्णव-रस देश-भक्ति रस में अर्थ पाता है।

'सिद्धराज' में मध्यकालीन वीरों की एक झलक है। लेकिन 'मंगलाचरण में राम का साथ छूटा नहीं है–

**आप अवतीर्ण हुए दुःख देख जन के**
**भातृ हेतु, राज्य छोड़, वासी बने बन के।**
**राक्षसों को मार भार मेटा धरा धामका,**
**बढ़े धर्म, दया-दान-युद्ध वीर राम का।**

पूरा 'सिद्धराज' मुक्त-छन्द का अद्भुत वीर काव्य है। गुप्तजी का वैष्णव मन भारत की नारियों की महिमा बखान में मग्न है। 'किसके स्त्रियों की गिरा गूँजती है अब भी। भला हुआ जो मारिया बहिणिहारा कंतु।

कुछ समय बाद 'नहुष' जैसी कृति में कवि ने नर की महिमा को प्रतिष्ठित किया मंगलाचरण में गान गाथा–

**क्यों कर हो मेरे मानिक की रक्षा ओह।**
**मार्ग के लुटेरे काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह।**
**किन्तु मैं बढ़ूँगा राम**
**लेकर तुम्हारा नाम।**
**रक्खो बस तात, तुममें थोड़ी क्षमा थोड़ा छोह।**

रानी शची का परिताप और नहुष का सिंहासनासीन होना। धरती की विजय कथा है।

'कुणाल-गीत' कृति में जेल जीवन की स्मृति। यह कृति आचार्य नरेन्द्रदेव को अर्पित है। कुणडल राजकुमार होते हुए भी सभी धर्मों के प्रति उदार था। ब्राह्मण बौद्ध सभी धर्मों का आदर करता था। कुणाल तथा विमाता की कथा। कहते हैं कि कुणाल

को पुनः आँखें मिल गयी थीं–

**वहाँ पंथर क्या भला मेरे अंध प्रबन्ध**
**जहाँ खींचता है तुझे रामचरण रज-गंध।**

'विश्व वेदना' जैसी कृति कवि ने यूरोप का पहला युद्ध समाप्त होने पर आरम्भ की। फिर लम्बे समय बाद उसे रच कर पूरा किया। नया यन्त्रयुग राम को भूल गया।

**देख यह यन्त्रमयी माया-**
**ब्रह्म को भूल गयी काया।**

प्रगति मद में भूला मानव अपने की प्रकृति का स्वामी समझने लगा। व्यक्तिवाद ने मानव-मानव में विषमता बढ़ा दी– शेष रहा-भय-संशय-संघर्ष। प्रेम रहित उत्कर्ष अपकर्ष बन गया। सभ्य संस्कृति पर लक्ष्मी के लाल छा गए। रोटी का स्वाद सुख चला गया। सामयिक यथार्थ का 'विश्ववेदना' दस्तावेज है।

इस भक्त कवि ने मुहम्मद साहब पर 'काबा और कर्बला' जैसे कृति रची है। मुहम्मद साहब ने काबा में अपने मत की प्रतिष्ठा के समय अपार धैर्य का परिचय दिया। किन्तु उनकी निष्ठा का उनके नाती ने कर्बला में जो मूल्य चुकाया। वह इतिहास की कैसी करुण कथा है। मुसलमानों का वह विजय वैभव विलीन हो गया। मुहम्मद साहब कह रहे थे–

**यह सारा संसार है उस प्रभु का परिवार**
**सबसे रखना चाहिए प्रेम पूर्ण व्यवहार।**

'अजित' कारावास की स्मृतियों पर केन्द्रित कृति है। हरि-स्मरण का गान–

**तव जीवन का गान, बजे जब मास्टर बाजा**
**मेरा शासक कौन, आप मैं अपना राजा।**
**राम हमारे राम, तुम्हारे बने रहें हम**
**जीवन के संघर्ष हर्ष के संग सहे हम।**

वर्तमान के सभी आन्दोलनों की छाप गुप्तजी के सृजन पर है पर सबसे ज्यादा छाप गांधी जी के सत्याग्रह युग की है। प्राचीन के प्रति पूजा अर्चना का भाव और नवीन के प्रति उत्साह दोनों इनमें हैं। हिडिम्बा हो या 'प्रदक्षिणा' 'युद्ध' हो या अंजलि और अर्घ्य 'पृथिवी पुत्र' हो या 'जय भारत' वे कभी भी राम-सीता की भक्ति भाव का विस्मरण नहीं करते हैं'। 'जय भारत' जैसे बड़े प्रबन्ध काव्य में 'एक आश्रय' राम के पुण्याचरण का पोत' जैसा भक्ति भाव है। 'राजा-प्रजा' कृति में रामराज्य की मर्यादा का अर्थ समझाया। नए मूल्यों की बात की।

चैतन्य महाप्रभु की पत्नी पर 'विष्णुप्रिया' लिखी। देवी विष्णुप्रिया पर जय दयालु

डालमिया के आग्रह पर लिखा। भक्त हैं गुप्तजी तो वह नए पुराने' में ज्यादा भेद-भाव नहीं करते। प्रभुदत्त ब्रह्मचारी के श्री चैतन्य चरितावली' के लिए उनका कृतज्ञ रहा है। रामकृष्णदास को प्रेरणा के क्षण में याद किया। मंगलाचरण में लिखा–

**दृष्ट रही व्यष्टि जय उस शुभशीला की,**
**अपने दृगम्बु से समष्टि की है धोती जो**
**मानों भरपाती राम, क्या तुम्हारी लीला की।**
**मैथिली की करुणा न देती तुम्हें मोती जो?**

कथा में भगवान् ही भक्त हो गए हैं और राधामय श्याम प्रेमानन्द दृष्टि में भाव सृष्टि। वंगभूमि को चैतन्यमंगला कहने पर बताया कि वह भूमि वैष्णवी की भावभूमि विष्णुप्रिया रूपिणि रही है। अनुपम कन्या विष्णुप्रिया का तप-त्याग। महाप्रभु भी उसके रूप-गुण-शील पर विमुग्ध रहे। चैतन्य का मोहन प्रेम और भागवत-धर्म। जिसमें हिन्दू मुसलमान का भेद-भाव नहीं था। चैतन्य गोपी-भाव से रास करते थे। वृन्दावन रहते थे। उधर विष्णुप्रिया ने घर को ही मंदिर बनाकर भक्ति की। विष्णुप्रिया भक्ति भावना पवित्रराग उठाया है।

एक खास मनोभूमिका में गुप्तजी ने तुलसीदास की पत्नी 'रत्नावली' पर एक कृति रच डाली। यह कृति श्री सुमित्रानन्दन पन्त को सस्नेह समर्पित है। माघ २०११ संवत् में रत्नावली का सृजन आरम्भ हुआ। यह ध्यान रहा कि रत्नावली के अस्तित्व पर ही विद्वान् शंका करते हैं। लेकिन रामकथा के भक्त गुप्तजी तुलसीदास की प्रेरणा के कारण खोज रहे थे। रत्नावली ने पति मंगल की कामना की है रामकथा के स्मरण के साथ–

**तुम्हारे रक्षक होवे राम**
**जिनके लिए खेल ही सा था लंका का संग्राम**
**कृपा करें तुम पर पहले ही**
**पूज्य ब्रजनंदन पति देही**
**शरण उन्हीं की लो यदि सचमुच छोड़ गए निज धाम।**
**तुम्हारे रक्षक हों वे राम।**

कितनी बड़ी बात है कि गुप्तजी जीवन भर रामानन्द का राममन्त्र जपते रहे। उनका जप-तप ध्यान, सृजन-चिन्तन इसी मन्त्र राम में समाया रहा। राम को लोक के केन्द्र में प्रतिष्ठित करने में उनकी अविस्मरणीय भूमिका रही। गुप्तजी ऐसे अकेले कवि हैं जिनकी अन्तःप्रेरित प्रवृत्ति राममय रही। वे नए भारत के अभिनव तुलसीदास हैं। आज उन्हें अतीतजीवी पुराणपंथी अप्रासंगिक करार देना परम्परा संस्कृति मिथक

साहित्य के प्रति नासमझी का परिचय देना है। गुप्तजी कहते थे– 'मैं अतीत ही नहीं, भविष्यत भी हूँ आज तुम्हारा।' वह लगभग साठ वर्ष तक हिन्दी के आधुनिक साहित्य पर छाये रहे और वह भी बिना परम्परा से नाता तोड़े, नए चिन्तन को आत्मसात करते हुए नयी पुरानी पीढ़ी के लिए चुनौती बने रहे। उनसे यह बात सीखने की है कि परम्परा से बिना नाता तोड़े आधुनिक हुआ जा सकता है। उनमें हमारी सन्त परम्परा और रामानन्द का अखण्ड चिन्तन प्रवाह एक नया युग-सन्दर्भ पाता है। भारतीय इतिहास के सभी कालों में चाहे वैदिककाल हो या बौद्धकाल' रामायण महाभारत काल हो, भक्ति, आन्दोलन तथा भक्तिकाल सभी युगों तथा सभी धर्मों का प्रेम-रसायन विद्यमान रहा है। उनकी शिष्यता ग्रहण कर वात्स्यायन अज्ञेय जैसा विद्रोही क्रान्तिकारी युग प्रवर्तक स्वाधीनता और स्वाधीन चिन्तन का कवि अपने को धन्य समझता रहा। सच है कि गुप्तजी में हमारी परम्परा के पुरखे जीवन्त रूप में संवाद करते पाये जा सकते हैं।

●

# स्वामीरामानंद के आलोक में मैथिलीशरण गुप्त का साहित्य

डॉ. देवेन्द्र सिंह *

जिनकी पावन चरणरज से यह धरा पवित्र हुई, जिनके अवतरण से समस्त जनमानस सनाथ हुआ, मुस्लिम आक्रान्तरूपी सूर्यातप से संतप्त हिन्दू जनता के लिए अमृतवर्षा के तुल्य स्वामी रामानन्द मध्यकाल में (सन् १२९९)) में प्रयाग की सरस सलिला गंगा-यमुना से सिक्त पावन भूमि पर अवतरित हुए। जो विभिन्न आचार्यों के दार्शनिक मतवादों में न उलझकर जन सामान्य को श्रीराम की चतुष्पुरुषार्थ साधिका भक्ति गंगा के भगीरथ बन गये। उनका समस्त दर्शन उनका मंगलमय चरित्र ही है, जो "श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर" में परिलक्षित होता है, वे समन्वय के महानायक थे। किसी ऐकान्तिक विचारधारा के पिंजर से मुक्त उन्मुक्त प्रकृति के महामोद में निमग्न सर्वथा रामस्वरूप जनसामान्य के संकटमोचन थे। स्वामी रामानन्द के द्वारा प्रवर्तित इस पथ का दार्शनिक, सामाजिक सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक निर्देशन हमें 'श्रीरामचरितमानस' में होता है। यही कारण है कि शताब्दियों से श्रीरामचरितमानस इस सम्प्रदाय का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ बन गया है।

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त रामानन्द सम्प्रदाय में दीक्षित थे, श्री सीता-राम ही उनके परमाराध्य थे। उनकी साधना रामानंद स्वामी की मूल भावना "समन्वय" पर ही आधृत है। गुप्त जी को रामभक्ति अपने पारिवारिक संस्कार से प्राप्त हुई थी। रामचरितमानस ने उनके मस्तिष्क को बहुत आलोडित किया, इसी से रामकाव्य की सत्प्रेरणा उपजी, जिसका निदान उनका प्रमुख रामकाव्य 'साकेत' है। 'पंचवटी' और 'प्रदक्षिणा' भी रामकाव्य ही हैं, किन्तु उनमें गुप्त जी की प्रतिभा दार्शनिकता में न उलझकर सीधे-सादे वर्णन कौशल में ही रमी है। अतः गुप्त जी पर स्वामी रामानन्द के प्रभाव का अध्ययन करने के लिए हम 'साकेत' को मुख्य आधार बनायेंगे।

**ब्रह्म-राम**– स्वामी जी ने जिस प्रकार राम को ब्रह्म पद से अभिहित किया है तथा उनको निर्गुण एवं सगुण दोनों ही माना है, उसी प्रकार गुप्त जी ने भी राम के ब्रह्मत्व को स्वीकार किया है। उनके मत से जो निर्विकार[१], निरीह[२], सर्वव्यापी[३], अजन्मा[४], अनादि अनन्त-निर्गुण[५], ब्रह्म है, तब वही राम होकर इस भूतल पर पापियों

---

* संस्कृत साहित्य के अन्वेषक, रामानंदाचार्य पर महत्त्वपूर्ण शोध, दारागंज, इलाहाबाद।

का नाश करने के लिए अवतरित हुए थे। वस्तुतः निर्गुण-सगुण में कोई भेद ही नहीं।

**स्वर्ग से भी आज भूतल बढ़ गया,**
**भाग्य भास्कर उदयगिरि पर चढ़ गया।**
**हो गया निर्गुण सगुण साकार है**
**ले लिया अखिलेश ने अवतार है।।**[६]

वही साकार राम विश्व के स्रष्टा, रक्षक और लयकर्ता हैं। वे लोकेश हैं– लीलाधाम हैं। वे अनादि और अनन्त हैं। उनको ही लेकर अखिल सृष्टि की क्रीड़ा चल रही है और नित्य नवीन प्रसव की पीड़ा भी आनन्दमयी हो जाती है। स्वामी जी के अनुसार–

**विश्वं जातयतोऽब्धा यदवितमखिलं लीनत्यस्ति यस्मिन् ।**
**सूरर्यो यत्तेससेन्दुः सकलमविरतं भासयत्येतदेषः ।**
**यद्भीत्या वाति वादोऽवनिरपि सुतलं यति नैवेश्वरोज्ञः**
**साक्षी कूटस्थ एकोनह्रुशुभगुणवान व्ययो विश्वभर्त्ता ।।**[७]

राम असंख्य दिव्यगुणों के आकर हैं (बहुशुभगुणवान्) वे सभी मंगलगुणों के धाम हैं।[८] संसार को भार से मुक्त करने के लिए, अपने जनों को लोचन लाभ देने के लिए, शिशिरमय हेमन्त के सदृश असुरों के शासन का नाश करने के लिए वसन्त के समान यह अनादि अनन्त भगवान् बार-बार अवतार धारण करता है? 'साकेत' में स्वयं राम ने अपने अवतार का विस्तृत हेतु बतलाया है। सीता से चित्रकूट में वे कहते हैं : "हे प्रिये, मैं संसार को कुछ देने के लिए अवतरित हुआ हूँ। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी रक्षा का अधिकार है, किन्तु सबकी सुविधा का भार शासन को ही रहता है, यह आर्यों का आदर्श है, मैं संसार को यही आदर्श दिखाने आया हूँ। मैं यह बतलाने आया हूँ कि मनुष्य धन की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। जो विवश, विकल, बलहीन,दीन, शापित एवं तापित हैं, जो मूक सदृश शासित हैं और जो भयग्रस्त हैं, मैं उनकी रक्षा के लिए अवतरित हुआ हूँ, मुझे मर्यादा की रक्षा करनी है, सादे जीवन को बचाना है। मैं यहाँ गढ़ने आया हूँ तोड़ने नहीं, मैं यहाँ बाँटने आया हूँ, जोड़ने नहीं। मैं यहाँ राज्य भोगने नहीं अपितु भोगाने आया हूँ। भव में नवयौवन भरना है, नर को ईश्वरता प्रदान करनी है। मैं यहाँ स्वर्ग का सन्देश लाया हूँ, इस भूतल को ही मुझे स्वर्ग बनाना है। जो व्यक्ति मेरा नाममात्र स्मरण करेंगे, वे बिना प्रयास के ही भवसिन्धु पार हो जायेंगे। किन्तु जो मेरे गुण-स्वभाव और कर्म का अनुकरण करेंगे, वे तो औरों को भी तार कर पार उतारेंगे। ... मेरे साथ-साथ वेद की पवित्र वाणी उच्चरित होती चलेगी, अम्बर सोम के पवित्र धूम से भर जायेगा, वसुधा का हरादुकूल लहरा उठेगा। ज्ञानियों को तत्त्व चिन्तन का अवकाश मिल जायेगा, ध्यानियों का ध्यान निर्विघ्न हो

जायेगा। कौणप गणों से आक्रान्त एवं दुर्गम दक्षिण देश अब मुनियों के लिए सुगम हो जायेगा। भौतिक पद से यथेच्छाचारी इन दुष्टों की कुगति कुमति को मैं मिटा दूँगा।[२]

फिर भी राम मानव हैं, उनका हृदय हिमालय जैसा उच्च है। मानव जन्म लेकर उन्होंने धरणीतल को धन्य कर दिया। कवि को उनकी ईश्वरता में पूर्ण विश्वास है–

**राम! तुम मानव हो ईश्वर नहीं हो क्या?**
**विश्व में रमे हुए नहीं सभी कहीं हो क्या?**
**तब मैं निरीश्वर हूँ, ईश्वर क्षमा करें,**
**तुम न रमो तो मन तुममें रमा करें।।**[१]

गुप्त जी के बाल्मीकि ने ठीक ही कहा है–

**राम तुम्हारा वृत्त स्वयं ही काव्य है।**
**कोई कवि बन जाय सहज सम्भाव्य है।।**[२]

राम बड़े ही उदार और भक्तवत्सल हैं। वे भक्तों से न जाने क्या खेल खेलते हैं।[३] वे केवल श्रद्धा और भक्ति के ही भूखे हैं।[४] भक्तों के लिए वे स्वयं अपने ही नियमों का परित्याग कर देते हैं।[५] स्वयं राम ने अपने जीवन में अद्‌भुत त्याग किया था। अनुरागी जन संसार तक का परित्याग करके उन्हें पाते हैं– उनसे बढ़ कर संसार में कौन-सा धन है। भक्त इसीलिए राममय होकर राम के पास जाते हैं।[६] माँ के मन की रक्षा के लिए उन्होंने स्वयं विशाल राज्य का तृणवत् परित्याग कर दिया, पिता के आदेश का पालन किया, स्वधर्म पर अडिग रहे और नर लोक में अद्‌भुत ख्याति प्राप्त करके भी जन्मभूमि के समक्ष अपने को शिशु समझते रहे।[७] कैकेयी चित्रकूट में जाकर यह जान गई कि राम सचमुच भावज्ञ हैं, वास्तव में राम का ही वह विशाल एवं उच्च चरित्र था जिसने कैकेयी के दोषों को गुण के रूप में स्वीकार कर लिया था।[८]

कवि ने जीव को अनादि, अनन्त, अजरामर एवं अविनाशी मात्र कहा है।[९] साथ ही वह प्रकृति की भी सत्ता स्वीकार करता है। बिना सूत्रधार के यह श्रृंखला भला रह सकती है? सचमुच जो इस भवनाटक का स्रष्टा है, वही उसका द्रष्टा भी है। अत: सभी को चाहिए कि स्वयं इस नाटक के पात्र बनकर खेलें, भय से डरे नहीं।[१०] अन्यत्र भी कवि इस जगत् को प्रकृति पुरुष की क्रीड़ा मानता है और जीव को पुरुषोत्तम का अंश मानता है।[१] इसी प्रकार उसने ब्रह्म को भी मायामय माना है।[२] इस प्रकार कवि एक ओर प्रकृति और जीव की अनादि अनन्त सत्ता को स्वीकार करता हुआ उन्हें किसी सूत्रधार द्वारा परिचालित-अनुशासित बतला कर विशिष्टाद्वैत मत में विश्वास करता है। भक्त-भगवान् के सम्बन्ध उन्हें प्रिय हैं, वे इस रंग के अतिरिक्त और किसी रंग में रंगना भी नहीं चाहते। वे कहते हैं–

**धनुर्वाण या वेणु लो श्याम रूप के संग।**
**मुझ पर चढ़ने से रहा राम दूसरा रंग।**[३]

स्पष्ट है,गुप्त जी को ब्रह्म के सगुण रूप में उतना ही विश्वास है जितना उसके पारमार्थिक रूप में। गुप्तजी ने अपने पत्र में लिखा भी है– "मैंने यदि कहीं अद्वैत की भावना प्रकट की तो सायुज्यमुक्ति से उसका समन्वय करके ही।' लक्ष्मण ने समझाया है–

**सखे समन्वय करो भक्ति का मुक्ति से।**[४]

स्वामी रामानन्द की तरह[५] गुप्त जी भी भगवान् के अर्चावतार में अपना विश्वास प्रकट करते हैं। उनका कहना है कि भक्त बन तो मूर्ति में भगवान् का ही दर्शन करते हैं। भले ही भ्रान्तजन उसको जड़ कह ले।[६] यों तो सभी काम तर्कबुद्धि से ही किये जाते हैं, किन्तु भगवान् में श्रद्धाभक्ति ही भली होती है। नास्तिकों को जो लोष्ठमात्र है, भावुकों की भावना उसी में भगवान् का दर्शन करती है। यह तो मानने की बात है– "मानिये तो शंकर हैं, कंकर है अन्यथा' (सिद्धराज, पृ. १९)। इस परमार्थ तत्त्व को जान लेने के पश्चात् जिज्ञासुओं के लिए कुछ भी ज्ञेय शेष नहीं रह जाता।

**सीता**– स्वामी रामानन्द ने सीता को ब्रह्म की माया या पराशक्ति माना है। जिनकी कृपा कटाक्ष के बिना श्रीरामचन्द्र रूप परब्रह्म की प्राप्ति जीवों को नहीं हो सकती, राम की शक्ति होने से वह सहज ही राम की प्रिया हैं तथा अत्यन्त उदार हैं–

**अप्रमेयकृपासिन्धु स्वरूपे। रामसुप्रिये।**
**सुप्रभार्तानशा सीते! श्रीरामाभिमुखी भव।।**

(श्रीरामार्चन पद्धति, श्लो. ४)

स्वामी जी ने सीता जी को 'भगवान् रामचन्द्राभिमतानुरूप' कहा है, अर्थात् जो-जो गुण श्रीराम जी में हैं वे सभी सीता जी में हैं। स्वामी जी के मत का स्पष्ट प्रभाव कवि मैथिलीशरण में देखने को मिलता है, कवि ने सीता को ब्रह्म की मूर्तिमयी माया कहा है। सीता राम को अत्यन्त प्रिय हैं। जिस प्रकार काले मेघों में बिजली की ज्योति छिपी रहती है, उसी प्रकार सीता राम के भीतर बैठी हुई हैं।[१] सीता को कवि ने राम के समान ही अनादि माना है और दोनों को अनादिकाल से ही सम्बद्ध भी कहा है। साकेत में राम ने सीता से स्पष्ट कहा है–

**हम तुम तो होते कान्त? न ये कब कान्ते?**
**हैं और रहेंगे नित्य विविध वृतान्ते?**
**हमको लेकर ही अखिल सृष्टि की क्रीड़ा।**
**आनन्दमयी नित नई प्रसव की पीड़ा।।**[२]

'वैतालिक' में कवि ने सीता को धन-धान्य प्रदान करने वाली तथा कर्म क्षेत्र को उर्वर करनेवाली देवी के रूप में स्मरण किया है।[३] रामानन्द सम्प्रदाय में भी सीता जी को अष्टसिद्धि (अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशिता, वशित्व) तथा नव निधि (बलाका, विमला, कमला, वनमालिका, विभीषिका, मालिका, शांकरी, वसुमालिका) से युक्त माना गया है। गुप्त जी अपने अन्य काव्यों में भी सीता जी का स्मरण बड़ी श्रद्धा से करते हैं। 'पत्रावली' में सीता ही की वन्दना कवि ने की है और उन्हें श्रेय तथा प्रेय दोनों को प्रदान करने वाली कहा है।[४] 'काबा और कर्बला में उन्हें मुक्तिमूर्ति तथा इस देही की गति माना है। कवि ने उन्हें अपनी अल्ला (माता) भी कहकर सीता का स्मरण किया है।[२] इस प्रकार सीता जी के सम्बन्ध में कवि की वही धारणा है जो सामान्यतया स्वामी रामानन्द तथा उनके सम्प्रदाय में मान्य रही हैं।

**जीव–** गुप्तजी ने जीव के सम्बन्ध में कोई विस्तृत विवेचन प्रस्तुत नहीं किया है, फिर भी उनकी धारणा प्रायः वही रही है, जो रामानंद सम्प्रदाय में मान्य है। स्वामी रामानन्द ने अपने प्रिय शिष्य सुरसुरानन्द के "तत्त्वं किम्" इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं–

**नित्योज्ञश्चेतनोऽजः सततपरवराः सूक्ष्मतोऽत्यन्तसूक्ष्मो-**
**भिन्नो बद्धादि भेतैः प्रतिकुणपमसौ नैकधा सूरिवर्य्यैः ।**
**श्रीशांक्रातालयस्थोनिजकृतिफल भुक्तत्सहायोऽभिमानी**
**जीवः संप्रोच्यते श्रीहरिपदसुमते तत्त्वजिज्ञासुवेद्यः ।।**[२]

अर्थात् जो सदैव एकस्वरूप में स्थित है, जो ईश्वर की अपेक्षा अज्ञ है, चेतन है, अजन्मा है, सर्वदा भगवदाधीन है, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है, बद्धादि भेदों (बद्ध और मुक्त) से भिन्न-भिन्न शरीरों में पृथक्-पृथक् है, भगवान् से व्याप्त शरीर में स्थित, स्वकर्मानुसार कर्म-फल का भोक्ता, भगवदनुचर, बद्धदशा में स्वतन्त्रतापूर्वक शुभाशुभ कर्म के करने और उसके फल को भोगने का अभिमान वाला, तत्त्व के जिज्ञासुओं द्वारा जो जानने योग्य है, वही जीव है।

मानवमात्र को सम्बोधित करते हुए गुप्त जी कहते हैं, मनुष्य भी जल, थल, गगन की भाँति अनन्त है, वह स्वाधीन आत्मा है, परमात्मा लीनात्मा है। वह अजर-अमर और अविनाशी है। संसार ब्रह्म का क्रीड़ा क्षेत्र है बिना उसमें घुसे उसे पाना संभव नहीं। पुरुषोत्तम का अंशज जीव केवल यहीं व्याप्त नहीं है। उसकी समाप्ति नहीं है, उसे तो वहाँ भी जाना है जहाँ से उसका आगमन हुआ है।[१]

जीव तो केवल हेतुमात्र है, कर्त्ता केवल ईश्वर ही है, वह निर्विकार होकर भी भक्तवत्सल है। उसे जो इष्ट होता है, सर्वत्र वही होता है। उसे पाकर और कुछ पाना शेष नहीं रह जाता। वस्तुतः जो लोग उसके 'पदकमल' के वास्तविक 'मधु' को जान

गए हैं, वे मुक्ति की भी कामना नहीं करते।[२]

**प्रकृति–** इस जगत् को गुप्त जी ने प्रकृति और पुरुष की क्रीड़ा माना है। प्रकृति नटी क्षण-क्षण अनेक नवीन दृश्य उपस्थित करती हुई नाट्य कर रही है। वह अवश्य ही किसी सूत्रधार द्वारा परिचालित एवं नियन्त्रित है, नहीं तो यह शृंखला न बनी रहती।[३] इस प्रकृति को गुप्त जी ने गुण कर्ममयी माना है, उनका कहना है कि इसे जान लेना असम्भव-सा है।[४] ऐसा ही विवेचन स्वामी जी ने किया है। उनके अनुसार प्रकृति नित्य, अज्ञ, अचेतन, नाना वर्णात्मिका तथा त्रिगुणमयी (सत्व, रजस् तमस्) है–

**नित्याऽज्ञाऽचेतना सा प्रकृतिविकृतिर्विश्वयोनिश्शुभैका ।**
**नानावर्णात्मिकाऽजात्रिगुणसुनिलयाऽव्यक्त शब्दाभिधेया ।।**

(वैष्णवमताब्जभास्कर, श्लो. ६)

प्रकृति अचेतन है, वह ईश्वर की शक्ति से संचालित होती है। यह ईश्वर की शक्ति ही माया है, जो जीव को उलझाये रखती है। रामानन्दी परम्परा में 'माया' को ही सीता माना गया है, जो कि स्पष्टतः प्रकृति से भिन्न है। संसार का बन्ध और मोक्ष करने वाली वह 'माया' या ईश्वर की शक्ति ही है। साकेत (पृ. १५६) में कवि ने सीता को ही मूर्तिमयी कहा है और उसे ब्रह्म की शक्ति स्वीकार किया है। जिसे राम मिल जाते हैं उसे भला क्या माया मोह सकती है? ऐसे पुरुष को पाकर फिर किसे क्या पाना शेष रह जाता है?[५]

**मोक्ष–** मोक्ष के सम्बन्ध में गुप्त जी का विचार स्वामी रामानन्द एवं उनके सम्प्रदाय की मान्यता के अनुरूप है। गुप्त जी 'सायुज्य' मुक्ति में ही विश्वास करते हैं। स्वामी जी कहते हैं– श्रीराम एक हैं, चेतनों के भी चेतन हैं, संसार के भरण-कर्त्ता, स्वतन्त्र, वशी, अशेष दिव्यगुणों के सागर, उपनिषदों के प्रतिपाद्य, शरण्य तथा प्रभु है। भक्त अपनी भक्ति के द्वारा प्रभु की कृपा पाकर अर्चिरादि मार्गों के द्वारा विरजा को पारकर नित्य दिव्य अयोध्यानगरी में जाकर परमब्रह्म श्रीराम का सायुज्य मुक्तिलाभ करता है। इस प्रकार श्री वैष्णवों के लिए परमप्राप्य वस्तु श्रीराम सायुज्य है। वहाँ से पुनः आना नहीं होता–

**सीमान्त सिन्ध्वाप्लुत एव धन्यो, गत्वा परब्रह्मसुवीक्षितोऽनिराम् ।**
**प्राप्यं महानन्दमहाब्धिमग्नोनाऽवर्त्तते जातु ततः पुनः सः ।।**[१]
**श्रीवैकुण्ठमुपेत्य नित्यमजडं तस्मिन्परब्रह्मणः ।**
**सायुज्य समवाप्य नन्दति समं तेनैव धन्यः पुमान् ।।**[२]

गुप्त जी अपने काव्य 'जयद्रथवध' (पृ. ९२-९३) में कहते हैं, भगवान् को पा जाने पर जीव को कुछ पाना शेष नहीं रह जाता। वस्तुतः जिन्हें उनके पद कमल के वास्तविक मधु का ज्ञान हो गया है, वे मोक्ष को अनिच्छापूर्वक देखते हैं। ईश्वर जीव

का संगम बहुत ही मधुर होता है, यह सुख विचित्र है।

किन्तु, ब्रह्म को पाना सहज सम्भव नहीं है। भव तक के त्यागी बन कर केवल अनुरागी जन ही इसे पाते हैं। वस्तुतः भक्तों के लिए उससे बढ़कर और कौन साधन होगा? इसीलिए जीव को उसे पाकर और कुछ पाना शेष नहीं ही रह सकता है।[१]

गुप्तजी ने अर्चिरादि मार्ग पर कोई प्रकाश नहीं डाला है।

**साकेत–** रामानन्द परम्परा में 'साकेत' दो माने गये हैं– लौकिक और अलौकिक। यह दिव्य साकेत लोक अनेक दुरुतरुओं से परिवृत एवं वहाँ के भवन रत्नों से सुशोभित है। यहाँ करोड़ों सूर्यों के प्रकाश सदृश, दैदीप्यमान स्वर्ण सिंहासन है, जिस पर भगवान् अपने दिव्य परिकरों के साथ शोभायमान हैं। ऐसी मान्यता है कि इस साकेत लोक के चतुर्दिक विवरजा नदी बहती रहती है, यह अत्यन्त निर्मल जल की नदी है। उसी विरजा नदी का ही पृथ्वी के साकेत में 'सरयू' नाम है।

गुप्त जी ने अपने 'साकेत' महाकाव्य में वस्तुतः लौकिक साकेत धाम का ही वर्णन किया है। देव नदी तो मात्र मरों को पार उतारती है, किन्तु सरयू जीवितों को ही तार देती है; अयोध्या धरती की अमरावती है; वह धर्मादर्श निकेत है।[२] अयोध्या राम को बहुत ही प्यारी है। यह राम का धाम 'साकेत', स्वर्गोपरि है। वन जाते समय बड़ी ही भावुक वाणी में राम ने इस अयोध्या का स्मरण किया है। मातृभूमि के प्रति उनका यह अनुराग बड़ा ही अपूर्व है। तुलसी के राम ने भी 'वह प्रसंग जानइ कोउ कोऊ' 'कहकर अवधपुरी को बहुत ही प्रिय बतलाया है।

वस्तुतः इसी धाम में भगवान् के नाम रूप गुण और लीला का लाभ होता है।[३] राम की अयोध्या सर्वदा राम के साथ है अतः उसके प्रति राम-भक्तों का अनुराग होना स्वाभाविक भी है। स्पष्ट है, गुप्त जी ने अयोध्या का स्मरण श्रीराम के धाम के रूप में ही किया है, किन्तु उन्होंने विरजा, स्वर्ण सिंहासन, कनक भवन आदि का इस प्रसंग में कोई वर्णन नहीं किया है।

## सन्दर्भ-सूची

१. रंग में भंग (संवत् २००६) पृ. १
२. वही, पृ. १
३. पत्रावली, पृ. १४, शिवाजी का पत्र औरंगजेब को
४. झंकार, (सं. २००७), बालबोध, पृ. १४-१५
५. साकेत, पृ. १२
६. वही, पृ. १२
७. श्री वैष्णवमताब्जभाष्कर, सं. बलभद्रदास, पृ. १९, श्लो. ८।
८. रंग में भंग, पृ. १
१. साकेत, पृ. १२, द्रष्टव्य श्रीरामचरितमानस

*जब जब होइ धरम के हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥*
*करहिं अनीति जाइ नहि बरनी। बिप्र धेनु सुर धरनी ॥*
*तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा । हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा ॥*

(बालकांड, दो १२०)

२. साकेत, पृ. १६६-१६८
१. साकेत, पृ. ९
२. वही,पृ. ११३
३. जयद्रथवध, सं. २००७, पृ. ८९
४. युद्ध सं. २००९, पृ. ४१
५. प्रदक्षिणा, सं. २००७, पृ. ३१
६. झंकार, सं. २००७, पृ. ३९
७. पंचवटी, सं. २००९, पृ. १६
८. साकेत, पृ. ९४, पृ. १८३
९. वैतालिक, सं. २००८, पृ. ७
१. वैतालिक, पृ. १९-२०
२. साकेत, पृ. २८५
३. द्वापर, पृ. ९ (सं. २००५)
४. साकेत, पृ. १०१
५. *अर्चावतारोऽपि च देशकाल प्रकर्षहीन: श्रितसम्मातश्च ।*
*सहिष्णुरप्राकृतदेहयुक्तः पूर्णोऽर्चकाधीनसमात्मकृत्य: ॥*

श्रीवैष्णवमातब्जभास्कर, श्लो. ११६

६. रंग में भंग, पृ. २२ (सं. २००६)
१. साकेत, पृ. १५६-६३
२. वही, पृ. १६५
३. वैतालिक, पृ. ५
४. पत्रावली, पृ. ३
१. साकेत, पृ. १०८
२. श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर, श्लो. ७
१. वैतालिक, पृ. ५-२०, सं. २००८
२. जयद्रथवध, पृ. ९०-९२, सं. २००७
३. वैतालिक, पृ. १८-१९, सं. २००८
४. अंजलि और अर्घ्य, पृ. ८ सं. २००७
१. श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर, श्लो. १८७
२. श्रीरामार्चन पद्धति, पृ. ११
३. झंकार, पृ. ३९
१. *द्रष्टव्य, साकेतं दिव्यलोकं सुरतरूमूलं तत्र रत्नाभिगर्भं ।*
*हैमं सिंहासन तच्छुभरुचिनिचयंह भानुकोटिप्रकाशम् ।*

श्रीरामार्चनपद्धति, पृ. १८-१९

२. साकेत, पृ. १४, १५, ३२
३. यशोधरा, पृ. ११

## सन्दर्भ ग्रन्थ


१. श्री वैष्णवमताब्जभास्कर, सं. बलभद्रदास।
२. श्री रामार्चन पद्धति, सं. बलभद्रदास।
३. साकेत मैथिलीशरण गुप्त, चिरगाँव, झाँसी।
४. रंग में भंग, मैथिलीशरण गुप्त, चिरगाँव, झाँसी।
५. पत्रावली, मैथिलीशरण गुप्त, चिरगाँव, झाँसी।
६. झंकार, मैथिलीशरण गुप्त, चिरगाँव, झाँसी।
७. जयद्रथवध, मैथिलीशरण गुप्त, चिरगाँव, झाँसी।
८. प्रदक्षिणा, मैथिलीशरण गुप्त, चिरगाँव, झाँसी।
९. पंचवटी, मैथिलीशरण गुप्त, चिरगाँव, झाँसी।
१०. वैतालिक, मैथिलीशरण गुप्त, चिरगाँव, झाँसी।
११. द्वापर मैथिलीशरण गुप्त, चिरगाँव, झाँसी।
१२. अंजलि और अर्घ्य, मैथिलीशरण गुप्त, चिरगाँव, झाँसी।
१३. काबा और कर्बला, मैथिलीशरण गुप्त, चिरगाँव, झाँसी।
१४. यशोधरा, मैथिलीशरण गुप्त, चिरगाँव, झाँसी।

आस्था
का
संगम
प्रयागराज

## महाकुम्भ का विहंगम दृश्य